|| ॐ नमः सिद्धेभ्यः ||

# सम्यक् श्रामण्य भावना

(सम्यक् पूर्वक श्रमण संस्कृति की भावना)


संकलन कर्ता

श्री १०८ मुनि भूतबली सागरजी महाराज



प्रकाशक

पवन जैन

[illegible] बिल्डिंग, २०१ दादी शेट अग्यारी लेन

झवेरी बाजार, मुंबई - ४०० ००२

**प्रकाशक**
पवन जैन
वजेराम बिल्डिंग, २११ दादी सेठ अग्यारी लेन
चीरा बाजार, मुबई - ४०० ००२

**सम्पादक**
श्री सोहनलाल बज
हाट पीपल्या म प्र

**सस्करण - प्रथम**
नवम्बर १९९७

**मूल्य** **स्वाध्याय**

**प्राप्तिस्थान**
श्रीमती शान्ता देवी जैन,
१४१७, गली गुलियान, कूचा उस्ताद हीरा, दरिबा कालान
दिल्ली - ११०००६

**मुद्रक**
नेशनल प्रिटर्स
९, त्रिवेणी सदन,
करीरोड, मुबई - ४०० ०१२

ॐ नम सिद्धेभ्य

# णमोकार मंत्र

" णमो अरिहंताणं
णमो सिद्धाणं
णमो आयरियाणं
णमो उवज्झायाणं
णमो लोए सव्व साहूणं " ।।

एसो पंच णमोक्कारो सव्व पावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमम् हवई मंगलम् ।।

अरहंता मंगलम् । सिद्धा मंगलम् । साहू मंगलम् ।
केवलि पण्णत्तो धम्मो मंगलम् ।।

।। श्री सर्वज्ञवीतरागाय नम ।।

# शास्त्र स्वाध्याय का प्रारंभिक मंगलाचरण

ओकार बिन्दुसयुक्त नित्य ध्यायन्ति योगिन ।
कामद मोक्षद चैव ओकाराय नमोनम ।।१।।

अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलमकलका ।
मुनिभिरुपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ।।२।।

अज्ञानतिमिरान्धाना ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलित येन तस्मै श्रीगुरवे नम ।।३।।

।। श्री परमगुरवे नम, परपराचार्यगुरवे नम ।।

सकलकलुषविध्वशक, श्रेयसा परिवर्धक, धर्मसम्बन्धक, भव्यजीवमन प्रतिबोधकारक, पुण्यप्रकाशक, पापप्रणाशकमिद शास्त्र श्री———— ——— नामधेय, अस्य मूलग्रन्थकर्तार श्रीगणधरदेवा प्रतिगणधरदेवास्तेषा वचनानुसारमासाद्य आचार्य श्री कुन्दकुन्दाद्याम्नायी श्री————— ————— विरचित, श्रोतार सावधानतया श्रृण्वन्तु ।

मगल भगवान् वीरो, मगलं गौतमो गणी ।
मगल कुन्दकुन्दाद्यो जैनधर्मोऽस्तु मगलम् ।।१।।

सर्वमगलमागल्य सर्वकल्याणकारक ।
प्रधान सर्वधर्माणा जैन जयतु शासनम् ।।२।।

प्रातःस्मरणीय गुरुवर परमपूज्य मुनि
श्री १०८ विद्यासागरजी महाराज

गुरुवर विद्यासागर विश्व वद्य श्रमण भक्त्या सदा सस्तुवे ।
सर्वोच्च यमिन विनम्य परम सर्वार्थ सिद्धी प्रदम् ।
ज्ञान ध्यान तपाभिरक्त मुनिप विश्वस्त विश्वाश्रयम् ।
साकार श्रमण विशाल हृदय सत्यम् शिवम् सुन्दरम् ।।

# शारदा स्तुति

परमपूज्य सन्त शिरोमणी आचार्य १०८ विद्यासागरजी महाराज

द्वारा रचित

(द्रुतविलम्वित छन्द)

जिन वरानन-नीरज निर्गते ।
गणधरैः पुनरादर सश्रिते ।
सकल-सत्व-हिताय वितानिते ।
तदनु ते रिति हे ! किल शारदे ।।१।।

सकल-मानव-मोद जिन-विधायनी ।
मधुर भाषिणि ! सुन्दर रूपिणि ।
गत मले ! द्वय लोक-सुधारिणी ।।
मम मुखे वस पाप-विदारिणी ।।२।।

असि सदा हि विषक्षय-कारिणी ।
भुवि कु दृष्टय हये तिविरागिनी ।।
कुरु कृपा करुणे कर वल्लकि ।
मयि विभो पद-पकज षट् पदे ।।३।।

उपलजो निज भाव महो यदा ।
सुरसयोगत आशु बिहाय स ।।
कनक भाव मुपैति समेति किं ।
न शुचि भावमह तव योगतः ।।४।।

जगति भारति ! तेऽक्षि युग खलु ।
नय मिषेण कुमार्गरताग मम ।।
नयति हास्य स्पंदन तदस्मय ।
मयि ! वचोमृत पूर्व सरोवरे ।।५।।

वृष जलेन वरेण वृषापगे ।
शमय ताप महो ! मम दुस्सहम् ।।

सुख मुपैति निजीयम पूर्वक्रम ।
द्रुत मह लघु धीरथ येन हि ।।६।।
शिरसिते न हि कृष्ण तम कचा ।
स्त्वयि न ते निलय परिगम्य वै ।।
परमतामसका बहिरागता ।
इति सरस्वति ! हे किल मे वच ।।७।।
विगत कल्मष भाव निकेतने
तव कृता वर भक्तिरिय सदा
बिभबदा शिवदा पविभूयता
मिति ममास्ति शिशोरशुभ कामना ।।८।।
शशि कलेव सितासि बिनिर्मला ।
बिकचकज जय क्षम लोचने ।।
यदि न माज्ञव कोऽति सुखायते ।
त्व दवलोकन मात्र तया कथम् ।।९।।
शशिकला वदनप्रभया जिता ।
नयनहारितया तव शारदे ।।
सपदि वैगतमान तयेतिसा ।
नखभिषेण तवांघ्रि युगाश्रिता ।।१०।।
श्रुति युग तव मान-मिषेण वै ।
वितथ मान मत परिदृष्य च ।।
जिन मते गदित यतिभि परै ।
र्यदिति सूचयतीह वर हि तत् ।।११।।
इह सदा ऽऽ स्वनितं शुभ कर्मणि ।
भवतु मे चरण,च सुवर्त्मणि ।।
जगति वद्यत एव सरस्वति ।
तनुधिया सदया ग्रथ या मया ।।१२।।
।। इति सरस्वत्यै नम ।।

# भजन

## (परमपूज्य आचार्य १०८ श्री विद्यासागरजी रचित)

अहो । अहो ।। यही सिद्ध शिला

निगोद मे रचा पचा, कोई भी भव न बचा।
फिर भी सुख का न शोध, हुआ रहा मै अबोध ।।१।।

प्रभो सुकृत उदित हुआ, फलत मै मनुज हुआ ।
दुर्लभ सत सग मिला, मानो मिलि सिद्ध शिला ।।२।।

फिर गुरु उपदेश सुना, सुजागृत हुआ अधुना ।
ज्ञान हुआ स्व-पर भेद, व्यर्थ करता था खेद ।।३।।

विदित हुआ मै चेतन, ज्ञान गुण का निकेतन ।
किन्तु तन मन अचेतन, जहा न सुख दुख वेहन ।।४।।

चेतन चेत चकित हो, स्व चितनवश मुदित हो ।
यो कहना मै भूला, अब तक पर मे फूला ।।५।।

अब सर्वत्र उजाला, शिव पथ मिला निराला ।
किस बात पर मुझे डर, जब जा रहा स्वीय घर ।।६।।

यह है समकित प्रभात, न रही अब मोह रात ।
बोध रवि-किरण फूटी, टली भ्रम-निशा झूठी ।।७।।

समता अरुणिमा बढी, उन्नत शिखर पर चढी ।
निज दृष्टि निज मे गढी, धन्य तम है यह घडी ।।८।।

अनुकम्पा पवन भला, सुखद पावन बढ चला ।
विषमता कटक नही, शिव पद अब स्वच्छ सही ।।९।।

यह सुख की परिभाषा, न रहे मन मे आशा ।
ईदृश हो प्रति भासा, तो मै न रहूँ प्यासा ।।१०।।

कुछ नही अब परवाह, जब मिटी सब कुछ चाह ।
दुख टला, निज सुख मिला, नम-उर-दृग-पद्म खिला ।।११।।

परित पूर्ण प्रकाश, विद्या [illegible], अविद्या [illegible],
कषाय कुभ को तोड, कर रहा [illegible]
जो फिर [illegible] [illegible] ।।१२।।

## मम प्रणाम तुम करो स्वीकार

गुरो ! दल दल मे मै था फसा, मोह पाश से [illegible] ।
वध छुडाया दिया आधार, मम प्रणाम तुम करो स्वीकार ।।१।।

पाप पक से पूर्ण लिप्त था, मोह नींद मे [illegible] सुप्त था ।
तुमने जगाया किया उपचार मम प्रणाम तुम करो स्वीकार ।।२।।

आपने किया महान उपकार, पहनाया मुझे रत्नत्रय हार ।
हुए साकार मम सब विचार, मम प्रणाम तुम करो स्वीकार ।।३।।

मैने कुछ ना की तव सेवा, पर तुमसे मिला [illegible] मेवा ।
यह गुरुवर की महिमा अपार मम प्रणाम तुम करो स्वीकार ।।४।।

निज धाम मिला, विश्राम मिला, सब मिलाकर [illegible] पद्म खिला।
अरे गुरुवर का वर उपकार, मम प्रणाम तुम करो स्वीकार ।।५।।

अधा था, वहिर था, था मै अज्ञ, दिये नयन व कारण बनाया [illegible] ।
समझाया मुझको समयसार, मम प्रणाम तुम करो स्वीकार ।।६।।

मोह मल धुला, शिव द्वार खुला, पिलाया निजामृत घुला घुला ।
कितना था गुरुवर उदार, मम प्रणाम तुम करो स्वीकार ।।७।।

प्रवृत्ति का परिपाक ससार, निवृत्ति नित्य सुख का भण्डार ।
कितना मौलिक प्रवचन तुम्हार, मम प्रणाम तुम करो स्वीकार ।।८।।

रवि से बढकर है काम किया, जन गण को बोध प्रकाश दिया ।
चिर ऋणी रहेगा यह ससार, मम प्रणाम तुम करो स्वीकार ।।९।।

स्व पर हित तुम लिखते ग्रथ, आचार्य उवझाय थे निर्ग्रथ ।
तुमसा मुझे बनाया अनगार, मम प्रणाम तुम करो स्वीकार ।।१०।।

इन्द्रिय दमण कर, कषाय शमण, करत  निशदिन निज मे ही रमण ।
क्षमा था तव सुरम्य श्रृगार, मम प्रणाम तुम करो स्वीकार ।।११।।

बहु कष्ट सहे, समन्वयी रहे, पक्षपात से नित दूर रहे ।
चूँकी तुममे था साम्य सचार, मम प्रणाम तुम करो स्वीकार ।।१२।।

मुनि गावे तुम गुण गण गाथा, झुके तुम पाद मे मम माथा ।
चलते चलाते समयानुसार, मम प्रणाम तुम करो स्वीकार ।।१३।।

तुम ये द्वादश विधि तप तपते, पल पल निजप नाम जप जपते ।
किया धर्म का प्रसार प्रचार, मम प्रणाम तुम करो स्वीकार ।।१४।।

दुर्लभ से मिली यह' ज्ञान' सुधा' विद्या' पी इसे मत रो मुधा ।
कहते यो गुरुवर यही 'सार', मम प्रणाम तुम करो स्वीकार ।।१५।।

व्यक्तित्व की सत्ता मिटा दी, उसे महा सत्ता मे मिला दी ।
क्यो न हो प्रभु से साक्षात, मम प्रणाम तुम करो स्वीकार ।।१६।।

करके दिखादी सल्लेखना, शब्दोमे न हो उल्लेखना ।
सुन नर कर रहे जय जयकार, मम प्रणाम तुम करो स्वीकार ।।१७।।

आधि नही थी, थी नही व्याधि, जब आपने ली परम समाधि ।
अब तुम्हे क्यों न वरे शिवनार, मम प्रणाम तुम करो स्वीकार ।।१८।।

मेरी भी हो इस विधि समाधि, शेष तोष नशे दोष उपाधि ।
मम आधार सहज समयसार, मम प्रणाम तुम करो स्वीकार ।।१९।।

॥ श्री ॥

# सम्पादकीय

धर्म-ध्यान एव शुक्ल-ध्यान की पूर्णता मे आप्त भगवन्तो की दिव्य ध्वनि के स्मरण स्वरूप, वस्तु धर्म को प्रकाशित करनेवाले गणधरो के द्वारा रचित, धर्म-बीज रूप शास्त्र रचना के मर्मज्ञ धारी, परमार्थ के प्रणेता-वर्तमान आचार्यो को तथा पूर्वाचार्यो के चरण युगलो मे बारम्बार नमस्कार करता हू । इनके पुनीत आचरण द्वारा आचरित साधुओ की पंक्ति आज तक परम्परा प्रामाणिकता को जीवन्त बनाये हुए है । यह सब परम पद मोक्ष की प्राप्ति हेतु ही प्रचलित है।

उसी दिव्य वाणी को जिन वाणी के रूप मे ग्रथो म तथा आचरण द्वारा ग्रथियो मे पूर्वाचार्यो ने अथक परिश्रम करके व्रतो का निर्दोष पालन करते हुए, अपने परिणामो को परिमार्जित करते हुए जन-जन को समझ मे आ जाय इस दृष्टि से कुछेक ग्रथो का प्राकृत, सस्कृत, हिन्दी, ढूढारी, मराठी, गुजराती, कन्नड, तेलगु आदि विभिन्न भाषाओ मे अनुवाद कर सर्वमान्य ग्रथ, यथा - धवला महा धवला, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गोम्मटसार जीवकाण्ड, मूलाचार, आत्मानुशासन, पुरुषार्थ सिद्धयुपाय, अष्टपाहुड़, दर्शपाहुड़, दानशासन, श्रावकाचार ३२, बारह भावना, रत्नकरड श्रावकाचार आदि ग्रथो का गूढ ज्ञान सरल बनाते हुए, सुबोध करके प्रकाशित कराये है ओर महाव्रतियो द्वारा स्वय प्रकाश रूप प्रत्यक्ष हे ।

स्वय मे प्रकाश की दिव्यता, सयम को अतिचार रहित पालन करने मे अहर्निश लगे हुए, गुरु- ज्ञान से पूर्ण, आचायो ओर मुनियो द्वारा वर्तमान पर्यत अक्षुण्ण रूप से निर्झर की तरह अमृत रूप से प्रवाहित हो रही है । यही दर्शन ज्ञान और कृति सम्यक् कही गई है जोकि रत्नत्रय रूप मे अखड आत्मा-परमात्मा कहलाती है – निश्चय है यही । और देव, शास्त्र, गुरु की आराधना करना, सच्चे की यही है व्यवहार धर्म ।

परम पूज्य आचार्य रत्न, सत शिरोमणी १०८ आचार्य विद्यासागरजी महाराज के परम शिष्य, महान तपस्वी मुनि १०८ श्री भुतबली सागरजी महाराज रत्नत्रय पूर्वक अपने सघस्थ समुदाय के साथ धर्म-ध्यान पूर्वक उपरोक्त परम्परागत सर्वमान्य आगम ग्रथो का गहन अध्ययन करते हुए, चिन्तन-मनन पूर्वक ग्रथो के साररूप सकलन द्वारा अपने ज्ञान की विविध प्रकार विशुद्धि करते हुए, प्राचीनतम ग्रथो के अमृत से अपनी ग्रथियो को सराबोर करते हुए **"सम्यक् श्रामण्य भावना"** ग्रथ का प्रकाशन कन्नड भाषी होते हुए भी सरल एव सम्यक हिन्दी मे करके अपनी निर्मल एव सम्यक्ज्ञान की भावना का स्वय की सपादित कृति के रूप मे प्रवाहित सयम मार्ग का एक भगीरथ प्रयास ही है ।

इस ग्रथ का प्रकाशन सुन्दरतम, दानवीर, जिज्ञासु यथानाम तथा गुण सम्पन्न श्री प्रेमचदभाई पिता श्री बाबूरामजी जैन बम्बई द्वारा होना गुरु भक्ति, आगम भक्ति, आचार्य भक्ति, चौबीस तीर्थकरो की भक्ति और पच परमेष्ठी की भक्ति का प्रत्यक्ष प्रमाण है । देव-शास्त्र-गुरु की आराधना का मूक किन्तु शात भावो का यह एक अनुकरणीय उदाहरण है ।

इस ग्रथ का सम्पादन मुझ जैसे अल्पज्ञ से कैसे हो सका ? यह एक अचिन्त्य चमत्कार ही है । यह गुरु आज्ञा (व्रत पालन) का सम्भावित समाचार है । और यह ही है श्रद्धा व आत्मविश्वास का प्रतिफल । काश यह मेरी ग्रथियो मे भी प्रवाहित, प्रकाशित होकर स्वरूप का बोध कराने मे शीघ्रातिशीघ्र समाहित हो ।

परम पूज्य मुनिराज द्वारा पूर्व मे भी "कैवल्यसार सग्रह" "सम्यक्त्व कुभ", "जैन मुक्तिभारती", "कर्मो की अवस्था" (गधात्मक श्रावकाचार योग्य) तथा स्वय की पद्यात्मक रचना "चिन्तन के सुमन" तथा दान शासन और आत्मानुशासन हिन्दी ग्रथो का कन्नड भाषा मे प्रकाशित कर अनन्य उपकार किया है ।

मूलाचार ग्रथ प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी टीका कन्नड़ भाषा मे प्रकाशित ग्रथ को देखकर पूर्वाचार्यों द्वारा किया गया पुरुषार्थ आज भी उसी गरिमा के साथ सौरभ-सुरभित करता हुआ वर्तमान मे परम तपस्वी मुनि भूतबली सागरजी महाराज श्री के रग-रग मे प्रवाहित हो रहा है । जिसकी गति अमिट है और अटल भी । इसे कोई भी **"सम्यक् श्रामण्य भावना"** ग्रथ के आद्योपात अध्ययन मे प्राप्त कर सकता है ।

पुन तीर्थकरो, पच परमेष्ठियो, जिनवाणी और इनके आराधको के चरण कमलो मे मेरा बारम्बार नमस्कार है ।

विज्ञजनो से भी प्रार्थना है कि भूल ग्रहण न कर सुधार-स्वरूप ही अगीकार करे ।

**नाम रहित और गुण सहित, वन्दू मै "नवकार" ।**
**त्रिकाल, त्रियोग सम्हारिके हो जाऊ भव पार ॥**
**रत्नत्रय धारी मुनि, भूतबलीजी महाराज ।**
**जबतक न स्व-पद मिले, रहू आपके पास ॥**

इति ।

दिनाक २८/९/१९९७
वीर निर्वाण सम्वत २५२३

विनीत,
गुरु चरणरज सेवक,
**सोहनलाल बज**

पो हाटपीपल्या,
जि देवास, मध्यप्रदेश

# भूमिका

इस "**सम्यक् श्रामण्य भावना**" (सम्यक् पूर्वक श्रमण सस्कृति की भावना) ग्रथराज मे आदिनाथ भगवान के बताये हुए श्रावक धर्म और मुनि धर्म का वर्णन किया है। इन दोनो धर्मो मे पहला परपरासे मोक्ष के लिए कारण है। दूसरा मुनि धर्म साक्षात मोक्ष का कारण है। इनमे रत्नत्रय धर्म मे सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र साक्षात मोक्षका कारण है। सच्चे देव, सच्चे गुरु और सच्चे धर्म (शास्त्र) के ऊपर स्वय आत्मभाव और श्रद्धा सम्यक् दर्शन की उत्पत्ति का कारण बताया है। गृहस्थ धर्म मे आरभ आदि उद्योग करते हुए जीवोकी रक्षा के भाव रखते हुए आरभ आदि मे जो हिसा होती है उन पापो को धोने के लिए देव पूजा, गुरुपास्ती, स्वाध्याय, सयम, तप, दान आवश्यक है। इन क्रियाओ से जीव किए हुए पापो से बचकर पुण्य कर्म को बाधकर क्रम से चारित्र प्राप्त कर केवल ज्ञान के लिए तप मे तत्पर होता हुआ, घाती कर्मो को नाशकर अनत दर्शन, अनत ज्ञान, अनत सुख और अनत वीर्य प्राप्त करता है।

इस ग्रथ मे अनत मिथ्यात्व के नाश करने का और सम्यकत्व प्राप्त करने के लिए भगवान महावीर के अनुशासन के अनुसार बडे बडे पूर्वाचार्यो जैसे श्री दर्शनाचार्य के शिष्य श्री भूतबली और पुष्पदत आचार्यो के धवल - जय धवल षट्खडागम्, श्री कुदकुदाचार्य रचित मूलाचार, श्री अमृतचद्राचार्य रचित पुरुषार्थ सिद्धि उपाय, श्री जयसेनाचार्य रचित समयसार टीका, श्री समतभद्राचार्य रचित रत्नकरड श्रावकाचार, श्री कार्तिकाचार्य रचित कार्तिकानुप्रेक्षा, श्री जिनसेनाचार्य रचित महापुराण, श्री सोमदेवसूरी रचित यशस्तिलक आदि, श्री चामुडराय रचित चारित्र सार, श्री अमितगति आचार्य रचित श्रावकाचार, श्री वसुनदी आचार्य रचित वसुनदी श्रावकाचार, श्री अकलक देव रचित तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक, श्री विद्यानदजी रचित आप्त निवास, श्री पद्मनदी

आचार्य रचित पचविशती श्री पडित मेधावी रचित श्रावकाचार आचार्य सकलकीर्ति रचित प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, श्री गुणभूषण रचित श्रावकाचार, श्री नेमिदत्त रचित धर्मोपदेश श्रावकाचार, प [illegible] रचित लाठी सहिता श्रावकाचार, श्री उमास्वामी आचार्य रचित श्रावकाचार, श्री पूज्यपाद आचार्य रचित श्रावकाचार [illegible] श्री अभ्रदेव रचित व्रतोघात श्रावकाचार श्री पद्मनन्दी रचित पद्मनदी श्रावकाचार, श्री सोमदेव सूरी रचित उपासकाध्ययन आचार्य रविषेण रचित पद्मचरितगत् श्रावकाचार, श्री देवसेनाचार्य रचित प्राकृत भाव सग्रह, श्री वामदेव रचित सस्कृत भाव सग्रह प [illegible] रचित पुरुषार्थ अनुशासन, श्री कुदकुदाचार्य रचित रयणसार [illegible], योगसार पाहुड, श्री प पोमचर्य रचित श्रावकाचार श्री [illegible] रचित वरागचरित श्रावकाचार, प आशाधर रचित नित्य महोद्योत श्रावकाचार आदि और वर्तमान आचार्य शान्तिसागरजी महाराज, श्री वीर सागरजी महाराज, श्री शिवसागरजी महाराज, श्री ज्ञानसागर आदि महाराज द्वारा सम्यक् दर्शन के लिए सच्चे देव, सच्चे शास्त्र ओर सच्चे गुरु, छ द्रव्य, सात तत्त्व, नो पदार्थ, पचास्तिकाय के ऊपर श्रद्धा करने से सम्यग दर्शन प्राप्त होता है । हिसा आदि पापो से बचने के लिए यज्ञ, याग, होम, हवन आदि ओर यन्त्र-मन्त्र-तन्त्र से बचकर महामन्त्र णमोकार का सहारा लेकर, शुद्ध रूपसे देव पूजा आदि षट्-क्रिया करना और अहिसा धर्म के लिए छोटे मोटे प्राणियोकी हत्या नही करना, चुरा बातो को लेकर कषायादि नही करना, प्रेम-वात्सल्य भाव से रहते हुए दूसरो की निदा नही करना, उच्च गोत्र बाधने के लिए सावधान होकर सोच समझकर धर्माचरण करना यही श्रावक और मुनि दोनो का सम्यक् लक्षण है । यही जिनेन्द्र भगवानका हितोपदेश है । भव्य जीव को मन-वचन-काय से ग्रहण कर आत्म कल्याण करना यही श्रेयस्कर है । यही आदेश है, यही उपदेश है ।

इसी के अनुसार करनेसे सम्यक् दर्शन की उत्पत्ती होती है और इन सभी आचार्यो का मत है की शुद्ध बनने के लिए शुद्ध क्रिया करना ही श्रावक धर्म कहा है ।

मुनियो के लिए अपने ध्यान-अध्ययन करते हुए आरभ आदि सावध्य क्रियाओ से रहित रहने से मुनि का महाव्रत अतिचार रहित पल सकता है । मुनियो के लिए इस ग्रथ मे स्त्रियो को सात हाथ दूर से नमस्कार करना और आहार मे एक हाथ दूर रहकर आहार देना । अनजाने मे लगे दोष दूर करने के लिए आहार के बाद प्रत्याख्यान लेकर प्रतिक्रमण करके इन दोषो को दूर कर सामायिक मे बैठने के लिए कहा है । इसके विरुद्ध कार्य करता मुनि अपने मुनिपद से च्युत होकर पार्श्वस्थ दोषी मुनि कहलाएगा ।

इस ग्रथ मे श्रावको और मुनियो के लिए अपने कर्मो का क्षय करने के लिए कर्म के स्वभाव आदि समझकर अशुभ कर्मो से बचना, शुभ कर्मो मे प्रवृत्त होते हुए कर्मो के उत्कर्षण, अपकर्षण, उदय, उदीरणा, आस्त्रव, बध, सवर, निर्जरा आदि करने के लिए सम्यक् पुरुषार्थ करने की विधि का सग्रह किया है और वैराग्य की बारह भावना भाते हुए पच-परावर्तन रूपी ससार को त्यागकर मोक्ष सुख को प्राप्त करने के लिए कहा गया है ।

विनीत,

**शांतिलाल बेचरदास गाधी**

**C A**

२/२१, कल्याण बिल्डीग न २,
सदाशिव क्रॉस लेन, गिरगाम,
मुबई - ४०० ००४
दूरध्वनि - ३८२२६८१

# आभार

कुछ सयोग पुरुषार्थ पूर्वक जुटाये जाते है और कुछ सयोग स्वय मिल जाते है ऐसा ही एक अपूर्व सयोग मिला बम्बईवालो को जब बम्बई मे मुनि श्री १०८ भूतबली सागर जी महाराज का पदार्पण हुआ और चर्चा चली प्रस्तुत ग्रन्थ **सम्यक् श्रामण्य भावना** के प्रकाशन की।

दिल्ली के सम्माननीय श्रावक श्री प्रेमचद बाबुलालजी जैन उस समय वही बैठे थे। उन्होंने जब सुना कि प्रस्तुत ग्रन्थ महाराज श्री प्रकाशन करने की भावना कर रहे है, जोकि वैराग्य का मूलस्रोत है तब वे तत्काल बोल उठे कि 'इस ग्रन्थ का प्रकाशन हम करायेगे' और उसी समय प्रकाशन कार्य की जिम्मेदारी उन्होने ले ली। फिर तो सारे निमित्तो ने एक साथ मिलकर 'मणिकाचन सयोग' का रूप धारण कर लिया और ग्रन्थ के मुद्रण का निर्णय ले लिया।

अब बम्बई निवासी श्री प्रेमचदजी जैन ने ग्रन्थ के प्रकाशन मे अपनी चचला लक्ष्मी का उपयोग कर जो आर्थिक सहयोग प्रदान किया है तदर्थ परम पूज्य मुनि श्री का शुभाशीर्वाद है एव मुम्बई की भूलेश्वर समाज सर्वश्री पवन जैन, रमेश जैन, मनोज जैन एव उनका समस्त परिवार जिन्होने इस पुण्यार्जित काम मे तन मन धन से सहयोग दिया उनके प्रति आभार प्रगट करता है।

धार्मिक भावनाओ से ओतप्रोत सामाजिक प्रत्येक कार्यों मे उदारता पूर्वक दान देने के इच्छुक उक्त महानुभाव एव उनका समस्त परिवार इसी प्रकार से ज्ञानदान आदि मे अपनी भावना बनाये रखे यही उनके उज्ज्वल भविष्य के लिये मगल कामना है।

**– सकल दिगबर जैन समाज**

भूलेश्वर, मुबई

# अनुक्रमणिका

**पुरुषार्थ सिद्धयुपाय**

# प्राक्कथन

भव्य जीवो,

**जिसके जीवन मे गुरु नही, उसका जीवन शुरु नही ।**

एक समय इस जैन धर्म के लिए इस भारत वर्ष मे ऐसा बीत चुका है कि जिस समय इस पवित्र जैन धर्म का नगाडा चारो ओर इस भूमडल पर निर्भय रीति से बजता था । अनत केवलि इस भूमडल पर विहार कर अपने ज्ञानरूपी सूर्य से समस्त ससार के अज्ञानाधकार को दूर करते थे । जीवो को उत्तम मार्ग का उपदेश देकर मोक्ष की और झुकाते थे । अनते निर्ग्रथ मुनिगण भाति-२ के उग्रतपो को करते थे, उग्रध्यान के बल से अपने आत्मस्वरूप के रस को भलिभाति आस्वादन करते थे, और जीवो को भी आस्वादन कराने की रातदिन कोशिश किया करते थे । उन निर्ग्रथ मुनिश्वरो मे कई आचार्यपद के और कई उपाध्याय पद के धारी होते थे । शिक्षा दीक्षा देना इत्यादी आचार्यो का मुख्य कर्म था उसका वे भलिभाति निभाते थे । उन्ही आचार्यो की कृपा से एव शिक्षा से अनगिनत जीव निर्ग्रथ अवस्था प्राप्त करते थे और मोक्ष की प्राप्ति मे सदा प्रयत्नशील रहा करते थे । इसी भाति अनेक उपाध्याय गण भी इस भूमडल पर विहार करते थे । अपने पठन-पाठन कर्म मे ये पवित्र आत्मा के स्वरूप के जाननेवाले उपाध्याय सदा निष्णात रहते थे । जिस दिशा की और देखते थे उस दिशा मे यही देखने मे आता था कि उपाध्याय पद के धारी मुनिश्वर 'हजारो शिष्यो' को वास्तविक स्वरूप का अध्यापन करा रहे है कही पर किसी विषय और कही पर किसी विषय का वर्णन किया जा रहा है ।

पचम काल के प्रभाव से यह प्राचीन ऋषि समाज बहुकाल से दृष्टिगोचर नही होने लगा तब जैन धर्म का पठन-पाठन बहुत कम होने लगा । यहा तक की २५ वर्ष पहले की बात हे कि सस्कृत

शास्त्रो के पाठी कही कोई कोई दृष्टिगोचर होते थे । परतु हर्ष है कि १०-१५ वर्ष से फिर इस पवित्र धर्म का पठन-पाठन इस तरह बढ रहा है कि जिससे विधर्मी लोगो की भी श्रद्धा दृष्टिगोचर होने लगी है ।

पाठको ! यह कृपा और किसी की मत समझिये, सिर्फ यह सव कृपा है तो जैन ग्रन्थो की ही क्योकि जब से लोगो को जेनधर्म ग्रन्थो को देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है । जबसे उन्होने जैन धर्म के स्वरूप को जाना है । तब से ही यह बात है ।

जैन धर्म के प्रेमियो ! तीर्थकरो की दिव्य देशना को निरतर प्रवाहमान करने का श्रेय हमारे महान जैनाचार्यो को है । जिन्होने अपनी सम्यक् ज्ञान - ध्यान - तप को साधना से अनत भव्यो को तीर्थकरो की महामगल वाणी से आस्वादित किया इसलिये ये निर्ग्रन्थ आचार्य, हम सबके लिये भगवत सम पूज्य है । इन महान् आचार्यो की वाणी अनत जीवो के लिये सदैव से कल्याणी रही है । जो भी ज्ञान पूर्वक प्रवृत्ति उनके जीवन मे घटित हुई । आत्म चितन के आलोक मे भाषा का रूप शब्दो के माध्यम से उस अनुभूति को जन-जन के कल्याण के लिये आगम के रूप मे हमे प्रदान की ।

धर्मप्रेमी बधुओ उन्ही आचार्यो की परपरा मे परम पूज्य आचार्य श्री सत शिरोमणि विद्यासागर जी महाराज के परम शिष्य मुनि श्री १०८ भूतबलि सागर जी महाराज के मन मे एक सद्विचार आया कि उन्ही आचार्यो की वाणी को फिर से जन-जन तक पहुचाने की भावना जागृत हुई और लेखनी के माध्यम से अरिहत कथित व आचार्य लिखित वाणी को हम तक पहुचाने की कृपा की ।

आप सब इन आचार्यो की वाणी को सहर्ष पवित्र हृदय से पढे निश्चित ही आपका कल्याण होगा इस पुस्तक मे महान् आचार्य जैसे कुदकुद, समतभद्र, अमतगति, उमास्वामी आदि आचार्यो के ग्रन्थो से

विचारो को सग्रह किया गया है । अत हम सब उन आचार्य के वचनो को हृदय मे उतारे और अपने जीवन को निहारे, कि हम कहा है यह ऐसा ग्रथ है जिसके माध्यम से हमारा अज्ञानाधकार निश्चित ही दूर होगा । यह मनुष्य भव हमे आत्मकल्याण के लिये मिला है इस बात को ध्यान मे रखते हुए हम उन आचार्यो के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करे यदि उनकी वाणी हमारे हृदय को छू लेगी तो उन्हे कितना आनद होगा कि चलो हमारे निमित्त से किसी को मार्ग मिला । यदि आज हमारे सामने जैनाचार्य नही होते तो हमे कौन रास्ता दिखाता ? आज हम सब उन महान् आचार्यो की कृपा से वर्तमान मे भी उन्ही आचार्यो के प्रतिरूप आचार्य उपाध्याय और मुनियो के दर्शन कर पा रहे है । यदि वे नही होते तो आज हम कहॉ के होते यह अदाजा सहज ही लगा सकते है ।

अत हे भव्य जीवो । इस ग्रन्थ के माध्यम से निश्चित ही हमे मोक्ष मार्ग की राह मिलेगी आप अपने जीवन मे इस ग्रन्थ को पढें और अपने साथियो को पढावे क्योकि **"जलते नित्य दीप से दीप"** एक व्यक्ति के माध्यम से कितनो को रास्ता मिल जाता है । यह ग्रन्थ आपके जीवन को बहुत ही प्रेरणादायी है अत इस ग्रन्थ का स्वाध्याय अवश्य कीजिए ।

अत मे मुनि १०८ श्री भूतबली सागर जी महाराज को कोटिश नमन करते हुए लेखनी को यही विराम देती हूँ । जिनके माध्यम से हमे मोक्षमार्ग मिला है और जो स्वय मुक्ति पथ के पथिक है और अनत भव्य जीव जिनके पथ का अनुशरण कर रहे है और जो करेगे वे निश्चित ही एक दिन अपने आत्मस्वरूप को प्राप्त करेगे ।

**– गुरु चरण मे लीन**

बा ब्र मजुला दीदी

# तीर्थकर की माता के १६ स्वप्न दर्शन और उनका फल

१ गर्जना करने वाला सफेद हाथी को देखा ।

१ पुण्याधिकारी सर्वश्रेष्ठ तीन लोक का अधिपति (तीर्थकर) पुत्र होगा ।

२ सफेद बल को देखा ।

२ धर्मधारी जगत्पूज्य होगा ।

३ सिंह को देखा ।

३ अनन्त बल का धारी होगा ।

४ लक्ष्मी का कलशाभिषेक देखा ।

४ धर्म की वृद्धि करेगा ।
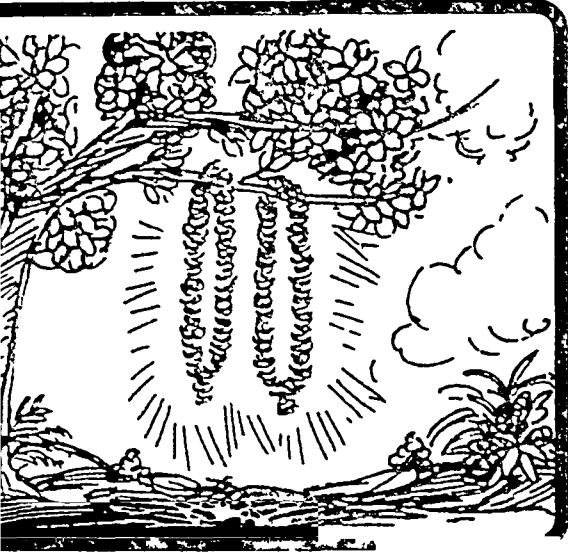
लटकती हुई फूलो की दो मालाएँ देखी ।

सुमेरु पर्वत पर अभिषेक होगा ।

६ पूर्ण चन्द्रमा को देखा ।

६ तीन लोक मे आनन्दकारी होगा ।
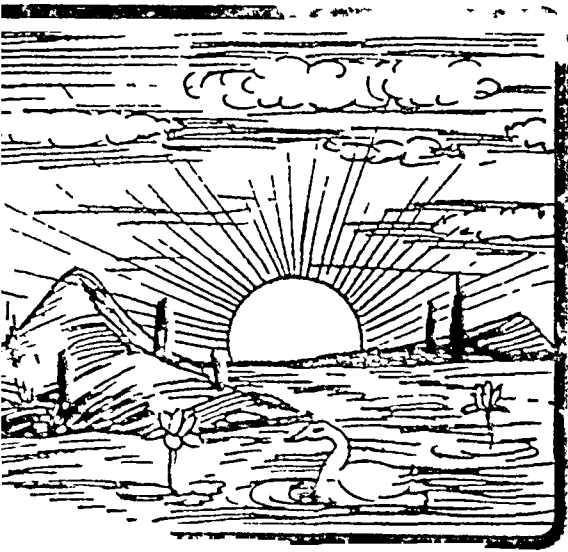
उदय होते हुये सूर्य को देखा ।

महा प्रतापी होगा ।
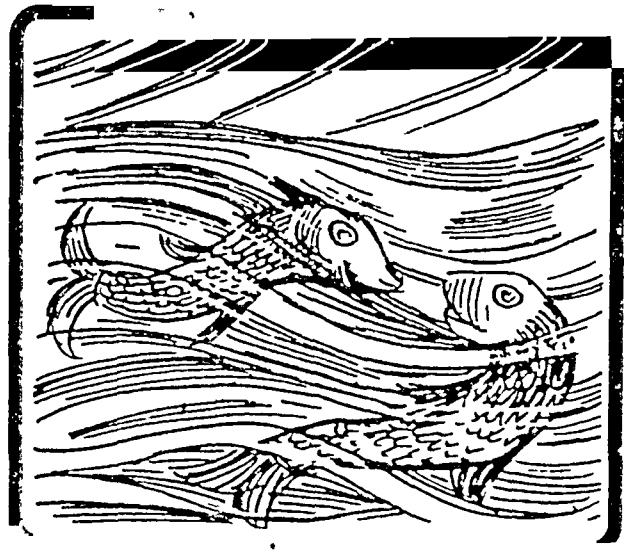
८ सरोवर मे क्रीडा करने वाले दो मीन देखे ।

८ अनेक निधि का स्वामी होगा ।

९ स्वर्णमय दो पूर्ण कलश देखे ।

९ अनेक सुखो का भोक्ता होगा ।
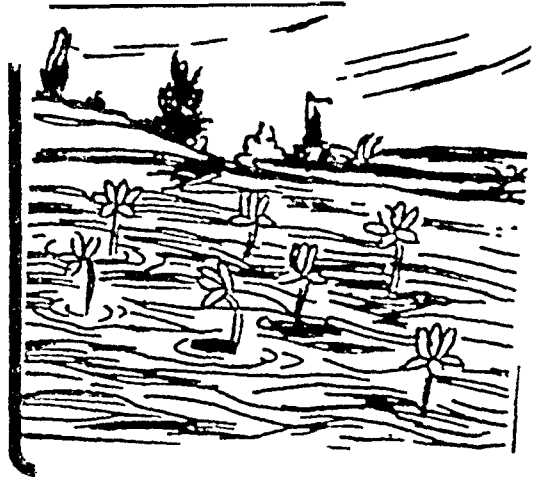
१० पद्म सरोवर देखा ।

१० एक हजार आठ लक्षणो का धारी होगा ।

११ उन्मत्त लहर युक्त समुद्र देखा ।

११ केवलज्ञान का धारी होगा ।
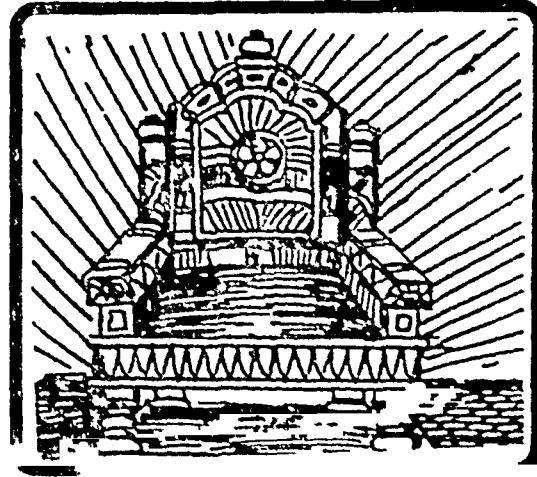
१२ रत्नजड़ित सिंहासन देखा ।

१२ बडे राज्य का भोक्ता होगा ।
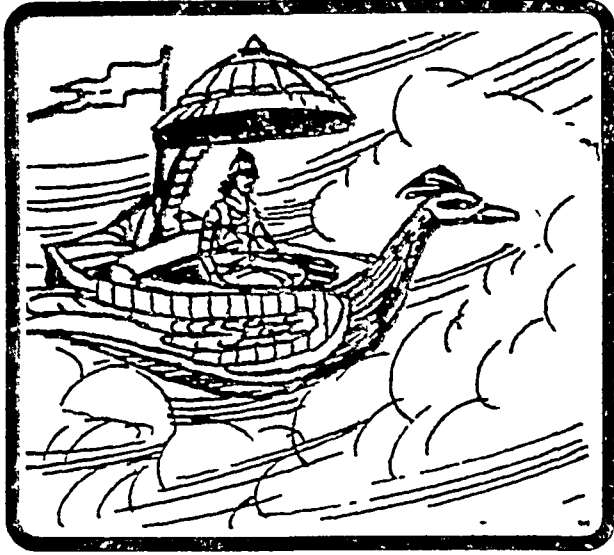
१३ स्वर्ग का देव विमान देखा ।

१३ स्वर्ग से अवतार होगा ।
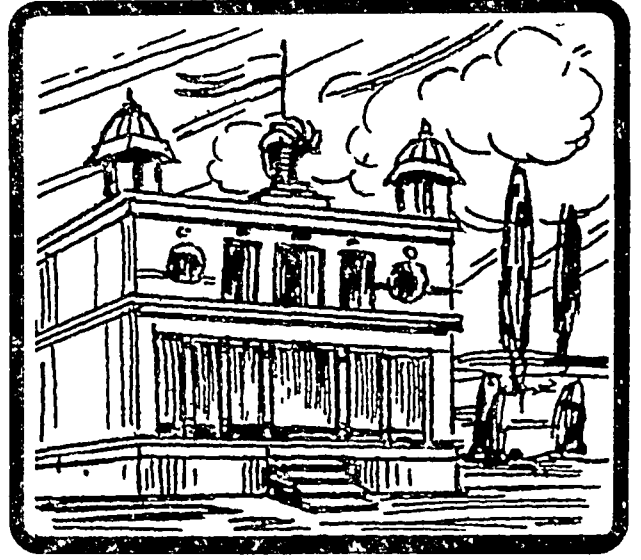
१४ धरणेन्द्र (नागेन्द्र) भवन देखा ।

१४ जन्म से ही अवधिज्ञानी होगा ।
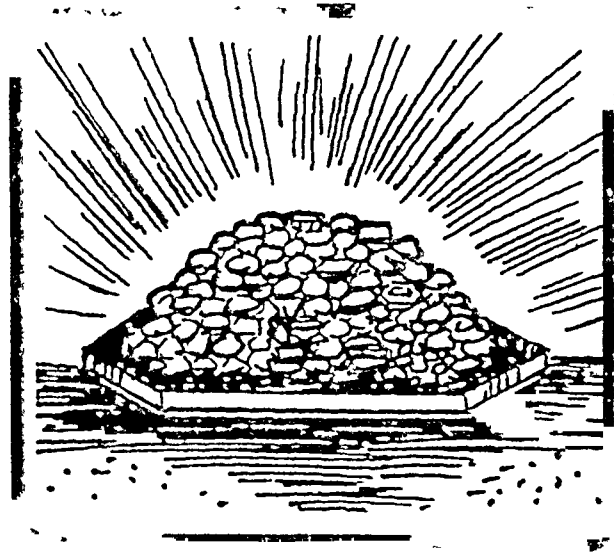
१५ प्रकाशमान रत्नराशी देखी ।

१५ गुणों का निधान होगा ।
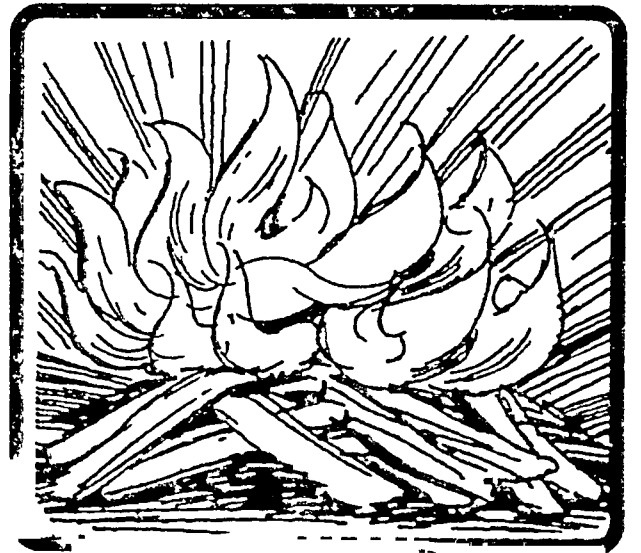
१६ धूम रहित प्रखर अग्नि ज्वाला देखी ।

१६ अष्ट कर्म का नाश करेगा ।

परमपूज्य मुनि

श्री १०८ भूतबली सागरजी महाराज

# -: प्रस्तावना :-

*क्षपकेण पृष्ट आचार्य प्राह—*

**कंदप्पमाभिजोग्गं किव्विस सम्मोहमासुरत्तं च ।**
**ता देवदुग्गईओ मरणम्मि विराहिए होंति ।।६३।।**

**आचारवृत्ति** · हे भट्टारक । देव दुर्गति का क्या लक्षण है ? बोधि का क्या स्वरूप है ? किस परिणाम से मरण नही जाना जाता है ? तथा किन कारणो से यह जीव, जिसका पार पाना कठीन है ऐसे अपार ससार मे भ्रमण करता है ?

क्षपक के द्वारा प्रश्न होने पर आचार्य कहते है —

**गाथार्थ :** मरण काल मे विराधना के हो जाने पर कान्दर्प, आभियोग्य, किल्विषक, स्वमोह और आसुरी ये देवदुर्गतियॉ होती है ।।६३।।

**आचारवृत्ति :** यहॉ पर द्रव्य और भाव मे अभेद करके कहा गया है अर्थात् ये कन्दर्प आदि भावनाऍ भाव है और इनसे होनेवाली उन-उन जाति के देवो की जो पर्याये है वे यहॉ द्रव्य रूप है । इन दोनो मे अभेद करके ही यहॉ पर इन भावनाओ को देवदुर्गति कह दिया है । कन्दर्प का भाव कान्दर्प है अर्थात् उपप्लव स्वभाववाला गुण (शील और गुणो का नाश करनेवाला भाव) कान्दर्प है । अभियोग का भाव आभियोग्य है अर्थात् तन्त्र-मन्त्र आदि के द्वारा रस आदि मे गृद्धता का होना । किल्विष का भाव कैल्विष है अर्थात् प्रतिकूल आचरण का होना । अपने मे मोह का होना स्वमोह है उसका भाव स्वमोहत्व है, अथवा श्व अर्थात् कुत्ते के मोह के समान मोह वेद का उदय है - जिसके वह श्वमोह हे उसका भाव श्वमोहत्व है । अथवा मोह के साथ जो रहता है उसका भाव समोहत्व हे अर्थात् मिथ्यात्व का होना । असूर के भाव को असुरत्व कहते है अर्थात् रौद्र परिणाम सहित आचरण का होना । ये देवदुर्गतियॉ है । अर्थात् इन पॉच गुणो

से इन्ही पॉच प्रकार के देवो मे जन्म लेना पडता है । इसलिए यहॉ पर इन परिणामो को ही देवदुर्गति कह दिया है । यहॉ पर कारण मे कार्य का उपचार समझना चाहिए । तात्पर्य यह हुआ कि मरण के समय सम्यक्त्वगुण की विराधना हो जाने पर ये कन्दर्प, अभियोग्य, किल्विष, स्वमोह और असुर इन देवो की पर्यायो मे उत्पत्ति हो जाती है ।

**विशेषार्थ** · इन कन्दर्प आदि भावनाओ को करने से साधु को सम्यक्त्व रहित असमाधि होने से इन्ही जाति के देवो मे जन्म लेने का प्रसग हो जाता है । आगे इन्ही कत्यर्प आदि भावनाओ का लक्षण स्वय बताते है ।

*कि तत्कान्दर्प इत्यत आहे*

**असत्तमुल्लावेतो पण्णावेतो य बहुजण कुणइं ।**
**कदप्प रइसमावण्णो कदप्पेसु उववज्जइ ।।६४।।**

वह कन्दर्प क्या है ? ऐसा पूछने पर कहते है —

**गाथार्थ** जो साधु असत्य बोलता हुआ और उसी को बहुतजनो मे प्रतिपादित करता हुआ रागभाव को प्राप्त होता है, कन्दर्प भाव करता है और वह कन्दर्प जाति के देवो मे उत्पन्न होता है ।।६४।।

**आचारवृत्ति** जो राग के उद्रेक से सहित होता हुआ स्वय असत्य बोलता है और बहुतजनो मे उसी का प्रतिपादन करते हुए कन्दर्प-भावना को करता है वह कन्दर्प कर्म के निमित्त से कन्दर्प जाति के जो नग्नाचार्य देव है उनमे जन्म लेता है । अथवा जो साधु स्वय असत्य बोलता हुआ और उसी की भावना करता हुआ बहुतजनो को भी अपने समान करता है अर्थात् उन्हे भी असत्य मे लगा देता है वह कन्दर्प भावना-रूप राग से युक्त होता हुआ कन्दर्प जाति के देवो मे उत्पन्न होता है ।

**विशेषार्थ .** अन्यत्र देव जातियो मे 'नग्नाचार्य' ऐसा नाम देखने मे नही आता है । ' मूलाचारप्रदीप ' अध्याय १०, श्लोक ६१-६२ मे 'कन्दर्प जाति के देवो को नग्नाचार्य कहते है' ऐसा लिखा है। तथा प जिनदास फडकुले सोलापुर ने 'मूलाचार' की हिन्दी टीका मे कन्दर्प देवो का अर्थ 'स्तुतिपाठक देव' किया है । यह अर्थ कुछ सगत प्रतीत होता है ।

*अथ किमभियोगकर्मेति तेनोत्पत्तिश्च का चेदतः प्राह–*

**अभिजुंजइ बहुभावे साहू हस्साइयं च बहुवयणं ।**
**अभिजोगेहि कम्मेहि जुत्तो वाहणेसु उववज्जइ ।।६५।।**

अभियोग कर्म क्या है और उससे कहॉ उत्पत्ति होती है ? ऐसा पूछने पर आचार्य कहते है –

**गाथार्थ :** जो साधु अनेक प्रकार के भावो का और हास्य आदि अनेक प्रकार के वचनो का प्रयोग करता है वह अभियोग कर्मो से युक्त होता हुआ वाहन जाति के देवो मे उत्पन्न होता है ।।६५।।

**आचारवृत्ति ·** जो साधु तन्त्र-मन्त्र आदि नाना प्रकार के प्रयोग करता है और हॅसी, काय की कुचेष्टा सहित हॅसी — कौत्कुच्य ओर पर मे आश्चर्य उत्पन्न कराना आदि रूप बहुत से वाग्जाल को करता है वह इन अभियोग क्रियाओ से युक्त होता हुआ हाथी, घोडे, मेष, महिष आदि रूप वाहन जाति के देवो मे उत्पन्न होता है । तात्पर्य यह है कि जो साधु रस आदि मे आसक्त होता हुआ तन्त्र-मन्त्र और भूकर्म आदि का प्रयोग करता है, हॅसी-मजाक आदि रूप बहुत बोलता है वह इन कार्यो के निमित्त से वाहन जाति के देवो मे जन्म लेता है । वहॉ उसे विक्रिया से अन्य देवो के लिए वाहन हेतु हाथी घोडे आदि के रूप बनाने पडते है ।

*किल्विषभावनास्वरूप तेथोत्पत्ति च प्रतिपादयन्नाह–*

तित्थयराण पडिणीओ सघस्स य चेइयस्स सुत्तस्स ।
अविणीदो णियडिल्लो किब्विसियेसूववज्जेइ ।।६६।।

किल्विष भावना का स्वरूप और उससे होनेवाली उत्पत्ति को कहते है—

**गाथार्थ** जो तीर्थकरो के प्रतिकूल है, सघ, जिन प्रतिमा ओर सूत्र के प्रति अविनयी है ओर मायाचारी है वह किल्विष जाति के देवो मे जन्म लेता है ॥६६॥

**आचारवृत्ति** ससार समुद्र से पार होने के उपाय रूप तीर्थ को करनेवाले तीर्थकर है, उन्हे अर्हन्त भट्टारक कहते है उनके जो प्रतिकूल है, तथा ऋषि, यति, मुनि ओर अनगार को सघ कहते है अथवा मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका इनको भी चतुर्विध सघ कहते है । अथवा सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ओर तप को भी सघ शब्द से कहा है । सर्वज्ञदेव की प्रतिमा को चैत्य कहते है । बारह अग और चौदह पूर्व को सूत्र कहते है । जो ऐसे सघ, चैत्य और सूत्र के प्रति विनय नही करते है और दूसरो को ठगने मे कुशल है, वे इस किल्विष कार्यो के द्वारा पटह आदि वाद्य बजानेवाले किल्विषक जाति के देवो मे उत्पन्न हो जाते है ।

**विशेषार्थ** इन किल्विषक जाति के देवो को इन्द्र की सभा मे प्रवेश करने का निषेध है । ये देव चाण्डाल के समान माने गये है । जो साधु सम्यक्त्व से च्युत होकर तीर्थकर देव आदि की आज्ञा नही पालते है, उपर्युक्त दोषो को अपने जीवन मे स्थान देते है, वे पूर्व मे यदि देवायु बॉध भी ली हो तो मरकर ऐसी देवदुर्गति मे जन्म ले लेते है ।

*सम्मोहभावनास्वरुप तदुत्पत्या सह निरूपयन्नाह—*

**उम्मग्गदेसओ मग्गणासओ मग्गविपडिवण्णो य ।**
**मोहेण य मोहतो समोहेसूववज्जेदि ॥६७॥**

सम्मोह भावना का स्वरूप और उससे होने वाली देव दुर्गति को बताते है—

**गाथार्थ** · जो उन्मार्ग का उपदेशक है, सन्मार्ग का विघातक तथा विरोधी है वह मोह से अन्य को भी मोहित करता हुआ सम्मोह जाति के देवो मे उत्पन्न होता है ॥६७॥

**आचारवृत्ति** . जो उन्मार्ग अर्थात् मिथ्यात्व आदि का उपदेशकर्ता है, सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप मोक्षमार्ग की विराधना करनेवाला है, तथा इसी सन्मार्ग के विपरीत है अर्थात् स्वतीर्थ का प्रवर्तक है। वह साधु मिथ्यात्व अथवा माया के प्रपच से अन्य लोगो को विपरीत बुद्धिवाला करता हुआ समोह कर्म के द्वारा स्वच्छन्द प्रवृत्तिवाले सम्मोह जाति के देवो मे उत्पन्न होता है।

*आसुरी भावनां तथोत्पत्तिं च प्रपंचयन्नाह–*

**खुद्दी कोही माणी मायी तह संकिलिट्ठो तवे चरित्ते य।**
**अणुबद्धवेररोई असुरेसूववज्जदे जीवो ॥६८॥**

अब आसुरी भावना को और उससे होनेवाली गति को बताते है—

**गाथार्थ :** जो क्षुद्र, क्रोधी, मानी, मायावी है तथा तप और चारित्र मे सक्लेश रखने वाला है, जो बैर को बाधने मे रुचि रखता है वह जीव असुर जाति के देवो मे उत्पन्न होता है ॥६८॥

**आचारवृत्ति** . जो क्षुद्र अर्थात् चुगलखोर है अथवा हीन परिणाम वाला, क्रोध स्वभाव वाला है, मान-कषायी है, मायाचार प्रवृत्ति रखता है, तथा तपश्चरण करते हुए और चारित्र को पालते हुए भी जिसके परिणामो मे सक्लेष भाव बना रहता है अर्थात् परिणामो मे निर्मलता नही रहती, जो अनन्तानुबन्धी रूप बैर को बॉधने मे रुचि रखता है अर्थात् किसी के साथ कलह हो जाने पर उसके साथ अन्तरग मे ग्रन्थि के समान बैरभाव बॉध कर रखता है ऐसा जीव इन असुर भावनाओ के द्वारा असुर जाति मे, अन्तर्भेदरूप एक अबावरीष जाति है उसमे जन्मता है। ये अबावरीष जाति के देव ही नरको मे जाकर नारकियो को परस्पर मे पूर्वभव के बेर का

स्मरण दिला-दिलाकर लडाया करते है ओर उन्हे लडते-भिडते दु खी होते देखकर प्रसन्न होते रहते ह ।

*व्यतिरेकद्वारेण बोधि प्रतिपादयन्नाह–*

**मिच्छादसणरत्ता सणिदाणा किण्हलेसमोगाढा ।**
**इह जे मरति जीवा तेसि पुण दुल्लहा बोही ॥६९॥**

अब व्यतिरेक कथन द्वारा बोधि का प्रतिपादन करते ह–

**गाथार्थ** · यहॉ पर जो जीव मिथ्यादर्शन से अनुरक्त, निदान-सहित और कृष्णलेश्या से मरण करते है उनके लिए पुन बोधि की प्राप्ति होना दुर्लभ हे ॥६९॥

**आचारवृत्ति** · जो अतत्त्व के श्रद्धान सहित हे, भविष्य मे ससार-सुख की आकाक्षारूप निदान से सहित हे, ओर अनन्तानुबन्धी कषाय से अनुरजित योग की प्रवृत्तिरूप कृष्णलेश्या से सयुक्त रौद्र-परिणामी हे ऐसे जीव यदि यहॉ मरण करते हे तो पुन सम्यक्त्व सहित शुभ परिणाम रूप बोधि उनके लिए बहुत ही दुर्लभ हे । तात्पर्य यह है कि यदि एक बार सम्यक्त्व होकर छूट जाय तो पुन अधिक से अधिक यह जीव किचित् कम अर्धपुद्गल परिवर्तन मात्र काल तक ससार मे भटक सकता हे । इसीलिए यहॉ ऐसा कहा है कि सम्यग्दृष्टि का अर्धपुद्गल परिवर्तन मात्र काल ही शेष रहता है और बोधि सम्यक्त्व के बिना नही हो सकता है अत बोधि का सम्यक्त्व के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है इसीलिए यहॉ पर बोधि का लक्षण ही कहा गया है । अर्थात् प्रश्नकर्ता ने बोधि का लक्षण पूछा था सो बोधि की दुर्लभता और सुलभता को बतलाते हुए सम्यक्त्व के माहात्म्य को बताकर आचार्य ने प्रकारान्तर से बोधि का लक्षण ही बताया है ऐसा समझना ।

*अन्वयेनापि बोधेर्लक्षणमाह–*

**सम्मद्दंसणरत्ता अणियाणा सुक्कलेसमोगाढा ।**
**इह जे मरति जीवा तेसि सुलहा हवे जोही ॥७०॥**

अब अन्वय द्वारा भी बोधि का लक्षण कहते है—

**गाथार्थ** · जो सम्यग्दर्शन मे तत्पर है, निदान भावना से रहित है और शुक्ललेश्या से परिणत है ऐसे जो जीव मरण करते है उनके लिए बोधि सुलभ है ॥७०॥

**आचारवृत्ति :** जो तत्त्वो मे रुचिरूप सम्यग्दर्शन से युक्त है, इह लोक और परलोक की आकाक्षा से रहित है, शुक्ल लेश्यामय निर्मल परिणामवाले है ऐसे जीव सन्यास विधि से मरते है अत उन्हे बोधि की प्राप्ति सुलभ ही है ।

यद्यपि पूर्व की गाथा से ही बोधि के महत्त्व का अर्थबोध हो जाता है फिर भी द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय से समझनेवाले शिष्यो का सग्रह करने के लिए दोनो प्रकार के शिष्यो को समझाने के लिए ही यहॉ पहले व्यतिरेक मुख से, पुन अन्वय मुखसे, ऐसी दो गाथाओ से बोधि का व्याख्यान किया है । तथा एकान्तमत का निराकरण करने के लिए भी यह दोनो प्रकार का कथन है ऐसा समझना चाहिए ।

**भावार्थ :** कुछेक का कहना है कि केवल अन्वय मुख से अर्थात् अपने विषय को बतलाते लघु ही कथन करना चाहिए तथा कुछेक का कथन है कि व्यतिरेक मुख से अर्थात् पर के निषेध रूप से अथवा वस्तु के दोष प्रतिपादन रूप से ही वस्तु का कथन करना चाहिए । किन्तु जैनाचार्य इन दोनो बातो को महत्त्व देते हुए अनेकान्त की पुष्टि करते है । इसीलिए पहले बोधि की दुर्लभता के कारणो को बताकर पुन अगली गाथा से बोधि की सुलभता के कारणो को बताया हे, ऐसा समझना ।

*संसारकारणस्वरुपं प्रतिपादयन्नाह–*

**जे पुण गुरुपडिणीया बहुमोहा ससबला कुसीला य ।**
**असमाहिणा मरते ते होति अणतसंसारा ॥७१॥**

अब आचार्य ससार के कारण का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए कहते है—

**गाथार्थ** जो पुन गुरु के प्रतिकूल है, मोह की बहुलता से सहित है, शबल- अतिचार सहित चारित्र पालते है, कुत्सित आचरणवाले है वे असमाधि से मरण करते है और अनन्त ससारी हो जाते है ।।७१।।

**आचारवृत्ति** . जो साधु गुरुओ की आज्ञा नही पालते है, मोह की प्रचुरता से सहित राग-द्वेष से पीडित हो रहे हैं, शवल— लेपसहित अर्थात् कुत्सित आचरण वाले है तथा व्रतो की रक्षा करनेवाले जो शील है उन्हे भी कुत्सित रूप से जो पालते है, वे मिथ्यात्व से सहित हो आर्त एव रौदध्यान रूप असमाधि से मरण करके अनन्त नामवाले अर्धपुद्गल प्रमाण काल तक ससार मे ही भटकते रहते है ।

**रोदणण्हावणभोयणपयणं सुत्तं च छव्विहार भे ।**
**विरदाण पादमक्खणधोवणगेय च ण य कुज्जा ।।१९३।।**

**गाथार्थ** रोना, नहलाना, खिलाना, भोजन बनाना, सूत कातना, छह प्रकार का आरम्भ करना, यतियो के पैर मे मालिश करना, धोना और गीत गाना, आर्यिकाएँ इन कार्यो को नही करे ।।१९३।।

**आचारवृत्ति** · दु ख से पीडित को देखकर अश्रु गिराना, बच्चो को नहलाना, धुलाना, उन्हे भोजन-पान आदि कराना, भात आदि बनाना, सूत कातना, असि, मषि, कृषि, व्यापार, शिल्पकला और लेखन क्रिया जीवघात के कारणभूत इन छह प्रकार के आरम्भो का करना, सयतो के पैर मे तैल वगैरह की मालिश करना, उनके चरणो का प्रक्षालन करना तथा रागपूर्वक गधर्व गीत गाना इन क्रियाओ को आर्यिकाएँ अपनी वसतिका मे या अन्य के गृह मे नही करे क्योकि इससे वे क्रियाएँ उनके अपवाद के लिए कारण है ।

*अथ भिक्षाचर्यायां कथमवतरन्ति ता इत्यत आह –*

**तिण्णि व पंच व सत्त व अज्जाओ अण्णमण्ण रक्खाओ ।**
**थेरीहिं सहंतरिदा भिक्खाय समोदरंति सदा ॥१९४॥**

आहार के लिए वे कैसे निकलती है ? सो बताते है –

**गाथार्थ :** तीन या पॉच या सात अर्यिकाएँ आपस मे रक्षा मे तत्पर होती हुई, वृद्धा आर्यिकाओ के साथ मिलकर हमेशा आहार के लिए निकलती है ॥१९४॥

**आचारवृति .** तीन, पॉच अथवा सात आर्यिकाएँ परस्पर मे एक दूसरे की सॅभाल रखती हुई और वृद्ध आर्यिकाओ से अतरित होती हुई आहार के लिए सम्यक् प्रकार से सर्व काल पर्यटन करती है । यहॉ भिक्षा शब्द उपलक्षण मात्र है । जैसे किसी ने कहा – " कौवे से दही की रक्षा करना " तो उसका अभिप्राय यह हुआ कि बिल्ली आदि सभी से उसकी रक्षा करना है ।

उसी प्रकार से यहॉ ऐसा अर्थ लेना कि आर्यिकाओ का जब भी वसतिका से बाहर गमन होता है तब इसी विधान से होता है अन्य प्रकार से नही ।

तात्पर्य यह है कि आर्यिकाएँ देववदना, गुरु वदना, आहार, विहार, नौहार आदि किसी भी प्रयोजन के लिए बाहर जावे तो दो-चार आदि मिलकर तथा वृद्धा आर्यिकाओ के साथ होकर ही जावे ।

*आचार्यादीनां च वन्दनां कुर्वन्ति ताः किं यथा मुनयो नैत्याह–*

**पंच छ सत्त हत्थे सूरी अज्झावगो य साधू य ।**
**परिहरिऊणज्जाओ गवासणेणेव वंदति ॥१९५॥**

जैसे मुनि आचार्य आदि की वदना करते है, क्या आर्यिकाएँ भी वैसे ही करती है ? नही, सो बताते है—

**गाथार्थ ·** आर्यिकाएँ आचार्य को पॉच हाथ से, उपाध्याय को छह हाथ से और साधु को सात हाथ से दूर रहकर गवासन से ही वदना करती हे ॥१९५॥

**आचारवृत्ति** आर्यिकाएँ आचार्य के पास आलोचना करती है अत उनकी वदना के लिए पॉच हाथ के अतराल से गवासन से बैठकर नमस्कार करती है। ऐसे ही उपाध्याय के पास अध्ययन करना है अत उन्हे छह हाथ के अतराल से नमस्कार करती हे तथा साधु की स्तुति करनी होती है अत वे सात हाथ के अतराल से उन्हे नमस्कार करती है, अन्य प्रकार से नही। यह क्रमभेद आलोचना, अध्ययन और स्तुति करने की अपेक्षा से हो जाता है।

*उपसहारार्थमाह–*

**एवंविधाणचरिय चरित जे साधवो य अज्जाओ।**
**ते जगपुज्ज कित्ति सुह च लद्धूण सिज्झति ॥१९६॥**

**अब उपसहार करते हुए कहते है–**

**गाथार्थ** . उपर्युक्त विधानरूप चर्या का जो साधु और आर्यिकाएँ आचरण करते है वे जगत् से पूजा को, यश को और सुख को प्राप्त कर सिद्ध हो जाते है।

**आचारवृत्ति** ऋग्वेद, सामवेद, वाक्–ऋचाएँ, अनुवाक्–कडिका का समूह। अथवा वाक् अर्थात् ऋग्वेद मे कहे गये प्रायश्चित आदि तथा अनुवाक् अर्थात् मनु आदि ऋषियो द्वारा बनाये गये मनुस्मृति आदि। आदि शब्द से यजुर्वेद, अथर्ववेद आदि का भी ग्रहण किया जाता है। हिसा आदि के प्रतिपादक वेदशास्त्र, अग्नि–होम आदि कार्य के प्रतिपादक गृह्यसूत्र, आरण्य, गर्भाधान, पुसवन, नामकरण, अन्नप्राशन, चौल–मुडन, उपनयन, व्रतबन्धन, सौत्रामणि-यज्ञविशेष आदि के प्रतिपादक जो शास्त्र है तथा जो नदिकेश्वर, गौतम, याज्ञवल्क्य, पिप्पलाद, वररुचि, नारद, बृहस्पति, शुक्र और बुद्ध आदि के द्वारा प्रणीत है ये सब शास्त्र तुच्छ है—धर्मरहित, निरर्थक है। यदि कोई मुनि इनको ग्रहण करता है तो वह वैदिकाचारमूढ कहलाता है।

**भावार्थ** ऋग्वेद आदि वेदो मे हिसा का उपदेश तथा परस्पर विरोधी एकान्त कथन है। ऐसे ही मनुस्मृति भी कुशास्त्र है। इनमे कहे आचरण को मानने वाला वैदिकाचारमूढ माना जाता है। यह अपने सम्यक्त्व का नाश कर देता है।

*सामयिकमोहप्रतिपादनार्थमाह–*

**रत्तवडचरगतावसपरिहत्तादीय अण्णपासंढा।**
**संसारतारगत्ति य जदि गेण्हइ समयमूढो सो ॥२५९॥**

सामयिक मोह का प्रतिपादन करते है–

**गाथार्थ :** रक्तवस्त्रवाले साधू, चरक, तापस, परिव्राजक आदि तथा अन्य भी पाखडी साधु ससार से तारनेवाले है इस तरह यदि कोई ग्रहण करता है तो वह समयमूढ होता है ॥२५९॥

**आचारवृत्ति :** रक्तपट और चरक साधुओ का लक्षण पहले किया जा चुका है। अर्थात् बौद्ध भिक्षुओ को रक्तपट और नैयायिक वैशेषिक साधुओ को चरक कहते है। अथवा भिक्षा की बेला मे हाथ चाटने का जिनका स्वभाव है और जो धान्य का कण बीनकर आहार करनेवाले है ऐसे अन्यमतीय साधु 'चरक' है। इनमे कालमुख आदि भेद है। कद, मूल और फल आदि भक्षण करनेवाले वन मे रहनेवाले और जटा, कौपीन आदि को धारण करनेवाले तापस कहलाते है। एकदण्डी, त्रिदण्डी आदि साधु परिव्राजक है। ये स्नान मे धर्म माननेवाले ओर अपने को पवित्र माननेवाले है। आदि शब्द से शैव पाशुपति, कापालिक आदि का भी सग्रह किया जाता है। और भी अन्य पाखण्डी साधु जो अनेक लिग धारण करनेवाले है। ये ससार से तारनेवाले हे, इनके आचरण सुदर है–यदि ऐसा कोई ग्रहण करता है तो वह समयमूढ कहलाता है।

*देवमोहप्रतिपादनार्थमाह–*

**ईसरबभाविण्हूअज्जाखंदादिया य जे देवा।**
**ते देवभावहीणा देवत्तणभावणे मूढो ॥२६०॥**

**देवमोह का स्वरूप कहते है–**

**गाथार्थ** ईश्वर, ब्रह्मा, विष्णु, पार्वती, कार्तिक, आदि जो देव है वे देवपने से रहित है, उनमे देव भावना करने पर वह देवमूढ होता है ॥२६०॥

**आचार्य वृत्ति** - ये चतुर्निकाय के देवो के स्वरूप से भी देव नही है और सर्वज्ञदेव के स्वरूप से भी देव नही हे, अत सभी तरह से ये देवभाव से रहित है। यदि कोई इन पर देवत्व परिणाम करता है तब वह देवत्व भाव से मूढ हो जाता है।

**भावार्थ** अमूढदृष्टि अग से विपरीत मूढदृष्टि होती है जिसका अर्थ है मूढदृष्टि का होना। यहाँ पर इसे ही दृष्टिमूढ कहा है और उसके चार भेद किये है —लौकिकमोह, वैदिकमोह, सामयिकमोह और देवमोह। इन चारो प्रकार के मोह से रहित होनेवाले साधु अमूढदृष्टि अग का पालन करते हुए अपने दर्शनाचार को निर्मल बना लेते है।

*सम्यक्त्वसहचर ज्ञानस्वरूप व्याख्याय चारित्रसहचरस्य ज्ञानस्य प्रतिपादयन्नाह–*

**जेण रागा विरज्जेज्ज जेण सेएसु रज्जदि ।**

**जेण मित्ती पभावेज्ज तं णाण जिणसासणे ॥२६८॥**

सम्यक्त्व के सहचारी ज्ञान का स्वरूप कहकर अब चारित्र के सहचारी ज्ञान का स्वरूप कहते है—

**गाथार्थ** जिसके द्वारा जीव राग से विरक्त होता है, जिसके द्वारा मोक्ष मे राग करता है, जिसके द्वारा मैत्री को भावित करता है जिन शासन मे वह ज्ञान कहा गया है ॥२६८॥

**आचारवृत्ति** जिसके द्वारा जीव राग—स्नेह से और काम-क्रोध आदि से विरक्त होता है—पराङ्मुख होता है, और जिसके द्वारा मोक्ष के अनुरक्त होता है जिसके द्वारा मैत्री भावना अर्थात् द्वेष का अभाव करता है जिनशासन मे वही ज्ञान है। तात्पर्य क्या हुआ ?

अतत्त्व मे तत्त्वबुद्धि, अदेव मे देवता का अभिप्राय, जो आगम नही है उनमे आगम की बुद्धि, अचारित्र मे चारित्र की बुद्धि और अनेकान्त मे एकान्त की बुद्धि यह सब अज्ञान है ।

*अथ देवा आगत्य क्वोत्पद्यन्त इत्याशंकायामाह—*

**आईसाणा देवा चएत्तु एइंदिएत्तणे भज्जा ।**
**तिरियत्तमाणुसत्ते भयणिज्जा जाव सहसारा ॥११७९॥**

देव आकर कहाँ उत्पन्न होते है, ऐसी आशका होने पर कहते है—

**गाथार्थ :** ईशान स्वर्ग तक के देव च्युत होकर एकेन्द्रियरूप से वैकल्पिक है और सहस्रार पर्यन्त के देव तिर्यच और मनुष्य रूप से वैकल्पिक है ॥११७९॥

**आचारवृत्ति :** भवनवासी से लेकर ईशान स्वर्ग तक के देव वहॉ से च्युत होकर कदाचित् आर्तध्यान से पृथिवीकायिक, जलकायिक, और प्रत्येक वनस्पतिकायिक बादर एकेन्द्रियो मे उत्पन्न हो सकते है । तथा परिणाम के वश से अन्य पर्यायो मे भी अर्थात् पचेन्द्रिय पर्याप्तक तिर्यच-मनुष्यो मे उत्पन्न हो जाते है । किन्तु वे देव भोगभूमिज आदि मनुष्यो या तिर्यचो मे जन्म नही लेते है । उसके ऊपर तीसरे स्वर्ग से लेकर सहस्रार नामक बारहवे स्वर्ग तक के देव च्युत होकर तिर्यच या मनुष्यो मे जन्म लेते है । अर्थात् ये देव एकेन्द्रियो मे उत्पन्न नही होते है । पुन 'तिर्यक्त्व' शब्द को गाथा मे लेने से ऐसा समझना कि नारकी, देव, विकलेन्द्रिय, असज्ञी पचेन्द्रिय, सूक्ष्म, अपर्याप्तक, सर्व अग्निकायिक, वायुकायिक, भोगभूमिज आदि स्थानो मे सभी देव उत्पन्न नही होते है ऐसा समझ लेना । तात्पर्य यह है कि ईशान स्वर्ग तक के देव मरकर एकेन्द्रिय पृथिवी, जल और प्रत्येक वनस्पति मे जन्म ले सकते हे । तथा बारहवे स्वर्ग तक के देव पचेन्द्रिय पर्याप्तक तिर्यचो मे भी हो सकते है ।

**शलाकापुरुषा आगत्य ये देवा न भवन्ति तान् प्रतिपादयन्नाह–**

**आजोदिस ति देवा सलागपुरिसा ण होति ते णियमा ।**
**तेसि अणतरभवे भजणिज्ज णिव्वदीगमण ।।११८१।।**

जो देव आकर शलाकापुरुप नही होते है उनका प्रतिपादन करते है—

**गाथार्थ** ज्योतिषी पर्यन्त जो देव हे वे नियम से शलाकापुरुप नही होते है । उनका अनन्तर भव मे मोक्षगमन वैकल्पिक हे ।।११८१।।

**आचारवृत्ति** . भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देव वहॉ से च्युत होकर तीर्थकर, चक्रवर्ती, वलदेव, वासुदेव और प्रतिवासुदेव ऐसे शलाकापुरुष नही होते है । उनकी उसी भव से मुक्ति होती है या नही भी होती है (सर्वथा निषेध नही है) ।

**भावार्थ** शलाकापुरुषो मे तीर्थकर तो उसी भव से मोक्ष जाते है इसमे विकल्प नही है । चक्रवर्ती और वलदेव ये उसी भव से मुक्ति भी पा सकते है अथवा स्वर्ग जाते है । चक्रवर्ती नरक भी जा सकते है । वासुदेव और प्रतिवासुदेव ये नरक ही जाते है फिर भी ये महापुरुष स्वल्प भवो मे मुक्ति प्राप्त करते ही है ऐसा नियम है ।

**दभ परपरिवाद णिसुणत्तण पावसत्तपडिसेव ।**
**चिरपव्वइद पि मुणी आरभजुदं ण सेविज्ज ।।९५९।।**

**गाथार्थ** मायायुक्त, अन्य का निन्दक, पैशुन्यकारक, पापसूत्रो के अनुरूप प्रवृत्ति करनेवाला और आरम्भसहित श्रमण चिरकाल से दीक्षित क्यो न हो तो भी उसकी उपासना न करे ।।९५९।।

**आचारवृत्ति** दभ-वचन के स्वभाववाला अर्थात् कुटिल परिणामी, पर की निन्दा करनेवाला, दूसरो के दोषो को प्रकट करने मे तत्पर या चुगलखोर, मारण, उच्चाटन, वशीकरण, मन्त्र, यन्त्र, तन्त्र, ठगशास्त्र, राजपुत्रशास्त्र, कोकशास्त्र, वात्स्यायनशास्त्र, पितरो के लिए पिण्ड देने के कथन करनेवाले शास्त्र, मासादि के गुणविधायक

वैद्यकशास्त्र, सावद्यशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र मे रत हुए मुनि से, अर्थात् जो भले हो चिरकाल से दीक्षित है किन्तु उपर्युक्त दोषो से युक्त है तथा आरम्भ करनेवाला है उससे, कभी भी ससर्ग न करे ।

**आयरियत्तण तुरिओ पुव्वं सिस्सत्तणं अकाऊणं ।**
**हिंडई ढुंढायरिओ णिरंकुसो मत्तहत्थिव्व ॥९६२॥**

**गाथार्थ** · जो पहले शिष्यत्व न करके आचार्य होने की जल्दी करता है वह ढोढाचार्य है । वह मदोन्मत्त हाथी के समान निरकुश भ्रमण करता ॥९६२॥

**आचारवृत्ति** · जो पहले शिष्य न बनकर आचार्य बनने को उत्सुक होता है और स्वेच्छापूर्वक आचरण करता है वह पूर्वापर विवेक से शून्य होता हुआ ढोढाचार्य कहलाता है । जैसे अकुश रहित मत्त हाथी भ्रमण करता है वैसे ही वह भी पापश्रमण कहलाता है इसलिए उसका आश्रय न ले ।

**आयरियत्तणमुवणायइ जो मुणि आगमं ण याणंतो ।**
**अप्पाणं पि विणासिय अण्णे वि पुणो विणासेई ॥६६५॥**

**गाथार्थ :** जो मुनि आगम को न जानते हुए आचार्यपने को प्राप्त हो जाता है वह अपने को नष्ट करके पुन अन्यो को भी नष्ट कर देता है ॥९६५॥

**आचारवृत्ति :** जो मुनि आगम को न समझकर आचार्य बन जाता है अर्थात् आगम के बिना आचरण करता है वह स्वय को नरक आदि गतियो मे पहुँचा देता है और अन्य जनो को भी कुत्सित उपदेश के द्वारा उन्ही दुर्गतियो मे प्रवेश करा देता हे, इसलिए ऐसे आचार्य से भी डरना चाहिए ।

**घिदतभरिदघडसरित्थो पुरिसो इत्थी बलंतअग्गिसमा ।**
**तो महिलेयं ढुक्का णट्ठा पुरिसा सिव गया इयरे ॥९९३॥**

**गाथार्थ** पुरुष घी से भरे हुए घट के सदृश है और स्त्री जलती हुई अग्नि के सदृश है । इन स्त्रियो के समीप हुए पुरुष नष्ट

हो गये है तथा इनसे विरक्त पुरुष मोक्ष को प्राप्त हुए है ॥९९३॥

**आचारवृत्ति** पुरुष घृत से भरे हुए घड़े के रामान है और स्त्री जलती हुई अग्नि के समान है । जैसे जमे हुए घी का घडा अग्नि के समीप मे शीघ्र ही पिघल जाता है, उसी प्रकार से स्त्री के समीप मे पुरुष चचलचित्त हो जाता है । इसीलिए स्त्रियो के साथ जल्प, हास्य आदि के वश मे हुए पुरुष नष्ट हो गये है ओर जिन्होने उनका ससर्ग नही किया है वे शिवगति को प्राप्त कर चुके है ।

**मायाए वहिणीए धूआए मूइ वुड्ढ इत्थीए ।**
**बीहेदव्वं णिच्चं इत्थीरुव णिरावेक्ख ॥९९४॥**

**गाथार्थ** माता, बहिन, पुत्री, मूक व वृद्ध स्त्रियो से भी नित्य ही डरना चाहिए क्योकि स्त्रीरूप माता आदि के भेद से निरपेक्ष है ॥६६४॥

**आचारवृत्ति** माता, बहिन, पुत्री अथवा गूँगी या वृद्धा, इन सभी स्त्रियो से डरना चाहिए । स्त्रीरूप की कभी भी अपेक्षा नही करना चाहिए, क्योकि स्त्रियॉ अग्नि के समान सर्वत्र जलाती है ।

**अब्रम्हकारण द्रव्यमाह–**

**पढम विउलाहार विदियं कायसोहणं ।**
**तदिय गधमल्लाइ चउत्थ गीयवाइय ॥९९८॥**
**तह सयणसोधण पि य इत्थिसंसग्गं पि•अत्थसत्रहण ।**
**पुव्वरदिसरणमिदियविसयरदी पणिदरससेवा ॥९९९॥**

अब्रम्ह के कारणभूत द्रव्यो को कहते है–

**गाथार्थ** पहले विपुल आहार करना, दूसरे काय का शोधन करना, तीसरे गन्ध-माला आदि धारण करना, चौथे गीत और बाजे सुनना, तथा शयनस्थान का शोधन, स्त्रीससर्ग, धन-सग्रह, पूर्वरति-स्मरण, इन्द्रियजन्य विषयो मे अनुराग और पौष्टिक रसो का सेवन ये दश अब्रम्ह के कारण है ॥९९८-९९९॥

**आचारवृत्ति** अत्यधिक भोजन करना–अब्रम्हचर्य का यह

प्रथम कारण है जो कि अब्रम्ह कहलाता है । स्नान, तैलमर्दन, उबटन आदि राग के कारणो से शरीर का सस्कार करना द्वितीय अब्रम्ह है । केशर, कस्तूरी आदि सुगन्धित पदार्थ एव पुष्पमाला, धूप आदि की सुगन्धि ग्रहण करना तृतीय अब्रम्ह है । पचम, धैवत आदि सात स्वरो का पॉच प्रकार के आतोद्य, बासुरी, वीणा, तन्त्री आदि वाद्यो का सुनना चतुर्थ अब्रम्ह है । तूलिका, पर्यक अर्थात् कोमल-कोमल रुई के गद्दे, पलग आदि का शोधन करना एव कामोद्रेक के कारणभूत क्रीड़ास्थल, चित्रशाला आदि व एकान्त स्थान आदि मे रहना-यह पॉचवा अब्रम्ह है । राग से उत्कट भाव धारण करती हुई, कटाक्ष से अवलोकन करती हुई एव चित्त मे चचलता उत्पन्न करती हुई स्त्रियो के साथ सम्पर्क रखना, उनके साथ क्रीडा करना छठा अब्रह्म है । सुवर्ण, आभरण, वस्त्र, धन आदि का सग्रह करना सातवॉ अब्रम्ह है । पूर्वकाल मे भोगे हुए भोगो का स्मरण-चिन्तन करना आठवॉ अब्रम्ह है । रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श इन पॉचो इन्द्रियो के विषयो मे रति करना नवम कारण है । तथा इष्ट रसो का सेवन करना दसवॉ अब्रम्ह है । ये दश अब्रह्म के कारण होने से अब्रम्ह कहलाते है ।

*अब्रम्हकारणविकल्पान् प्रतिपादयन्नाह–*

**इत्थीसंसग्गी पणिदरसभोयण गंधमल्लसंठप्पं ।**
**सयणासणभूसणय छट्ठ पुण गीयवाइयं चेव ॥१०३०॥**
**अत्थस्स संपओगो कुसीलससग्गि रायसेवा य ।**
**रत्ती वि य संयरणं दस सीलविराहणा भणिया ॥१०३१॥**

अब्रम्ह कारण के भेद बतलाते है–

**गाथार्थ** स्त्रीससर्ग, प्रणीतरसभोजन, गन्ध-माला का ग्रहण, कोमल शयन-आसन, भूषण, गीत-वादित्र श्रवण, अर्थसग्रह, कुशील-ससर्ग, राजसेवा और रात्रि मे सचरण ये दश शील की विराधना कही गयी है ॥१०३०-१०३१॥

**आचारवृत्ति** . स्त्रीससर्ग आदि दश कारणो से ब्रम्हचर्य की विराधना होती है । इसे ही बताते है—

स्त्रीससर्ग – राग से पीड़ित होकर स्त्रियो के साथ अतीव प्रेम करना ।

प्रणीतरसभोजन – अतीव लपटता पूर्वक पचेन्द्रियो को उत्तेजित करनेवाला आहार ग्रहण करना ।

गन्धमाल्यसस्पर्श – चन्दन, केशर आदि सुगन्धित पदार्थ ओर मालती, चम्पा आदि मालाओ से शरीर को सस्कारित करना ।

शयनासान – कोमल शय्या पर शयन करना तथा कोमल आसन आदि पर बैठना ।

भूषण – मुकुट, कडे आदि से शरीर को विभूषित करने की अभिलाषा करना ।

गीतवादित्र – षड्ज, ऋषभ आदि गीत की तथा तत, वितत, घन, सुषिर आदि अर्थात् मृदग, वीणा, ताल, करताल आदि बजाने की इच्छा रखना । रागादि रूप आकाक्षा से नृत्य-गीत आदि देखना सुनना ।

अर्थसप्रयोग – सुवर्ण आदि द्रव्यो से सम्पर्क रखना ।

कुशील-ससर्ग – कुत्सितशीलवाले अर्थात् राग से सयुक्त जनो का सम्पर्क ।

राजसेवा – विषय भोगो की इच्छा से राजाओ की स्तुति-प्रशसा करना ।

रात्रिसचरण – बिना प्रयोजन के रात्रि मे पर्यटन करना ।

परमागम मे ये स्त्रीससर्ग आदि दश शील की विराधना कही गयी है । इन दश भेदो से पूर्वोक्त चौरासी-सौ को गुणा करने से चौरासी हजार (८४०० x १० = ८४०००) हो जाते है ।

इस ग्रथका सार यह निकलता है कि, इसमे मुनि श्रावकोकी चर्या करने की विधिसे चर्या पूर्ण रीत से पालन करने से, इस चर्या

से रहित हो जाय तो उसका क्या फल भोगना पडता है इन सबका वर्णन किया है । सात व्यसनो का त्याग, अष्ट मूलगुणो का पालन ; श्रावको की षट क्रिया, देव पुजा आदि क्रियाओ को शुद्धिपूर्वक करने से, बारह भावनाओको भाने से, पाच सुना आदि दोषो से किस प्रकार छूट सकते है इस बात को इस ग्रथ मे समझाकर लिखा गया है । सभी भव्य प्राणी अपने मन को एकाग्र कर इस ग्रथ मे पढकर दोषो-पापो से बचकर स्वर्ग का द्वार खोलकर आत्मानद म लीन होकर परपरा से मोक्ष प्राप्त कर अपना उद्धार करे । नियम से स्वाध्याय करने से आत्म सिद्धि साध्य हो जाती है । स्वाध्याय प्रेमी आत्मानन्द के इच्छुक इस ग्रथराज को पढनेवाले भव्य जीव सम्यग्दृष्टि अपने सम्यक्त्व को दृढ करते हुए अक्षर, मात्रा, स्वर, व्यञ्जन, पद, सधि आदि न्यून हुआ हो तो इसे सम्यक दृष्टि अपनी बुद्धि-ज्ञान अनुसार इसे सही अर्थ लगावे और दोषोको देखे बिना अपने गुणदोष देखकर दोषो को छोड और गुणो को ग्रहण करे । इससे आत्मा का कल्याण होता है, अन्यथा दोष देखनेसे अपने अदर आत्मा के अनत ससारसे बचने के लिए एक मनुष्य जाति मात्र समर्थ है । इसलिये यह मनुष्य जाति मे दोषो को देखकर मनुष्य भव व्यर्थ खोना नही चाहिये । इस अपेक्षा से सम्यक दृष्टि जीव अपना मिथ्यात्व छोड सम्यक्त्व ग्रहण करे यही इस ग्रथ का उद्देश्य है ।

किन्तु सब मुढताओका प्राण है। सव मूढताओ के मूल मे यह मूढताओ की जननी है।

लोगो की विवेक शक्ति वहुत हल्की रहती है। भापा ज्ञान भी नही के समान है। वास्तविक ज्ञान के लिये उसके लक्षण को भी नही जानते। प्राकृत और सस्कृत भापा मे पूर्ण जानकारी न होने का पूरा पूरा लाभ धूर्त पडितो ने उठाना चाहा है। सस्कृत भापा प्राय भारत के सभी सम्प्रदायो मे सम्मान की दृष्टि से देखी जाती है। इसलिये धूर्त पडित बनकर सदा इसका दुरुपयोग करते रहते है। सभी सम्प्रदायोमे इस प्रकार का धूर्ततापूर्ण साहित्य तैयार हुआ है और वहुत अधिक हुआ है।

धर्म के नाम पर अनेक जैन लेखक वडे से वडा पाप करने भी पीछे नही है। यहॉ तक कि उन्होने मनमाने ग्रथ वनाकर उनके रचयिता भद्रबाहु, श्रुतकेवली, कुन्दकुन्द, उमास्वामी, समन्तभद्र, गुणभद्र, जिनसेन आदि को वना दिया है। और इस प्रकार जनता की ऑखो मे धूल झोकने की असफल कुचेष्टा की है। कुछ लोग ऐसे हैं जिन्होने ग्रथ पर तो अपना नाम दिया है परन्तु उसमे भगवान महावीर आदि के मुख से इस प्रकार के वाक्य कहलाये है जो जैनधर्म के विरुद्ध, क्षुद्रतापूर्ण और दलबन्दी के आक्षेपो से भरे हुए है।

मनुष्य जीवन दुर्लभ रत्न प्राप्ति के समान है। अत परम्पराचार्यो द्वारा रचित ग्रथ " रत्नकरड श्रावकाचार " , " पुरुषार्थ सिद्धि उपाय ', ' गोम्मटसार', " जीवकाण्ड " " कर्मकाड ", " सर्वार्थसिद्धी ", " प्रवचनसार ", " समयसार " आदि ग्रथो मे श्रावक और मुनि के योग्य कार्य-विधि पढकर, जानकर, बुद्धि मे उतार कर उत्तम छह क्रियाओ को पालन करके दोषो से बचकर प्रौषध, उपवास, आहारादि की निर्दोष विधि अपनाकर, पापो का नाश कर, पुण्य वृद्धि कर, पुण्य के फल से केवल ज्ञान प्राप्त कर " मोक्ष लक्ष्मी " प्राप्त करना ही जीवन की सफलता है।

सत्य दर्शन बडे सौभाग्य की निशानी है । दर्शन होने पर उस तक पहुॅचना बडी वीरता का कार्य है । पहुॅचकर उसके चरणो मे सिर झुकाना और आत्मोत्सर्ग करना देवत्व से भी अधिक उच्चता का फल है। जिनको यह सौभाग्य नही है, उनमे वह वीरता भी नही है । जिनमे यह उच्चता नही है - वे असत्य के जाल मे फॅसकर अपना सर्वस्व नष्ट कर देते है । इतना ही नही, उनका ईर्ष्यालु हृदय दूसरो की सत्य प्राप्ति को सहन नही कर सकता । इसलिए वे निन्दा भी करते है, गालियॉ भी देते है, और जिस आधार पर अपनी सत्यता के गीत गाते है, उन्ही आधारो को काटने तक के लिए तैयार हो जाते है ।

" **जैनधर्म एक अलौकिक धर्म है** " इस धर्म को भव्य सम्यग्दृष्टि जीव गौरव के साथ धारण करते है । कुछ बिल्कुल अन्ध श्रद्धालू है जो युक्ति तर्क और परीक्षा की दुहाई देते है - आलोचना करते है । परन्तु, जब निष्पक्ष परीक्षा से उनके अधविश्वास को या स्वार्थ को धक्का पहुॅचता है तब उनका हृदय तिलमिला उठता है । उससे पाप का बन्ध होता है इसलिए धर्म की जगह अपनी परीक्षा करो । समन्तभद्र स्वामी ने कहा है - " **रत्नत्रय धर्म धर्माश्रित (धर्मात्मा) जीवो के ही आश्रित रहता है** " इससे उनको अपमानित करना अपने धर्म कोही अपमानित करना है । इसिलिए गर्व करना उचित नही है । पाप रूप अशुभ कर्मो का विरोध (सवर) अर्थात् रत्नत्रय का सद्‌भाव ही यथार्थ आत्मोद्धार और विशाल विभूति है । यदि वह प्राप्त हो गई तो सारा प्रयोजन सध गया ।

ऐसी हालत मे " राज्य और सुकुल आदिक विभूतियॉ " न भी प्राप्त हो तो हानि नही किन्तु, यदि पाप रूप मिथ्यात्व, अविरति आदि अशुभ कर्मो का आस्रव होता है तो उसके कारण दुर्गति गमन होगा ही - ऐसी हालत मे उन विभूतियोकी प्राप्ति से क्या लाभ? इसलिए " रत्नत्रय " की प्राप्ति के बिना सुकुल आदि का गर्व करना वृथा है । इस रीति से विचार कर गर्व का त्याग करना चाहिये ।

अगर कोई वैनयिक मिथ्यात्व, या अज्ञानिक मिथ्यात्वी इस प्रकार के उद्गार निकालता है तो उसकी इस मनोवृत्ति को अनुचित कहते हुए भी हम क्षम्य समझते । परन्तु, जो विपरीत या एकान्त मिथ्यात्वी है और अपने को सम्यक्त्वी, विवेकी, ज्ञानी समझते है ' तथा अपने मत का मडन और सत्य पक्ष का खण्डन (पर पक्ष का) करते है ' तब तो वे पाप को ही करते है । ऐसी हालत मे उनकी निर्लज्जता उस सीमा पर पहुँच जाती है - जिसे देखकर निर्लज्जता भी लज्जित हो जाती है ।

**" जिनवाणी को तौलकर हृदय मे उतारना " " सत्य को ग्रहण करना और असत्य को छोडना "** यही जिनवाणी का उपदेश है और यही उन्नति का मूल कारण सत्य है ।

जब भगवान महावीर के वचन अपने मूलरुप मे उपलब्ध न हो, अग पूर्ण नष्ट हो गये हो, अनेक ऊँचे-नीचे प्रभाव के कारण अनेक दल हो गये हो - शास्त्र नाम की ओट मे अनेक लेखको ने एक-दूसरे पर कीचड उछाला हो - ऐसी परिस्थितियो मे विख्यात अध्यात्मिक ग्रन्थो मे छह आवश्यक क्रियाओ का वर्णन किया है । **अपने उद्धार के लिए अपने ही विवेक की आवश्यकता है ।**

आशय यह है कि इस आचार्य - सिध्दान्त ग्रन्थ " **सम्यक् - श्रामण्य-भावना** " को पढकर भव्य प्राणी " गागर मे सागर ' भरकर ससार समुद्र को पार कर आत्मरूपी कलश को अमृत से भरकर अपने जीवन को सुखी बनावे, यही हमारी मगलकामना है ।

श्री १०८ कुन्दकुन्दाचार्य जैन समाज के प्रात स्मरणीय एक प्रकाड विद्वान आचार्यो मे से है, प्रत्येक मड्गल कार्य के प्रारभ मे आपका नाम भगवान महावीर के साथ बडी श्रद्धा और भक्ति के साथ लिया जाता है । जैनाचार्यो मे यह गौरव-पद आपको ही प्राप्त है । आचार्यवर ने अपनी चारित्र-निष्ठा, पवित्र त्याग, धर्मोपदेश तथा आध्यात्मिक साहित्य निर्माण के प्रभाव से जैन समाज का मस्तक सदैव के लिये ऊपर उठाया है । आप आध्यात्मिक साहित्यके मूलाधार समझे जाते हैं।

आपके जन्म काल का निश्चित समय अभीतक ज्ञात नही हो सका । ग्रथ प्रशस्तियो मे आपके समयका कुछ भी उल्लेख नही मिलता है जिससे समय का यथार्थ निर्णय किया जा सके । आपकी गुरु परपरा भी उपलब्ध नही है, किन्तु बोधपाहुडमे अपने को द्वादशाग के ज्ञाता और चौदह पूर्वोका विस्तार रूप से प्रसार करनेवाले श्रुतज्ञानी भद्रबाहु स्वामी का शिष्य सूचित किया है । भद्रबाहु आपके गमक गुरु थे इसपर से आपका जन्म इस्वी १ के लगभग समझा जाता है । अन्य विद्वानो ने भी आपका समय विक्रम सवत की प्रथम शताब्दि निश्चित किया है, प्राकृत पट्टावली मे भी स ४९ दिया है ।

आपके सम्बध मे बताया जाता है कि एक बार आप विदेह-क्षेत्र मे वहॉ के विद्यमान् तीर्थकर भगवान श्री १००८ सीमधर स्वामी के समवसरणमे भी पहुॅचे, वहॉ आपने सिद्धात का अध्ययन किया और साक्षात तीर्थकर प्रभु से पवित्र ज्ञान को प्राप्तकर उसका प्रचार किया ।

आचार्य कुन्दकुन्द ने जैन धर्म के सार्वभौमिक सिद्धातो को बडी दृढता के साथ ससार के सामने रखा, आपकी युक्तियॉ अकाट्य थी, आप का प्रभाव सर्वमान्य था । प्राकृत भाषा के तो आप प्रचुर विद्वान थे ही, उसके अतिरिक्त आपका तामिल भाषापर भी पूर्ण अधिकार था । एक बडा सुन्दर ग्रथ है । प्राकृत भाषा मे आपने समयसार, प्रवचनसार, पचास्तिकाय, षट्पाहुड, अष्टपाहुड, नियमसार, द्वादशानुप्रेक्षा आदि अनेक ग्रथो की अपूर्व रचना की है । समयसार तो अध्यात्म विद्या के रहस्य को उद्घाटित करनेवाला एक महान, सरस, सुबोध और पूर्ण तथा अपने ढग का एक अत्यत महान ग्रथ है । इसमे मात्र शुद्धात्म तत्वका ही अर्थात् निश्चय का ही विवेचन है ।

अब अपने परम शुद्ध ध्यान के बल से दीर्घ ससार को क्षयकर डालनेवाले सब सिद्धोको तथा चौवीस तीर्थकरो को नमस्कार कर के बारह भावनाओ का स्वरूप कहूॅगा ।

अनित्य, अशरण, ससार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव,

सवर, निर्जरा, लोकानुप्रेक्षा, वोधिदुर्लभ, धर्मानुप्रेक्षा इन भावनाओ का चितवन करना चाहिये ।

बारबार विचार करने को अनुप्रेक्षा या भावना कहते हैं । ऊपर लिखी बारह भावनाये इस जीव का कल्याण करनेवाली है । इन्ही के स्वरूप का चितवन कर तीर्थकर प्रभु ससार और शरीर भोगो से विरक्त हुए, ये भावनाये वैराग्य को जन्म देनेवाली माता है, समस्त जीवो का हित करनेवाली है, अनेक दु खोसे पीडित ससारी जीवो के लिये ये भावनाये ही उत्तम शरण है । ये भावना परमार्थ मार्ग को दिखानेवाली है, तत्व का निर्णय करानेवाली हं, सम्यक्त्वको पैदा करनेवाली हैं । अशुभ ध्यान को नष्ट करानेवाली हैं, दु खरूप अग्निसे तप्तायमान ससारी जीवोके लिये ये शीतल कमल-वनके वीचमे निवास करनेवालोके समान है, इसके जैसा हित करनेवाला इस ससारमे इस जीवका और कोई भी नही है ।

**एग जिणस्स रुव बीय उक्किट्ठसावयाण तु ।**
**अवरट्ठियाण तइय चउत्थ पुण लिंग दसण णत्थि ।।**

जिन मतमे तीन लिग है, क्रमसे-वेष बतलाये है- उनमे एक तो जिनेद्र भगवान का निर्ग्रथ लिग है, दूसरा उत्कृष्ट श्रावक, ऐलक, क्षुल्लकोका है, और तीसरा आर्यिकाओका है । इनके सिवाय चौथा लिग नही है ।

**पढ पढ कर पण्डित हुआ, ज्ञान हुआ अपार ।**
**निज वस्तु की खबर नही, सब नकटी के श्रृगार ।।**

आचार्य कहते है पढ-पढ के पडित बन जाय, किन्तु निज वस्तु की खबर भी न हो, तो क्या वह पण्डित है ? अक्षरो के ज्ञानी पडित अक्षरका अर्थ भी नही समझते । 'क्षर' माने नाश होनेवाला, और 'अ' माने 'नही' अर्थात् मै अविनाशी हूॅ, अजरामर हूॅ, यह अर्थ है । किन्तु अक्षर का पडित केवल शब्दोको पकडकर उन्हीमे चिपक जाता है ।

शब्द तो केवल माध्यम है, अन्दर जाने के लिये। किन्तु इन पडितोकी दशा उस पडित की तरह है जो तैरना न जानकर अपने जीवनसे भी हाथ धो बैठा था। याद है आपको। एक पडित काशी से पढकर आये थे। देखा नदी के किनारे मल्लाह भगवत् स्तुतिमे सलग्न है। बोले - 'ए ले चलेगा नावमे नदी के पार ?' 'मल्लाह ने उन पडितजीको नावमे बिठाया।' जब पडितजी मल्लाह से पूछने लगा क्या तुमने पढा-लिखा भी है ? अक्षर लिखना भी जानता है ? पडितजीसे उस नाविकने कहा। थोडी देर मे नदीमे आयेगा पूर। अब नाविक बोले "मै अक्षर लिखना तो नही जानता हूॅ।" कितू अक्षर का ज्ञान मुझे अवश्य है। पडित महाराज मै तो अब तैर कर पार हो जाऊॅगा किन्तु आपका तो जीवन ही समाप्त हो 'जायेगा। हमे तैरना आता ही है। हमको भवोदधि पार करना है, तैरकर पार होना है। 'हमे तैरना नही आयेगा तो ससार-समुद्रसे पार नही हो सकते। अत सहारा मत ढूढो। शब्द भी एक सहारा है, अपना सहारा लो। अन्तर्यात्रा प्रारभ करो। यह कार्य वास्तव मे महान तपस्वीके द्वारा ही सभव है। ज्ञानियोका ज्ञान का सकलन मात्र सबसे बडा दुरुपयोग है। ज्ञेयोमे मत उलझ ज्ञेयोके द्वारा ज्ञाता को प्राप्त करो।

## महावीर स्वामी के मारीचि पर्याय के बाद पूर्वभव

(मिथ्यात्व के वशीभूत हुवा जीव अपनी हठसे या पक्षपात से या भव के व्यामोह से अर्थ के अनर्थ करने मे नही चुकता) उदाहरण स्पष्ट है —

### वहॉ स्वर्ग मे देव

| मनुष्य | भोग भूमि | ६० करोड पर्याय |
|---|---|---|
| अकौआ | ६० हजार पर्याय | पासिया ५ ,, ,, |
| सीप | ८० ,, ,, | द्विज(ब्राम्हण) |
| नीबू | २० ,, ,, | देव |

| | | |
|---|---|---|
| अशोक वृक्ष | ९९ ,, ,, | राजपुत्र |
| केशरी वृक्ष | ५ करोड पर्याय | ऋषि-देव |
| चन्दन वृक्ष | ३ लाख पर्याय | अर्धचक्री |
| मछली | ३ करोड पर्याय | सातवे नरक |
| वैश्या | ६ ,, ,, | सिंह |
| हाथी | २० ,, ,, | देव |
| गधा | ६० ,, ,, | राजपुत्र |
| कुत्ता | ३० ,, ,, | देव |
| नपुसक | ६० ,, ,, | राजा हरिषेण |
| स्त्री | २० ,, ,, | देव |
| धोबी | ९० ,, ,, | चक्रवर्ती |
| घोडा | ८ ,, ,, | देव |
| स्वर्ग | ८० ,, ,, | राजा |
| असुर देव | ३० ,, ,, | देव |
| बिल्ली | ६० ,, ,, | महावीर |

इसको देखकर अपने तुच्छ जीव ने यदि सम्यक्ज्ञान पूर्वक जीवन नही बिताया तो हमारा कितना भव और दु खो का होगा ? यह जानना चाहिये और उससे बचना चाहिये ।

**"अशोक वृक्ष सुर पुष्पवृष्टी दिंव्यध्वनिश्चामरमासनं च ।**
**भामण्डल दुन्दुबिरातपत्तं सत्प्रातिहार्याणि जिनेस्वराणाम् ।**

**अर्थ** अशोक वृक्ष, देवकृत पुष्पवृष्टी, दिव्य ध्वनि, चामर, सिहासन भामण्डल दुन्दुभि, और छत्र-त्रय ये जिनेन्द्र देव के आठ प्रतिहार्य है ।

**गाथार्थ** एक हजार आठ शुभ लक्षणोसे युक्त तथा चोतिस अतिशयो से सहित तीर्थकर भगवान जब तक यहॉ विहार करते है तब तक उनको स्थावर प्रतिमा कहा गया है ।

**विशेषार्थ** तीर्थकर परमदेव श्री वृषभ आदि १००८ लक्षणो और तिल मसा आदि नौ सौ व्यजनो से सहित होते है। तथा १० जन्म के, १० केवलज्ञान के और १४ देवकृत इस तरह ३४ अतिशयो से सहित होते है। इन सब से युक्त तीर्थकर जिनेन्द्र जब तक आर्य खण्ड मे भव्य जीवो को सम्बोधते हुये विहार करते रहते है - तब तक उन्हे स्थावर प्रतिमा कहा जाता है और जब वे समस्त कर्मोका क्षय करके एक समय मे सिद्ध-शिला की और अग्रेसर होते है, तब उन्हे जड्गम प्रतिमा कहते है। व्यवहार की अपेक्षा चन्दन, स्वर्ण, महामणि तथा स्फटिक आदि से निर्मित प्रतिमा स्थावर प्रतिमा कहलाती है और समवशरण से सुशोभित विहार करने वाली जिन प्रतिमा तीर्थकर परमदेव का शरीर जड्गम प्रतिमा कही जाती है।

अब तीर्थकर के शरीर मे पाये जाने वाले १००८ लक्षण कौन-कौन से है - यह प्रकट करते है - श्री, वृक्ष, हाथ और पैरो मे शख, कमल, स्वास्तिक है, अकुश, तोरण चामर, सफेद छत्र, सिहासन, ध्वज, दो कलश, कछवा, चक्र, समुद्र, सरोवर, विमान, भवन, हाथी, स्त्री-पुरुष, सिह, धनुष-बाण, मेरु, इन्द्रपर्वत, नदी, पुर, चन्द्र, सुर्य, उत्तम घोडा, व्यजन, बासुरी, वीणा, मृदड्ग, दो पुष्प मालाएँ, रेशमीवस्त्र, बाजार, कुण्डल, आदि सोलह आभुषण, फलो से युक्त उपवन, अच्छी तरह पका हुआ धान का खेत, रत्नद्वीप, वज्र, पृथिवी, लक्ष्मी, सरस्वती, कामधेनु, बैल, चूडामणि, महानिधि, कल्पबेल, स्वर्ण, जम्बू वृक्ष, गरुड, नक्षत्र, तारका, राजभवन, ग्रह, सिद्धर्थीवृक्ष, अष्टप्रतिहार्य तथा अष्ट मगल द्रव्य इन्हे आदि लेकर १०८ लक्षण होते हैं और तिल, मसा आदि ९०० व्यजन होते हैं। यह सब मिलाकर १००८ लक्षण कहलाते हैं।

गृहस्थ अवस्था मे रहकर रत्नत्रय का उपदेश और रत्नत्रय का दान दे नही सकते।
षट खण्डागम श्री वीरसेनाचार्य विरचित धवला टीका समन्वित तस्स तृतीय खड।

साहुण पासु अपरिच्चागदाए अणतणाण-दशण-वीरिय विरइ-खइय सम्मत्तादीण साहया साहूणाम। पगदा ओसरिदा आसवा जम्हा

**त पासुअ अद्यवा ज णिखज्ज त पासुअ । कि? णाणं दसण चरित्तादि । तस्सो भावो पासू अपरिच्चा गदा दया वुद्धिए साहुणंण णाण दसन परिच्चागो दाण पासु अपरिच्चा गदा णाम । ण च दं कारण धराथेसु सभवदि तत्थ चरिता भावादो । तिरयणोवदे सो वि णु धरत्थेसु अत्थि तेसि हि द्रिवादादि जवरिम सुत्तो वदेसणे अहि चारा भावादो तदा यद कारण महेसिण चैव हवदि ण च तत्थ सेस कारणाणम सभवो ।**

**अर्थ** साधुओ के द्वारा विहित प्रासुक अर्थात् निरवद्य ज्ञान दर्शन आदि के त्याग से तीर्थकर नाम कर्म वधता है । अनन्त ज्ञान, अनतदर्शन, अनतवीर्य विरति और क्षायिक सम्यक्त्वादि गुणो के जो साधक है वे साधु कहलाते है । जिससे आस्रव दूर हो गये हो उसका नाम प्रासुक है अथवा जो निरवद्य है उसका नाम प्रासुक है । वह ज्ञान, दर्शन चरित्रादि के ही हो सकते है ।उनके परित्याग अर्थात् विसर्जन करने को प्रासुक परित्याग और इसके भाव को परित्यागता कहते है । अर्थात् दया बुद्धि से साधुओ द्वारा किये जाने वाले ज्ञान, दर्शन, चरित्र के परित्याग या दान का नाम प्रासुक परित्यागता है । यह कारण गहस्थो मे सम्भव नही है । क्योकि उनमे चरित्र का अभाव है । रत्नत्रय का उपदेश भी गृहस्थ अवस्था मे सम्भव नही क्योकि दृष्टिवादादिक उपरिम श्रुत का उपदेश देने मे उनका अधिकार नही है । अतएव इह कारण महर्षियो के ही होता है इसमे शेष कारणो की असभावना नही है ।

**प्रश्न देवगति से निकलकर पुन वही पर जाने की क्रिया किस प्रकार से होती है ।**

उत्तर (१) प्रथम द्वितीय स्वर्ग से निकला हुआ जीव अतर्मुहुर्त के उपरान्त गर्भ से वही पर जाता है ।

(२) तीसरे चौथे स्वर्ग से निकला हुवा जीव पृथक्त्व मुहुर्त तीन से नौ मुहुर्त के अन्दर पुन वही जा सकता है ।

(३) पॉचवे, छठे, सातवे, आठवे स्वर्ग से निकला हुआ जीव दिवस पृथक्त्व तीन से नौ दिवस के अन्दर गर्भ से पुन वही पर जा सकता है ।

(४) नौवे, दसवे, ग्यारहवे, बाराहवे, स्वर्ग से निकला हुआ जीव पक्ष पृथक्त्व ४$^1/_2$ तीन से नौ पक्ष के अन्दर गर्भ से पुन वही जा सकता है । इसमे सयम तथा देश सयम की आवश्यकता नही ।

(५) तेरहवॉ, चौदहवॉ, पन्द्रहवॉ, तथा सोलहवॉ, स्वर्ग से निकला हुआ जीव मास पृथकत्व ३ से ९ माह के अन्दर गर्भ से पुन वही जा सकता है । इसमे देश सयम की आवश्यकता होती है ।

(६) एक से लेकर नवे ग्रैवेयक तक वर्ष पृथक्त्व ३ से ९ वर्ष के अन्दर सयम को धारण करके पुन एक से नवे ग्रावेयक जा सकता है।

## दंडनीय उपदेश

### (पुरुषार्थ सिद्धि उपाय)

**यो यति धर्मकथयन्नुदिशति गृहस्थ धर्ममल्प मतिः ।**
**तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शित निर्गह स्थानम् ।।१८।।**

**अन्वयार्थ** (य ) जो (अल्पमति) तुच्छ बुद्धिवाला उपदेष्टा (यति धर्म) मुनि धर्म का (अकथयन्) उपदेश न देकर (गृहस्थ धर्म) गृहस्थ धर्म का उपदेश देता है (तस्य) उस उपदेश को (भगवत्प्रवचने) सर्वज्ञ प्रणीत सिद्धान्त मे (निग्रह स्थान) दण्ड पात्र (प्रदर्शित) कहा गया है ।

**विशेषार्थ** जैन सिद्धान्त मे उस उपदेशदाता के लिये प्रायश्चित अथवा दण्ड विधान है, जो कि पहले किसी को मुनि धर्म का उपदेश न देकर गृहस्थ धर्म का उपदेश देता है । वह दण्ड विधान का प्राप्त क्यो है ? इसलिये है कि उसने आगम के विरुद्ध भाषण किया । जैनागम मे अन्य समस्त द्रव्यो का भी निरूपण है परन्तु आत्मा का निरुपण प्रधानता एव विशेषता से किया गया है । उसका कारण भी यही बतलाता गया है कि जीव के लिये पुरुषार्थ-सिद्धी-मोक्ष को छोडकर अन्य समस्त द्रव्य

हेय है, इसलिये जीव की सुधारणा के लिये ही अनेक प्रकार के उपाय जैन शास्त्रोकारो ने प्रकट किये है। सवसे प्रथम तो उन्होने अनादि मिथ्यादृष्टि के लिये देशनालब्धि नियम से वतलाई है, अर्थात विना किसी साधु-महात्मा अथवा सम्यक् दृष्टि के उपदेश से उस आत्मा का मिथ्यात्व कभी छूट ही नही सकता। फिर उन्होने मिथ्यादृष्टियो के भी अनेक भेद बतलाये है। कोई तीव्र मिथ्यात्वी है, उन्हे उपदेश अपात्रही वतलाया हैं कुछ गृहीत वतलाते है गाढ मिथ्यादृष्टियो को जितना भी उपदेश मिलेगा वह समुद्र मे वरसे हुए जल के समान व्यर्थ ही जायगा। कुछ ऐसे मिथ्यादृष्टि है जो अगृहीत मिथ्यात्वी हैं, कुछ गृहीत वतलाये है-जिन्होने जन्म जन्मान्तर से मिथ्यात्व धारण कर रक्खा है अर्थात् जो विना किसी के उपदेश के जन्मान्तर से ही मिथ्यात्वमय सस्कारो को लेकर आते है, वे अगृहीत मिथ्यादृष्टि कहलाते है - और जो किसी के उपदेश से मिथ्यात्व को ग्रहण करते है - वे गृहीत मिथ्यादृष्टि कहलाते हैं। उनमे भी कोई भद्र है कोई अभद्र है।

भद्र उन्हे कहते है जो अपने मत का मिथ्यामत का सेवन करते है - परन्तु जैनधर्म से विद्वेष नही करते किन्तु उसमे रुचि रखते है। ऐसे जीवो को सदुपदेश बहुत जल्दी सुधार देता है। कुछ उनसे भी ऊपर भद्रता रखते है-जोकि मिथ्यामत मे रहते हुए भी उस मत से अपेक्षित उदासीन हो चुके है। और जिन धर्मो मे विशेष रुचि रखते है। ऐसे पुरुषो के लिये उपदेश का निमित्त मिलना अमोघशक्ति का काम करता है। अभद्र पुरुषो को उपदेश पहले तो प्रभावक ही नही होता, होता भी है तो अत्यन्त विलम्ब से। इस प्रकार आचार्यो ने उपदेश पात्रो के अनेक सुक्ष्म भेद बतलाये है - साथ ही परिणामो का तरतम रूप कोटियो को भी अत्यन्त सूक्ष्मता से बतलाया है।

यदि कहा जाये कि आचार्यो ने जीतो की सामर्थ्य का विचार नही करके ऊँची श्रेणी के उपदेश का विधान किया है। तो यह कहना

अयुक्त है - क्योकि उन्होने सामर्थ्य का सीमातीत विचार किया है। इसलिये उन्होने गाढ मिथ्यात्वदृष्टियो को उपदेश एकदम ही अपात्र बतलाया है। यदि उनका लक्ष्य ऊँचा उपदेश देना ही होता तो वे गाढ मिथ्यात्वियो को उपदेश का अपात्र क्यो कहते ? इससे सिद्ध होता है कि उन्होने पात्र अपात्र का पूर्ण विचार किया है। फिर भी, उपदेश देने का क्रम यही रक्खा है कि पहले उच्च श्रेणी का उपदेश दिया जाये, पीछे जघन्य श्रेणियो का दिया जाय। जबकि, जैन सिद्धान्त ने अनादि मिथ्यादृष्टि के सुधार के लिये उपदेश देना नियम से कारण बतलाया है तो उसमे जो उपदेशक्रम का विधान किया है वह भी आवश्यक है (नितान्त ही)। जैसे बिना उपदेश के अनादि मिथ्यादृष्टि कभी सुधर नही सकते वैसे उपदेश क्रम से सुधरने के लिए उपदेश देना नियम से कारण बतलाया है तो उसमे जो उपदेशक्रम विधान से विपरीत क्रम रखने से भी जीवो के सुधार मे बडी भारी हानि होती है। इसलिए आर्षग्रथो मे विरुद्ध क्रम से कहने वाले उपदेष्टाओ को, चाहे वे किसी पदस्थ वाले क्यो न हो प्रायश्चित् लेने का-दण्ड ग्रहण करने वाले का पात्र कहा गया है ।।१८।।

**क्रम रहित उपदेश से हानि**

" अक्रम कथनेन यत· प्रोत्साहमानोऽतिदूरमपि शिष्य· ।
अपदेऽपि सप्रतृप्त· प्रतिरितो भवति तेन दुर्मतिन ।।१९।।

**अन्वयार्थ** · (यत ) जिस कारण से (तेन) उस (दुर्मतिना) दुर्बुद्धि के (अक्रम कथनेन) विरुद्ध उपदेश देने से (अतिदूर) अत्यन्त अधिक (प्रोस्ताहमान्अपि) बढे हुए उत्साह वाला भी (शिष्य) शिष्य उपदेश का पात्र (अपदेऽपि) जघन्य श्रेणी मे ही (सप्रतृप्त) सतुष्ट होता हुआ (प्रतारित ) उगाया (भवति) जाता है ।

**विशेषार्थ** · जैन ग्रथो के मनन करने से विदित होता है कि जिस समय किसी पुरुष को किसी निमित्त से अत्यन्त तीव्र वैराग्य की मात्रा

जागृत हो उठती है, उस समय आचार्य उसकी सामर्थ्य का परिज्ञान करके उसे तत्काल कमण्डलू और पिच्छिका दे देते है। यदि कमण्डलु और पिच्छिका देने मे विलम्ब करे तो जिस पुरुष को किसी निमित्त को पाकर वैराग परिणाम उत्कट हो उठते है। वे परिणाम वे फिर उसके वैसे नही रह सकते। एक वार सयम धारण करा दिया जाए तो फिर वह आत्मा तटस्थ के अनुसार महाव्रतो का पालन करता ही हैं। इसलिये आत्माओ के सुधार की तीव्र भावना रखने वाले आचार्य लोकोपकार की दृष्टि से अपने सघ मे कमण्डलू और पिच्छिका अधिक रखते है। काल लब्धि का आना और साथ ही साधनो की प्राप्ति होना उस आत्मा के सुधार का मार्ग है। यहॉ पर शका हो सकती हैं कि अपने कार्य मे आने वाले पीछी कमण्डलु से अधिक पीछी कमण्डलु का रखना आचार्यो के लिए उचित है क्या? क्या यह परिग्रह मे शामिल नही है। उत्तर नही है। जिस प्रकार अपने कार्य मे आनेवाली पीछी कमण्डलू परिग्रह मे शामिल नही है। क्योकि उससे सयम का पालन किया जाता है। इद्रियोके विषय और शरीर को आराम देनेवाली पदार्थ परिग्रह मे परिगणित किये जाते है। जो केवल सयम के साधक है वे परिग्रह नही कहे जा सकते। हॉ यदि उनमे भी मूर्छा बुद्धि मुनियो की हो तो तनिक भी मूर्छा (ममत्वभाव) नही है। यदि उन्हे कोई ले जाना चाहे तो भले ही ले जाओ, उन्हे उनका रच मात्र भी खेद नही होता। इसलिए जैसे अपने कार्य मे आनेवाले पीछी कमडलू परिग्रह मे शामिल नही है। उसी प्रकार दुसरे पुरुषोको दिक्षा देने के लिए लोकोपकार दृष्टि से रक्खे हुए पीछी कमड्णलु भी परिग्रह मे शामिल नही है। उनसे भी तो सयम की रक्षा होने वाली है।

उपर्युक्त कथन का यही आशय है की आचार्यो की दृष्टि जीवो को ससार पक से निकालने की है। इसलिये वे किसी पुरुष को ससार से उदास देखकर तत्काल दीक्षा देकर उनको मुनिपद पर आरूढ कर देते

है । उनका लक्ष्य सदा आदर्श मार्ग पर रहता है । श्रावक धर्म पापास्रव सहित है, आरम्भ परिग्रह सहित है इसलिये उससे आत्मा का पूर्ण कल्याण नही हो सकता-चरम उन्नति नही हो सकती । चरम उन्नति का मार्ग मुनि धर्म ही है । इसलिए आचार्य एव मुनि ससारी आत्माओ को उसी मार्ग का उपदेश देते है । यदि यही प्रश्न किया जाय कि सच्चा सुख कहॉ पर है ? तो उत्तर मिलेगा मोक्ष मे । मोक्ष की प्राप्ति किससे होती है? तो उत्तर मिलेगा रत्नत्रय की पूर्णता ऐसा नही कहा जा सकता कि सच्चा सुख एक देश-ससार मे है - अथवा चौथे गुणस्थान मे है, और न ही यह कहा जा सकता है कि मोक्ष की प्राप्ति का उपाय चौथा गुणस्थान या पॉचवा गुणस्थान है, अथवा सम्यग्दर्शन मात्र है, किन्तु, रत्नत्रय की प्राप्ति ही मोक्ष प्राप्ति का उपाय है (मार्ग) कहा जाता है । फिर भले ही मोक्ष और उसका उपाय रत्नत्रय क्रम से प्राप्त किया जाए परन्तु उपदेश से पूर्ण सुख और पूर्ण उपाय का ही पहले विवेचन होता है । यही लोक प्रसिद्ध एव शास्त्र प्रसिद्ध पद्धति है । जो इस आगमानुकूल पद्धती से विपरित पद्धति द्वारा उपदेश देता है वह दण्डनीय स्थान अर्थात् दण्ड योग्य बतलाया गया है ।

शका हो सकती है कि ऐसा उस उपदेष्टा ने क्या अपराध किया है जो दण्ड पात्र बतलाया गया है । इसका उत्तर यह है कि उसने उपदेश न देकर आत्मा को ठग लिया एव आत्माओ का हित नही होने दिया । सम्भव है कि उसके उपदेश काल मे अनेक ऐसे भी पुरुष बैठे हैं जो ससार से उदास हो रहे हैं और मोक्ष की वाछा रखकर धर्म सुनने के पिपासु बने हैं । ऐसे पुरुषो को मोक्ष का साक्षात साधक मुनि का उपदेश मिलना चाहिये । परन्तु मिला श्रावक धर्म का । इसलिए ऐसे क्रम भग का उपदेश देने वाले को आत्माओ को ठगने वाला कहा गया है ।

इस प्रकार आदेश देना केवल आचार्यो का कार्य है मुनिराज भी आदेश देने के अधिकारी नही है - वे केवल उपदेशादि दे सकते है ।

इसी प्रकार उपदेश देने का भी वही अधिकारी हो सकता है । जो शास्त्रो के रहस्य का वाचक हो । आगमानुकुल प्रतिपादन करनेवाला हो । निष्कषाय हो निस्पृह हो और श्रद्धा तथा चरित्र मे आदर्श हो । जो उपर्युक्त बातोसे रहित हो वह भी उपदेश देने का अधिकारी नही हो सकता । आगम से जो किचित मात्र भी विरुद्ध वाते करता हो, उसका उपदेश सुनना केवल पाप बन्ध का कारण है इसलिए सदुपदेष्टाओ की पहचान करके ही उनका उपदेश सुनना चाहिये । इस कालिकाल मे ऐसे उपदेष्टा अनेक मिलते है जो स्वय धर्म-पथ से दूर हैं, आगम के वाक्यो की परवाह न कर अपने स्वतत्र विचारो को सुनाते फिरते है । ऐसे पुरुषो का धर्म विरुद्ध भाषणोसे हित के वदले अहित ही होता है ।

इस ग्रथ को पढनेवाले हे भव्य सम्यग्दृष्टि जीवो अपने सम्यकत्व को शुद्ध रखनेके लिये और उस को अधिक सदृढ करने के लिये इस शास्त्र को पढते समय इसमे से अक्षर, पद, व्यजन, सधि आदि को लक्ष्य मे रखकर शुद्ध पढे क्योकि "को न विमुह्यति शास्त्र समुद्रे" के अनुसार इस अपार समुद्र मे कौन नही डूबते ?

इसमे जो भी अशुद्धिया हो उन्हे सुधारकर सहि अर्थ लगाकर पढे । गुण दोष को पहचानकर दोषो से बचे । गुणोको ग्रहण करे, इससे हमारा कल्याण होता है । दोषो को मात्र ग्रहण करनेसे आत्मा अनत दुखोके गर्त मे गिर जावेगी । आत्मा के अनत गुणो की सपत्ति और भी दोषो से ढक जावेगी, जिससे अनत भवो मे भ्रमण करानेवाला मिथ्यात्व, अविरति, कषाय आदि के कारण अशुभ कर्मो के बध से नीच गोत्र का बध होने से ससार मे भ्रमण करतेही रहना होगा । अनत ससार से बचाने मे एक मनुष्यगति मात्र समर्थ है क्योकि इसमे ही सयम धारण कर सकते है । इस अमूल्य मनुष्य भव को व्यर्थ ही दोषो मे फॅसाकर नही खोना चाहिये ।

सम्यग्दृष्टि अपने सम्यकत्व को और भी सदृढ बनावे व मिथ्यादृष्टि

भी अपने मिथ्यात्व से पृथक होकर सम्यक्त्व को प्राप्त करे इन्ही शुभकामनो के साथ इस ग्रथ की रचना की गयी है ।

इति भूयात पुनदर्शनम्

स्वाध्याय प्रेमी आत्मानद इच्छुक,

१०८ मुनि श्री भूतबली सागर महाराज

# • सम्यक् दया धर्म कुंभ •

## लाटी संहिता से

### -: मंगलाचरण :-

अनेकान्तमय यस्य मतं मतिमता मतम् ।
सन्मति सन्मतिं कुर्या त्सन्मतिर्वो जिनेश्वरः ।।१।।

अर्थ जिस सन्मति श्रीवर्धमान स्वामी का मत अनेकान्तमय है और जो बुद्धिमानो के मान्य हैं, ऐसे वे उत्तम वुद्धि (केवलज्ञान) के धारक सन्मति जिनेश्वर आप सव लोगो की सन्मति करे ।

पूर्वाचार्यप्रणीतानि श्रावकाध्ययनान्यलम् ।
दृष्टवाऽह श्रावकाचारं करिष्ये मुक्ति हेतवे ।।२।।

अर्थ मै पूर्व आचार्यो से रचे गये सर्व श्रावकाचार शास्त्रो को भलीभॉति से देखकर मुक्ति प्राप्ति के लिए इस श्रावकाचारका सग्रह करके सबको जगाता हूँ ।

तत प्रथमतोऽवश्य भाव्य सम्यक्त्वधारिणा ।
अव्रतिनाणुव्रतिना मुनिनाथेन सर्वतः ।।१२३।। श्रा. लाटी.

अर्थ - इसलिए अव्रती श्रावको को या अणुव्रतादि गृहस्थो के बारह व्रत धारण करनेवाले श्रावको को और महाव्रतादि धारण करनेवाले मुनियो को सबसे पहले सम्यग्दर्शन अवश्य धारण करना चाहिये ।

नास्ति चर्हस्परो देवो धर्मो नास्ति दयापरः ।
तप पर च नैर्ग्रन्थ्यमेतत्सम्यक्त्वलक्षणम् ।।१४।।
श्रा लाटी सहिता ।।

अर्थ - यही लक्षण अन्य शास्त्रो मे भी कहा है - भगवान् अरहन्तदेव के समान अन्य कोई देव नही है, दया के समान और कोई धर्म नही है और निर्ग्रन्थ अवस्था के समान और कोई उत्कृष्ट तप नही है अर्थात् तप करने वाले गुरु निर्ग्रन्थ ही होते है ऐसा मानना ही सम्यग्दर्शन है । यही सम्यग्दर्शन का लक्षण है ।।१४।।

द्वितीय सर्ग : सम्यक्त्वं दुर्लभं लोके सम्यक्त्व मोक्ष साधनम् ।
ज्ञानचारित्रयोर्बीज मूलं धर्मतरोरिव ।।१।।
तदेव सत्पुरुषार्थस्तदेव परमं पदं ।
तदेव परम ज्योति तदेव परमं तपः ।।२।।
तदवेष्टार्थससिद्धिस्तदेवास्ति मनोरथः ।
अक्षातीतं सुख तत्स्यात्तत्कल्याणपरंपरा ।।३।।
विना येनात्र ससारे भ्रमति स्म शरीरभाक् ।
भ्रमिष्यति तथानन्त कालं भ्रमति सम्प्रति ।।४।।
अपि येन विनाज्ञनमज्ञान स्यात्तदज्ञवत् ।
चारित्रं स्यात्कुचारित्र तपो बालतपः स्मृत ।।५।।
तच्च तत्त्वार्थ श्रद्धानं सूत्रे सम्यक्त्वलक्षणे ।
प्रामाणिकं तदेव स्याच्छ्रुतकेवलिभिर्मतं ।।६।।
तत्त्वं जीवास्तिकायाधास्तत्स्वरूपोऽर्थसज्ञकः ।
श्रद्धानं चानुभूतिः स्यात्तेषामेवेति निश्चयात् ।।७।।
सामान्यादेक मेवैतत्तद्विशेषविधेर्द्विधा ।
परोपचारसापेक्षाद्धेतोर्द्वैतबलादपि ।।८।।
तद्विशेषविधिस्तावन्निश्चयाद्व्यवहारतः ।
सम्यक्त्व स्याद् द्विधातत्र निश्चयश्चैकधा यथा ।।१०।।
श्रा लाटी ।।

**अर्थ** - इस ससार मे सम्यग्दर्शन ही दुर्लभ है, सम्यग्दर्शन ही ज्ञान और चारित्र का बीज है । अर्थात् ज्ञान चारित्र को उत्पन्न करनेवाला है और सम्यग्दर्शन धर्मरूपी वृक्ष के लिये जड के समान है ।।१।। यह सम्यग्दर्शन ही सबसे उत्तम पुरुषार्थ है, यह सम्यग्दर्शन ही सबसे उत्तम पद है । यह सम्यग्दर्शन ही उत्कृष्ट ज्योति है और यह सम्यग्दर्शन ही सबसे श्रेष्ठ तप है ।।२।। यह सम्यग्दर्शन ही इष्ट पदार्थो की सिद्धि है, यही परम मनोरथ है, यही केवल आत्मा से उत्पन्न होनेवाला अतीन्द्रिय सुख है और यही सम्यग्दर्शन अनेक कल्याणो की परपरा है ।।३।। इस

सम्यग्दर्शन के ही बिना इस घोर ससार मे यह प्राणी अनादिकाल से अव तक भ्रमण कर रहा है और आगे अनन्तकाल तक वरावर परिभ्रमण करेगा ।।४।। इस सम्यग्दर्शन के विना ही इस जीव का ज्ञान अज्ञानी पुरुष के समान अज्ञान या मिथ्याज्ञान कहलाता है । चरित्र मिथ्याचारित्र कहलाता है और तप बाल तप या अज्ञान तप कहलाता है ।।५।। इस सम्यग्दर्शनका लक्षण तत्त्वार्थसूत्र मे तत्वार्थ श्रद्धान वतलाया है । इसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक पदार्थ मे अलग-अलग धर्म रहता है। उसी धर्म से उस पदार्थ का निश्चय किया जाता है । उस धर्म को तत्त्व कहते है । अर्थ शब्द का अर्थ निश्चय करना है । जिस पदार्थ का निश्चय उसमे रहनेवाले धर्म से कर लिया है उस पदार्थ का स्वरूप कभी विपरीत नही हो सकता । ऐसे यथार्थ पदार्थ का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहलाता है । यह जो सम्यग्दर्शन का लक्षण वतलाया है वही प्रमाण है, और वही श्रुतकेवलियो ने माना है ।।७।। जीव, अजीव, आसव, वन्ध, सवर, निर्जरा, मोक्ष ये सात तत्त्व कहलाते है, इनका जो स्वरूप है वही पदार्थ कहलाता है तथा निश्चयनय से उन पदार्थो की अनुभूति होना श्रद्धान कहलाता है ।।८।।

यह यथार्थ पदार्थोका श्रद्धान या अनुभूति अथवा सम्यग्दर्शन सामान्य रीति से एक प्रकार का है और विशेष विधि से वही दो प्रकार का है । उसके उत्पन्न होने के कारण जो कि पर पदार्थो के उपचारो की अपेक्षा रखते है दो प्रकार के है । उन कारणो के दो भेद होने से सम्यग्दर्शन के भी दो भेद हो जाते है ।।९।। उसके दो भेद निश्चय और व्यवहार से होते है । इसिलिए सम्यग्दर्शन भी निश्चय सम्यग्दर्शन और व्यवहार सम्यग्दर्शन के भेद से दो प्रकार का कहलाता है । उसमे से निश्चय सम्यग्दर्शन एक प्रकार ही है । निश्चय सम्यग्दर्शन के और भेद-प्रभेद नही है ।।१०।।

**स्वानुभूतिसनाथाश्चे रसान्ति श्रद्धदयो गुणा ।**
**स्वानुभूतिं विनाभासा नार्थाच्छ्रद्धादयो गुणाः ।।६०।।**

तस्माच्छ्रद्धादय: सर्वे सम्यक्त्व स्वानुभूतिवत् ।
न सम्यक्त्व तदाभास मिथ्याश्रद्धा दिवच्चितः ।।६१।।
सम्यग्मिथ्या विशेषाभ्या विना श्रद्धादि मात्रका
सपक्षवद्धिपक्षेऽपि वृत्तित्वाद् व्यभिचारिण ।।६२।।
अर्थाच्छ्रद्धादय सम्यग्दृष्टि श्रद्धादयो यत ।
मिथ्याश्रद्धादयो मिथ्या नार्थाच्छ्रद्धादयो यत ।। ६३।।
ननु तत्त्वरुचि श्रद्धा श्रद्धामात्रैक लक्षणात् ।
सम्यग्मिथ्याविशेषाभ्या सा द्विधातु कुतोऽर्थतः ।।६४।।
नैवयत समव्याप्ति श्रद्धा स्वानुभवद्वयो ।
नुन नानुपलब्धार्थे श्रद्धा खरविषाणवत् ।।६५।।
बिना स्वात्मानुभूति तु या श्रद्धा श्रुतमात्रत ।
तत्त्वार्थनुगताप्यर्थाच्छ्र ज्ञानानुपलब्धिता ।।६६।।

अर्थ यदि स्वानुभूति के साथ होते है तो श्रद्धादिक गुण हैं और स्वानुभूति के बिना वे वास्तव मे गुण नही है किन्तु गुणाभास हैं ।।६०।। इसलिए यह निष्कर्ष निकला कि श्रद्धा आदिक सभी गुण स्वानुभूति के साथ समीचीन है और सम्यक्त्व के बिना मिथ्या, श्रद्धा आदि रूप होने के

समान श्रद्धा हो ही नही सकती ।।६५।। स्वानुभूति के विना केवल श्रुत के आधार से जो श्रद्धा होती है वह यद्यपि तत्त्वार्थानुगत है तो भी तत्वार्थ की उपलब्धि नही होने से वह वास्तविक श्रद्धा नही हैं ।।६६।।

**सम्यक्त्वेनाविनाभूत प्रशम परमो गुण· ।**
**अन्यत्र प्रशमं मन्येऽप्याभास स्यात्तदत्यपात् ।।७५।।**

**अर्थ** सम्यक्त्व के साथ अविनाभाव सम्वन्ध रखने वाला जो प्रशम भाव है वह परम गुण है । और सम्यक्त्व के अभाव मे जो प्रशम भाव होता है वह प्रशम भाव न होकर प्रशमाभास है ऐसा मै मानता हूँ ।।७५।।

**विशेषार्थ** कषाय और विषयाभिलाषा ही जीवन मे व्याकुलता का कारण है । और जहॉ व्याकुलता है वहा प्रशमभाव का होना अत्यत कठिन है । यही कारण है कि प्रशम गुण के लक्षण का निर्देश करते हुए उसे क्रोधादि कषाय और विषयो मे मन की शिथिलता रूप बतलाया है । किन्तु इस प्रकार की मन की शिथिलता कदाचित सम्यकत्व के अभाव मे भी देखी जाती है जिससे कि प्रशम गुण सम्यक्त्व का सहचारी नही माना गया है । किन्तु जो प्रशम गुण अनन्तानुवन्धी के उदयाभाव मे होता है, वह अवश्य ही सम्यक्त्व का सहचारी है, क्योकि सम्यगत्वदृष्टि के अनन्तानुबन्धी कषायो का उदय नही पाया जाता । यद्यपि अनन्तानुबन्धी कषाय का उदयाभाव तीसरे गुणस्थान मे भी होता है पर यह इसका अपवाद है इतना यहॉ विशेष समझना चाहिये ।।७५।।

**जिनचैत्त्यगृहादीना निर्माणे सावधानता ।**
**यथा सम्पद्विधेयास्ति दूष्या नावद्यलेशन ।।१७७।।**
**सिद्धानामर्हता चापि यन्त्राणि प्रतिमा शुभा ।**
**चैत्यालयेषु सॅस्थाप्य द्राक् प्रतिष्टापयेत्सुधी ।।१६८।।**

**अर्थ** · भगवान अरहन्तदेव की प्रतिमा या जिनालय बनवाने मे भी सावधानी रखनी चाहिये । जिन प्रतिमा या जिनालय अच्छी रीति से बनवाना चाहिये जिससे कि थोडे से भी पापो से दूषित न होने पाए । ऐसा

लक्ष रखना चाहिये ।।१६७।। बुद्धिमान गृहस्थो को सिद्ध परमेष्ठी के यत्र बनवाना चाहिये । तथा अनेक शुभ लक्षणो से सुशोभित ऐसी अरहन्त भगवान की प्रतिमाएँ बनवानी चाहिये । सम्यगदर्शन के लिए कारण है । उन सिद्ध यत्र और जिन प्रतिमाओ को जिनालय मे स्थापना कर सबसे पहले उनकी प्रतिष्ठा कराना करवाने से सम्यग्दर्शन होता है । इसीलिए अरहन्त भगवान की प्रतिमा बनाना चाहिये ।।१६८।।

**तृतीय सर्ग** **मिथ्यादृष्टे स्तदेवास्ति मिथ्याभावैक कारणात् ।**
**तद्विपक्षस्य सद्दृष्टे र्नास्ति तत्तत्र व्यत्यात् ।।४२।।**
**बहिर्दृष्टिरनात्मज्ञो मिथ्यामात्रैकभूमिक ।**
**स्वं समासादयत्यज्ञः कर्माकर्म फलात्मकम् ।।४३।।**
**ततो नित्य भयाक्रान्तो वर्तते भ्रान्तिमानिव ।**
**मनुते मृगतृष्णायामम्भोभारं जन·कुधी· ।।४४।।**

**अर्थ** · मिथ्यादृष्टि जीव के ऐसा भय अवश्य पाया जाता है । क्योकि इसका कारण एकमात्र मिथ्याभाव है । किन्तु इससे विपरीत सम्यग्दृष्टि जीव अपनी आत्मा को पहचानता है, क्योकि मिथ्यादृष्टि जीव एक मात्र मिथ्याभूमि मे स्थित है । वह मूर्ख अपनी आत्मा को कर्म और कर्मफल रूप ही अनुभव करता है ।।४३।। इसलिए भ्रमित पुरुष के समान वह निरन्तर ही भयाक्रान्त रहता है । ठीक ही है क्योकि अज्ञानी जीव मृगतृष्णा को ही जल समझ बैठता है, इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि विपरीत अर्थ समझकर चलता है ।।४४।।

**तद्यथा लौकिकी रूढी रस्ति नाना विकल्पसात् ।**
**नि·सारैराश्रिता पुंभिरथानिष्टफल प्रदा ।।११५।।**
**अफला कुफला हेतु शून्या योगापहारिणी ।**
**दुस्त्याज्या लौकिकी रूढी· कैश्चदद्दुष्कर्मपाकतः ।।११६।।**
**अदेवे देवबद्धि स्यादधर्मे धर्म धीरिह ।**
**अगुरौ गुरूबुध्दिर्या ख्याता देवविमूढता ।।११७।।**

कुदेवाराधना कुर्यादैहिक श्रेयसे कुधी ।
मृषालोकोपचारत्वाद श्रेया लोकमूढता ।।११८।।
अस्ति श्रध्दानमेकेषा लोकरूढवशादिह ।
धन धान्यप्रदा नून सम्यगाराधिताम्बिका ।।११९।।
अपरेऽपि यथाकाम देवानिच्छन्ति दुर्धिय ।
सदोषानपि निर्दोषानिव प्रज्ञापराघत ।।१२०।।
अधर्मस्तु कुदेवाना यावानाराघनोद्यम ।
तै प्रणीतेषु धर्मेषु चेष्टा बाक्कायचेतसाम् ।।१२२।।
कुगुरु कुत्सिताचार . सशल्य सपरिग्रह . ।
सम्यक्त्वेन व्रतेनापि युक्त स्यात्सद् गुरूर्यत ।।१२३।।
दोषोरागादिचिद्भाव स्यादावरण चकर्मतत् ।
तयोर भावोऽस्ति नि शेषो यत्रासौ देव उच्यते ।।१२२।।

**अर्थ** उदाहरणार्थ - लौकिकी रूढि नाना प्रकार की है, जिसे नि सार पुरुषो ने आश्रय दे रखा है । जिसका फल अनिष्ट है ।।१२५।। जो निष्फल है, खोटे फलवाली है, जिसकी पुष्टि मे कोई समुचित हेतु नही मिलता और जो निरर्थक है तो भी कितने ही पुरुष खोटे कर्म के उदय से उस लौकिकी रूढि को छोडने मे कठिनता का अनुभव करते हैं ।।११६।। जीव के जो अदेव मे देव वुद्धि, अधर्म मे धर्म बुद्धि और अगुरु मे गुरु बुद्धि होती है वह देव विमूढता कही जाती है ।।११७।। मिथ्यादृष्टि जीव एहिक सुख के लिए कुदेव की आराधना करते हैं । यह झूठा लोकाचार है । अत लोकमूढता अकल्याणकारी मानी गई है ।।११८।। लोकमूढता वश किन्ही पुरुषो का ऐसा श्रद्धान है कि अम्बिका की अच्छी तरह आराधना करने पर वह धन-धान्य देती है ।।११९।। इसी तरह अन्य मिथ्यादृष्टि जीव भी अज्ञानतावश सदोष दोषो को भी निर्दोष देवो के समान इच्छानुसार मानते है ।।१२०।। कुदेवो को आराधना के लिए जितना भी उद्यम है वह और उनके द्वारा कहे गए धर्म मे, वचन, काय और मनकी प्रवृति यह सब अधर्म है ।।१२२।। जिसका आचार कुत्सित है जो

शल्य और परिग्रह सहित है वह कुगुरु है, क्योकि सद्गुरु सम्यक्त्व और व्रत इन दोनो से युक्त होता है ।।१२३।। रागादिक का पाया जाना यह दोष है और ज्ञानावरणादि ये कर्म है जिनके इन दोनो का सर्वथा अभाव हो गया है वह देव कहा जाता है ।।१२५।।

**अस्त्यत्र केवलं ज्ञान क्षायिकं दर्शनं सुखं ।**
**वीर्य चेति सुविख्यात स्याद्नन्तचतुष्टयं ।।१२६।।**
**एको देव : स सामान्याद् द्विधाऽवस्था विशेषत ।**
**संख्यर्धा नामसदर्भाद् गुणेभ्यः स्यादनन्तधा ।।१२७।।**
**एको देव . स द्रव्यार्थात्सिद्ध शुद्धोपलब्धित· ।**
**अर्हन्निति च सिद्धश्च पर्यायार्थाद‌द्विधा मत· ।।१२८।।**
**दिव्यौदारिकदेहस्यो धौंतघाति चतुष्टय·।**
**ज्ञानदृग्वीर्यसौख्याढ्य· सोऽर्हन् धर्मोपदेशक· ।।१२९।।**
**मूत्तिमछेहनिर्मुक्तो लोको लोकाग्रसांस्थत ·।**
**ज्ञानाद्यष्टगुणोपेतो निष्कर्मा सिद्ध संज्ञकः ।।१३०।।**

**अर्थ** · उनके केवलज्ञान, क्षायिक दर्शन, क्षायिक सुख और क्षायिक वीर्य यह सुविख्यात अनन्तचतुष्टय होता है ।।१२६।। द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा वह देव एक है । अवस्था विशेष की अपेक्षा अनन्त प्रकार का है ।।१२७।। शुद्धोपलब्धिरूप द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा से वह देव एक प्रकार का माना गया है और पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से अरहन्त और सिद्ध इस तरह दो प्रकार का माना गया है ।।१२८।। जो दिव्य औदारिक देह मे स्थित है, चारो घातिया कर्मो से रहित है, ज्ञान, दर्शन, वीर्य और सुख से परिपूर्ण है और धर्म का उपदेश देने वाला है वह अरहन्तदेव है ।।१२९।। जो मूर्त शरीर से रहित है, सम्पूर्ण चर और अचर पदार्थो को युगपत् जानने और देखने वाला है, लोक के अग्र भाग मे स्थित है, ज्ञानादि आठ गुण सहित है और ज्ञानवरणादिक आठ कर्मो से रहित है वह सिद्ध देव है ।।१३०।।

वृद्धै प्रोक्तमत सूत्रे तत्त्व वागतिवर्ति यत् ।
द्वादशाड्गड्गबाह्च श्रुतं स्थूलार्थगोचरम ।।१३८।।
कृत्स्नकर्मक्षयाऽज्ञान क्षायिक दर्शन पुन· ।
अत्यक्ष सुखममोत्थ वीर्य चेति चतुष्टयम् ।।१३९।।
सम्यकत्त्व चैव सूक्ष्मत्वमव्यबाधगुणा स्वत ।।
अस्त्यगुरूलघुत्त्व च सिद्धे चाष्टगुणा स्मृता ।।१४०।।
इत्याद्यनन्तधर्मादय कर्माष्टक विवार्जित· ।
मुक्तोऽष्टादशभिर्दोषैर्दैव सेव्यो न चेतर ।।१४१।।
अर्थाद्गुरू स एवास्ति श्रेयोमार्गोपदेशक ।
भगवास्तु यत साक्षान्नेता मोक्षस्यवर्त्मन ।।१४२।।
तेभ्योऽर्वागपि छद्मस्थरूपा तद्रूपधारिण ।
गुरव स्युगुरोन्योर्न्यायान्यायोऽवस्थाविशेष भाक् ।।१४३।।

**अर्थ** इसी से पूर्वाचार्यो ने सूत्र मे यह कहा है कि तत्व वचन के अगोचर है और वारह अग तथा अग ब्राह्यरूप श्रुत स्थूल अर्थ को विषय करता है ।।१३८।। सम्पूर्ण कर्मो के क्षय से सिद्ध के ये आठ गुण होते है । - क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन, अतीन्द्रिय सुख और आत्मा से उत्पन्न होने वाला वीर्य - ये चार अनन्त चतुष्ट्य होते है ।।१३९।। इनके सिवाय सम्यक्त्व, सूक्ष्मत्व, अत्याबाध और अगुरूलघु ये चार गुण और होते है । ।।१४०।। इस प्रकार जो ज्ञानादि अनन्त धर्मो से युक्त हैं । आठ कर्मो से रहित और अट्ठारह दोषो से रहित है वही देव सेवनीय है अन्य नही ।।१४१।। वास्तव मे वही देव सच्चा गुरु है, वही मोक्षमार्ग का उपदेशक है, वही भगवान है और वही मोक्षमार्ग का साक्षात् नेता है ।।१४२।। इन अरहन्त और सिद्धो से नीचे भी जो अल्पज्ञ है और उसी रूप अर्थात् दिगम्बरत्व, वीतरागत्व और हितोपदेशित्व को धारण करने वाले है वे गुरु है, क्योकि इनमे न्यायानुसार गुरु का लक्षण पाया-जाता है । ये उनसे भिन्न और कोई दूसरी अवस्था को धारण करने वाले नही है ।।१४३।।

**अर्थ** इसलिए उनमे स्वभाव से ही शुद्धता सिद्ध होती है और इसकी पुष्टि करने वाला हेतु चारित्र भी पाया जाता है । अत उनके मोहनीय कर्म का उदय नही है अत वहॉ मोहनीय कर्म का कार्य भी नही पाया जाता है ।।१४७।। उनकी यह शुद्धता नियम से निर्जरा का कारण है, सवर का कारण है और क्रम से मोक्ष दिलाने वाली है यह बात सुप्रसिद्ध है ।।१४८।। अथवा वह शुद्धता ही नियम से स्वय निर्जरा आदि तीन रूप है, क्योकि शुद्ध भावोसे अविभाव रखनेवाला द्रव्य से भी इन तीन रूप ही होता है ।।१४९।। आशय यह है कि आत्मा का जो शुद्ध भाव निर्जरा आदि का कारण है वही परमपूज्य है और उससे युक्त आत्मा ही परम गुरु है ।।१५०।। न्यायानुसार गुरुपनेका कारण केवल दोषो का नाश हो जाना ही है । जो निर्दोष है वही जगत् का साक्षी है और वही मोक्षमार्ग का नेता है अन्य नही ।।१५१।। मुनि की यह छद्मास्थता भी गुरुपने का नाश करने के लिए समर्थ नही है, क्योकि रागादि अशुद्ध भावों का कारण एक मोह माना गया वह नही है ।।१५२।।

**क्या गुरूआदेश दे सकता है ?**

**अपि छिन्ने व्रत्ते साधो पुन सन्धानमिच्छत ।**
**तत्समादेशदानेन प्रायश्चित प्रयच्छति ।।१६८।।**
**आदेशस्योपदेशेभ्य स्याद्विशेष स भेदभाक् ।**
**आदत्ते गुरूणा दत्ते नोपदेशेष्वय ।।१६९।।**

**अर्थ** तथा व्रतभग होने पर फिर से उस व्रत को जोडने की इच्छा करने वाले साधुको जो आदेश द्वारा प्रायश्चित देता है वह आचार्य है ।।१६८।। उपदेशो से आदेश मे प्रार्थक्य दिखलाने वाला यह अन्तर है कि आदेश मे गुरु के द्वारा दिये गये व्रत को स्वीकार है यह विधि मुख्य रहती है किन्तु उपदेशो मे यह विधि मुख्य नही रहती ।।१६९।।

**न निषेद्धस्तदादेशो गृहिणा व्रतधारिणाम् ।**
**दीक्षा चार्येण दीक्षेव दीयमानास्ति तात्क्रिया ।।१७०।।**

स निषिद्धो यथाम्नायादव्रतिना मनागपि ।
हिंसक श्चोपदेशोऽपि नोपयुज्योऽत्र कारणात् ।।१७१।।
मुनिव्रतघराणा वा गृहस्थव्रतधारिणा ।
आदेश्चोपदेशोवान कर्तव्यो वधाश्रित· ।।१७२।।
न चाऽऽशड्क्यं प्रसिद्धं यन्मुनिभिर्व्रतधारिभि ।
मुर्तिमच्छक्ति सर्वस्वं हस्तरेखव दर्शित ।।१७३।।
नून प्रोक्तोपदेशोऽपि न रागाय विरगिणा ।
रागिणामेव रागाय ततोऽवश्यं स वर्जित ।।१७४।।
न निषिद्ध· स आदेशो नोपदेशो निषेधितः ।
नून सत्पात्रदानेषु पूजायामर्हतामपि ।।१७५।।
यद्वाऽऽदेशोपदेशौस्तो द्वौ तौ निरवद्यकर्मणि ।
यत्र सावद्यलेषोऽपि तत्राऽऽर्यौरौन जा कथितः ।।१७६।।
सहासंयगिमिर्लोकेः ससर्ग भाषणं रर्ति ।
कुर्यादाचार्य इत्येके ना सौं सूरिर्नचार्हतः ।।१७७।।

अर्थ · व्रतधारी गृहस्थो के लिये भी आचार्य का आदेश करना निषिद्ध नही है, क्योकि दीक्षाचार्य के द्वारा दी गयी दीक्षा के समान ही वह आदेश विधि मानी गई है ।।१७०।। किन्तु जो अव्रती है उनके लिए आगम की परिपाटी के अनुसार थोडा भी आदेश करना निषिद्ध है और इसी प्रकार कारणवश हिसाकारी उपदेश करना भी उपयुक्त नही है ।।१७१।। चाहे मुनिव्रतधारी हो चाहे गृहस्थ व्रतधारी हो इन दोनो के लिये हिसा का अवलम्बन करने वाला आदेश और उपदेश नही करना चाहिये ।।१७२।। जो यह प्रसिद्ध है कि व्रतधारी मुनि मूर्तिमान पदार्थो की समस्त शक्तियो को हस्तरेखा के समान दिखला देते हे इसलिए उक्त उपदेश और आदेश उनका कुछ भी बिगाड नही कर सकता सो ऐसी आशका करना भी ठीक नही है क्योकि यद्यपि पूर्वोक्त उपदेश विरागियो के लिए राग का कारण नही है, तो भी जो रागी है उनके लिए वह राग का कारण अवश्य है

इसलिए उसका निषेध किया गया है ।।१७३-१७४।। किन्तु सत्पात्रो के लिए दान और अरहन्तो की पूजा इन कार्यो मे न तो वह आदेश ही निषिद्ध है और न वह उपदेश ही निषिद्ध है ।।१७५।। अथवा आदेश और उपदेश ये दोनो ही निसिद्ध कार्यो के विपय मे उचित माने गये हैं, क्योकि जिस कार्य मे सावध का लेशमात्र भी हो उस कार्य का आदेश करना कभी भी उचित नही है ।।१७६।। कितने ही आचार्यो का मत है कि आचार्य असयमी परपुरुषो के साथ सम्वन्ध भाषण और प्रतिकार करता है परन्तु उनका ऐसा कहना ठीक नही है क्योकि ऐसा करने वाला न तो आचार्य ही हो सकता है और न अरहन्त के मतका अनुयायी ही हो सकता है ।।१७७।।

**सङ्घा सम्पोषक सूरि प्रोक्त· कैश्चन्मतेरिह ।**
**धर्मादेशोपदेशाभ्या नोपकारोऽपरोऽस्त्यत ।।१७८।।**
**यद्वा मोहात्प्रमादाद्वा कुर्याद्यो लौकिकीं क्रियाम् ।**
**तावत्कालं स नाचार्योऽप्यास्ति चान्तर्व्रताच्च्युत· ।।१७९।।**
**इत्युक्त·व्रततप शील सयमादिधरोगणी ।**
**नमस्य स गुरू साक्षात्तदन्योन गुरुर्गणी ।।१८०।।**

**अर्थ** जो सघ का पालन-पोषण करता है वह आचार्य है ऐसा किन्ही अन्य लोगो ने ही अपनी मति से कहा है अत यही निश्चय होता है कि धर्म का आदेश और उपदेश के सिवाय आचार्य का और कोई उपकार नही है ।।१७८।। अथवा मोहवश या प्रमादवश होकर जो लौकिकी क्रिया को करता है वह उतने काल तक आचार्य नही रहता इतना ही नही किन्तु तब वह अन्तरग मे व्रतो से च्युत हो जाता है ।।१७९।। इस प्रकार पूर्वोक्त, व्रत, तप, शील और सयम आदि को धारण करने वाला आचार्य ही को नमस्कार करने योग्य है और वही साक्षात् गुरु है । इससे भिन्न स्वरूप का धारण करने वाला न तो गुरु ही हो सकता है और न आचार्य ही हो सकता है ।।१८०।।

व्रत, तप, ज्ञान, शील, सयम और मोक्ष की इच्छा करने के लिये पात्र सम्यग्दृष्टि ही होते है ।

चतुर्थ सर्ग लाटी सहिता पृ न ७८

शुद्धदर्शनिकोद्दान्तो भावैं सातिशय क्षमी ।
ऋजुर्जितेन्द्रियो धीरो व्रतमादातुमर्हति ।।१।।
शरीर भवभोगेभ्यो विरक्तो दोषदर्शनात् ।
अक्षातोतसुखैंषी य स स्यान्नून व्रतार्हत ।।२।।
न स्यादणुव्रतार्हो यो मिथ्यान्धतमसा तत ।
लोलुपो लोलचक्षुश्च वाचालो निर्दय कुधी ।।३।।
मूढो गूढोशठ प्रायो जाग्रन्मूर्च्छापरिग्रह ।
दुर्विनीतो दुराराधयो निर्विवेकी समत्सर ।।४।।
निदकश्च विना स्वार्थ देवशास्त्रेष्वसूयक ।
उद्धतो वर्णवादी च वावदूकोऽप्यकारणे ।।५।।
आततायी क्षणादन्यो भोगाकाङ्क्षी व्रतच्छलात् ।
सुखाशयो धनाशश्च बहुमानी च कोपत ।।६।।
मायावी लोभपात्रश्च हास्याद्युद्रेकलक्षित ।
क्षणादुष्ण क्षणाच्छीत क्षणाद्भीरु क्षणाद्भट ।।७।।
इत्याधनेक दोषाणामास्पद स्वपदास्च्युत ।
इच्छान्नपि व्रतादीश्च नाधिकारी स निश्चयात् ।।८।।

इच्छा करता रहता है वही मनुष्य निश्चय से व्रत धारण करने के योग्य होता है ।।२।। जो पुरुष मिथ्यात्वरूपी घोर अन्धकार से व्याप्त हो रहा है, जो अत्यत चचल है, जिसके नेत्र सदा चचल रहते हैं, जो बहुत बोलनेवाला है, जो निर्दयी है, जिसका बुद्धि विपरीत है, जो अत्यन्त मूर्ख है अथवा अत्यन्त मूर्ख के समान हैं, जिसका मूर्च्छारूप परिग्रह अत्यन्त प्रज्वलित हो रहा है। अथवा जिसकी तृष्णा या परिग्रह बढाने की लालसा बहुत बढी हुई है, जो अत्यन्त अविनयी हैं, जो अधिक सेवा करने से भी प्रसन्न नही होता अर्थात् जिसका हृदय अत्यन्त कठोर है, जो निर्विवेकी है, सबसे ईर्ष्या, द्वेष करनेवाला है, सबकी निन्दा करनेवाला है तथा बिना किसी अपने प्रयोजन के भी दूसरे की निन्दा करता रहता है जो देव शास्त्रो से भी ईर्षा द्वेष करता है। जो अत्यन्त उद्धत है, जो अत्यन्त निन्दनीय है, जो व्यर्थ ही बकवास करता रहता है, तथा बिना कारण के बकवाद करता रहता है, जो अनेक प्रकार के अत्याचार करने वाला हैं, जिसका स्वभाव क्षण-क्षण मे बदलता रहता है जिसे भोगोपभोगो की तीव्र लालसा है, जो व्रतो का बहाना बनाकर अनेक प्रकार के भोगोपभोग करता है, जो सदा इन्द्रिय सबधी सुख चाहता रहता है, जिसको धन की तीव्र लालसा है, जो बहुत ही अभिचारी है। जो बहुत ही मायाचारी है और बहुत ही लोभी है, जिसके हास्य, शोक, भय, जुगुप्सा, रति, अरति, आदि कषाय तीव्र है, जो क्षणभर मे शान्त हो जाता है और क्षणभर मे क्रोध से पडता है, जो क्षणभर मे भयभीत हो जाता है और क्षणभर मे ही बहुत बडा शूर बन जाता है। इस प्रकार जिसमे अनेक दोष भरे हुए है और जो अपने आत्मा के स्वरूप मे लीन नही है ऐसा पुरुष यदि व्रतों को धारण' करने की इच्छा भी करे तो भी निश्चयसे व्रतो के धारण करने का अधिकारी नही होता अतएव ऐसा पुरुष अणु व्रत धारण करने के योग्य भी नही हो सकता ।।३-८।।

**न वाच्य पाठमात्रत्वमस्ति तस्येह नार्थत ।**
**यतस्तस्योपदेशा द्वै ज्ञान विंदन्ति केचन ।।१९।।**

**यथा चिकित्सक· कश्चित्पराङ्गतवेदनां ।**
**परोपदेशवाक्याद्वा जानन्नानु भवत्यापि ।।२६।।**
**तथा सूत्रार्थवाक्यार्थात् जानन्नाप्यात्मलक्षण· ।**
**नास्वादयति मिथ्यात्वकर्मणो रसपाकत ।।२७।।**

**अर्थ :** यहॉ पर कदाचित् कोई यह शका करे कि ऐसे मिथ्यादृष्टि मुनि को जो ग्यारह अग का ज्ञान होता है वह केवल पाठ मात्र होता है उसके अर्थों का ज्ञान उसको नही होता । परन्तु यह शका करना भी ठीक नहीं है क्योकि शास्त्रो मे यह कथन आता है कि ऐसे मिथ्यादृष्टि मुनियो के उपदेश से अन्य कितने ही भव्य जीवो को सम्यगदर्शन पूर्वक सम्यगज्ञान प्रगट हो जाता है अर्थात् उनके उपदेश को सुनकर कितने ही भव्यजीव अपने आत्मस्वरूप को पहचानने लगते है उन्हे अपने शुद्ध आत्मा का अनुभव हो जाता है और वे रत्नत्रय प्राप्तकर मोक्ष प्राप्त कर लेते है ।।१९।। जिस प्रकार कोई वैद्य दूसरे के उपदेश के वाक्यो से दूसरे के शरीर मे होने वाले रोगो के दु खो को जानता है परन्तु वह उन दु खो का अनुभव नही करता, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि पुरुष शास्त्रो मे कहे हुए वाक्यो के अनुसार आत्मा के स्वरूप को जानता है तथापि मिथ्यात्व कर्म के उदय से उसका आस्वादन या अनुभव नही कर सकता ।।२६-२७।।

**सम्यग्दृशाऽथ मिथ्यात्वशालिनाऽप्यथ शक्तित· ।**
**अभव्येनापि भव्येन कर्तव्यं व्रतमुत्तमम् ।।३७।।**
**पारम्पर्येण केषाचिदपवर्गाय सत्क्रिया ।**
**पच्चानुत्तरविमाने मुदे ग्रैवेयकादिषु ।।३९।।**

**अर्थ :** इसीलिए उत्तमादि श्रावको को अच्छी तरह समझकर और उस पर पूर्ण यथार्थ श्रद्धान रखकर इस लोक और परलोक की विभूतियो को प्राप्त करने के लिए व्रतो का सग्रह अवश्य करना चाहिये ।।३६।।

**एव सम्यक् परिज्ञाय श्रद्धाय श्रावकोत्तमै· ।**
**सम्पदर्थमिहामुत्र कर्तव्यो व्रतसग्रह· ।।३८।।**

**अर्थ ·** यह भव्य मिथ्यादृष्टि को सम्यग्दृष्टि होकर के अपनी शक्ति के अनुसार उत्तम व्रत को अवश्य पालन करना चाहिये और अभव्य जीव

को कभी भी सम्यकत्व व्रत नही होता है ।।३७।। इन्ही महाव्रतादिक व्रतरूप क्रियाओ को भव्य जीव ही पालन करने से कितने ही जीवो को परम्परा से मोक्ष प्राप्त हो जाता अथवा नव ग्रैवयको के सुख वा विजय वैजवत, जयत, अपराजित, स वर्थार्थसिद्धि इन पॉच अनुत्तर विमानो के सुख प्राप्त होते है ।।३९।।

सधर्म भ्रातृवर्गाश्च सानुकूला सुसहता ।
स्निग्धाश्चानुचरा यावदेत्पुण्य फलं जगु· ।।४५।।
जैनधर्मे प्रतीतिश्च संयमे शुभभावना ।
ज्ञानशक्तिश्च सूत्रार्थे गुरवश्चोपदेशका ।।४६।।
सधर्मिण सहायाश्च स्पष्टाक्षर वाक्‌पाटवम् ।
सौष्ठव चक्षुरादीना मनीषा प्रतिभान्विता ।।४७।।
सुयश सर्वलोकेऽस्मिन् शरदिन्दु समप्रभम् ।
शासन स्यादनुल्लघ्य पुण्यभाजा न सशय ।।४९।।

**अर्थ** अपने धर्म को अच्छी तरह से पालन करनेवाले, अपने अनुकूल रहनेवाले और सब मिलकर इक्ट्ठे रहनेवाले ऐसे भाई-बधुओ का प्राप्त होना भी पुण्य का फल कहा जाता है तथा अपने पर सदा प्रेम व भक्ति करनेवाले सेवको का प्राप्त होना भी पुण्य का फल कहा जाता है। इस प्रकार सुख देनेवाली सब कुटुम्ब की सामग्री का प्राप्त होना व्रत पालन करने रूप पुण्य का फल कहा जाता है ।।४५।। जैन धर्म मे श्रद्धान होना, सयम धारण करने के लिए शुभ भावनाओ का होना सूत्रो का या समस्त जैन शास्त्रो का अर्थ समझने योग्य या दूसरो को प्रतिपादन करने योग्य अपने ज्ञान की शक्ति का प्राप्त होना, रत्नत्रय का उपदेश देने वाले गुरुका सहवास प्राप्त होना, धर्मात्मा पुरुषो की साथ होना अथवा धर्मात्मा, पुरुषो की सहायता प्राप्त होना, स्पष्ट अक्षरो का उच्चारण होना, वचनो के कहने की चतुरता प्राप्त होना, नेत्र, नाक, कान, आदि इन्द्रियो की सुदरता प्राप्त होना शरद ऋतु के चन्द्रमा के समान अत्यन्त निर्मल और समस्त लोक मे व्याप्त होनेवाला सुयश का मिलना, और जिसका कोई

भी उल्लधन न कर सके ऐसे शासन का प्राप्त होना आदि सब पुण्यवान पुरुषो को ही प्राप्त होता है इसमे सन्देह नही है ।।४६-४८।।

**तत्प्रसीदधुना प्राज्ञा मद्वचःश्रृणु फामा ।**
**सर्वामयविनाशाय पिब पुण्य रसायनम् ।।५३।।**
**प्रोवाच फाम्नो नाम्ना श्रावक सर्वशास्त्रवित् ।**
**पुण्यहेतौ परिश्राते तत्कर्तुमपि चोत्सहेत् ।।५४।।**
**श्रुणु श्रावक पुण्यस्य कारण वच्मि साम्प्रतम् ।**
**देशतो विरतिर्नाम्नाणुव्रत सर्वतो महत् ।।५५।।**

**अर्थ** इसलिए हे बुद्धिमान और विद्वान फामन ! तू अब प्रसन्न हो और मेरी बात सुन ! तू अब ससारबन्धी समस्त रोगो को (ससार के दु खो को) दूर करने के लिए पुण्यरूपी रस को पी ।।५३।। यह बात सुनकर समस्त शास्त्रो का जानने वाला फामन नामका श्रावक कहने लगा कि पुण्य के कारणो को जान लेने पर ही तो कोई भी श्रावक उसके करने के लिए तैयार हो सकता है ।।५४।। इसके उत्तर मे ग्रन्थकार कहने लगे कि हे श्रावकोत्तम फामन ! सुन ! मै अब आगे पुण्य के कारणो को बतलाता हूँ । पॉचो पापो का एकदेश त्याग करना अणुव्रत है और (उन्ही पॉचो पापो का) पूर्ण रीति से त्याग करना महाव्रत है ।।५५।।

**हिंसाया· विरति प्रोक्ता तथा चानृत्यभाषणात् ।**
**चौर्याद्विरति : ख्याता स्यादब्रम्ह परिग्रहात ।।५७।।**

**अर्थ** · ग्रन्थकार कहने लगे कि हिसा का त्याग करना चाहिये, झूठ बोलने का त्याग करना चाहिये, चोरी का त्याग करना चाहिये, अब्रह्म या कुशील का त्याग करना चाहिये और परिग्रह का त्याग करना चाहिये ।।५७।।

**ननु हिंसात्वं किं नाम का नाम विरतिस्तत ।**
**किं देशत्वं यथाम्नायाद् ब्रूहि मे वदता वर ।।५९।।**
**हिंसा प्रमत्तयोगाद्धै यत्प्राणव्यपशोपन ।**
**लक्षणाल्लक्षिता सूत्रे लक्षश पुर्व सुरिभि ।।६०।।**

प्राणा पचेन्दियाणीह वाग्मनोऽङ्ग बलत्रयम् ।
नि श्वासोच्छ्वास सज्ञ स्यादायुरेकं दशेति च ।।६१।।

**अर्थ** यह सुनकर फामन फिर पूछने लगा कि हिसा किसको कहते है, विरति शब्द का अर्थ क्या है और एकदेश किसको कहते हैं ? हे वक्ताओ मे श्रेष्ठ । आचार्य परम्परा से चला आया इनका लक्षण मुझे बतलाइये ।।५९।। इस प्रश्न के उत्तर मे ग्रन्थकार कहने लगे कि प्रमाद के योग से प्राणो का व्यपरोपण करना, कषाय के निमत्त से प्राणो का वियोग करना हिसा है । पहले के आचार्यो ने शास्त्रो मे इस हिंसा का स्वरूप अनेक प्रकार वतलाया है ।।६०।। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पाच इन्द्रियॉ, मनोवल, वचनवल और कायवल ये तीन वल, स्वासोच्छ्वास और आयु ये देश प्राण कहलाते हैं ।।६१।

देशशब्दोऽत्र स्थूलार्थे तथा भावाद्विवक्षित ।
कारणात्स्थूलहिंसा देस्त्यागस्थैवात्र दर्शनात् ।।१२३।।
स्थूलत्वमार्दव स्थूलत्रसरक्षादिगोचर ।
अतिचाराविनाभूत सातिसार च सास्रवम् ।।१२४।।

**अर्थ** यहॉ पर एकदेश शब्द का अर्थ स्थूल लेना चाहिये तथा भावपूर्वक लेना चाहिये अर्थात् कारण पूर्वक स्थूल हिसादिक का त्याग करना ही एकदेश त्याग का अर्थ हैं । यही अर्थ शास्त्रो मे कहा गया है ।।१२३।। स्थूल शब्द का भी अर्थ कोमल परिणाम या करुणा है । करुणापूर्वक स्थूल त्रसजीवो की रक्षा करना ही अहिसाणुव्रत हैं । यह अणुव्रत अतिसार के साथ-साथ होता है अर्थात् यह अतिसार सहित हो जाता है और आसव सहित होता है ।।१२४।।

अत्र तात्पर्यमेवैतात्सर्वारम्भेण श्रूयता ।
त्रसकायबधाय स्यात्क्रिया त्याज्याहितावती ।।१२७।।
क्रियाया यत्र विख्यातस्त्रकायबधो महान ।
ता ता क्रियामवश्य स सर्वामपि परित्यजेत् ।।१२८।।

अत्राप्याऽऽशङ्गते कश्चिदात्मप्रज्ञापराधत ।
कुर्यार्दिसा स्वकार्याय न कार्या स्थावरक्षतिः ।।१२९।।
अय तेषा विकल्पो यः स्याद्वा कपोलकल्पनात् ।
अर्थाभासस्य भ्रातेर्वानैव सूत्रार्थ दर्शनात् ।।१३०।।

**अर्थ** : इस सबके कहने का अभिप्राय यह है कि जिस आरम्भ से त्रस जीवो की हिसा होती हो ऐसी जितनी भी क्रियाएँ है उनका सब प्रकार से त्यागकर देना चाहिये । इस बात को खूब अच्छी तरह सुन लेना चाहिये, क्योकि ऐसी क्रियाओ से आत्मा का कभी कल्याण नही होता है । ऐसी त्रसजीवो की हिसा करने वाली क्रियाओ से यह आत्मा नरकादिक दुर्गतियो मे ही प्राप्त होता है ।।१२७।। जिस क्रिया के करने मे त्रस जीवो की महाहिसा होती हो ऐसी-ऐसी समस्त क्रियाओ का त्याग अवश्य कर देना चाहिये ।।१२८।। यहॉ पर कोई पुरुष अपनी बुद्धि के दोष से कुतर्क करता हुआ शका करता है कि अपने कार्य के लिए तो त्रस जीवो की हिसा भी कर लेनी चाहिये परन्तु बिना प्रयोजन स्थावर जीवो का विघात भी नही करना चाहिये परन्तु यह उसका विकल्प कपोल कल्पित है । या तो उसे अर्थका यथार्थ परिज्ञान नही हुआ है । अथवा भ्रम रूप बुद्धि होने से ऐसी कपोलकल्पना करता है क्योकि उसका किया हुआ यह अर्थ सूत्र या शास्त्रो के अनुसार नही है । सूत्र या शास्त्रो के विरुद्ध है ।।१२९-१३०।।

एतत्सूत्र विशेषार्थेऽनवदत्तावधानकैं ।
नून तैं स्खलित मोहात्सर्वसामान्य सड्ग हात् ।।१३२।।
किञ्च कार्य विना हिंसां न कुर्यादिति धीमता ।
दृष्टेस्तुर्यगुणस्थाने कृतार्थत्वाद्द्दगात्मन् ।।१३३।।
युदुक्त गोम्मटसारे सिद्धाते सिद्धसाधने ।
तत्सूत्र व यथाम्नार्याप्रतीत्यं वच्मि साप्रतम् ।।१३४।।

**अर्थ** · जो लोग इस सिद्धान्त के विशेष अर्थ को नही जानते हैं ऐसे

लोग ही अपने मोहनीय कर्म के उदय से स्खलित हो जाते है अर्थात् मोहनीय कर्म के उदय से हिसा को ही अहिंसा व अहिंसा अणुव्रत मान लेते है ऐसे लोग समस्त कथन को सामान्य रूप से समझ लेते हैं और सव को समझकर एक साथा सग्रहक लेते है ।।१३२।। दूसरी समझने योग्य विशेष यह है कि सम्यग्दृष्टी पुरुष कृतार्थ होता है । यह अपने आत्मा के स्वरूप को अच्छी तरह जानता है । अतएव वह चोथेगुणस्थान मे भी विना प्रयोजन के हिसा नही करता । इस वात को सव वुद्धिमान अच्छी तरह जानते है ।।१३३।।

सम्मइट्ठी जीवो उवइट्ठ पवयण च सद्दहदि ।
सद्दहदि असब्भाव अजाणमाणो गुरुणियोगा ।।३६।।

अर्थ गोमट्ट सार मे लिखा है सम्यग्दृष्टि जीव भगवान सर्वज्ञ देव के कहे हुए शास्त्रो का श्रद्धान करते है तथा जिस किसी पदार्थ का स्वरूप वह नही जानता है और उसका स्वरूप गुरु वतला देवे तो उन गुरु का बतलाया हुआ उस पदार्थ का स्वरूप का यथार्थ हो वह उन यथार्थ गुरु के कहे वचनो का श्रद्धान कर लेता है ।।३६।।

त्रसहिंसाक्रियात्यागो यदि कर्तुन शक्यते ।
व्रतस्थानाग्रहेणाल दर्शनेनैव पूर्यताम् ।।१७१।।
व्रतस्थान क्रियाकर्तुमशक्योऽपि यदीप्सति ।
व्रतमन्योऽपि समोहाद् व्रताभासोऽस्ति न व्रती ।।१७२।।
अल कोलाहलेनाल कर्तव्या श्रेयस क्रिया ।
फलमेव ही साध्य स्यात्सर्वारम्भेण धीमता ।।१७३।।
त्रसहिंसाक्रियात्याग शब्द स्थादूपलक्षण ।
तेन भूकायिकादींश्च नि शड्क नोपमदयेत् ।।१७४।।

अर्थ जो पुरुष जिनमे त्रस जीवो की हिसा होती है ऐसी क्रियाओ का त्याग नही कर सकता । उसको पॉचवे गुणस्थान मे आने की आवश्यकता नही है अर्थात् उसे अणुव्रत नही करना चाहिये । उसको

चतुर्थ गुणस्थान मे होने वाली क्रियाएँ ही पूर्ण रीति से पालन करना चाहिये ।।१७१।। जो पुरुष पॉचवे गुणस्थान मे होने वाली क्रियाओ का पालन नही कर सकता, अर्थात् अणुव्रतो को धारण नही कर सकता, अथवा जिनमे त्रस जीवो की हिसा होती हो ऐसी क्रियाओ का त्याग नही कर सकता, तथापि वह यदि व्रतो को धारण करना चाहे और अपनेको व्रती मानना चाहे तो भी वह व्रती नही हो सकता किन्तु मोहनीय कर्म के उदय होनेसे उसको व्रताभासी अथवा व्रताभासो को धारण करनेवाला कहते है ।।१७२।। ग्रथकार कहते है कि व्यर्थ के कोलाहल करने से कोई लाभ नही है जिन क्रियाओ से आत्मा का कल्याण होता है ऐसी ही क्रियाएँ श्रावक को करनी चाहिये, क्योकि बुद्धिमान पुरुष जितने आरम्भ या कार्य करते है उन सबसे अपने फल कि ही सिद्धि करते हैं ।।१७३।। "अणुव्रती" श्रावको को जिनमे त्रसजीवो की हिसा होती हो ऐसी समस्त क्रियाओ का त्याग कर देना चाहिये "यह जो कहा गया है वह उप-लक्षण है । अथएव त्रस जीवो की रक्षा तो करनी ही चाहिये कितु पृथ्वीकायिक, जल कायिक आदि स्थावरकायिक जीवो को नि शक होकर उपमर्दन नही करना चाहिये ।।१७४।।

त्रसहिंसा क्रियाया वा नाऽपि व्यापारेयन्मन ।
मोहाद्वापि प्रमादाद्वा स्वामिकार्ये कृतेऽपि वा ।।१९५।।
वीतरागोक्त धर्मेषु हिंसावद्यन वर्तते ।
रूढिधर्मादिकार्येषु न कुर्यास्त्रसहिंसन ।।१९६।।
रुढि धर्म निषिद्धा चेत्कामार्थयोस्तु का कथा ।
मज्जति द्विरदा यत्र मशकास्तत्र किं पुन ।।१९७।।

सिद्धात है कि वीतराग सर्वज्ञ देव भगवान् अरहन्तदेव के कहे हुए धर्म मे तो हिसा करने वाले पाप कार्य है ही नही तथा जो रुढि से माने हुए धार्मिक कार्य हैं उनके लिए भी अनुव्रती श्रावको को कभी भी त्रस जीवो की हिसा नही करना चाहिये ।।१९६।। अनुव्रती श्रावकों को यह स्वय ही समझ लेना चाहिये कि जब रुढि से माने गये धार्मिक कार्यो मे ही त्रस जीवो की हिसा का निषेध किया गया है तो फिर अर्थ और काम पुरुषार्थ के लिए तो कहना ही क्या है क्योकि जहॉ पर बडे-बडे हाथी डूब जाते है वहॉ पर मच्छरो की तो बात ही क्या है सब भस्म हो जाता है अनत पापकी भागिदारी हो जाती है इससे बर-विरोध होता है तब दुर्गति मे जाकर दु खी होगा ।।१९७।।

(प्र सर्ग) यज्ञ से, होम से और हवन से हिसा होती नही कहने वालों को उत्तर

यथाऽत्र श्रेयसे के चिद्धिसां कुर्वति कर्मणि ।<br>
अज्ञानात्स्वर्नहेतुत्व मन्यमाना प्रमादिन ।।१०२।।<br>
तदवश्य तत्कामेन भवितव्य विवेकिना ।<br>
देशतो वस्तु संख्याया शक्ति तो व्रत धारिणा ।।१०३।।<br>
विवेकस्यावकाशोऽस्ति देशतो विरतावपि ।<br>
आदेयं प्रासुक योग्य तद्विपर्ययम ।।१०४।।<br>
नच स्वात्मेच्छया किञ्चिदात्तमादेयमेव तत् ।<br>
नात्त यतदनादेय भ्रान्तोन्मत्तक वाक्यवत्त ।।१०५।।<br>
तस्माघत्प्रासुक शुद्ध तुच्छहिंसाकरं शुभं ।<br>
सर्व त्यक्तुमशक्येन ग्राह्य तरक्वचिदल्पश ।।१०६।।<br>
यावत्साधारण त्याज्य त्याज्ग यावत्त्रसाश्रित ।<br>
एतत्त्यागे गुणोअवश्य सग्रहे स्वल्पदोषता।।१०७।।

अर्थ जैसे इस ससार मे कितने ही प्रमादी पुरुष ऐसे है जो अपना भला करने के लिए या अपना कल्याण करने के लिए देवताओ की पूजा करने मे या यज्ञ करने मे या अन्य ऐसे ही कामो मे अनेक जीवो की हिसा करते है और अपने अज्ञानसे या मिथ्याज्ञानसे उसे स्वर्ग का कारण मानते

है ।।१०२।। इसलिए जो जीव अपनी शक्ति के अनुसार व्रत धारण करना चाहते है और पदार्थो की सख्या का एकदेश रूप से त्याग कर देना चाहते है उन्हे विवेकी अवश्य होना चाहिये ।।१०३।। एक देश त्याग करने मे भी विवेक या विचार की बडी भारी आवश्यकता है । क्योकि जो निर्जिव और योग्य पदार्थ है उन्ही को ग्रहण करना चाहिये तथा जो सचित्त या जीवधारी से भरे हुए है, साधारण या त्रस जीवो से भरे हुए है अथवा अयोग्य है ऐसे पदार्थो को कभी ग्रहण नही करना चाहिये ऐसे पदार्थो का दूर ही से त्याग कर देना चाहिये ।।१०४।। जो कुछ अपनी इच्छानुसार ग्रहण कर लिया है वही आदेय या ग्रहण करने योग्य है तथा जो कुछ अपनी इच्छानुसार छोड दिया है वही अनादेय या त्याग करने योग्य है ऐसा सिद्धात नही है । जिस प्रकार किसी पागल या उन्मत्त पुरुष के वाक्य उसकी इच्छानुसार कहे जाते है, पदार्थो की सत्ता या असत्ता के अनुसार नही कहे जाते और इसीलिए वे मिथ्या या ग्रहण करने अयोग्य समझे जाते है । उसी प्रकार इच्छानुसार ग्रहण करना या छोडना भी मिथ्या या विवेकरहित समझा जाता है । इसलिए किसी भी पदार्थो के त्याग या ग्रहण अपनी इच्छानुसार नही होना चाहिये या विवेक पूर्ण यथार्थ शास्त्रोके अनुसार उसी प्रकार इच्छानुसार नही होना चाहिये किन्तु विवेक पूर्ण यथार्थ शास्त्रो के अनुसार होना चाहिये ।।१०५।। अतएव जो पुरुष पूर्ण रूप से पॉचो पापो का त्याग नही कर सकते, महाव्रत धारण नही कर सकते, उनको जो पदार्थ प्रासुक है, जीव रहित है, शुद्ध है, शुभ है, और जो थोडी बहुत **हिंसा से या थोडे से ही सावद्य कर्मो** से उत्पन्न होने वाले है ऐसा पदार्थ भी थोडे बहुत ग्रहण करने चाहिये और वे भी कभी-कभी ग्रहण करना चाहिये । सदा उन्हीमे लीन नही रहना चाहिये ।।१०६।। जो साधारण है उनका त्याग कर देना चाहिये और जिनमे त्रसजीव रहते है उनका सबका त्याग कर देना चाहिये । इनके त्याग करने से गुण-मूल गुण और उत्तर गुण बढते है और इनका ग्रहण करने से भक्षण करने से महापाप उत्पन्न होते है ।।१०७।। प्रथम आदिकर

- उमास्वामी - श्रावकाचार में -(प्रथम सर्ग)

**हिसादिकालितो मिथ्यादृष्टि भिः प्रतिपादित ।**
**धर्मो भवेदिति प्राणी वदन्नपि हि पापभाक् ॥१३॥**

**अर्थ :** मिथ्यादृष्टियो के द्वारा प्रतिपादित और हिसादि पापो से सयुक्त धर्म होता है ऐसा कहनेवाला भी प्राणी पापी है । अर्थात् जो यज्ञादि मे जीवो का पडना, डालना उस होने वाली हिसा को धर्म कहते है, वह धर्म नही, किन्तु अधर्म ही है ॥१३॥

व्रतोद्योतन - श्रावकाचार (अभ्रदेव विरचित)

**धर्मो न मोह क्रियया हुताशाद् धर्मो न वीरस्य कथा प्रवन्धै ।**
**कुपात्रदानेन कदा न धर्मो न सत्तोकृत भोजनेन ॥३५६॥**
**धर्मो न यज्ञे हतजीववृन्दे कुशासने धर्मपदं न दृष्टम् ।**
**श्राद्धे गयायां न च धर्मभावो धर्मो न मांसादिकलत्रदानात् ॥३५७॥**

**अर्थ .** मोहवाली क्रिया करने से धर्म नही होता, अग्नि मे हवन करनेसे धर्म नही होता, वीर पुरुषो की कथाएँ कहने से धर्म नही होता, कुपात्रो के दान देने से कदापि धर्म नही होता है ॥३५६॥ यज्ञ मे जीव समूह के हवन करने से धर्म नही होता, कुशासन (मिथ्यामत) मे धर्म का एक पद भी नही देखा जाता, गया मे श्राद्ध करने पर धर्म भाव नही है और न मास आदि के तथा स्त्री के दान से ही धर्म होता है ॥३५७॥

**चरित्रभेदास्त्रिदशप्रकाशद् धर्मो भवेत्पूर्व चतुर्दशाङ्गत् ।**
**धर्मो भवेत्पञ्चदशप्रमाद - प्रध्वंसनात्षोडशभावनातः ॥३६३॥**
**धर्मो भवेज्जीवदयागमेन धर्मो भवेत्सयमधारणेन ।**
**धर्मो भवेद्दोषनिवारणेन धर्मो भवेत्संज्जनसेवनेन ॥ ३६४ ॥**
**जिनस्य शास्त्रस्य गुरोः सदैव पूजासमभ्यासपदप्रणामैः ।**
**शुश्रुषया साधुजनस्य नित्यं धर्मो भवेच्चास्रविशुद्धभावै ॥३६५॥**

**अर्थ :** तेरह प्रकार के चरित्र को पालन करने से धर्म होता है, चौदह पूर्वी का अभ्यास करने से धर्म होता है, पन्द्रह प्रमादोका विध्वस करने से धर्म होता है और सोलह कारण भावनाओ को भाने से धर्म

होता है ।।३६३।। जीवदया के करने से धर्म होता है, सयम के धारण करने से धर्म होता है, अपने दोषो के निवारण करने से धर्म होता है और सज्जनोकी सेवा करने से धर्म होता है ।।३६४।। सदैव जिनेन्द्र देव की पूजा करने से, शास्त्र का अभ्यास करने से धर्म प्राप्त होता है । साधुजनो की नित्य शुश्रूषा करने से और सुदर विशुद्ध भावो से धर्म होता है ।। ३६५ ।।

**धर्मो भवेद्दर्शनशुद्धि बुद्धया निशाग मे भोजनवर्जनेन ।**
**सदाष्टधामूलगुणस्य भेदैर्निषिद्ध योगान्नवनीतलेह्यात् ।।३६६।।**
**धर्मोऽन्यनारी धनवारणेन शिक्षागुणाणुव्रतपोषणेन ।**
**वै सत्यवाक्यप्रतिभाषणेन पात्रत्रयस्वीकरणान्नदानात् ।।३६७।।**

**अर्थ :** सम्यग्दर्शन की शुद्धी करने से, रात्रि के समय भोजन त्याग से, सदा आठ मूल गुणो के धारण करने से, तथा नवनीत आदि निषिद्ध लेस्य पदार्थो के नही खाने से धर्म होता है ।।३६६।। पर-स्त्री और पर धन के निवारण से, अनुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रतो के पोषण से, दूसरो के प्रति सत्यभाषण से और तीनो प्रकार के पात्रो को पडिगाहन करके अन्नदान करने से धर्म होता है ।।३६७।।

सर्वप्रीति रनाकुलत्ववचनं रत्नत्रयालङ्कृतिर्यस्योदारगुणो ।
मनुष्य भवतोऽसावागतो धार्मिक ।।४३७।।

**अर्थ** · जो दान देता है, सत्य हृदय है, परोपकार करता है, धर्म, अर्थ और काम इन तीन वर्गो मे भावना रखता है, लक्ष्मी से या शोभा से सम्पन्न है, अहकार से रहित है, जाति-कुलादिके मदो से रहित है, जीवों की रक्षा करने वाला है, वह श्रावक साधु - स्वभाववाला है । सबसे प्रीति रखता है, आकुलता - रहित वचनमाला है, रत्नत्रयसे अलकृत है, उदार गुणवाला है और धार्मिक है, वह मनुष्यभव से आया है, ऐसा समझना चाहिये ।।४३७।।

जीवा यत्र हि रक्ष्यन्ते स्थावरा पञ्चधात्रसा ।
विकलास्त्रिविधाश्चैव रक्षणीया प्रयत्नत· ।।२१४।।

पञ्चाक्षा द्विप्रकाराश्च सञ्ज्ञिनोऽसञ्ज्ञिनस्तथा ।
पर्याप्तास्ते तथैवापर्याप्रातस प्राणि सयम ।।२१५।।
प्राणिहिंसा परित्यागात्सुकृत जायते महत् ।
दुष्कृत दूरतो याति दयार्द्रमनस सदा ।।२१६।।
कारुण्य कलित स्वान्तप्राणिना प्राणरक्षणात् ।
न दु ख जायते क्वापि तोष सम्पद्यते सदा ।।२१७।।

**अर्थ** अव प्राणी (जीवा) का रक्षग का सयम निरूपण करते हैं - जहॉ पर पॉच प्रकार के स्थावर जीवों और त्रस जीवों की रक्षा की जाती है, वहॉ पर प्राणी सयम होता है । प्राणी सयम पालन करने वाले पुरुप को तीन तीन प्रकार के विकलेन्द्रिय जीवों की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिये ।।२१४।। पचेन्द्रिय जीव दो प्रकार के होते हैं सज्ञी और असज्ञी । ये सभी उपर्युक्त जीव पर्याप्तक भी होते हैं और अपर्याप्तक भी होते है । इन सर्व प्रकार के जीवो की रक्षा करना प्राणिसयम है ।।२१५।। प्राणियो की हिसा से महान् सुकृत (पुण्य) सदा दूर भागते है ।।२१६।। प्राणियो के प्राणो की रक्षा करने से करूणा - सयुक्त चित्तवाले जीवो को कही पर भी दू ख नही होता है और सदा सतोष प्राप्त होता है ।।२१७।।

श्रावकाचार - सारोद्धार से

हिंसादिकालितो मिथ्यादृष्टिभि· प्रतिपादित ।
धर्मो भवेदिति प्राणि विंदन्नपिहि पापभाक् ।।१३९।।

**अर्थ** मिथ्या दृष्टियो के द्वारा प्रतिपादित और हिसादि से सयुक्त धर्म होता है, उसका जानने वाला भी प्राणी पाप का सेवन करता है ।।१३९।।

सरागोऽपि हि देवश्चेद् गुरूरब्रह्मचार्यपि ।
कृपाहीनोऽपि धर्म स्यात्कष्ट नष्ट हहा जनत् ।।१४६।।

**अर्थ** कहा भी है यदि राग युक्त भी पुरुष देव हो, ब्रह्मचर्य से

रहित भी पुरुष गुरु हो और दया स रहित भी धर्म हो, तब तो हाय-हाय बडा कष्ट है यह सारा जगत ही नष्ट हो जायेगा ।।१४६।।

कायक्लेशैर्वणिक् तस्य भक्ति निष्ठोऽभक्तरम् ।
पाखण्डिभिर्न के चात्र पण्डिता अपि खण्डिता ।।४१८।।

**अर्थ** जिनेन्द्र भक्त सेठ उसके कायक्लेश वाले तपो के आचरण से उसकी भक्ति मे और भी अधिक तत्पर हो गया। ग्रन्थकार कहते हैं कि (पाखण्डि) मिथ्यादृष्टियो के द्वारा इस लोक मे कौन-कौन से पण्डित खण्डित नही हुए ? अर्थात् सभी ठगाये गये है ।।४२९।।

जगति भयकृताना रागादोषाकुलाना
मलकुलिताना प्राणिघातोद्यताना।
स्मरश रविधुराणा सेवन देवताना
यदभितमतस्यास्तद्देवमूढत्त्वमाहु ।।७४५।।

अन्य लोक प्रचलित एव ससार को बढाने वाली क्रियाएं करना लोकमूढता कही गई है ।।७४६।।

एकस्याल्पा हिंसा ददाति काले फलमनल्पम् ।
अन्यस्य महाहिंसा स्वल्पफला भवति परिपाके ।।१५६।।
सूक्ष्मो भगवद्धर्मो धमार्थ हिंसानेन दोषोऽस्ति ।
इतिधर्ममुग्धहृदयौर्न जातु भूत्वा शरीरिणो हिंस्या ।।१६०।।

अर्थ · किसी जीव के तो की गयी अल्प भी हिसा उदयकाल मे बहुत पाप के फल को देती है और किसी जीव के महा-हिसा भी उदय के परिपाक समय अत्यल्प पुण्य फल को देती है ।।१५६।। 'भगवान् के द्वारा प्रणीत धर्म सूक्ष्म है, धर्म-कार्य के लिए हिसा अल्प करने मे दोष नही है' इस प्रकार कहने वाले धर्म-से विमूढ हृदय वाले होकर दुर्गति ही होगी । इसीलिए कभी किसी प्रकार से प्राणिओ (जीवों) की हिसा होने वाली क्रिया कभी नही करना चाहिये ।।१६०।।

प्रपश्यान्ति जिनं भक्त्या पूजयन्ति स्तुवन्ति ये ।
ते च दृश्याश्च पूज्याश्च स्तुत्याकश्च भुवनत्रये ।।१४।।
ये जिनेन्द्रे न पश्यन्ति पूजयन्ति स्तुवन्ति न
निष्फल जीवितं तेषा तेषां धिक् च गृहाश्रमम् ।।१५।।
प्रातरुत्थाय कर्तव्य देवतागुरु दर्शन ।
भक्त्या तद्वदना कार्या धर्मश्रुतिरूपारकैः ।।१६।।
पश्चादन्यानि कर्माणि कर्तव्यानि यतो बुधैः
धर्मार्थ काममोक्षाणामादौ धर्म प्रकीर्तितः ।।१७।।

अर्थ जो भव्य जीव प्रतिदिन जिनदेव का भक्तिपूर्वक दर्शन करते है, उनका पूजन करते है और स्तुति करते है, वे तीनो लोको मे दर्शनीय, पूजनीय और स्तवन करने के योग्य है किन्तु जो जिनेन्द्रदेवके न दर्शन करते है, न पूजन करते हैं, और न स्तुति ही करते हैं उनका जीवन निष्फल है और उनका गृहस्थाश्रम भी धिक्कार के योग्य है ।।१४-१५।। इसलिए भव्य जीवो का प्रात काल उठकर जिन भगवान् और गुरुजनो का

दर्शन करना चाहिये, भक्ति से उनकी वन्दना करनी चाहिये, तथा धर्म का उपदेश सुनना चाहिए । इसके पीछे ही धर्म की उपासना करने वाले गृहस्थो को अन्य सासरिक कार्य करना चाहिये ; क्योंकि गणधरादि ज्ञानी जनो ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों मे धर्म को ही आदि मे कहा है ।।१६-१७।।

गुरोरेव प्रसादेन लभ्यते ज्ञानलोचनम् ।
समस्त दृश्यते येन हस्तरेखेव निस्तुष ।।१८।।
ये गुरु नैव मन्यन्ते तदुपास्ति न कुर्वते ।
अधकरो भवेत्तेषामुदितेऽपि दिवाकरे ।।१९।।

अन्य लोक प्रचलित एव ससार को बढाने वाली क्रियाएं करना लोकमूढता कही गई है ।।७४६।।

एकस्याल्पा हिंसा ददाति काले फलमनल्पम् ।
अन्यस्य महाहिंसा स्वल्पफला भवति परिपाके ।।१५६।।
सूक्ष्मो भगवद्धर्मो धमार्थ हिंसानेन दोषोऽस्ति ।
इतिधर्ममुग्धहृदयौर्न जातु भूत्वा शरीरिणो हिंस्या ।।१६०।।

**अर्थ** किसी जीव के तो की गयी अल्प भी हिंसा उदयकाल मे बहुत पाप के फल को देती है और किसी जीव के महा-हिंसा भी उदय के परिपाक समय अत्यल्प पुण्य फल को देती हैं ।।१५६।। 'भगवान् के द्वारा प्रणीत धर्म सूक्ष्म है, धर्म-कार्य के लिए हिंसा अल्प करने मे दोष नही है' इस प्रकार कहने वाले धर्म-से विमूढ हृदय वाले होकर दुर्गति ही होगी । इसीलिए कभी किसी प्रकार से प्राणिओ (जीवों) की हिसा होने वाली क्रिया कभी नही करना चाहिये ।।१६०।।

प्रपश्यान्ति जिन भक्त्या पूजयन्ति स्तुवन्ति ये ।
ते च दृश्याश्च पूज्याश्च स्तुत्याकश्च भुवनत्रये ।।१४।।
ये जिनेन्द्रे न पश्यन्ति पूजयन्ति स्तुवन्ति न
निष्फल जीवितं तेषा तेषा धिक् च गृहाश्रमम् ।।१५।।
प्रातरुत्थाय कर्तव्य देवतागुरु दर्शन ।
भक्त्या तद्वदना कार्या धर्मश्रुतिरूपारकै ।।१६।।
पश्चादन्यानि कर्माणि कर्तव्यानि यतो बुधै
धर्मार्थ काममोक्षाणामादौ धर्म प्रकीर्तित ।।१७।।

**अर्थ** जो भव्य जीव प्रतिदिन जिनदेव का भक्तिपूर्वक दर्शन करते है, उनका पूजन करते है और स्तुति करते है, वे तीनो लोको मे दर्शनीय, पूजनीय और स्तवन करने के योग्य है किन्तु जो जिनेन्द्रदेवके न दर्शन करते है, न पूजन करते है, और न स्तुति ही करते है उनका जीवन निष्फल है और उनका गृहस्थाश्रम भी धिक्कार के योग्य है ।।१४-१५।। इसलिए भव्य जीवो का प्रात काल उठकर जिन भगवान् और गूरुजनो का

दर्शन करना चाहिये, भक्ति से उनकी वन्दना करनी चाहिये, तथा धर्म का उपदेश सुनना चाहिए । इसके पीछे ही धर्म की उपासना करने वाले गृहस्थो को अन्य सासरिक कार्य करना चाहिये । क्योकि गणधरादि ज्ञानी जनो ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थो मे धर्म को ही आदि मे कहा है ।।१६-१७।।

**गुरोरेव प्रसादेन लभ्यते ज्ञानलोचनम् ।**
**समस्त दृश्यते येन हस्तरेखेव निस्तुषं ।।१८।।**
**ये गुरु नैव मन्यन्ते तदुपास्ति न कुर्वते ।**
**अंधकरो भवेत्तेषामुदितेऽपि दिवाकरे ।।१९।।**

**अर्थ** गुरु के प्रसाद से ही ज्ञानरूपी नेत्र प्राप्त होता है । जिसके द्वारा समस्त विश्वगात पदार्थ हस्तरेखा ज्ञानरेखा के समान स्पष्ट दिखाई देते है । इसलिए ज्ञानार्थी गृहस्थो को भक्तिपूर्वक गुरुजनो की वैयावृत्य और वन्दना आदि करना चाहिये । जो गुरुजनो का सम्मान नही करते है और न उनकी उपासना ही करते है, सूर्य के उदय होने पर भी उनके हृदय मे अज्ञान रूपी अधकार बना ही रहता है ।।१८-१९।। यह पद्मानदि पचविशति कागत् श्रावकाचार मे है ।

**श्री वामदेवविरचित सस्कृत-भाव सग्रह**

**जिनेज्यापात्रदानादिस्तत्र कालोचितो विधि· ।**
**भद्रध्यान स्मृत तद्धि गृह धर्माश्रयद् बुधै· ।।११२।।**
**पूजा दान गुरूपास्ति· स्वाध्याय· सयमस्तप ।**
**आवश्यकानि कर्मानि षडेतानि गृहाश्रमे ।।११३।।**

**अर्थ** गृहस्थोके लिए जिनपूजन करना, पात्रोको दान देना, एव समय-समय पर गृहस्थोचित्त सत्कार्योको करना यही गृहस्थ धर्माश्रित भद्रध्यान ज्ञानियोने कहा है ।।११२।। पूजना, दान देना, गुरुजनोकी उपासना करना, शास्त्र स्वाध्याय करना, सयम धारण करना और तपश्चरण - गृहाश्रम मे ये छह आवश्यक कर्म माने गये हैं ।।११३।।

श्री देवसेन विरचित प्राकृत-भाव सग्रह

गिहवावाररयाण गेहीण इदियत्थपरि कलिय
अट्टज्झाण जायइ रूद्द वा मोहछण्णाण ।।१४।।

अर्थ  जो मनुष्य घर के व्यापार मे लगे रहते है और इन्द्रियो के विषय भूत पदार्थो के सकल्प-विकल्प करते रहते है, उनके आर्तध्यान होता है। तथा जिनके मोहकर्म के तीव्र उदय से कषायों की प्रवलता होती है उनको रौद्र ध्यान होता है इसीलिए परिहार करना चाहिये ।।१४।।

## अथ चतुर्थोऽवसर :

श्री प गोविन्द विरचित पुरुषार्थानुशासन-गत श्रावकाचार

विधेया प्राणि रक्षैव सर्वश्रेयस्करी नृणाम् ।
धर्मोपदेश सङ्क्षेपोदर्शितोऽय जिनागमे ।।५५।।
वदन्ति वादिन· सर्वेभूतधातेन पातक ।
तमेव हव्यकव्यदि वा दिशान्ति च दुर्धिम ।।५६।।
स्वाङ्गे छिन्ने तृणेनापि यस्य स्यारत्महती व्यथा ।
परस्याङ्गे स शस्त्राणि पातथत्यदय· कथम् ।।५७।।
स्थावरान् कारणेनैव निघ्नन्नपि दयापर· ।
यस्त्रसान् सर्वथा पाति सोऽहिंसाणुव्रती स्मृत ।।५८।।
रूप सौन्दर्य सौभाग्य स्वर्ग मोक्ष च सत्सुखं ।
दयैकैव नृणा दत्ते सदाचारैरल परै· ।।५९।।

अर्थ · सब कल्याण करने वाले यह प्राणी - रक्षा मनुष्यो को सदा करनी ही चाहिए, यह जिनागम मे सक्षेप से धर्म का उपदेश दिखाया गया है ।।५५।। सभी अन्यवादी लोग जीव-घात से पाप कहते है, फिर भी वे दुर्बुद्धि उसी को यज्ञादि मे हवन करने का उपदेश देते है ।।५६।। जिसके अपने शरीर मे तृण से भी छिन्न-भिन्न होने पर भारी पीडा होती है, वह पर के शरीर मे निर्दय होकर शस्त्रो का पात कैसे करता है। यह आश्चर्य की बात है ।।५७।। कारणवश स्थावर जीवो का घात करना भी जो

दयालु पुरुष त्रस जीवो को मन, वचन, काय और कृत कारित अनुमोदना से सर्व प्रकार रक्षा करता है, वह अहिसाणुव्रती माना गया है ।।५८।।

प्राणिघातभवं दुःख सत्त्वरक्षोद्भवं सुखं ।
न कियतोऽत्र सम्प्रापु सुप्रसिद्धा जिनागमे ।।६८।।
मत्वेति पितर· पुत्रानिवये पाति देहिन· ।
लब्धवा नरामरैश्वर्य प्राप्नुवन्तीहते शिव ।।६९।।

**अर्थ** · जीवो की घात से उत्पन्न होने वाले दु ख को और पाप प्राप्त होने वाले, जीवो की रक्षा से जो पुण्य प्राप्त होने वाले सुख को कितने लोगो ने इस ससार मे नही पाया ? उनकी कथाएँ जिनागम मे सुप्रसिद्ध है ।।६८।। इस प्रकार जानकर जैसे पिता पुत्रो की रक्षा करते है, वैसे ही जो मनुष्य प्राणियो की पुत्रवत् रक्षा करते हैं वे मनुष्यो और देवो के ऐश्वर्य को भोगकर अत मे शिवपद को प्राप्त होते हैं ।।६९।।

श्रावकचार सग्रह भाग - २

**पण्डित प्रवर आशाधर विरचित सागार धर्मामृत द्वितीय अध्याय**

बलिस्नपननाटयादि नित्य नैमित्तिक च यत् ।
भक्ता कुर्वति तेष्वेव तघयास्न विकल्पयेत् ।।२९।।
वार्धारा रजस शमाय पद्यो सम्यक्प्रयुक्ताहित· ।
सद्गन्धस्तनुसौरभाय विभवाच्छेदाय सन्त्यक्षता· ।।
यष्टुः सुग्दिविजस्रजे चरूरूमास्वान्याय दीपास्त्विषे ।
धूपो विश्वदृगुत्सवाय फलमिष्टार्थाय चार्घाय स ।।३०।।
चैत्यादौन्यस्य शुद्धे निरूपरमनिरौपम्यतत्तद्गुणौघ ।
श्रद्धानात्सोऽयमर्हन्निति जिनमनघैस्तद्विधोपाधिसिद्धैं ।।
नीराधैश्चारूकाव्य-स्फुरदनुगुण ग्रामरज्यन्मनोभि-
र्भव्योऽचैन्दृाग्वशुद्धि प्रबलयतु ययाकल्पते तत्पदाय ।।३१।।

**अर्थ** जिन गृहारभि गृहस्थ जिन भक्तजन प्रतिदिन और नैमित्तिक पर्वकालिक जो उपहार, अभिषेक, गीत-नृत्य, प्रतिष्ठामहोत्सव, और

रथयात्रा आदिक करते है वे सब उन नित्यमह आदिक पूजाओ मे ही यथायोग्य गर्भित करना चाहिये ।

**विशेषार्थ** भक्त गृह - श्रावक अपनी शक्ति के अनुसार नित्य तथा नैमित्तिक जो भेंट लाते है, अभिषेक करते है, कीर्तन या नृत्य करते हैं तथा प्रतिष्ठा रथयात्रा आदि करते है वे सब जिस पूजन के सम्बन्ध मे किए जाते है उसी पूजन मे गर्भित समझना चाहिये । प्रतिदिन होने वाली अभिषेक आदि विधि को जानकर नित्यविधि तथा पर्व आदि विशेष उत्सव (प्रसङ्ग) पर होने वाली विधि का नैमित्तिक विधि कहते हैं ।।२९।। जिनेन्द्र देव के चरणो मे विधि पूर्वक शुद्ध प्रासुक अष्ट द्रव्यों से जल चढाने से पूजक के पाप का नाश या ज्ञानावरण, दर्शनावरण की मन्दता होती है । चन्दन चढाने से शरीर सुगन्धित होता है । अक्षत चढाने से ऋद्धियो व धन की क्षति नही होती । पुष्प (लवग) चढाने से देवगति सबधी मन्दारमाला प्राप्त होती है । नैवेद्य (भरफे) चढाने से लक्ष्मीपति की प्राप्ति होती है । दीप (रत्नका) चढाने से कान्ति प्राप्त होती है । धूप (चदन) चढाने से परम सौभाग्य की प्राप्ति होती है । फल चढाने से मनोवाछित पदार्थ प्राप्त होते है । और अर्घ चढाने से विशेष मान व प्रतिष्ठा प्राप्त होती ।।३०।। अनन्त और अनुपम उन-उन प्रसिद्ध ज्ञानादिक गुणो के समूह मे अतिशय अनुराग से यह वही जिनेन्द्र भगवान हैं । इस प्रकार दोष रहित मूर्ति और अक्षत आदिकमे जिनेन्द्र देवको स्थापित करके निर्दोष पाप रहित कारणो से उत्पन्न तथा सुन्दर गद्य पद्यात्मक काव्यो द्वारा आश्चर्यान्वित करनेवाले बहुत से गुणो के समूह से मन को प्रसन्न करनेवाले जल चन्दनादिक द्रव्यो द्वारा जिनेन्द्र देव को पूजने वाला भव्य सम्यग्दर्शन की विशुद्धि को पुष्ट करे है जिस दर्शन विशुद्धि के द्वारा तीर्थकर पद की प्राप्ति के लिए समर्थ होता है ।।३१।।

**दृकपूर्वभपि यष्टारमर्हतोऽभ्युदयश्रिय ।**
**श्रयंत्यहम्पूर्विकया किम्पुनर्व्रतभूषितम् ।।३२।।**

स्त्र्यारम्भसेवासक्लिष्टः स्नात्वाकण्ठमथाशिर. ।
स्वय यजेतार्हत्पादानस्नातोऽन्येन या जयेत ।।३४।।

**अर्थ** अरिहन्त भगवान के सम्यगदर्शन से पवित्र भी पूजक को पूजा आज्ञा आदिक उत्कर्ष-कारक सम्पत्तियॉ मै पहले, मै पहले इस प्रकार ईर्ष्या से प्राप्त होती है, तो फिर व्रतसहित व्यक्ति को कहना ही क्या है?

**भावार्थ** : जब अविरत सम्यगदृष्टि को भी अर्हत्पूजन के माहात्म्य से पूजा, आज्ञा आदिक अभ्युदय की प्राप्ति होती है तो फिर अर्हत्पूजा करने वाले को उत्तमोत्तम अभ्युदय की प्राप्ति क्यो नही होगी ? ।।३२।। स्त्री-सेवन और खेती आदिक कर्म पाप करने से दूषित है इसको धोने के लिए शरीर और मन जिसका ऐसा गृहस्थ कण्ठपर्यन्त अथवा शिरपर्यन्त स्नानकर खुद जिनेन्द्रदेव के चरणो को पूजे और नही किया गया है स्नान जिसने ऐसा व्यक्ति दूसरे स्नान सधर्मी व्यक्ति से पूजा करावे ।

**भावार्थ** · स्त्री सम्भोग तथा खेती आदिक से मलिन, पसीना, तद्रा, आलस्य और दुर्बलता आदि होने के कारण शरीर और मन सक्लेशयुक्त रहता है इसीलिए गृहस्थो को स्नान करके ही शरीर और मन को शुद्ध करके स्वय पूजन करना चाहिये किसी सूतकादि कारणवश अस्पर्श होने पर अथवा अस्वस्थता के कारण स्नान करना अशक्य होने पर किसी दूसरे सहधर्मी व्यक्ति को स्नान कराकर, पूजन कराना चाहिये ।।३४।।

धिग्दुष्षामा कालरात्रि यत्र शस्त्रदृशामपि ।
चैत्यालोकादृते न स्यात् प्रायो देवविशा मति ।।३६।।
प्रतिष्ठा यात्रादि-व्यतिकर शुभस्वैरचरण,
स्फुरद्धर्मोद्धर्ष प्रसररसपूरास्त-रजस ।।
कर्थ स्यु सागारा श्रमणगणधर्मा श्रमपदं,
न यत्रार्हद्गेर्हदलितकलिलीला विलसितम्।।३७।।

**अर्थ** इस दुषम नामक पचमकालरूप रात्रि का धिक्कार है जिस पचमकाल मे जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा के दर्शनो बिना शास्त्राज्ञो की भी बुद्धि बहुधा परमात्मा की भक्ति मे प्रवृत्त नही होती ।।३६।। जिस ग्राम

मे कालिकाल के प्रभाव का नाशक और मुनियों के धर्म-साधन के हेतु स्थान स्वरूप जिनमन्दिर नही होते उस ग्राम मे विम्ब प्रतिष्ठा, तीर्थयात्रा आदिक के समूह मे पुण्यासव का कारणभूत जो स्वतन्त्रतापूर्वक होने वाला मन, वचन, काय का व्यापार, उससे प्रकाशित होने वाले धार्मिक उत्सव के विस्तार के हर्षरूपी जलप्रवाह से धो डाली है। पाप रूपी धूलि जिन्होंने ऐसे गृहस्थ कैसे हो सकते है ?

**भावार्थ** जहाँ जिनमन्दिर होते हैं, वहाँ उनके निमित्त से धार्मिक उत्सव मनाये जाते है, उन-उन धार्मिक उत्सवोमे धर्मात्मा लोगो के एकत्रित होने से बडा धर्म प्रचार होता है, धर्म के विषय मे उत्साह वढता है और उससे धर्मात्माओ के पापो का प्रक्षालन होता है। यदि पचमकाल की लीला के विलास को दलित करनेवाले तथा श्रमणगणो के आश्रयस्थल और धर्म के आयतन जिनमन्दिर न होवे तो उनके निमित्त से होनेवाली उपयुक्त बाते कैसे हो सकती है ? इसलिए जिनमन्दिर-हीन ग्राम मे श्रावक को नही रहना चाहिये ।।३७।।

लाटी सहिता श्रावकाचार मे द्वितीय सर्ग

**यश श्रीसुतमित्रादि सर्व कामयते जगत् ।**
**नास्य लाभोऽभिलाषेऽपि बिना पुण्योदयात् सत ।।८३।।**

**अर्थ :** यद्यपि सम्पूर्ण जगत् यश, लक्ष्मी, पुत्र और मित्र आदि की चाह करता है तथापि पुण्योदय के बिना केवल चाह मात्र से उनकी प्राप्ति नही होती ।।९३।।

उमास्वामि श्रावकाचार यज्ञ मे नेम से हिंसा

**हिंसादिकलितो मिथ्यादृष्टिभि प्रतिपादित ।**
**धर्मो भवेदिति प्राणी वदन्नपि हि पापभाक् ।।१३।।**

**अर्थ** मिथ्यादृष्टियो के द्वारा प्रतिपादित और हिसादि पापो से सयुक्त धर्म होता है ऐसा कहने वाला भी प्राणी पापी है अर्थात् जो यज्ञादि मे हिसादि करने को धर्म कहते है, वह धर्म नही किन्तु अधर्म है ।

व्रतोद्योतन श्रावकाचारमे

धर्मो न मिथ्यात्वसमुद्‌भवेन धर्मो न पञ्चोम्बरभक्षणेन ।
धर्मो न तीर्थाम्बुधिगाहनेन धर्मो न पञ्च अग्नि सुसाधनने ।।३५४।।
धर्मो न गोपाश्चिमभागनत्या धर्मो मकारश्रयतो न भाति ।
न सागर स्नानजलेन धर्मो धर्मो न दृष्टो मधुपानतोऽत्र ।।३५५।।
धर्मो न मोहक्रियया हुताशाद धर्मो न वीरस्य कथाप्रबन्धै·।
कुपात्रदानेन कदा न धर्मो धर्मो न रात्रौ कृतभोजनेन ।।३५६।।
धर्मो न यज्ञे हतजीववृन्दे कुशासने धर्मपद न दृष्टम् ।
श्राद्धे गयाया न च धर्मभावो धर्मो न मांसादिकलत्रदानात ।।३५७।।

**अर्थ** : मिथ्यात्व के बढाने से धर्म नही होता, पच उदुम्बर फलो के भक्षण करने से भी धर्म नही होता, तीर्थो (गगादि के घाटो) पर तथा समुद्र मे अवगाहन करने से धर्म नही होता है पचाग्नि तप करने से भी धर्म नही होता, गाय के पिछले भाग को नमस्कार करने से धर्म नही होता, मद्य, मास और मधु इन तीनो मकारो के सेवन से धर्म नही होता, सागर के जल से स्नान करने पर धर्म नही होता, और न इस लोक मे मधु-पान से धर्म न देखा जाता है ।।३५४-३५५।। मोहवाली क्रिया करने से धर्म नही होता, अग्नि मे हवन करने से धर्म नही होता, वीर पुरुषो की कथाएँ कहने से धर्म नही होता, कुपात्रो को दान देने से कदापि धर्म नही होता और रात्रि मे भोजन करने से धर्म नही होता ।।३५६।। यज्ञ मे जीव समूह के हवन करने से धर्म नही होता, कुशासन (मिथ्यामत) मे धर्म का एक पद भी नही देखा जाता, गंया मे श्राद्ध करने पर धर्म-भाव नही है और न मास आदि के तथा स्त्री के दान से ही धर्म होता है ।।३५७।।

येषा रागा न ते देवा येषा भार्या न तेर्षय ।
येषा हिंसा न तेऽग्रन्था कथयन्तीति योगिनः ।।८३।।

**अर्थ** जिनके राग हैं वे देव नही हैं, जिनके स्त्री हैं वे ऋषि नही हैं और जिनके हिसा है, वे निर्ग्रन्थ नही हैं। ऐसा योगिराज कहते हैं ।।८३।।

श्रावकाचार-सारोद्धार अन्य मत के शास्त्रो से

त्रयी तेजोभयो भानुरिति वेदविदो विदु ।
तत्करै पूतमखिल शुभ कर्म समाचरेत् ।।१०३।।
नैवाहुतिर्न च स्नान न श्राद्ध देवतार्चनम् ।
दान वा विहित रात्रौ भोजन तु विशेषत ।।१०४।।
दिवसस्याष्ठमे भागे मन्दीभूते दिवाकरे ।
त नक्त हि विजानीयान्न नक्त निशिभोजन ।।१०५।।
देवैस्तु भुक्त पूर्वाह्ने मध्याह्ने ऋषिभिस्तथा ।
अपराण्हेतु पितृभि साया हैं नैत्यदानवे · ।।१०६।।
सन्ध्याया यक्षरक्षोभि सदाभुक्त कुलोद्वह ।
सर्ववेला व्यतिक्रम्य रात्रौ भुक्तमभोजनम् ।।१०७।।
ये रात्रौ सर्वदाहार वर्जयन्ति सुमेघस· ।
तेषा पक्षोपवसस्य फल मासेन जायते ।।१०८।।

अर्थ वेद के वेत्ता पुरुष सूर्य को तीन लोक मे तेजोमय कहते है। उस सूर्य की किरणो से पवित्र हुए समय मे ही सभी शुभ कर्म करना चाहिये ।।१०३।। रात्रि मे न आहुति-हवन, विहित (शास्त्र-प्रातिपादित) है, न स्नान, न-श्राद्ध, न देवता का पूजन और न दान विहित हैं । अर्थात् वे कार्य करना निषिद्ध है । फिर भोजन तो विशेष रूप से निषिद्ध है ।।१०४।। दिन के अष्टम् भाग मे जब सूर्य मन्द प्रकाशवाले हो जाते हैं, उस वक्त अर्थात् रात्रि जाननी चाहिये । रात्रि मे खाना ही भोजन नही है। किन्तु सूर्य के प्रकाश मन्द हो जाने पर खाना भी नक्त भोजन मे परिगणित समझना चाहिये ।।१०५।। देव लोग तो पूर्वाह्न के समय भोजन करते है, ऋषि लोग मध्याह्न के समय, पितृगण अपराह्न काल मे और दैत्य-दानव सायकाल मे भोजन करते है ।।१०६।। हे कुलपुत्र, यक्ष-राक्षस सन्ध्या के समय सदा भोजन करते है । उपर्युक्त सर्ववेलाओ को अतिक्रम करके रात्रि मे खाना तो अभोजन है, अर्थात् राक्षस-पिशाचो से भी गर्हित भोजन है ।।१०७।। जो सद्-बुद्धिवाले पुरुष सदा ही रात्रि

मे आहार का त्याग करते है उनके एक मास मे एक पक्ष के उपवास का फल प्राप्त होता है ।।१०८।।

**प्राणिघाता · कृतो देवपित्रर्थमपि शान्तये । न क्वचित् किं गुडशिलष्टं न विषं प्राणि घातक ।।१३६।। उक्तं च-हिंसा विघ्नाय जायेत विघ्नशान्त्यै कृतापि हि । कुलाचारधियाप्येषाकृता कुलविनाशिनी ।।१३७।। आपि शान्त्यै न कर्तव्यो बुधै· प्राणिवध क्वचित् । यशोधरो न सञ्चात तस्त कुत्वा किमुदुर्गतिम् ।।१३९।।**

**अर्थ** देवता और पितरो की शान्ति के लिए किया गया प्राणिघात कभी भी शान्ति के लिए नही होता, गुड से मिला हुआ भी विष क्या प्राणियो का प्राणो का घातक, नही होता है ? अवश्य ही होता है ।।१३६।।

**कहा भी है ·** विघ्नो की शान्ति के लिए की गई भी हिसा विघ्नो के लिए ही कारण होती है । कुल के आचार-विचार से की गई भी हिसा कुल का ही विनाश करने वाली होती है ।।१३७।। ज्ञानियो को शाति के लिए भी कभी यज्ञ यागादि करने मे पडकर प्राणि का वध नही करना चाहिए । यशोधर राजा ने उसे करके क्या दुर्गति को प्राप्त नही हुआ? अवश्य ही हुआ है ।।१३८।।

**सूक्ष्मो भगवद्धर्मो धमार्थ हिंसाने न दोषोऽस्ति ।**
**इति धर्म मुग्धहृदयैर्न जातु भूत्वा शरीरिणो हिंस्या ।।१६०।।**

**अर्थ** · भगवान के द्वारा प्रणीत धर्म सूक्ष्म है, धर्म-कार्य के लिए हिसा करने मे दोष नही है" इस प्रकार धर्म-विमूढ हृदयवाले होकर कभी [illegible] प्राणी की हिसा नही करनी चाहिए ।।१६०।।

श्री प गोविन्द विरचित पुरुषार्थानुशासन - गत श्रावकाचार मे –

विधेया प्राणिरक्षैव सर्वश्रेयस्करी नृणा ।
धर्मोपदेश सङ्क्षेपो दर्शितोऽय जिनागमे ।।५५।।
वदन्ति वादिन सर्वे भूतघातेन पातकम् ।
तमेव हत्यकव्यादि वा दिशान्ति च दुर्धिय ।।१११।।

**अर्थ** सर्व कल्याण करनेवाली यह प्राणि-रक्षा मनुष्यो को सदा करनी ही चाहिए, यह जिनागाम मे सक्षेप से धर्म का उपदेश दिखाया गया है ।।५५।। सभी अन्यवादी लोग जीव-घात से पाप कहते हैं, फिर भी वे दुर्बुद्धि उसी को यज्ञादि मे हवन करने का उपदेश देते है ।।५६।।

प्रश्नोत्तर श्रावकाचार (तीसरा परिच्छेद) यज्ञ

भगवस्त कुधर्म हि प्ररूपय ममादरात् ।
प्रणीत केन सल्लोके पापादिदु खदायक ।।११०।।
यागादिकरण विद्धि जीवहिंसादिसम्भव ।
कुधर्म स्नानजं निन्द्य तर्पणं श्राद्धमेव च ।।१११।।
जीवादिर्हिसन ये च कुर्वन्ति कारयन्त्य हो ।
धर्मयागकुदेवादिकार्ये श्वभ्रे पतन्ति ते ।।११२।।

**अर्थ** प्रश्न - हे भगवान् ! अब कृपाकर मुझे कुधर्म का स्वरूप बतलाइये । यह दु ख देने वाला पाप रूप कुधर्म इस ससार मे किसने चलाया है ।।११०।।

**उत्तर** यज्ञ आदि का करना और बुद्धिपूर्वक जीव हिसा आदि का करना सब कुधर्म है । इसके सिवाय धर्म समझकर नदी, समुद्रो मे स्नान करना, तर्पण श्राद्ध करना आदि भी कुधर्म है ।।१११।। जो यज्ञ के लिए, धर्म के लिए वा कुदेवो के लिए जीव की हिसा करते है व कराते हे वे अवश्य नरक मे पडते है ।।११२।।

जैन धर्म की शिक्षा-यज्ञ महाभारत से

ध्रुव प्राणिवधोयज्ञे नास्ति यज्ञस्तवहिंसक ।
ततोऽहिंसात्मक, कार्य, सदायज्ञो युधिष्ठिर ।।१।।
इन्द्रियाणि पशूनकृत्वा वेदीकृर तपोमयी ।
अहिंसामहुति कृत्वा हयात्मा यज्ञ यजाग्यह ।।२।।
ध्यानाग्नौ जीव कुण्डऽस्थेतपमारूत दीपिते ।
अष्ट कर्मेन्धन क्षिप्येह्याग्निहोत्र कुरूत्तमन् ।।३।।

**अर्थ** हे युधिष्ठर ! यज्ञ मे प्राणियो की हिसा नियम से होती है

इसलिए अहिसा रूप यज्ञ नही हो सकता है अत जिसमे प्राणियो की हिसा नही हो ऐसा यज्ञ ही हमेशा करना चाहिए अन्य प्रकार का नही ।।१।।

हे युधिष्ठिर । तपश्चरणरूपी वेदी बनाकर उसमे इन्द्रिय रूपी पशुओ को और अहिसारूप आहुति को देकर मै आत्मयज्ञ को करता हूँ इसी का नाम अहिसात्मक यज्ञ है ।।२।।

जीवरूपी होमकुण्ड मे ध्यान रूपी अग्नि को तपश्चरण रूपी हवा से प्रदीप करके उसमे अष्टकर्म रूपी ईधन को डालकर मै यज्ञ करता हूँ ऐसे यज्ञ को सर्वोत्तम अग्निहोत्र यज्ञ कहा जाता है, हे युधिष्ठर । तुम भी उस अग्निहोत्र यज्ञ को करो यही तो अग्निहोत्र अहिसामय यज्ञ है ।।३।।

**द्विदल त्याग-शिव पुराण मे है**

**गोरस माम मध्येषुमुग्दादिषु तथैव च ।**
**भक्षणं भवेन्नुन मास तुल्य युधिष्ठिर ।।१।।**

**अर्थ** : हे युधिष्ठिर । जो मनुष्य पितृ-श्राद्धादि मे पिताओ के लिए और देवताओ की पूजा मे देवताओ के लिए मूलीआदि की दान करता है मात्र वह मनुष्य भयकर दु ख दायक नरक मे जाता है जहॉ उसे जब तक चन्द्रमा और सूर्य रहेगे तब तक वहॉ के कष्टो को सहना ही पडेगा ।।८।। यह अन्य का कहना है । महाराज युधिष्ठिर । गोरस अर्थात दही, मठा आदि मे मूॅग, चना, उडद, मसूर आदि बराबर दो दलवाले अन्नो को डालकर खाता है वह निश्चित ही मास भक्षण के समान पाप का भागी बनता है ।।१।।

**अन्य धर्म के नाग पुराण से**

मद्ये मासे मधूनि च नवनीते तक्रोऽपि च ।
उत्पघन्ते विपघन्ते तद्वर्णास्तत्र जन्तव ।।२।।
श्वभ्र द्वाराणि चत्वारि द्विदलमामगो रस ।
मधु जलमपूतन्तु कद सधान भक्षणम् ।।३।।

**अर्थ** मद्य मे, मास मे, मधु मे, मक्खन मे, मठा मे और दही आदि मे उसी रग के जीवधारी समय पर उत्पन्न होते रहते हैं और मरते रहते

है अतएव इन तमाम चीजो का भक्षण करना त्रसहिंसा के पाप को उत्पन्न करता है ।।२।। हे युधिष्ठिर !नरक के चार दरवाजे है पहला कच्चे दूध मठा, दही आदि मे मूँग आदि दो दल वाले अन्न को बनाकर खाना दूसरा मधू का खाना और अचार का भक्षण करना यह नरक जाने का द्वार है ।।३।।

महाभारत अन्यधर्मी पुराणो मे है

सप्तग्रामेषु दग्धेषु यत्पाप जायते नृणा ।
तत्पाप जायते तेषा मधु विन्देक भक्षणात् ।।४।।

अर्थ सात ग्राम जलाने मे जितना पाप किसी मनुष्य को होता है उतना ही पाप शहद की एक बूँद के खाने से होता है ।।४।।

रात्रि भोजन त्याग-प्रभास पुराण अन्य धर्म मे है

ये रात्रौ सर्वदाहार वर्जयान्ति सुमेधस ।
तेषापक्षोवासस्य फल मासेन जायते ।।१।।

अर्थ जो बुद्धिमान मनुष्य हमेशा रात्रि भोजन का त्याग करता है उन्हे एक महीने मे एक पक्ष अर्थात् पद्रह दिन के उपवास का फल प्राप्त होता है ।।१।।

मार्कण्डेय अन्य धर्मी पुराणो मे है

अस्त गते दिवानाथे आपोरूधिरमुच्यते ।
अन्न मास सम प्रोक्त मर्कण्डेय मर्हीषण ।।४।।
पयोमुक् पटलच्छन्ने येऽश्नन्ति रविमण्डले ।
अस्त गते नु भु जान अहोभान्नो सुसेवक ।।५।।
रक्ती भवन्ति तोयानि ह्यन्नानि पिशितान्ति च ।
रात्रि भोजन सक्तस्य ग्रासे तन्मास भक्षणम् ।।६।।
मुहुर्तेनोदित नक्त प्रवर्दान्ति मनीषिण ।
नक्षत्र दर्शन नक्त नाह मन्ये मणाधिप ।।७।।

अर्थ मार्कण्डेय महर्षि ने सूर्यनारायण के अस्त हो जाने पर पानी को रुधिर यानी खून के समान कहा है और अन्न को मास के समान

अर्थात् जो मनुष्य सूर्य के अस्त होने पर पानी पीते है और अन्न को खाते है उन्हे खून पीने का और मास खाने का पाप लगता है । सूर्य के अस्त हो जाने पर तथा सूर्य मण्डल के मेघो के समुदाय से ढक जाने पर जो मनुष्य भोजन करते है वे मनुष्य पुण्यशाली और सच्चे धर्म के सेवक कैसे हो सकते है अर्थात् नही कभी नही । सूर्य के अस्त होने पर पानी खून के समान और अन्न मास के समान हो जाता है । एक ग्रास अन्न के लिए एक किलो मास के समान हो जाता है । एक ग्रास अन्न के लिए एक किलो मास का, एक ग्लास पानीका एक ग्लास खून अर्थात् रक्त का पाप लगता है इसलिये रात्रि भोजन मे आसक्त मनुष्य को मास्र का रक्त का दोष लगता ही है क्योकि रात्रि मे त्रस जीवो की उत्पत्ति होती है इसीलिए रात्रि भोजन नहीं करना चाहिये ।।४-५-६।। विद्वान मनुष्य सूर्य उदय के एक मुहुर्त तक रात्रि मानते है अर्थात् सूर्य उदय के एक मुहूर्त के भीतर जलपान और अन्न भक्षण करने से रात्रि भोजन का दोष लगता है इसलिए हे गणेशजी मै नक्षत्र दर्शन को ही रात्रि नही मानता हूँ नक्षत्र दिखलाई देवे या न दिखलाई देवे तो भी एक मुहूर्त के भीतर अन्न भक्षण और जलपान करनेवाला मनुष्य रात्रि भोजन के दोष से बच नही सकता रात्रि भोजन का दोष उसे अवश्य लगेगा ही है ।।७।।

**हासपुराण अन्य धर्मावलम्वी शास्त्र मे कहा है**

> **अहिंसा परमोधर्म स्तथाहिंसा पर तप ।**
> **अहिंसा परम ज्ञान अहिंसापरम पदम् ।।१७।।**
> **अहिंसा परमदान अहिंसा परमोदम ।**
> **अहिसा परमो यज्ञस्तथाऽहिंसा पर पद ।।१८।।**
> **स्वल्पायुर्विकलो रोगीविचक्षोधिर खल ।**
> **वामन पामण दोवा जायते सभवे भवे ।।१९।।**

**अर्थ** - अहिसा, परमधर्म है और वही अहिसा ही सर्वोत्कृष्ट तप है, अहिसा ही सर्वश्रेष्ठ ज्ञान है, अहिसा ही सबसे उन्नत पद है, अहिसा

सबसे बढकर दया हैं, अहिसा लोकोतर यज्ञ है और अहिसा ही सबसे उच्च पद है ।।१७-१८।। जो मनुष्य हिसा करता है करवाता है वह मनुष्य जन्म जन्मान्तर मे अल्पआयु वाला होता हे विकलाग होता है, रोगी होता है, अधा होता है, वहिरा होता है, दुष्ट होता है, नाटे कद वाला होता है, मुर्ख होता है और नपुसक होता है वाद मे घोर नरक का दुख भोगना पडेगा ही ।।१९।।

भागवत ग्रथ मे लिखा है

कलिकाले महाधीर सर्वपाप प्रणाशक ।
दर्शनात्स्पर्शनादेव कोटि २ यज्ञ फलप्रद· ।।१६।।
याति धीमानि हविषापजति विश्वापरिभूरस्तुयज्ञम् ।
गयस्फान प्रतरण सुवीरो वीरहूप्राचास सोमादुर्यात ।।१७।।

**अर्थ** वे भगवान इस कलि काल मे महान धैर्यशाली थे और समस्त पापो के नाश करने वाले थे उनका दर्शन और स्पर्श कर पूजा करने से करोडो यज्ञो के करने पर भी उसके फल से भी उन्नत फल मिलता है । देवदर्शन करने से पाप नाश होता है यज्ञो से उलट पाप का ही बन्ध होता है ।।१६।। जो भक्त पुरुष घृतादि दव्यो से नैवेद्य से यज्ञ करते है वे पुरुष अर्थात् भगवान का पूजा करते हैं वे स्वर्गधाम को प्राप्त करते है और जो वीरभक्त पुरुष भगवान् महावीर की सोमलता के रससे याने पूजा करते है वे मनुष्य ससार मे सर्वोच्च स्थान को प्राप्त करते है ।।१७।।

अहिंसा - महाभारत मे धर्म का स्वरुप हैं

अहिंसा सत्यमस्तेऽय त्योगोमैथुन वर्जन ।
पञ्चष्वेषु धर्मेषु सर्वधर्म प्रतिष्ठित ।।१।।
अहिंसा लक्षणो धर्मस्त्व धर्म प्राणहिंसन ।
तस्माद्धर्माथिर्भिर्लोकै, कर्तव्या प्राणिनादया ।।२।।

**अर्थ** अहिसा, सत्य, अचार्य, अपरिग्रह और ब्रम्हचर्य इन पॉचो धर्मो मे सभी धर्म स्थित है ।।१।। अहिसा धर्म का लक्षण है और प्राणियो

का वध करना और निर्दय होना है यह अधर्म है । इसलिए धर्म चाहने वालो को समस्त प्राणियो पर दया करनी ही चाहिये ।।२।।

**मार्कण्डेय पुराण से**

**मेघांपिपीलिका हन्ति यूकाकुर्याज्जलोदरम् ।**
**कुरूते मक्षिका वान्तुं कुष्ठरोग च कोलिक ।।८।।**

**अर्थ :** भोजन मे आई हुई चीटी बुद्धि को नष्ट करती है, भोजन मे आया हुआ जूँ जलोदर रोग को उत्पन्न करता है, भोजन मे खाई गई मक्खी वमन करा देती है और भोजन मे आई हुई खाई हुई क्रोलिक कोढ रोग को उत्पन्न करती है ।।८।।

**कार्तिकेयानु प्रेक्षा**
**स्वामि - कुमार विरचिता - शुभचन्द्राचार्य विरचित**

**णिज्जिय-दोस देवं सव्व - जिवाण दयावर धम्मं ।**
**वज्जिय-गंथ च गुरुं जो मण्णदि सो हु सद्धिट्ठी ।।३१७।।**

**अर्थ** · जो वीतराग अर्हन्त को देव मानता है, सब जीवो पर दया को उत्कृष्ट धर्म मानता है और बाह्यअभ्यतर परिग्रह से और आरभ से, विषयाशा से त्याग होकर और ध्यान, अध्ययन से सहित है उनको गुरु मानता है वही सम्यगदृष्टि है ।

**भावार्थ** · सम्यग्दृष्टि जीव भूख, प्यास, भय, द्वेष, राग, मोह, चिन्ता, बुढापा, रोग, मृत्यु पसीना, खेद, मद, रति, आश्चर्य, जन्म, निद्रा और विषाद इन अठारह दोषो से रहित भगवन् अर्हन्त, वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी देव को ही अपना परम आराध्य मानता है । तथा स्थावर और त्रसजीवो की मन, वचन काय और कृतकारित अनुमोदना से हिसा न करने को परम धर्म मानता है । कहा भी है " वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते है, उत्तम क्षमा आदि को धर्म कहते है, रत्नत्रय को धर्म कहते है और जीवो की रक्षा करने को धर्म कहते है । तथा १४ प्रकार की अतरग परिग्रह और दस प्रकार की बहिरग परिग्रह के त्यागी को सच्चा गुरु मानता है ।।३१७।। आगे मिथ्यादृष्टि का स्वरूप कहते है ।

**दोस-सहिय पि देव जीव - हिंसाइ - सजुद धम्म ।**
**गथासत्त च गुरू जो मण्णदि सो हु कुद्दिठ्ठी ।।३१८।।**

**अर्थ** जो दोष सहित देव को, जीवहिसा आदि से युक्त धर्मको और परिग्रह मे फसे हुए गुरु को मानता हे वह मिथ्यादृष्टि है ।

**भावार्थ** - जिसकी दृष्टि कुत्सित होती है उसे कुदृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि कहते है । वह कुदृष्टि राग, द्वेष, मोह वगैरह से युक्त पुरूषो को देव मानता हे अर्थात् शख, चक्र, गदा, लक्ष्मी वगैरह से सयुक्त विष्णु को त्रिशूल पार्वती आदि से सयुक्त शिवको और सावित्री, गायत्री आदि से मण्डित ब्रह्मा को देव मानता है, उन्हे अपना उद्धारक समझकर पूजता है । अजामेध, अश्वमेध आदिमे होने वाली याज्ञि की हिसा को धर्म मानता है, देवी देवता और पितरो के लिए जीवो के घात करने को धर्म मानता है । इस तरह जिस धर्म मे जीवहिसा, झूठ, चोरी, कुशील - ब्रम्हचर्य का खण्डन और परिग्रह का पोषण वतलाया गया है उसे धर्म मानता है । जैसा कि मनुस्मृति मे कहा है कि ' न मास भक्षण मे कोई दोष है न शराव पीने मे कोई दोष है और न मैथुन सेवन करने से कोई दोष है ये तो प्राणियो की प्रवृति है । अपने को जो साधु कहते है किन्तु जिनके पास हाथी, घोडे, जमीन, जायदाद और नौकर-चाकर वगैरह विभूति का ठाट राजा-महाराजाओ से कम नही होता, ऐसे परिग्रही महन्तो को धर्मगुरु मानता है । वह नियम से मिथ्यादृष्टि है ।।३१८।। किन्ही का कहना है कि हरिहर आदि देवता लक्ष्मी देते है , उपकार करते है किन्तु ऐसा कहना भी ठीक नही है ।

**ण य को विदेदि लच्छी ण को वि जीवस्स कुणदि उवयार।**
**उवयार अयार कम्म पि सुहासुह कुणदि ।।३१९।।**

**अर्थ** न तो कोई जीव को लक्ष्मी देता है और न कोई उसका उपकार करता है । शुभाशुभ कर्म ही जीव का उपकार और अपकार करते है ।

**भावार्थ** शिव, विष्णु, ब्रह्मा, गणपति, चण्डी, काली, दुर्गा, मारि,

यक्षी, यक्ष, क्षेत्रपाल वगैरह अथवा सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, वगैरह सोना, रत्न, स्त्री, पुत्र, हाथी, घोडा आदि सम्पदा देने मे असमर्थ है । इसी तरह ये सब देवता सुख-दु ख, रोग, निरोगता आदि देकर या हरकर जीवका अच्छा या बुरा भी नही कर सकते है । जीव जो अच्छा या बुरा कर्म करता है उसका उदय ही जीव को सुख-दु ख आरोग्य अथवा रोग आदि करता है । इसी से आचार्य अमितगति ने सामायिक पाठ मे कहा है - 'इस आत्मा ने पूर्व जन्म मे जो कर्म किये है उनका शुभाशुभ फल उसे इस जन्म मे मिलता है । यदि कोई देवी, देवता शुभाशुभ कर सकता है तो स्वय किये हुए कर्म निरर्थक हो जाते है । अत अपने कर्मो के सिवाय प्राणी को कोई भी कुछ नही देता, ऐसा विचारकर कोई देवी देवता कुछ देता है इस बुद्धि को छोड दो ।।३१७।।३१९।। आगे कहते है कि यदि व्यन्तर देवी देवता वगैरह लक्ष्मी आदिक देते है तो फिर धर्माचरण करना व्यर्थ है ।।३१९।।

**भत्तीऐ पुज्जमाणो विंतर देवो वि दे दि जदि लच्छी ।**
**तो किं धम्मे कीरदि एवं चिंतेइ सद्धिट्ठी ।।३२०।।**

**अर्थ** · सम्यग्दृष्टि विचारता है कि यदि भक्तिपूर्वक पूजा करने से व्यन्तर देवी देवता भी लक्ष्मी दे सकते है तो फिर धर्म करने की क्या आवश्यकता है ।

**भावार्थ** - लोग अर्थाकाक्षी है । चाहते है कि किसी भी तरह उन्हे धन की प्राप्ति हो । इसके लिए वे उचित, अनुचित, न्याय और अन्याय विचार नही करते । और चाहते है कि उनके इस अन्याय मे देवता भी मदद करे । बस वे देवता की पूजा करते है बोल कबुल चढाते है । उनके धर्म का अग केवल किसी-न-किसी देवता का पूजन करना है । जैसे लोक मे धन के लिए सरकारी कर्मचारियो को घूॅस देते है वैसे ही वे देवी देवताओ को भी पूजा के बहाने एक प्रकार की घूस देकर उनसे अपना काम बनाना चाहते है । किन्तु सम्यग्दृष्टि जानता है कि कोई देवता न

कुछ दे सकता है और न कुछ ले सकता है, तथा धन सम्पति की क्षणभगुरता को भी वह जानता है। वह जानता है कि लक्ष्मी चचल है, आज है तो कल नही। तथा जव मनुष्य मरता है तो उसकी लक्ष्मी यही पडी रह जाती है। अत वह लक्ष्मी के लालच मे पडकर देवी-देवताओ के चक्कर मे नही पडता। और केवल आत्महित की भावना से प्रेरित होकर वीतराग देव का ही आश्रय लेता है और उन्हे ही अपना आदर्श मानकर उनके बतलाये हुए मार्ग पर चलता है। यही उनको सच्ची पूजा है अत किसीने ठीक ही कहा है - तभी तक चन्द्रमा का वल है, तभी तक ग्रहो का तारो का और भूमि का वल है तभी तक समस्त वाछित अर्थ सिद्ध होते है तभी तक जन सज्जन है, तभी तक मुद्रा और मत्र तत्र की महिमा है और तभी तक पौरुष भी काम देता हैं जव तक यह पुण्य है। पुण्य का क्षय होने पर सव वल क्षीण हो जाते है ।।३२०।।

**सम्मत्त-गुण-पहाणो देविद-णरिंद-वदिओ होदि ।**
**चत्त-वओ वि य पावदि सग्ग-सुह उत्तम विविह ।।३२६।।**

**अर्थ** सम्यक्त्व गुण से विशिष्ट अथवा सम्यक्त्व के गुणों से विशिष्ट जीव देवो के इन्द्रो से तथा मनुष्यो के स्वामी चक्रवर्ती आदि से वन्दनीय होता है। और व्रत रहित होते हुए भी नाना प्रकार के उत्तम स्वर्गसुख को पाता है।

**भावार्थ** सम्यक्त्व के पच्चीस गुण वतलाये है। तीन मूढता, आठ मद, छह अनायतन और आठ शका आदि इन पच्चीस दोषो को ालने से सम्यक्त्व के पच्चीस गुण होते है। सूर्य को अर्ध्य देना, चन्द्रग्रहण सूर्य ग्रहण मे गगास्नान करना, मकर सक्रान्ति वगैरह के समय दान देना, सन्ध्या वदन करना अग्नि की पूजा करना, शरीर की पूजा करना, मकान की पूजा करना, गौ के पृष्ठ भाग मे देवताओ का निवास मानकर उसके पृष्ठ भाग को नमस्कार करना, गोमूत्र सेवन करना, रत्न, सवारी, पृथ्वी, वृक्ष, शस्त्र, पहाड आदि को पूजना, धर्म समझकर नदियो और समुद्रो (सेतुबन्ध रामेश्वर वगैरह) मे स्नान करना,

**भावार्थ** ऐसा देखते हुए भी मूढ जीव प्रवल मिथ्यात्व के प्रभाव से मनुष्य देखता है, इस विपत्ति से ससार में कोई शरण नही है, एक दिन सभी को मृत्यु के मुख मे जाना पडता है, इस विपत्ति से उसे कोई नही बचा सकता । फिर भी उसकी आत्मा मे मिथ्यात्व का ऐसा प्रवल उदय है, कि उसके प्रभाव से वह अरिष्ट निवारण के लिए ज्योतिपियो के चक्कर मे फस जाता है, कि उसके और सूर्य, चद्र, मगल, वुध, वृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु और केतु नाम के ग्रहो को तथा भूत, पिशाच, चण्डिका वगैरह व्यन्तरो को शरण मानकर उनकी आराधना करता है, वह घोर मिथ्यादृष्टि पापो मे पड जाता हे ।।२७।।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा मे सुभचद्राचार्य अपने टीका मे लिखते हैं

ज्योतिष्क व्यन्तर भवन वासिस सर्व स्त्री
व्दादशमिथ्यावादेषु उत्पत्तिकारणं कर्म न वन्धातीत्यर्थ· ।
हिंसारभोण सुहो देव-णिमितं गुरूण कज्जेसु ।
हिंसा पाव ति मदो दया पहाणो जदो धम्मो ।।४०६।।

**अर्थ** चूँकि हिसा को पाप कहा है और धर्म को दया प्रधान कहा है, अत देव के निमित्त से अथवा गुरु के कार्य के निमित्त से भी हिसा करना अच्छा नही है ।

**भावार्थ** जैनधर्म के शिवाय प्राय सभी अन्य धर्मो मे हिसा मे धर्म माना गया है । एक समय भारत मे यज्ञो का बड़ा जोर था और उसमे हाथी, घोडे और बैलो को ही नही मनुष्य तक होमा जाता था । वे यज्ञ, गजमेध, अश्वमेध और नरमेध के नाम से ख्यात थे । जैनधर्म के प्रभाव से वे यज्ञ तो समाप्त हो गए । किन्तु फिर से देवी देवताओ के नाम से सामने बकरो, भैसो, मुर्गो वगैरह का बलिदान आज भी हो रहा है । यह सब अधर्म है, यज्ञ, होम, हवन मात्र करना भी धर्म नही है पाप ही है । किसी की जान (प्राण) ले लेने से धर्म नही होता । किन्ही सूत्र ग्रन्थो मे ऐसा लिखा है कि देव, गुरु और धर्म के लिये चक्रवर्ती की सेना को भी मार डालना चाहिये । जो साधु ऐसा करता है वह अनन्तकाल तक ससार

मे भ्रमण करता है ।कही मासाहार का भी विधान किया है । ग्रन्थकार (आचार्य) ने उक्तगाथा के द्वारा इन सब प्रकार की हिसाओ का निषेध किया है । उनका कहना है कि धर्म के नाम पर की जाने वाली हिसा भी शुभ नही है । अथवा इस गाथा का दूसरा व्याख्यान इस तरह भी है की, देवपूजा चैत्यालय, सघ और यात्रा वगैरह के लिए भी मुनियो का आरम्भ करना ठीक नही है तथा गुरुओ के लिए वसति का बनवाना, भोजन बनाना, सचित जल फल, धान्य वगैरह का प्रासुक करना आदि आरभ भी मुनियो के लिए उचित नही है, क्योकि ये सब आरम्भ हिसा के कारण है । वसुनन्दि आचार्य ने यति आचार बतलाते हुए लिखा है - निर्ग्रन्थ मुनि पाप के भय से अपने मन, वचन और काय को शुद्ध करके जीवन पर्यन्त के लिए सावध योग का त्याग कर देते है । तथा मुनि हरित तृण, वृक्ष, छाल, पत्र, कोपल, कन्दमूल, फल, पुष्प और बीज वगैरहका छेदन भेदन न स्वय करते है और न दूसरोसे कराते है । तथा मुनि पृथ्वी को खोदना, जलको सीचना, अग्निको जलाना, वायुको उत्पन्न करना और त्रसोका घात न स्वय करते हैं न दूसरो से कराते है और यदि कोई करता हो उसकी अनुमोदना भी नही करते ।।४०६।।

**यह धर्मानुप्रेक्षा मे है**

**देव-गुरूण णिमित्त हिंसा-सहिदो वि होदि जदि धम्मो ।**
**हिंसा-रहिदो धम्मो इदि जिण-वयणं हवे अलिय ।।४०७।**

**अर्थ** - क्योकि यदि देव और गुरु के निमित्त से हिसा का आरम्भ करना भी धर्म हो तो जिन भगवान का यह कहना है कि 'धर्म हिसा से रहित है' असत्य हो जाएगा ।

**भावार्थ** - गृहस्थी बिना आरम्भ किए नही चल सकता और ऐसा कोई आरम्भ नही है जिसमे हिसा न होती हो । अत गृहस्थ के लिए आरम्भी हिसा का त्याग करना शक्य नही हैं । किन्तु मुनि ग्रहवासी नहीं होते अत वे आरभी हिसा का त्याग कर देते हैं । वे केवल अपने लिए ही आरम्भ नही करते, बल्कि देव और गुरु के निमित्त से भी न कोई

आरम्भ स्वय करते है, न दूसरो से कराते हं और ऐरो आरम्भ की अनुमोदना नही करते है ।।४०७।।

**किं जीव-दया धम्मो जण्णे हिंसा वि होदि किं धम्मो ।**
**इच्चेवमादि - सका तद्करण जाण णिस्सका ।।४१४।।**

**अर्थ** क्या जीवदया धर्म है अथवा यज्ञ मे 'होने वाली हिसा मे धर्म है', इत्यादि सदेह को शका कहते है । और उसका न करना नि शड्का है ।

**भावार्थ** पीछे धर्म का स्वरूप वतलाते हुए कहा है कि जहॉ सूक्ष्म भी हिसा है वहॉ धर्म नही हे । अत अहिसा धर्म है और हिंसा अधर्म है, इस श्रद्धान का नाम ही सम्यक्त्व है और इस सामक्यत्व के आठ अग है । उनमे से प्रथम अग नि शकित है । नि शकित का मतलव है, शका, सदेह का न होना । एक समय भारत मे याज्ञिक धर्म का वहुत जोर था । अश्वमेघ, गजमेघ, अजमेघ, नरमेघ, गोमेघ आदि यज्ञ हुआ करते थे । याज्ञिक धर्म के ग्रन्थो मे लिखा है - औपधियॉ पशु, वृक्ष, तिर्यञ्च, पक्षी और मनुष्य यज्ञ के लिए मरकर उच्च गति को प्राप्त करते हैं । गोसब यज्ञ मे सुरभि गौ को मारना चाहिये, राजसूय यज्ञ मे राजा को मारना चाहिये, अश्वमेघ यज्ञ मे घोडे को मारना चाहिये, और पुण्डरीक यज्ञ मे हाथी को मारना चाहिये । ब्रह्मा ने स्वय यज्ञ के लिये ही पशुओ को बनाया है । यज्ञ सबके कल्याण के लिए है ऐसा मानता है वह पापी है । यजुर्वेद की ऋचाओ मे लिखा है । सोमदेवता के लिये हसो का, वायु के लिये बगुलो का, इन्द्र और अग्नि के लिये सरसों का, सूर्य देवता के लिये जलकारो का, वरुण देवताओ के लिए वध करना चाहिये । छ ऋतुओ मे से बसन्त ऋतु के लिये कपिञ्जल पक्षियो का, ग्रीष्म ऋतु के लिए चिरौटा पक्षीयोका वर्षा ऋतु के लिए तितरोका, शरद ऋतु के लिए बत्तको का, हेमन्त ऋतु के लिए ककर पक्षियो का, और शिशिर ऋतु के लिए विककर पक्षियो का वध करना चाहिये समुद्र के लिए मच्छो का, मेधके लिये मेडकोका, जलोके लिये मछलियोका, सूर्य के लिये कुलीषय

नामक पशुओ का, वरुण के लिये चकवो का वध करना चाहिए । इत्यादि वाक्यो को सुनकर 'क्या जीववध मे धर्म है । इस प्रकार की शंका का भी न होना अर्थात् जीववध को अधर्म ही मानना निःशंकित गुण है ।

## मिथ्यात्व स्वरूप का त्याग अमूढ दृष्टि अग

**भय - लज्जा - लाहादो हिंसारभोण मण्णदे धम्मो ।**
**जो जिण वयणे लीणो अमूढ-दिट्ठी हवे सो दु ।।४१८।।**

**अर्थ** भय, लज्जा, अथवा लालच के वशी[illegible]
मूलक आरम्भ को धर्म नही माना गया उस जिनध[illegible]
अनुसार चलता है वह पुरुष के अमूढ दृष्टि अग [illegible]

**भावार्थ** जो सम्यग्दृष्टि पुरुष मिथ्यादृष्टि[illegible]
अज्ञानी मनुष्यो के चित्त मे चमत्कार को उत्पन्न करन[illegible]
आदि को देखकर या सुनकर उनमे धर्म बुद्धि से [illegible]
व्यवहार से अमूढ दृष्टि अग का पालक कहा जाता है ।

## देवादि मिथ्याधर्म से जीव की मरकर दुर्गति

देवो वि धम्म-चत्तो मिच्छत्त-वसेण तरू-वरो होदि ।
चक्की वि धम्म रहिओ णिवडइ णरए ण सदेहो ।।४३८।।

और प्रतिनारायण भी मरकर सुभौम और चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त की तरह मिथ्यात्व के प्रभाव से नरक मे चले जाते है । अत पाप से सम्पति की प्राप्ति नही हो सकती ।

**इय पच्चक्ख पेच्छए धम्माहम्माण विविह - माहप्प ।**
**धम्म आयरह सया पाव दूरेण परिहरह ।।४३७।।**

**अर्थ** - अत हे प्राणियो इस प्रकार धर्म और अधर्म का अनेक प्रकार माहात्म्य प्रत्यक्ष देखकर सदा धर्म का आचरण करो और पाप से दूर ही रहो ।

**भावार्थ** - धर्म का फल स्वर्ग और मोक्ष सुख की प्राप्ति है, तथा अधर्म का फल नरकगति और तिर्यञ्च गति के दु खों की प्राप्ति होती है, अत पाप को छोडो और धर्म का पालन करो ।।४३७।।

**प्रथम अणुव्रत-जो वावरेई सदओ अप्पाण - सम परं पि मण्णतो ।**
**णिंदण - गरहण - जुत्तो परिहरमाणो महारभे ।।३३१।।**

**अर्थ** जो श्रावक दयापूर्वक व्यापार करता है, अपने ही समान दूसरों को भी मानता है, अपनी निन्दा और गर्हा करता हुआ महाआरम्भ को नही करता ।

**भावार्थ** जो श्रावक दूसरे जीवों को भी अपने ही समान मानकर अपना सब काम दयाभाव से करता है जिसे किसी को किसी भी तरह का कष्ट न पहुॅचे । यदि उससे कोई गल्ती हो जाती है तो स्वय अपनी निदा करता है और अपने गुरु वगैरेह से अपने दोष का निवेदन करते हुए नही सकुचाता । तथा जिनमे त्रस हिसा आदिक होती है ऐसे कामों को नही करता । जैसे भट्ठा लगाना, जगल फुकवाना, तालाब सुखाना जगल काटना आदि और उतना ही व्यापार करता है । आवश्यक जितना है वह उतना ही स्वय कर सकता है ।।३३१।।

**तस-घाद जो ण कर दिमण - वय - काएहि णेव कारयदि।**
**कुव्वत पि ण इच्छदि पढम - वय जायदे तस्स ।।३३२।।**

**अर्थ** तथा जो मन, वचन और काय से त्रस जीवो का घात न

स्वय करता है, न दूसरो से कराता है और कोई स्वय करता हो तो उसे अच्छा नही मानता उस श्रावक के प्रथम अहिसाणुव्रत होता है ।

**भावार्थ** : शख, सीप, केचुआ, जौक, कीडे, चीटी, खटमल, जूॅ, विच्छू, पतिगे, भौरा, डास, मच्छर, मख्खी, पशु, मृग, और मनुष्य वगैरह जगम प्राणियो, की मन से, वचन से, काय से स्वय हिसा न करना, दूसरो से हिसा न कराना और कोई करता हो तो उसे प्रोत्साहित न करना अहिसाणुव्रत है । मन, वचन, काय और कृतकारित अनुमोदना को मिलाने से नौ भग होते है जो इस प्रकार है - अपने मन मे त्रस जीवोको मारने का विचार नही करता । दूसरे तरह से जीवो की हत्या होती हो ऐसे कोई भी कार्य को सम्यगदृष्टि जीव करते ही नही है ।

**यज्ञादि हिंसा से धर्म नही हैं । ज्ञानर्णव ग्रथ में श्री शुभचंद्राचार्यकृत विरचित (पृष्ठ नबर १०३ से १०७ पर्यत) अथ अष्टम सर्ग -**

**सत्याद्युत्तरनि- शेषयमजातनिबन्धनम् ।**
**शीलैश्चर्याद्याधिष्ठानमहिंसाख्यं महाव्रतम् ।।७।।**

**अर्थ** अहिसा नामक महाव्रत सत्यादिक अगले ४ महाव्रतो का तो कारण है क्योकि सत्यादि बिना अहिसा के नही हो सकते । और शीलादि सहित उत्तर गुणो की चर्या का स्थान भी यह अहिसा ही है । अर्थात् समस्त उत्तर गुण भी इस अहिसा महाव्रत के आश्रय हैं ।

**वाक्चित्ततनुभिर्यत्र न स्वप्नेऽपि प्रवर्त्तते ।**
**चरस्थिराङ्गिना घातस्तदाद्य व्रतमीरितम् ।।८।।**

**अर्थ** जिसमे मन, वचन, कायसे, त्रस और स्थावर जीवो का घात स्वप्न मे भी न हो उसे आद्यव्रत (प्रथम महाव्रत-अहिसा) कहते है ।

**सरम्भादित्रिक योगै कषायैर्व्याहत क्रमात् ।**
**शतमष्टाधिक ज्ञेय हिसाभेदैस्तु पिण्डितम ।।१०।।**

पर हिसा के भेद (१०८) होते है तथा अनतानुवधि, अप्रत्याख्यानावर्ण, प्रत्याख्यानावर्ण और सज्वलन कषायों के उत्तरभेदों से ४३२ भेद भी हिसा के होते है ।।१०।।

**तपोयमसमाधीना ध्यानाध्ययनकर्मण ।**
**तनोत्यविरत पीडा हृदि हिंसा क्षणास्थिता ।।१५।।**

**अर्थ** हृदय मे क्षण भर भी स्थान पाई यह हिसा, तप, यम, समाधि और ध्यानाध्ययनादि कार्यो को निरन्तर पीडा देती है ।

**भावार्थ** क्रोधादि कषायरूप परिणाम (हिसारूप परिणाम) किसी और ध्यानाध्ययन कार्यो में चित्त को नही ठहरने देता, इस कारण यह हिसा है किसी कारण से एक वार उत्पन्न हो जाते हैं तो उनका सस्कार (स्मरण) लगा रहता है । वह तप यम, समाधि और ध्यानाध्ययन कार्यो मे चित्त को नही ठहरने देता, इस कारण यह हिसा महा अनर्थकारिणी है ।।१५।।

**अहो व्यसन विध्वस्तैर्लोक पाखण्डिभिर्बलात् ।**
**नीयते नरक घोर हिंसा शास्त्रोपदेशकै· ।।१६।।**

**अर्थ** आचार्य महाराज आश्चर्य के साथ कहते है देखो ! धर्म तो दयामयी जगत मे प्रसिद्ध है परन्तु विषय कषाय से पीडित पाखडी हिसा का उपदेश देने वाला (यज्ञादिक मे पशुवादि) किडेयों का होमने तथा देवी आदि के बलिदान करने आदि हिसा विधान करने वाले) शास्त्रो को रचकर जगत के जीवो को बलात्कार से नरकादिक मे ले जाते है यह बडा ही अनर्थ है ।।१६।।

**रौरवादिषु घोरेषु विंशन्ति पिशिताशना ।**
**तेष्वेव हि कदर्थ्यन्ते जन्तुघात कृतोधमा ।।१७।।**

**अर्थ** जो मास के खाने वाले है वे सातवे नरक के रौखादि बिलो मे प्रवेश करते है और वही पर जीवों को घात करनेवाले शिकारी आदिक भी पीडित होते है ।

**भावार्थ** जो जीवघातक मासभक्षी पापी है, वे नरक मे ही जाते है और जो जीव घात को ही धर्म मानकर के उपदेश करते है वे अपने और पर के दोनो के घातक है, अत वे भी नरक के ही पात्र है ।।१७।।

**शान्त्यर्थं देवपूजार्थं यज्ञार्थमथवा नृभि ।**
**कृत प्राणभृता घात पातयत्यविलम्बित ।।१८।।**

**अर्थ** अपनी शक्ति के अर्थ अथवा देवपूजा के तथा यज्ञ के अर्थ जो मनुष्य जीववध (जीवहिसा) करते है वह घात भी जीवो को शीघ्र ही नरक मे डालता है ।।१८।।

**हिंसैव दुर्गतेर्द्वार हिंसैव दुरितार्णव ।**
**हिंसैव नरक घोर हिंसैव गहन तम ।।१९।।**

**अर्थ** हिसा ही दुर्गति का द्वार है, पाप का समुद्र है तथा हिसा ही घोर नरक और महा अन्धकार है ।

**भावार्थ** समस्त पापो मे मुख्य हिसा ही है । जितने मखोटे उपजाते है सब हिसा ही जाते है ।।१९।।

कुलक्रमागता हिसा कुलनाशाय कीर्तिता ।
कृता च विघ्नशान्त्यर्थं विघ्नौघायैव जायते ।।२०।।

पर हिसा के भेद (१०८) होते है तथा अनतानुवधि, अप्रत्याख्यानावर्ण, प्रत्याख्यानावर्ण और राज्वलन कषायों के उत्तरभेदों से ४३२ भेद भी हिंसा के होते है ।।१०।।

**तपोयमसमाधीना ध्यानाध्ययनकर्मण ।**

**तनोत्यविरत पीड़ा हृदि हिंसा क्षणास्थिता ।।१५।।**

**अर्थ** हृदय मे क्षण भर भी स्थान पाई यह हिसा, तप, यम, समाधि और ध्यानाध्ययनादि कार्यो को निरन्तर पीडा देती हैं ।

**भावार्थ** क्रोधादि कषायरूप परिणाम (हिंसारूप परिणाम) किसी और ध्यानाध्ययन कार्यो में चित्त को नही ठहरने देता, इस कारण यह हिसा है किसी कारण से एक वार उत्पन्न हो जाते है तो उनका सस्कार (स्मरण) लगा रहता है । वह तप यम, समाधि और ध्यानाध्ययन कार्यो मे चित्त को नही ठहरने देता, इस कारण यह हिसा महा अनर्थकारिणी है ।।१५।।

**अहो व्यसन विध्वस्तैर्लोक पाखण्डिभिर्बलात् ।**

**नीयते नरक घोर हिंसा शास्त्रोपदेशकै ।।१६।।**

**अर्थ** आचार्य महाराज आश्चर्य के साथ कहते है देखो ! धर्म तो दयामयी जगत मे प्रसिद्ध है परन्तु विपय कषाय से पीडित पाखडी हिसा का उपदेश देने वाला (यज्ञादिक मे पशुवादि) किडेयों का होमने तथा देवी आदि के बलिदान करने आदि हिसा विधान करने वाले) शास्त्रों को रचकर जगत के जीवो को बलात्कार से नरकादिक मे ले जाते हैं यह बडा ही अनर्थ है ।।१६।।

**रौरवादिषु घोरेषु विशन्ति पिशिताशना ।**

**तेष्वेव हि कदर्थ्यन्ते जन्तुघात कृतोधमा ।।१७।।**

**अर्थ** जो मास के खाने वाले है वे सातवे नरक के रौखादि बिलो मे प्रवेश करते है और वही पर जीवों को घात करनेवाले शिकारी आदिक भी पीडित होते है ।

**भावार्थ** जो जीवघातक मासभक्षी पापी है, वे नरक मे ही जाते हैं और जो जीव घात को ही धर्म मानकर के उपदेश करते हैं वे अपने और पर के दोनो के घातक है, अत वे भी नरक के ही पात्र है ।।१७।।

**शानत्यर्थ देवपूजार्थ यज्ञार्थमथवा नृभि ।**
**कृत प्राणभृता घात पातयत्यविलम्बित. ।।१८।।**

**अर्थ** अपनी शक्ति के अर्थ अथवा देवपूजा के तथा यज्ञ के अर्थ जो मनुष्य जीववध (जीवहिसा) करते है वह घात भी जीवो को शीघ्र ही नरक मे डालता है ।।१८।।

**हिं सैव दुर्गतेर्द्वार हिंसैव दुरितार्णव ।**
**हिंसैव नरक घोर हिंसैव गहनं तम ।।१९।।**

**अर्थ** हिसा ही दुर्गति का द्वार है, पाप का समुद्र है तथा हिसा ही घोर नरक और महा अन्धकार है ।

**भावार्थ** समस्त पापो मे मुख्य हिसा ही हैं । जितनी मखोटी उपमाये है सब हिसा ही लगती है ।।१९।।

**कुलक्रमागता हिंसा कुलनाशाय कीर्तिता ।**
**कृता च विघ्नशान्त्यर्थ विघ्नौघायैव जायते ।।२१।।**

**अर्थ** कुलक्रम से जो हिसा चली आई हे । वह उस कुल के नाश करने के लिए ही कहा गई है तथा विघ्न की शान्ति के अर्थ जो हिसा की जाती है वह विघ्न समूह को बुलाने के लिए ही है ।

**सौख्यार्थे दु ख सन्तानं मङ्गलार्थेऽप्यमङ्गल ।**
**जीवितार्थे धुव मृत्युं कृता हिंसा प्रयच्छति ।।२२।।**

**अर्थ** - सुख के अर्थ की हुई हिंसा दु ख की परिपाटी करती है, मगलार्थ की हुई हिसा अमङ्गल करती है तथा जीवनार्थ की हुई हिसा मृत्यु को प्राप्त करती है । इस वात को निश्चय जानना ।।२२।।

**तितीर्षति ध्रुव मूढ स शिलाभिर्नदीपतिम् ।**
**धर्मबुद्धयाऽधमो यस्तु घातयत्यङ्गि संचयम् ।।२३।।**

**अर्थ** जो मूढ अधम धर्म की वुद्धि से जीवो को मारता है तो पाषाण की शिलाओ पर वैठकर समुद्र को तैरने की इच्छा करता है । क्योंकि वह नियम से डूवेगा ।।२३।।

**प्रमाणीकृत्य शास्त्राणि यैर्वध· क्रियतेऽधमै**
**सह्यते परलोके तै श्वभ्रे शूलाधिरोहणम् ।।२४।।**

**अर्थ** - जो अधर्म शास्त्रों का प्रमाण देकर जीवो का वध करना धर्म बताते है, वे मृत्यु होने पर नरक मे शूली पर चढाये जाते है ।

**भावार्थ** अनेक अज्ञानी कहते है कि वेदशास्त्र मे यज्ञ के समय जीववध करना कहा है, उसी को ईश्वरकृत प्रमाणभूत मानकर हम पशुवाधि जीवो का होम करते है, परन्तु ऐसा कहने वाले अधर्मी है । क्योकि जिस शास्त्र मे जीववध धर्म कहा है वह शास्त्र कदापि प्रमाणभूत नही कहा जा सकता । उसकी जो अज्ञानी प्रमाण मानकर हिसा करते है, वे अवश्य ही नरक मे जा पडते है ।

**निर्दयेन हि कि तेन श्रुतेनाचरणेन च ।**
**यस्य स्वीकारमात्रेण जन्तवो यान्ति दुर्गतिं ।।२५।।**

**अर्थ** जिसमे दया नही है ऐसे शास्त्र तथा आचरण से क्या लाभ? क्योकि ऐसे शास्त्र के वा आचरण के अगीकार मात्र से ही जीव दुर्गति को चले जाते है ।

**अहिंसैव जगन्माताऽ हिंसैवान्दपद्धति ।**
**अहिसैव गति साध्वी श्रीरहिं सैव शाश्वती ।।३२।।**

**अर्थ** अहिसा ही तो जगत की माता है क्योकि समस्त जीवो की प्रतिपालन करने वाली है । अहिसा ही आनन्द की सन्तति अर्थात् परिपाटी है । अहिसा ही उत्तम गति और शाश्वती लक्ष्मी है जगत मे जितने उत्तमोत्तम गुण है वे सब इस अहिसा मे ही है ।।३२।।

**अहिं सैव शिव सूते दत्तेच त्रिदिवाश्रव ।**
**अहिंसैव हित कुर्याद्व्रनानि निरस्यति ।।३३।।**

**अर्थ** यह अहिसा ही मुक्ति को करती है तथा स्वर्ग की लक्ष्मी को देती है । अहिसा ही आत्मा का हित करती है तथा समस्त कष्टरूप आपदाओ को नष्ट करती है ।।३३।।

**यतित्व जीवनोपाय कुर्वन्त किं न लज्जिता· ।।**
**मातु पण्यमिवालम्ब्य यथा केचिद्वतघृणा· ।।५६।।**
**तिस्त्रपा कर्म कुर्वति यतित्वेप्यतिनिन्दितम् ।**
**ततो विराध्य सन्मार्ग विशति नरको दरे ।।५७।।**

**अर्थ** कोई निर्दय, निर्लज्ज साधुपन मे भी अतिशय निदा करने योग्य कार्य को करते है । वे समीचीन हितरूप मार्ग का विरोध कर नरक मे प्रवेश करते है । जैसे कोई अपनी माता को वेश्या बनाकर उससे धनोपार्जन करते है, तैसे ही जो मुनि होकर मुनिदीक्षा को जीवन का उपाय बनाते है और उसके द्वारा धनोपार्जन करते है वे, अतिशय निर्दय तथा निर्लज्ज है ।।५६,५७।।

हिंसादि यज्ञ करना अधर्म है ।
आचार्य श्री सकलकीर्ति विरचित प्रश्नोत्तर श्रावकाचार तीसरा परिच्छेद

भगवस्त्त कुधर्म हि प्ररूपय ममादरात् ।
प्रणीत केन सल्लोके पापादि दु खदायक ।।११०।।

यागादिकरण विद्धि जीवहिंसादिसम्भव ।
कुधर्म स्नानज निद्य तर्पण श्राद्धमेवच ।।१११।।
जीवादीहिंसान्ये च कुर्वन्ति कारयत्य हो ।
धर्मयागकुदेवादिकार्ये स्वभ्रे पतन्ति ते ।।११२।।
यदि हिंसादिससक्ता नाकं गच्छान्ति दुर्मदा ।
केनैव कर्मणा श्वभ्र के च याति विचारय ।।११३।।

अर्थ उत्तर यज्ञ आदि का करना और वुद्धिपूर्वक जीव हिंसा आदि का करना सव कुधर्म है । इसके सिवाय धर्म समझकर नदी, समुद्र मे स्नान करना, तर्पण करना, श्राद्ध करना आदि भी कुधर्म हैं ।।१११।। जो यज्ञ के लिये, धर्म के लिए व कुदेवी के लिए जीवहिसा करते हैं व कराते है वे अवश्य नरक मे पडते हैं ।।११२।। यदि हिसा आदि पापो मे आसक्त रहने वाले नीच लोग ही स्वर्ग को जाते है तो फिर कौन से जीव कौन-कौन से कामो के द्वारा नरक मे जायेगे ? इसका थोडा-सा भी विचार करे ।।११३।।

यदि स्वर्गो भवेद्धर्म स्नानादपि पवित्रता ।
प्राणिना च तदा मत्स्या स्वर्ग गच्छंति धीवरा ।।११५।।

अर्थ यदि हिसा करने से ही धर्म होता है और स्नान करने से ही पवित्रता आती है तो फिर मछली आदि जलचर जीव और धीवर आदि घातक जीव स्वर्ग को जायेगे अन्य नही ? ।।५१५।।

चित्तमन्तर्गत दुष्ट यस्य नित्यं प्रवर्तते ।
तस्य शुद्धि कथ स्नानाज्जायते मद्यकुम्भवत् ।।११६।।
तिलपिण्ड जले मूढा क्षिपन्ति पितृतृप्तये ।
ये तेऽतिदुर्गति यांति त्रसनीराङ्गि हिंसनात ।।११७।।
तर्पणये प्रकुर्वन्ति मृतजीवादि श्रेयसे ।
मिथ्यात्वसत्व सघाताद्भरण्ये भ्रमन्ति ते ।।११८।।
मातृपित्रादि सिद्धयर्थ श्राद्ध कुन्ति ये वृथा ।
गृहन्ति ते खपुष्पेण वैबन्ध्यासुतशेखर ।।११९।।

**अर्थ** जिस प्रकार मधु से भरे हुए घडे की शुद्धि धोने से नही होती उसी प्रकार जिसका हृदय सदा दुष्ट बना रहता है उसकी शुद्धि केवल स्नान करने से कभी नही हो सकती ।।११६।। जो अज्ञानी जीव पितरो को तृप्त करने के कारण दुर्गति मे ही होगा और पिण्ड जल मे डालते है वे जीव त्रस जीवो की और जलकायिक जीवो की हिसा करने के कारण दुर्गति मे ही उत्पन्न होते हैं ।।११७।। जो जीव मरे हुए जीवो का कल्याण करने के लिए तर्पण करते है और उसमे अनेक जीवो की हिसा करते है वह सब उनका मिथ्यात्व है ऐसे मिथ्यात्व को सेवन करने वाले जीव ससाररूपी वन मे सदा परिभ्रमण ही किया करते हैं ।।११८।। जो जीव मृत माता पिताओ को सुख पहुंचाने के लिए श्राद्ध करते हैं वे आकाश के पुष्पो से, वध्यापुत्र के लिए मुकुट बनाते है ।

**भावार्थ** जिस प्रकार वध्यापुत्र के लिए मुकुट बनाना व्यर्थ है । क्योकि वध्या के पुत्र होता ही नही उसी प्रकार मृत पुरुषो के लिए श्राद्ध करना भी व्यर्थ है क्योकि वह उनके पास पहुंचताही नही ।।११९।।

हिसा धर्मरता मूढा तुष्टा कुगुरु सेवका ।
कुदेवकुतप सक्ता कुगतिं याति पापत ।।१२८।।

कथ्यते क्षणिको जीवो यत्र तत्र च सर्वथा ।
अन्य कर्म करोत्येव भुड्क्ते अन्यो हितत्फलम ।।१७।।
मत्स्यादिभक्षणे दोषो नास्ति दु खाकर खलं ।
मिथ्यात्व विद्धितन्मित्र कुबोधमतकल्पितम् ।।१८।।
पुण्य जीवधाधयत्र शुद्धिः स्नानेन कल्पयते ।
क्रूरकर्मरता देवा गुरवा कामलालसा ।।१९।।
पूजन पशुदुष्टाना तर्पणं मृतसज्जनात् ।
विपरीतं चत ज्ञेय मिथ्यात्वं द्विजसभवम् ।।२०।।

अर्थ मिथ्यादृष्टि जीव हिसा रहित धर्म को कभी नही समझ सकता । जिस प्रकार पागल पुरुष पदार्थो को उल्टा ही जानता हैं उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव भी असत्य और कुधर्म को ही जानता है ।।१४।। उस मिथ्यात्व से ज्ञान चारित्र धर्म आदि सत्व नष्ट हो जाता है । यह जीवो को विष के समान है और बुद्धि को नाश करने वाला हैं इसलिए हे भव्यजीव । इसे तू शीघ्र छोड दे ।।१५।। मुनिराजों ने इस मिथ्यात्व के पॉच भेद बतलाए है - एकान्त, विनय (वैनयिक), विपरीत, सशय और अज्ञान ।।१६।। जिस मत मे जीव को सर्वथा क्षणिक बतलाया है, उस मत मे कर्मो को अन्य जीव करता है और उनके फलो को अन्य ही भोगता है तथा जो मछली आदि के भक्षण करने मे दोष ही नही समझते उनका वह दु ख देनेवाला, दुप्ट और केवल अपनी कुबुद्धि से कल्पना किया हुआ बौद्धमत एकात मिथ्यात्व है ।।१७-१८।। जिस मत मे जीवो की हिसा से पुण्य बतलाया गया हो, स्नान से शुद्धि बतलाई गई हो जिनके देव हिसा आदि क्रूर कर्मो मे लगे हुए है, गुरु लोग काम की लालसा मे लिप्त हो, जिसमे पशु, कीडा, वृक्ष आदि की पूजा करना बतलाया हो और मृत मनुष्यो का तर्पण बतलाया हो, ऐसा ब्राम्हणो का, वैदिक मत विपरीत मिथ्यात्व समझना चाहिये ।।१९-२०।।

विनयो गीयते यत्र पात्रापात्रेषु प्रत्यहम् ।
देवादेवेषु तद्विद्धि मिथ्यात्वं तापसप्रजम् ।।२१।।

**अर्थ** जिस मत मे प्रतिदिन पात्र अपात्रो की, देव अदेवो की, सबकी विनय की जाती हो उन तपस्वियो का विनय मिथ्यात्व कहलाता है ।।२१।।

व्रतोद्योतन श्रावकाचार (परिक्षाकर ग्रहण करना धर्म)

पूजा जिनेश्वरे योग्या सुपात्रे दानमुत्तमं ।
स्थापन पुरुषे भ्रष्टे श्रावकाणामयम विधि ।।८२।।
येषा रागा न ते देवा येषा भार्या न तेर्षय ।
येषा हिंसा न तेऽग्रन्था कथयन्तीति योगिन ।।८३।।
चारूचारित्र सपन्नो मुनीद्रः शीलभूषणः ।
आत्मनस्तारको जातो भव्याना तारकस्तथा ।।८४।।
कृत्वा दिनत्रयम् यावत्परिक्षा मुनिपुङ्गवे ।
यो नमस्कारमाधत्ते सम्यग्दृष्टि स उच्यते ।।८५।।
य· श्रावको भावभरो धनाढ्य परीक्ष्य पात्र ददते न दानम् ।
स्तब्धो भवेत् स कृपणोऽज्ञदृष्ट· सोऽधोगतिं गच्छति को न दोष ।।८६।।
भ्रष्टेऽतिदुर्जनेऽसत्ये क्षुद्रके गुरूतल्पके ।
हीनसत्वे दुराचारे तस्मै शिक्षा न दीयते ।।८७।।
शान्ते शुद्धे सदाचारे गुरू भक्तिपरायणे ।
तत्वादुभयलोकज्ञे तस्मै शिक्षा प्रदीयते ।।८८।।

**अर्थ** जिनेश्वर की पूजा करना योग्य है, सुपात्र मे दान देना उत्तम है । और पुरुष के भ्रष्ट होने पर उसे धर्म मे स्थापन करना यह श्रावको की विधि है ।।८२।। जिनके राग है वह देव नही है, जिनके स्त्री है वे ऋषि नही है, और जिनके हिसा है, वे निग्रथ नही है । ऐसा योगिजन कहते है ।।८३।। जो सुन्दर चारित्र से सम्पन्न है, शील जिसका भूषण है, ऐसा मुनीश्वर ही अपनी आत्मा का तारक है, तथा अन्य भव्यजीवो का भी वह तारक है ।।८४।। जो उत्तम मुनि के विषय मे भी तीन दिन तक परीक्षा करके पीछे नमस्कार करता है, वह सम्यग्दृष्टि कहा जाता है ।।८५।। जो भाव - प्रधान, धन्याढ्य श्रावक पात्र की परीक्षा करके उसे

दान नही देता है, वह स्तब्ध (मानी) है, कृपण (कजूस) है, अज्ञानी है ऐसा पुरुष अधोगति को जाता है, इसमे कोई दोष नही है ।।८६।। जो पुरुष धर्म से भ्रष्ट है, अति दुर्जन है, असत्यभाषी है, क्षुद्र है, गुरु का निन्दक है, हीनशक्ति है और दुराचारी है, उस व्यक्ति को शिक्षा नही देना चाहिये ।।८७।। किन्तु जो शान्त है, शुद्ध है, सदाचारी है, गुरु की भक्ति मे परायण (तत्पर) है और तत्वज्ञान से उभयलोक का ज्ञाता है उसे शिक्षा देनी चाहिये ।।८८।।

**प्रश्नोत्तर - श्रावकाचार आचार्य सकलकीर्ति विरचित**

**परीक्षा कर ग्रहण करना धर्म**

मनुजत्वेऽपि किं सार येन तत्सफल भवेत् ।
तत्सर्व श्रोतुमिच्छामि भवत श्री मुखादहम् ।।१५।।
सद्धर्मपरम सार ससाराम्बुधितारकम् ।
सुखाकर जिनैरुक्त स्वर्गमुक्ति सुखप्रदम् ।।१६।।
एकभेद द्विभेद वा धर्म विमो वय नही ।
श्रुत मया कुशास्त्रेषु नानाभेदै प्ररूपितम् ।।१७।।
धर्म पाप प्रजल्पन्ति तत्वहीना कुदृष्ट्य ।
वस्तुतत्वं न जानान्ति जात्यन्धा इव भास्करम् ।।१८।।
हेमादिक यथा दक्षैर्गृह्यते घर्षणादिभि ।
तथा धर्मो गृहीतव्य सुपरीक्ष्य विवेकिभि ।।१९।।
यथा दुग्ध भवेन्नाम्ना श्वेत च स्वादुनान्तरम् ।
महिष्यर्कप्रभेदेन तथा धर्म जगुर्बुधा ।।२०।।
यो रागद्वेषनिर्मुक्त सर्वज्ञस्तेन भाषित ।
धर्म सत्यो हि नान्यैश्च रागद्वेषपरायणै ।।२१।।
स धर्मो ही द्विधा प्रोक्त सर्वज्ञेन जिनागमे ।
एकश्च श्रावकाधारो द्वितीयो मुनिगोचर ।।२२।।

**अर्थ** प्रश्न - हे भगवन् ! इस मनुष्य जन्म मे भी क्या सार है

जिससे कि यह मनुष्य जन्म सफल हो सके ? मै आपके श्रीमुख से ये सब बात सुनना चाहता हूॅ ।

**उत्तर** · इस मनुष्य जन्म मे भी श्रेष्ठ धर्म का प्राप्त होना ही परमसार है । यह धर्म ही ससाररूपी समुद्र से पार करने वाला है, सुख की परम निधि है और वर्ग मोक्ष के सुखो को देने वाला है ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है ।।१५-१६।।

**प्रश्न** हे देव । वह धर्म एक ही प्रकार का है या दो प्रकार का है सो मै कुछ नही जानता हूॅ मैने तो अन्य शास्त्रो मे अनेक प्रकार का धर्म सुना है ?

**उत्तर** जिस प्रकार जन्माध पुरुष सूर्य को नही जानते उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव पदार्थो के स्वरूप नही पहचानते । ऐसे तत्व हीन पुरुष पाप को ही धर्म कह देते है । जिस प्रकार चतुर पुरुष सुवर्णादिक को घिस देखकर लेते है उसी प्रकार ज्ञानी जीवो को परीक्षाकर धर्म को स्वीकार करना चाहिये ।।१७-१९।। जिस प्रकार भैस का दूध और आक का दूध दोनो ही नामसे दूध है, तथा दोनो ही सफेद है तथापि उनके स्वाद मे बडा भारी अन्तर है उसी प्रकार बुद्धिमान लोग धर्म का स्वरूप को भी अनेक प्रकार का बतलाते है ।।२०।। जो रागद्वेष रहित है वे सर्वज्ञ कहलाते है, उन सर्वज्ञ का कहा हुआ जो धर्म है वही धर्म कहलाता है । अन्य राग द्वेष से परिपूर्ण लोगो के द्वारा कहा हुआ धर्म कभी धर्म नही हो सकता ।।२१।। श्री सर्वज्ञदेव ने जैन शास्त्रो मे वह धर्म दो प्रकार का बतलाया है - एक श्रावको के पालन करने योग्य श्रावकाचार और दूसरा मुनियो के पालन करने योग्य यत्याचार ।।२२।।

पुरुषार्थानुशासन श्रावकाचार (परिक्षाकर धर्मका) श्री प गोविंद विरचित

सुदेवगुरूधर्मेषु भक्ति सद्दर्शन मतम् ।
कुदेवगुरूधर्मेषु सा मिथ्यादृष्टि रूच्यते ।।२१।।
योऽपरीक्ष्यैव देवादीस्तत्र भक्ति करोति ना ।
री री सुवर्णमूल्येन स गृहन्निव वञ्च्यते ।।२२।।

देवादीन्नाममात्रेण य साक्षादिति मन्यते ।
सञ्ज्ञयैवार्कदुग्ध स भुङ्क्ते गोदुग्धवज्जड·।।२३।।
देव स एव यो दोषैरष्टादशाभिरुज्झित ।
त्रैलोक्य यश्च सालोक व्यक्त ज्ञानेन पश्यति ।।२४।।

अर्थ सुदेव, सद्-गुरु और वीतराग धर्म मे भक्ति सम्यग्दर्शन माना गया है । जिसकी भक्ति कुदेव, कुगुरु और कुधर्म मे होती है वह पुरुष मिथ्यादृष्टि कहा जाता है ।।२१।। जो मनुष्य बिना परीक्षा किये ही देवादि की भक्ति करता है वह सुवर्ण के मूल्य से पीतल को ग्रहण करता हुआ ठगा जाता है ।।२२।। जो मनुष्य नाम-मात्र सुनकर देव-गुरु आदि को मानता है, वह मूर्ख दूध का नाममात्र सुनकर गोदुग्ध के स्थान पर आकडे का दूध पीता है ।।२३।। सच्चा देव वही है जो कि अठारह दोषो से रहित है और अपने ज्ञान से आलोक सहित त्रैलोक्य को व्यक्तरूप से साक्षात् देखता है ।।२४।।

लाटी सहिता मे द्वितीय सर्ग (सम्यग्दर्शन से कल्पना है)

तत प्रथमतोऽवश्यं भाव्य सम्यक्त्वधारिणा ।
अव्रतिनाणुव्रतिना मुनिनाथेन सर्वत ।।१२३।।

अर्थ पहिले अव्रती श्रावको को या अणुव्रतादि गृहस्थो के बारह व्रत धारण करनेवाले श्रावको को और महाव्रतादि धारण करनेवाले मुनियो को सबसे पहले सम्यग्दर्शन अवश्य धारण करना चाहिए ।।१२३।।

जिनचैत्यगृहादीना निर्माणे सावधानता ।
यथासम्पद्विधेयास्ति दूष्या नवधलेशत· ।।१६७।।

अर्थ भगवान अरहन्त देवकी प्रतिमा या जिनालय बनवाने मे भी सावधानी रखनी चाहिये । जिन प्रतिमा या जिनालय इस अच्छी रीति से बनवाना चाहिये । जिससे की थोडे से भी पापो से दूषित न होने पावे ।।१६७।।

चतुर्थ सर्ग

यथा चिकित्सक कश्चित्पराङ्गतवेदनाम् ।
परोपदेशवाक्याद्वा जानन्नानुभवत्यापि ।।२६।।

तथा सूत्रार्थवाक्यार्थात् जानन्नात्यात्मलक्षण ।
नास्वादयति मिथ्यात्वकर्मणी रसपाकत· ।।२७।।

**अर्थ :** जिस प्रकार कोई वैद्य दूसरो के उपदेश के वाक्यो से दूसरे के शरीर मे होने वाले रोगो के दु खो को जानता है परन्तु वह उन दु खो का अनुभव नही करता उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि पुरुष शास्त्रो मे कहे हुए वाक्यो के अनुसार आत्मा के स्वरूप को जानता है तथापि मिथ्यात्वकर्म के उदय से उसका आस्वादन या अनुभव नही कर सकता ।।२६-२७।।

**अहिंसा का लक्षण**

एवं सम्यक् परिज्ञाय श्रद्धाय श्रद्धाय श्रावकोत्तमै· ।
सम्यदर्थ मिहामुत्र कर्तव्यो व्रतसग्रह· ।।३६।।
सम्यग्दृशाऽथ मिथ्यात्वशालिनाऽप्यध शक्तित· ।
अभव्येनापि भव्येन कर्तव्य व्रतमुत्तमम ।।३७।।

**अर्थ** · इस प्रकार उत्तम श्रावको को अच्छी तरह समझकर और उस पर पूर्ण यथार्थ श्रद्धान रखकर इस लोक और परलोक की विभूतियो को प्राप्त करने के लिये व्रतो का सग्रह अवश्य करना चाहिये ।।३६।। इसलिए सम्यग्दृष्टि को या मिथ्यादृष्टि को, भव्य जीवो कोही अपनी शक्ति के अनुसार उत्तम व्रत अवश्य पालन करना चाहिये न कि अभव्य जीवो के लिए है ।।३७।।

तप्रसीदाधुन प्राज्ञ मद्वच श्रृणु कामन ।
सर्वा मयविनाशाय पिब पुण्यरसायनम् ।।५३।।
प्रोवाच कामनो नाम्ना श्रावक सर्वशास्त्रवित् ।
पुण्यहेतौ परिज्ञातौ तत्कर्तुमणि चोत्सहेत ।।५४।।

**अर्थ** इसलिए हे बुद्धिमान और विद्वान कामन ! तू अब प्रसन्न हो और मेरी बात सुन । तू अब ससारबन्धी समस्त रोगो को (ससार के दु खो को) दूर करने के लिए पुण्य रूपी रसायन पी ।।५३।। यह बात सुनकर समस्त शास्त्रो का जानने वाला कामन् नामका श्रावक कहने लगा

देवादीन्नाममात्रेण य साक्षादिति मन्यते ।
सञ्ज्ञयैवार्कदुग्ध स भुङ्क्ते गोदुग्धवज्जड ।।२३।।
देव स एव यो दोषैरष्टादशाभिरूज्झित ।
त्रैलोक्य यश्च सालोक व्यक्तं ज्ञानेन पश्यति ।।२४।।

अर्थ - सुदेव, सद्-गुरु और वीतराग धर्म मे भक्ति सम्यग्दर्शन माना गया है । जिसकी भक्ति कुदेव, कुगुरु और कुधर्म मे होती है वह पुरुष मिथ्यादृष्टि कहा जाता है ।।२१।। जो मनुष्य विना परीक्षा किये ही देवादि की भक्ति करता है वह सुवर्ण के मूल्य से पीतल को ग्रहण करता हुआ ठगा जाता है ।।२२।। जो मनुष्य नाम-मात्र सुनकर देव-गुरु आदि को मानता है, वह मूर्ख दूध का नाममात्र सुनकर गोदुग्ध के स्थान पर आकडे का दूध पीता है ।।२३।। सच्चा देव वही है जो कि अठारह दोषो से रहित है और अपने ज्ञान से आलोक सहित त्रैलोक्य को व्यक्तरूप से साक्षात् देखता है ।।२४।।

लाटी सहिता मे द्वितीय सर्ग (सम्यग्दर्शन से कल्पना है)

तत प्रथमतोऽवश्य भाव्य सम्यक्त्वधारिणा ।
अव्रतिनाणुव्रतिना मुनिनाथेन सर्वत ।।१२३।।

अर्थ पहिले अव्रती श्रावको को या अणुव्रतादि गृहस्थो के बारह व्रत धारण करनेवाले श्रावको को और महाव्रतादि धारण करनेवाले मुनियो को सबसे पहले सम्यग्दर्शन अवश्य धारण करना चाहिए ।।१२३।।

जिनचैत्यगृहादीना निर्माणे सावधानता ।
यथासम्पद्विधेयास्ति दूष्या नवधलेशत· ।।१६७।।

अर्थ भगवान अरहन्त देवकी प्रतिमा या जिनालय बनवाने मे भी सावधानी रखनी चाहिये । जिन प्रतिमा या जिनालय इस अच्छी रीति से बनवाना चाहिये । जिससे की थोडे से भी पापो से दूषित न होने पावे ।।१६७।।

चतुर्थ सर्ग

यथा चिकित्सक कश्चित्पराङ्गतवेदनाम् ।
परोपदेशवाक्याद्वा जानन्नानुभवत्यापि ।।२६।।

**तथा सूत्रार्थवाक्यार्थात् जानन्नात्यात्मलक्षण· ।**
**नास्वादयति मिथ्यात्वकर्मणी रसपाकत ।।२७।।**

**अर्थ** : जिस प्रकार कोई वैद्य दूसरो के उपदेश के वाक्यो से दूसरे के शरीर मे होने वाले रोगो के दु खो को जानता है परन्तु वह उन दु खो का अनुभव नही करता उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि पुरुष शास्त्रो मे कहे हुए वाक्यो के अनुसार आत्मा के स्वरूप को जानता है तथापि मिथ्यात्वकर्म के उदय से उसका आस्वादन या अनुभव नही कर सकता ।।२६-२७।।

**अहिंसा का लक्षण**

**एव सम्यक् परिज्ञाय श्रद्धाय श्रद्धाय श्रावकोत्तमै· ।**
**सम्यदर्थ मिहामुत्र कर्तव्यो व्रतसंग्रहः ।।३६।।**
**सम्यग्दृशाऽथ मिथ्यात्वशालिनाऽप्पध शक्तित· ।**
**अभव्येनापि भव्येन कर्तव्यं व्रतमुत्तमम ।।३७।।**

**अर्थ** · इस प्रकार उत्तम श्रावको को अच्छी तरह समझकर और उस पर पूर्ण यथार्थ श्रद्धान रखकर इस लोक और परलोक की विभूतियो को प्राप्त करने के लिये व्रतो का सग्रह अवश्य करना चाहिये ।।३६।। इसलिए सम्यग्दृष्टि को या मिथ्यादृष्टि को, भव्य जीवो कोही अपनी शक्ति के अनुसार उत्तम व्रत अवश्य पालन करना चाहिये न कि अभव्य जीवो के लिए है ।।३७।।

**तप्रसीदाधुन प्राज्ञ मद्वच श्रृणु कामन ।**
**सर्वा मयविनाशाय पिब पुण्यरसायनम् ।।५३।।**
**प्रोवाच कामनो नाम्ना श्रावकः सर्वशास्त्रवित् ।**
**पुण्यहेतौ परिज्ञातौ तत्कर्तुमणि चोत्सहेत ।।५४।।**

**अर्थ** · इसलिए हे बुद्धिमान और विद्वान कामन । तू अब प्रसन्न हो और मेरी बात सुन । तू अब ससारबन्धी समस्त रोगो को (ससार के दु खो को) दूर करने के लिए पुण्य रूपी रसायन पी ।।५३।। यह बात सुनकर समस्त शास्त्रो का जानने वाला कामन् नामका श्रावक कहने लगा

देवादीन्नाममात्रेण य साक्षादिति मन्यते ।
सञ्ज्ञयैवार्कदुग्धं स भुङ्क्ते गोदुग्धवज्जड ।।२३।।
देव स एव यो दोषैरष्टादशाभिरुज्झित· ।
त्रैलोक्य यश्च सालोक व्यक्त ज्ञानेन पश्यति ।।२४।।

**अर्थ** · सुदेव, सद्-गुरु और वीतराग धर्म मे भक्ति सम्यग्दर्शन माना गया है । जिसकी भक्ति कुदेव, कुगुरु और कुधर्म मे होती है वह पुरुष मिथ्यादृष्टि कहा जाता है ।।२१।। जो मनुष्य विना परीक्षा किये ही देवादि की भक्ति करता है वह सुवर्ण के मूल्य से पीतल को ग्रहण करता हुआ ठगा जाता है ।।२२।। जो मनुष्य नाम-मात्र सुनकर देव-गुरु आदि को मानता है, वह मूर्ख दूध का नाममात्र सुनकर गोदुग्ध के स्थान पर आकडे का दूध पीता है ।।२३।। सच्चा देव वही है जो कि अठारह दोषो से रहित है और अपने ज्ञान से आलोक सहित त्रैलोक्य को व्यक्तरूप से साक्षात् देखता है ।।२४।।

**लाटी सहिता मे द्वितीय सर्ग (सम्यग्दर्शन से कल्पना है)**

तत प्रथमतोऽवश्य भाव्य सम्यक्त्वधारिणा ।
अव्रतिनाणुव्रतिना मुनिनाथेन सर्वत ।।१२३।।

**अर्थ** पहिले अव्रती श्रावको को या अणुव्रतादि गृहस्थो के बारह व्रत धारण करनेवाले श्रावको को और महाव्रतादि धारण करनेवाले मुनियो को सबसे पहले सम्यग्दर्शन अवश्य धारण करना चाहिए ।।१२३।।

जिनचैत्यगृहादीना निर्माणे सावधानता ।
यथासम्पद्विधेयास्ति दूष्या नवधलेशत· ।।१६७।।

**अर्थ** · भगवान अरहन्त देवकी प्रतिमा या जिनालय बनवाने मे भी सावधानी रखनी चाहिये । जिन प्रतिमा या जिनालय इस अच्छी रीति से बनवाना चाहिये । जिससे की थोडे से भी पापो से दूषित न होने पावे ।।१६७।।

**चतुर्थ सर्ग**

यथा चिकित्सक कश्चित्पराङ्गतवेदनाम् ।
परोपदेशवाक्याद्वा जानन्नानुभवत्यापि ।।२६।।

तथा सूत्रार्थवाक्यार्थात् जानन्नात्यात्मलक्षण ।
नास्वादयति मिथ्यात्वकर्मणी रसपाकत· ।।२७।।

**अर्थ** : जिस प्रकार कोई वैद्य दूसरो के उपदेश के वाक्यो से दूसरे के शरीर मे होने वाले रोगो के दु खो को जानता है परन्तु वह उन दु खो का अनुभव नही करता उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि पुरुष शास्त्रो मे कहे हुए वाक्यो के अनुसार आत्मा के स्वरूप को जानता है तथापि मिथ्यात्वकर्म के उदय से उसका आस्वादन या अनुभव नही कर सकता ।।२६-२७।।

**अहिंसा का लक्षण**

एव सम्यक् परिज्ञाय श्रद्धाय श्रद्धाय श्रावकोत्तमै· ।
सम्यदर्थ मिहामुत्र कर्तव्यो व्रतसंग्रह ।।३६।।
सम्यग्दृशाऽथ मिथ्यात्वशालिनाऽप्यथ शक्तित· ।
अभव्येनापि भव्येन कर्तव्य व्रतमुत्तमम ।।३७।।

**अर्थ** · इस प्रकार उत्तम श्रावको को अच्छी तरह समझकर और उस पर पूर्ण यथार्थ श्रद्धान रखकर इस लोक और परलोक की विभूतियो को प्राप्त करने के लिये व्रतो का सग्रह अवश्य करना चाहिये ।।३६।। इसलिए सम्यग्दृष्टि को या मिथ्यादृष्टि को, भव्य जीवो कोही अपनी शक्ति के अनुसार उत्तम व्रत अवश्य पालन करना चाहिये न कि अभव्य जीवो के लिए है ।।३७।।

तप्रसीदाधुन प्राज्ञ मद्वच श्रृणु कामन ।
सर्वा मयविनाशाय पिब पुण्यरसायनम् ।।५३।।
प्रोवाच कामनो नाम्ना श्रावक सर्वशास्त्रवित् ।
पुण्यहेतौ परिज्ञातौ तत्कर्तुमणि चोत्सहेत ।।५४।।

**अर्थ** · इसलिए हे बुद्धिमान और विद्वान कामन ! तू अब प्रसन्न हो और मेरी बात सुन । तू अब ससारबन्धी समस्त रोगो को (ससार के दु खो को) दूर करने के लिए पुण्य रूपी रसायन पी ।।५३।। यह बात सुनकर समस्त शास्त्रो का जानने वाला कामन् नामका श्रावक कहने लगा

कि पुण्य के कारणो को ज्ञान लेने पर ही तो कोई भी श्रावक उसके करने के लिए तैयार हो जाओ ।।५४।।

श्रृणु श्रावक पुण्यस्य कारण वार्च्म साम्प्रतम ।
देशतो विरतिर्नाम्नाणुव्रत सर्वतो महत् ।।५५।।
ननु विरतिशब्दोऽपि साकाक्षो व्रतवाचक ।
केश्यश्च कियन्मात्रेभ्य कतिश्य सा वादा धन ।।५६।।

**अर्थ** इसके उत्तर मे ग्रन्थकार कहने लगे कि हे श्रावकोत्तम फामन ! सुन ! मै अव आगे पुण्य के कारणो को वतलाता हूँ। पॉचो पाप का एकदेश त्याग करना अणुव्रत है और (उन्ही पॉचो पापो का) पूर्ण रीति से त्याग करना महाव्रत है ।।५५।। यह सुनकर कामन कहने लगा कि व्रतो को कहनेवाला यह विशते शब्द सापेक्ष है। सो पहले तो यह वताना चाहिये कि उनका त्याग करना चाहिए, कितना याग करना चाहिए यह सब आज बतलाना चाहिए। हिसा, झूठ, चोरीका, अव्रह्म (कुशील) और परिग्रहकादि त्याग करने से पुण्य का वध होता है ।।५६।।

एकाक्षे तत्र चत्वारो द्वीन्द्रियेषु षडेवते ।
त्र्यक्षे सप्त चतुराक्षे विद्यन्तेऽष्टौ यथागमात् ।।६२।।
नवासज्ञिनि पञ्चाक्षे प्राणा सज्ञिनि ते देश ।
मत्वेति किल छद्मास्थै कर्तव्य प्राणरक्षण ।।६३।
प्रसङ्गादत्र दिग्मात्र वाच्य प्राणिनि कायकम् ।
तत्स्वरूप परिज्ञाय तद्रक्षा कर्तुमर्हति ।।६५।।

**अर्थ** इस ससारी जीव के लिए दश प्राण होते है। इन प्राणो मे से वृक्षादिक वा पृथ्वी कायादिक एकेन्द्रि जीवो के एक स्पर्शन इन्द्रियप्राण, दूसरा कायबल प्राण, तीसरा श्वासोच्छ्‌वास और आयुप्राण इस प्रकार चार प्राण होते है। लट, शख आदि दो इन्द्रिय जीवो के छह प्राण होते है। स्पर्शन, रसना दो इन्द्रिय प्राण, कायबल, वचनबल दो बल प्राण, आयु और श्वासोच्छ्‌वास ये छ प्राण है। चीटी, चीटा, खटमल आदि

तेइन्द्रिय जीवो के सात प्राण होते है । स्पर्शन, रसना, घ्राण, ये तीन इद्रियो काय बल वचनबल ये दो बल आयु और स्वासोच्छ्वास । भौरा मख्खी आदि चौ इद्रिय जीवो के आठ प्राण होते है । स्पर्शन, रसना, घ्रान, चक्षु ये चार चौइन्द्रि दो बल (काय बल और वचन बल) आयु और श्वासोच्छ्वास इस प्रकार आठ प्राण है । सर्प आदि असैनी पचेन्द्रिय जीवो के नौ प्राण होते है । स्पर्शन, रसना, घाण, चक्षु कर्ण ये पॉचो इन्द्रिया, कायबल, वचनबल, आयु और श्वासोच्छ्वास । मनुष्य, स्त्री, गाय, भैस, कबूतर, चिडिया आदि सैनी सभी पचेन्द्रिय जीवो के मन भी होते है, इसलिए उनके दशो प्राण होते है इस प्रकार इन जीवो के प्राण होते है । यह सब समझकर गृहस्थ लोगो को प्राणो की रक्षा करनी चाहिये ।।६२-६३।। यहा पर अहिसा वा जीवो की रक्षा का प्रकरण है इसलिए यह प्रसग पाकर सक्षेप से जीवो के भेद बतलाते है क्योकि जीवो के भेदो को और उनके स्वरूप को जानकर ही श्रावक लोग उन जीवो की रक्षा कर सकते है ।।६५।।

**सिद्धमेतावता नून त्याज्या हिंसादिका क्रिया ।**
**त्यक्ताया प्रमत्तयोगस्तत्रावश्य निवर्तते ।।११७।।**
**अत्यक्ताया तु हिंसादिक्रियाया द्रव्यरूपत ।**
**भाव प्रमत्तयोगोऽपि न कदाचिन्निवर्तते ।।११८।।**
**तत साधीयसी मैत्री श्रेयसे द्रव्यभावयो ।**
**न श्रेयान् कदाचिद्दै विरोधो वा मिथोऽनयो ।।११९।।**

**अर्थ** इससे सिद्ध होता है कि हिसादिक क्रियाओ का त्याग अवश्य कर देना चाहिये । हिसादिक क्रियाओ का त्याग कर देने से प्रमाद स्वरूप योगो का त्याग अपने आप हो जाता है ।।११७।। यदि द्रव्य रूप से हिसादिक क्रियाओ का त्याग नही किया जाएगा तो प्रमत्तयोग रूप जो परिणाम हैं उनका त्याग भी कभी नही हो सकेगा ।।११९।। इसलिए आत्मा का कल्याण करने के लिए द्रव्य और भाव की मैत्री होना ही अच्छा

हैं, अर्थात् द्रव्यहिसा और भावहिसा दोनो का साथ-साथ त्यागकर देना अच्छा है । इन दोनो का विरोध होना कभी भी कल्याणकारी नही हो सकता ।।११९।।

अत्र तात्पर्य मेवैतत्सर्वारम्भोण श्रूयताम् ।
त्रसकाय बधय स्यात्क्रिया त्याज्या हितवती ।।१२७।।
क्रियाया यत्र विख्यात स्त्रकायबधो महान् ।
तो ता क्रियामवश्य स सर्वामपि परित्यजेत् ।।१२८।।
अत्राप्या ऽऽ शङ्कते कश्चिदारमप्रज्ञापराघत ।
कुर्याद्विसा स्वकार्याय न कार्या स्थावरक्षति ।।१२९।।
अय तेषा विकल्पो य स्याद्वा कपोलकल्पनात् ।
अर्थाभासस्य भ्रातेर्वानैव सूत्रार्थ दर्शनात् ।।१३०।।
तद्यवा सिद्धसूत्रार्थे दर्शित पूर्वसूरिभि ।
तत्रार्थोऽय बिना कार्य न कार्या स्थावरक्षति ।।१३१।।
एवत्सूत्र-विशेषार्थेऽनवदत्ताव धानकै ।
नून तै स्खलित मोहात्सर्वसामान्य सग्रहात् ।।१३२।।

**अर्थ** इस सबके कहने का अभिप्राय यह है कि जिस आरम्भ से त्रस जीवो की हिसा होती हो ऐसी जितनी भी क्रियाएँ है उनका सब पकार से त्याग कर देना चाहिये । इस बात को खूब अच्छी तरह सुन लेना चाहिये, क्योकि ऐसी क्रियाओ से आत्मा का कभी कल्याण नही होता है । ऐसी त्रस जीवो की हिसा करने वाली क्रियाओ से यह आत्मा नरकादिक दुर्गतियो मे ही प्राप्त होता है ।।१२७।। जिस क्रिया के करने मे त्रसजीवो की महाहिसा होती हो ऐसी-२ समस्त क्रियाओ का त्याग अवश्य कर देना चाहिये ।।१२८।। यहाँ पर कोई पुरुष अपनी बुद्धि के दोष से कुतर्क करता हुआ शका करता है कि अपने कार्य के लिए तो त्रस जीवो की हिसा भी कर लेनी चाहिये परन्तु बिना प्रयोजन स्थावर जीवो का विघात भी नही करना चाहिये, परन्तु उसका यह विकल्प कपोल-कल्पित है । या तो उसे अर्थ का यथार्थ परिज्ञान नही हुआ है अथवा

भ्रमरूप बुद्धि होने से ऐसी कपोल कल्पना करता है, क्योकि उसका किया हुआ यह अर्थ सूत्र या शास्त्रो के अनुसार नही है। सूत्र या शास्त्रो के विरुद्ध है ।।१२९।। शका करने वाले ने जो शका करते हुए अहिसा अणुव्रत का अर्थ किया है वह विरुद्ध क्यो है, इसी बात को आगे दिखलाते है। पहले के आचार्यो ने अनादिसिद्ध शास्त्रो मे जो अर्थ बतलाया है वह यह है कि बिना प्रयोजन के स्थावर जीवो की हिसा भी नही करनी चाहिये। फिर भला त्रसजीवो की हिसा करने की तो बात ही क्या है। त्रस जीवो की हिसा का त्याग तो सर्वथा कर देना चाहिये। किसी विशेष प्रयोजन के वश होकर भी त्रसजीवो की हिसा कभी नही करनी चाहिए ।।१३१।। जो लोग इस सिद्धात के विशेष अर्थ को नही जानते है ऐसे लोग ही अपने मोहनीय कर्म के उदय से स्खलित हो जाते है अर्थात् मोहनीय कर्म के उदय से हिसा को ही अहिसा वा अहिसा अणुव्रत मान लेते है। ऐसे लोग समस्त कथन को सामान्य रूप से समझ लेते है और सबको सामान्य समझकर एक साथ सग्रह कर लेते है ।।१३२।।

**किञ्च कार्य बिना हिंसा न कुर्यादिति धीमता।**<br>
**दृष्टेस्तुर्यगुणस्थाने कृतार्थत्वाद्दृगात्मन ।।१३३।।**

**अर्थ** दूसरी समझने योग्य विशेष बात यह है कि सम्यग्दृष्टि पुरुष कृतार्थ होता है। यह अपने आत्मा के स्वरूप को अच्छी तरह जानता है अतएव वह चौथे गुणस्थान मे भी बिना प्रयोजन के हिसा नही करता। इस बात को सब बुद्धिमान अच्छी तरह जानते है ।।१३३।।

**अपि तत्रात्मनिन्दादि भावश्या वश्यभवत ।**<br>
**प्रमत्तयोगाद्य भावस्यं यथास्व सम्भवादपि ।।१४३।।**<br>
**अस्ति सम्यग्गतिस्तस्य साधु साधीयसी जिनै ।**<br>
**कार्या पुण्यफलाश्लाद्या क्रियामुत्रेह सौख्यदा ।।१५३।।**<br>
**यथाशक्ति महारम्भात्स्वल्पीकरण मुत्तम ।**<br>
**विलम्बो न क्षण कार्यो नात्र कार्या विचारणा ।।१५४।।**

हेतुरस्त्यत्र पापस्य कर्मण सवरोऽशत ।
न्यायागत प्रवाहश्च न केनापि निवार्यते ।।१५५।।
साधित फलवन्न्यायात्प्रमाणित जिनागमात् ।
युक्ते स्वानुभवाच्चापि कर्तव्य प्रकृत महत् ।।१५६।।

**अर्थ** दूसरी बात यह है कि खेती करने मे जो त्रसजीवो की हिसा होती है उसके करते समय वह अपनी निंदा अवश्य करता है अर्थात उस हिसा को वह त्याज्य अवश्य मानता है । इसी प्रकार जैसे वहा पर उसके प्रमाद का अभाव है, कषायरूप परिणामो का अभाव है उसी प्रकार खेती करने मे भी कषायरूप परिणामों का अभाव है खेती करने मे जो त्रसजीवो की हिसा होती है उसका वह कषाय पूर्वक नही करता तथा उनकी रक्षा करने मे भी वह सावधान रहता है अतएव अणुव्रती के लिए यदि स्थावर (एकेद्रि) जीवो के आश्रय रहनेवाले त्रस (दो इन्द्रियादि) जीवो की हिसा को निर्दोष कहा जायगा तो खेती करने मे होने वाली त्रसजीवो की हिसा को भी निर्दोष कहना पडेगा ।।१४३।। इसका यहॉ पर शकाकार कहता है कि जो कोई पुरुष खेती आदि के महारम्भो को पूर्ण रीति से त्याग नही सकता परन्तु उनको कम करना चाहता है उसके लिए क्या उपाय किया जायगा ।।१५२।। इसका उत्तर यह हैं कि खेती आदि के महारम्भो को कम करने वाले लोगो के लिए भी भगवान जिनेन्द्रदेव ने बहुत ही अच्छी गति बतलाई है । भगवान जिनेन्द्र-देव ने कहा है कि जो क्रियाऍ पुण्यरूप फलको उत्पन्न करनेवाली है और इसीलिए प्रशसनीय और इस लोक तथा पर लोक दोनो लोको मे सुख देने वाली है ऐसी क्रियाऍ गृहस्थो को सदा करते रहना चाहिये ।।१५३।। अपनी शक्ति के अनुसार खेती आदि के महारम्भो को कम करना उतम कार्य है । ऐसे कार्यो को करने के लिए देर नही करनी चाहिये ।।१५४।। ऐसे उत्तम कार्यो को अत्यन्त शीघ्र और बिना किसी सोच विचार के करने का कारण भी यह है कि खेती आदि के महा आरम्भ जितने कम कर दिये जायेगे उतने ही पाप कर्मो के अशो का सवर हो जाएगा । यह न्याय से प्राप्त हुआ प्रवाह सदासे चला आ रहा

है । वह किसी से निवारण नही हो सकता ।।१५५।। इस प्रकार न्याय से सिद्ध होता है कि खेती आदि महारम्भो का कम करना भी सफल वा पुण्यफल को देनेवाला है । यह बात जैन शास्त्रो से भी सिद्ध होती है युक्ति से भी सिद्ध होती है, और अनुभव से भी सिद्ध होती है । अतएव खेती आदि के महारम्भो को कम करने रूप जो उत्तम कार्य है वह श्रावको को अवश्य करना चाहिये ।।१५६।।

**किंतु चैकाक्षजीवेषु भूजलादिषु पञ्चसु ।**
**अहिंसाव्रत शुद्धयर्थ कर्तव्यो यत्नो महान् ।।१७५।।**
**त्रसहिंसाक्रियात्यागी महारम्भ परित्यजेत् ।**
**नारकाणा गतेर्बीज नून तद्दुःख कारणम् ।।१७६।।**

**अर्थ** अतएव अहिसा अणुव्रत को शुद्ध बनाये रखने के लिये पृथ्वीकायिक, जलकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक अग्निकायिक इन पॉचो प्रकार के एकेन्द्रिय स्थावर जीवो की रक्षा करने में भी सबसे अधिक प्रयत्न करना चाहिये ।।१७५।। जिनमे त्रस जीवो की हिंसा होती है ऐसी क्रियाओ को त्याग करने वाले श्रावक को खेती आदि के समस्त महा आरभो का त्याग कर देना चाहिए क्योकि महा आरम्भ करना नरक गति का कारण है तथा निश्चय से नरको के महादुःख देने वाला है ।।१७६।।

इत्याद्यालम्बनाश्चिते भावयेद् भावशुद्धये ।
न भावयेत्कदाचि द्वै त्रस हिसा क्रिया प्रति ।।२०२।।

सकीर्ण या छोटे स्थान मे भी कभी भोजन नही करना चाहिये, इसी प्रकार जहाँ पर यज्ञ आदि मे गिरनेवाले, मारे जाने वाले जीवदृष्टि गोचर हो रह हो वहाँ पर भी भोजन अच्छे कार्य वगैरह नही करना चाहिये ।।२३८।।

मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि का वर्णन उमास्वामि श्रावकाचार

वरप्राप्त्यर्थमाशावान प्राणिघातोघाता खला ।
रागद्वेषाकुला सर्वा क्रूरा - हेया जिनागमे ।
यास्तासा य करोत्येवमुपास्ति देवमूढ भाक् ।।९१।।
ग्रहणस्नानसूर्यार्घा श्वास्त्रद्विप सपर्यणम् ।
जाह्नवी सिन्धु सस्नान सक्राता दानमेव च ।।८२।।
गोमूत्र वन्दन पृष्ठवन्दन वट पूजनम् ।
देहलीमृतपिण्डादिदान लोकस्य मूढता ।।९३।।
सग्रन्थारम्भयुक्ताश्च मत्रौषधिविराजिता
पाखण्डिनस्तद्विनय शुश्रूषा तद्विमूढता ।।९४।।
मिथ्यादृष्टिर्ज्ञान चरणममीभि समाहित पुरुष ।
दर्शनकल्पद्रुमवनवह्निरिवेद स्वनायतनमुद्धम् ।।८६।।
इत्यादिदूषणैर्मुक्त मुक्ति प्रीति निबन्धनम् ।
सम्यक्त्व सम्यगाराध्य ससार भयभीरुभि ।।८७।।
सम्यक्त्व सयुत प्राणी मिथ्यावासेषु जायते ।
द्वादशेषु न तिर्यक्षु नारकेषु नपुसके ।।८८।।
स्त्रीत्वे च दु कृताल्पायुर्दारि द्रादिकवर्जिते ।
भवनत्रिषु बटभुषू तद्देवीषु न जायते ।।८९।।

**अर्थ** जो प्राणियो की हिसा करने मे उद्यत है, दोषयुक्त है, राग-द्वेष से आकुलित है और क्रूर है, ऐसे सभी देवी-देवता जिनागम मे हेय कहे गये है, जो पुरुष इच्छित वर पाने के लिए आशावान होकर उनकी उपासना आराधना करता है, वह देवमूढता धारक है ।।८१।। सूर्य-चद्र के ग्रहण के समय स्नान करना, सुर्य को अर्ध चढाना, घोडा, शस्त्र और हाथी कि पूजा करना गगा और सिन्धु मे स्नान करना, सक्रान्ति मे दान देना,

गोमूत्र का वन्दन करना, गाय की पीठ की वन्दना करना, वट वृक्ष पीपल आदि का पूजना, देहली का पूजना और मृतपुरुष को पिण्डदान देना आदि कार्य लोकमूढता कहलाते है ।।८२-८३ ।। जो परिग्रह और आरम्भ से युक्त है, मन्त्र और औषधि आदि से विराजमान है, ऐसे पाखण्डी जनो की विनय करना उनके सुश्रुषा करना सो पाखडी मूढता है ।।८४।। मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र और इन तीनो के धारक पुरुष ये छ अनायन कहलाते है । ये सम्यग्दर्शनरूप कल्पवृक्षो को वन को जलाने के लिए प्रबल दावाग्नि के समान है ।।८६।। ससार के भय से डरने वाले पुरुषो को ऊपर कहे गये दूषणोसे रहित और मुक्ति रमाकी प्रीति का कारण भूत सम्यकत्व का सम्यक प्रकार से आराधना करनी चाहिए ।।८७।। सम्यक्त्व से सयुक्त प्राणी बारह मिथ्यावासो मे नही उत्पन्न होता है । वे बारह मिथ्यावास इस प्रकार है - पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, द्विन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असज्ञी, पचेन्द्रिय, कुभोगभूमि और म्लेच्छखण्ड तथा तिर्थच पचेद्रियो मे नारकियो मे और नपुसको मे उत्पन्न नही होता है और वह सम्यक्त्वी जीव स्त्री पर्याय मे, खोटे कुलमे, अल्प आयुवाले मे, दरिद्रियो मे, निन्दनीय वशमे, भवनत्रिक देवो मे उनकी देवियो मे तथा प्रथम नरक को छोडकर शेष छ नरभूमियोमे नही उत्पन्न होता है ।।८८-८९।।

### गुरु सेवा का महत्व

गुर विना न कोऽप्यास्ति भव्याना भवतारक ।
मोक्षमार्ग प्रणेता च से त्योऽत श्रीगुरु· सताम ।।१९३।।
गुरुणा गुणयुक्तानो विघेयो महान ।
मनोवचनकार्येश्च कृतकारितसम्मतै ।।१९४।।
विनयो विदुषा कार्यश्चतुर्धा धर्मसद्धिया ।
विनयेन गुरोश्श्चित रञ्जतेऽहर्निश ननु ।।१९५।।
सुर सेवा प्रकुर्वान्ति दासत्व रिपवोऽखिला· ।
सिध्यन्ति विविधा विद्या विनयादेव धीमता ।।१९६।।

गुरूपास्तिमथोऽप्युक्त्वा वक्ष्ये स्वाध्यायसयमौ ।
तपो दानच भव्याना सुखसिद्धर्थमीप्सित ।।१९७।।
स्वाध्याय पञ्चधा प्रोत्की लोकाना ज्ञानदायक ।
वाचना पृच्छनाऽऽम्नयोऽनुपेक्षा धर्मदेशना ।।१९८।।
इति वाक्यार्थ सन्दर्भहीना वाचना ।
सन्देह हानये व्येक्ता गुरूपाश्वेय हि पृच्छना ।।१९९।।
आम्नाय शुद्ध सघोषोऽनुप्रेक्षाऽप्यनुचिन्त न ।
धर्मोपदेश इत्येत्व स्वाध्याय पञ्चधा भवेत ।।२२०।।

**अर्थ** गूरु के विना भव्य जीवो को भवसे पार उतारने वाला और कोई भी नही है, और न गुरु के विना अन्य कोई मोक्षमार्ग का प्रणेता ही हो सकता है । अत सज्जनो को श्रीगुरु की सेवा करनी चाहिये ।।१९३।। गुणो से सयुक्त गुरुओ का मन, वचन काय से और कृतकारित और अनुमोदन से महान विनय करनी चाहिये ।।१९४।। धर्म मे सद्‌वुद्धि रखने वाले विद्वान को दर्शन, ज्ञान, चरित्र और उपचार रूप चार प्रकार की विनय करनी चाहिये । विनय के द्वारा निश्चय से गुरू का चित्त रात-दिन प्रसन्न रहता है ।।१९५।। विनय से देव सेवा करते है, सर्वशत्रु दासपना करते है और विनय से ही वुद्धिमानो को नाना प्रकार की विद्याएँ सिद्ध होती है ।।१९६।। इस प्रकार गुरुपास्ति को कहकर अब मे भव्यजनो के अभिष्ट सुख कि सिद्धि के लिए स्वाध्याय सयम तप और दान का वर्णन करूँगा ।।१९७।। लोगो को ज्ञान का देनेवाला स्वाध्याय पॉच प्रकार का कहा गया है - वाचना, पृच्छना, आम्नाय, अनुप्रेक्षा और धर्मोपदेश ।।१९८।। आगम के शब्द और अर्थ का दूसरो को निर्दोष प्रतिपादन करना वाचना स्वाध्याय है । अत वाक्य के अर्थ सन्दर्भ से हीन वाचना कभी नही करना चाहिये । अपने सन्देह को दूर करने के लिए गुरु के पास मे प्रश्न पूछकर स्पष्ट अर्थ-बोध करना पृच्छना स्वाध्याय है ग्रथ का शुद्ध उच्चारन करना आम्नाय स्वाध्याय है । ज्ञान तत्व के स्वरूप

का बार-बार चिन्तन करना अनुप्रेक्षा स्वाध्याय है । भव्यो के लिए धर्म का उपदेश करना धर्मोपदेश नामका स्वाध्याय है । इस प्रकार स्वाध्याय पाच प्रकार का होता है ।।२००।।

## सम्यक्त्व किस किसको होता है ?

सम्यक्त्वं त्रितयश्वभ्रे प्रथमेऽन्येषु हे जना ।
किंचित्र्यूना स्थिति प्रोक्ता परा सम्यकत्व वेदिभि ।।३१।।
सम्यक्त्वद्वितय मुक्त्वा क्षायिक मुक्तिदायकम् ।
तिर्थड्नरामराणा च सम्यक्त्वत्रयमुक्तमम् ।। (षट्पदी श्लोक)
देवाड् गनातिरश्चीनां क्षायिकाच्चापर द्वयम् ।।३२।।
सम्यक्त्वद्वितय प्रोक्त सराग सुखकारणम् ।
वीतराग पुन सम्य्क् क्षायिक भव्वारणम् ।।३३।।

**अर्थ** हे भव्यजनो, प्रथम नरक मे तीनो ही सम्यक्त्व होते है, और अन्य छ नरको मे मुक्ति-दायक क्षायिक को छोडकर शेष दोनो सम्यक्त्व होते है । पुरुषवेदी तिर्यच, मनुष्य और देवोके तीनो ही उत्तम सम्यकत्व होते है । देवाड्गनाओ के और तिर्यचनियो के क्षयिकसम्यक्त्वके सिवाय शेष दोनो सम्यक्त्व होते है ।।३१-३२।। उपशम और मिश्र ये दो सम्यक्त्व सराग और सुख के कारण कहे गए है । किन्तु क्षायिक सम्यक्त्व वीतराग और ससार का निवारण करने वाला है ।।३३।।

यथेष्ट भोजना भोगलालसा कामपीडिता ।
मिथ्योपदेशदातारो न ते स्युर्गुरव सताम् ।।१८।।
समगोऽपि हि देवश्चेद् गुरूरब्रम्हचार्यपि ।
कृपाहीनोऽपि धर्मश्चेत्कष्ट नष्ट नष्ट ही हा जगत् ।।१९।।
एतेषु निश्चयो यस्य विद्यते स पुमानिह ।
सम्यगदृष्टिरिति ज्ञेयो मिथ्यादृष्टिश्च सशयी ।।२०।।
जीवाजीवादिवत्वाना श्रद्धान दर्शन मतम् ।
निश्चयात्स्वे स्वरूपे वाऽवस्थान मलवर्जित ।।२१।।

पञ्चाक्ष पूर्णविर्याप्ते लब्धकालावलब्धिके ।
निसर्गाज्जायते भव्येऽधिगमाद्वा सुदर्शनम् ।।२२।।
आसन्नभव्यता कर्महानि सञ्ज्ञित्व शुद्धपरिणामा ।
सम्यक्त्वहेतुरन्तर्बाह्य उपदेशकादिश्च ।।२३।।
त्रयो भेदास्तस्य चोक्ता आज्ञाद्या दशधा मता ।
प्रागेवोपशमो मिश्र क्षायिक च तत परम् ।।२४।।
चतुर्थतो गुणेषु स्यात्क्षायिक निखिलेष्वपि ।
मिश्राख्य सप्तम यावत्सम्यक्त्व मुक्तिकारण ।।२५।।
तुर्यादारभ्य भव्यात्मवाछतार्थप्रदायक ।
उपशान्तकषायन्त सम्यक्तव प्रथम मतम ।।२६।।
साध्यसाधनभेदेन द्विधा सम्यक्त्वमीरितम् ।
साधन द्वितय साध्य क्षायिक मुक्तिदायक ।।२७।।
पुद्गलार्धपरावर्तादूर्ध्व मोक्ष प्रपित्सुना ।
भव्येन लभ्यते पूर्व प्रशमाख्य सुदर्शन ।।२८।।
प्रथमस्य स्थिति प्रोक्ताऽजघन्याऽन्तर्मुहूर्ति की ।
वेदकस्य स्थिति श्रेष्ठाषट्षष्टिमितसागरा ।।२९।।
अन्तर्मुहूर्तमात्राऽन्या प्रोक्ता क्षायिक सम्भवा ।
पूर्वकोटि द्वयोपेतास्त्रयस्त्रिशल्पयोधय ।।३०।।

**अर्थ** क्षेत्रादि दस वाह्यपरिग्रह और मिथ्यात्व रागादि चौदह अन्तरग परिग्रह से बाह्या अभ्यन्तर से सयुक्त है, यथेष्ट भोजन करते है, भोगो की अभिलाषावाले है, कामदेव से पीडित है और मिथ्यामार्ग के उपदेश देते है वे पुरुष सज्जनो के गुरु नही हो सकते, अर्थात् ऐसे पुरुष सद्गुरु नही किन्तु कुगुरु है ।।१८।। यदि राग-द्वेष युक्त पुरुष भी देव माना जाय, अब्रह्मचार पुरुष भी गुरु कहा जाए और दया हीन भी धर्म माना जाए, तब यह अति कष्ट की बात है कि यह सारा जगत् नष्ट ही हो जायगा ।।१९।। इसलिए जिसे वीतराग देवो मे, निर्गन्थ गुरु मे और दयामय धर्म मे निश्चिय है, वह सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये तथा जिसके

सरागी देव मे, सग्रन्थ और अब्रम्हचारी गुरु मे एव हिसामय, दयाहीन धर्म मे निश्चय है, या सत्यार्थ देव, गुरु, धर्म मे निश्चय नही है, सशय है, वह मिथ्यादृष्टि जानना चाहिये ।।२०।। जीव, अजीव आदि सात सत्वो का निर्मल श्रद्धान करुणा व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा गया है । और निश्चय से अपने आत्मा स्वरूप मे अवस्थान होना सम्यगदर्शन है ।।२१।। पचेन्द्रिय, पर्याप्तक, सज्ञी भव्य जीवो मे काललब्धि आदि के प्राप्त होने पर यह सम्यग्दर्शन निसर्ग से अथवा अधिगम से उत्पन्न होता है ।।२२।। निकट भव्यता, कर्मो की हानि, सज्ञीपना और विशुद्ध परिणाम ये सम्यग्दर्शन के अन्तरग कारण है, और उपदेश आदिक बाह्य का लक्षण है ।।२३।। उस सम्यग्दर्शन के उपशमसम्यक्त्व आदि तीन भेद कहे गये है और आज्ञासम्यक्त्व आदि दशभेद भी माने गये है । इनमे से सबसे पहले उपशमसम्यक्त्व होता है, तत्पश्चात् मिश्र अर्थात् क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है और तदनन्तर क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न होता है ।।२४।। यह क्षायिक सम्यक्त्व चौथे गुणस्थान से लेकर ऊपर के सब गुणस्थानो तक पाया जाता है। यह भी मुक्ति का कारण है। उपशमसम्यकत्व चौथेसे लेकर उपशान्त कषाय नाम के ग्यारहवे गुणस्थान तक पाया जाता है । और यह भव्य आत्माओ को वाछित अर्थो का देने वाला माना गया है ।।२६।। साध्य और साधन के भेदसे सम्यक्त्व दो प्रकार का कहा गया है । उपशम और मिश्र ये दो सम्यक्त्व तो साधन माने गये है और मुक्ति को साक्षात् देनेवाला क्षायिक सम्यक्त्व तो साधन माने गये है ।।२७।। अर्धपुदगल परिवर्तन के अनन्तर नियम से मोक्ष को प्राप्त होने की इच्छा रखने वाले भव्यजीव के द्वारा पहले प्रशम नाम का सुदर्शन अर्थात् उपशम सम्यकत्व प्राप्त किया जाता है ।।२८।। प्रथम जो उपशम सम्यक्त्व है उसकी उत्कृष्ट (और जधन्य) स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण कहा गया है । वेदक अर्थात् मिश्रसम्यक्त्व की उत्कृष्ट स्थिति ६६ सागर प्रमाण कही गई है, तथा उसकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहुर्त प्रमाण होती है क्षायिकसम्यक्त्वकी जघन्य स्थित अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होती है और उत्कृष्ट स्थिति कुछ कम दो

पूर्वकोटि वर्ष से अधिक तैतीस सागर प्रमाण सम्यक्त्व के वेत्ताओ नें कही है ।।२९-३०।।

गुरु की भक्ति से मुक्ति

इत्येव जिन पूजा च वर्णयित्वायुगे पदे ।
गुरुपास्ति प्रवक्ष्येऽ ह सर्व सौख्यस्य कारिणीम् ।।१८२।।
गुरुसेवा विधातव्या मनोवाच्छितासिद्धये ।
सशयद्वान्तनाशार्थमिहामुत्र सुखाय च ।।१८३।।
उत्तमा मध्यमा ये च जघन्या आपि मानवा ।
गुरु विना न तेऽपि स्पु र्गुरू सेव्योमहानत ।।१८४।।
शुभाशुभमहाकर्मलिता मनुज सदा ।
गुरुपदिष्टाचारेण जायते गुरवो गुणै ।।१८५।।

**अर्थ** इस प्रकार श्रावक के दूसरे पद मे जिन पूजा का वर्णन करेगे, अव मै सर्व सुख को करनेवाली गुरुपास्ती का वर्णन करूगा ।।१८२।। श्रावकोको मनोवाछित कार्य की सिद्धि के लिए, इस लोक मे सशयरूप अधकार के नाशके लिए और परलोकमे सुख पानेके लिए गुरुओंकी सेवा करनी चाहिए ।।१८३।। ससार मे जितने भी उत्तम, मध्यम और जघन्य मनुष्य है वे भी गुरु के विना नही रहते है अत श्रावक को महान गुरु की सेवा करनी ही चाहिए ।।१८४।। मनुष्य सदा ही शुभ और अशुभ महाकर्म करते रहते है, अत वे गुरु के द्वारा उपदिष्ट नाशके लिए और परलोकमे सुख पानेके लिए गुरुओकी सेवा आचरण से शुद्ध होकर गुणो से गुरु बन जाते है ।।१८५।।

खोटे शास्त्र मानू नही

कुत्सितागमम्भ्रान्ता कुतर्क हतचेतस ।
वदन्ति वादिन केचिन्नाभक्ष्यामिह हिंसा किंचन ।।२०५।।

**अर्थ** खोटे आगमो (शास्त्रो) के अभ्यास से जिनकी बुद्धि भ्रम मे पड रही है कुतर्क से जिनका चित्त विक्षिप्त हो रहा है, ऐसे कितने ही

अज्ञानवादी लोग कहते है कि इस लोक मे कितने ही लोग हिसा आदि यज्ञ यागाद मे जीवो की समूह को हवन करने को धर्म मानते है और कोई भी वस्तु भक्ष - अभक्ष्य का समझे बिना अभक्ष्य नही कहते है यह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है ।।२७५।।

उपवास करने वाला गुरुचरणो मे त्याग करना ।

कृत्वोपवासघस्रस्य पूर्वस्मिन् दिवसे सुधी ।
मध्याह्ने भोजन शुद्ध यायाच्छ्रीमाज्जिनालय ।।४२४।।
तत्र गत्वा जिनं नत्वा गुरूपान्ते विशुद्धधी ।
आददीत हृषीकार्थ विमुख प्रोषध व्रतम् ।।४२५।।
विविक्त वसतिं श्रित्वा हित्वा सावधकर्मतत् ।
विमुक्त विषयास्तिष्ठेन्मनोवाककाय गुप्तिभि ।।४२६।।

**अर्थ** · उपवास करने के पूर्व दिन ज्ञानी पुरुष मध्याह्नकाल मे शुद्ध भोजन करके श्री जिनालय को जावे ।। ४२४।। वहा जाकर श्री जिनेन्द्रदेव को नमस्कार कर गुरु के समीप विशुद्ध बुद्धि वाला श्रावक इन्द्रियो के विषयो से विमुख होकर प्रोषधव्रत को ग्रहण करे ।।४२५।। पुन एकान्त स्थान का आश्रय लेकर, सावद्यकर्म को छोडकर और सर्व विषयोसे विमुक्त होकर मन, वचन, को वशमे रखके रहते है ।।४२६।।

स्नानगन्धवपुर्भूषानस्यनारी निषेवणम् ।
सर्वसावधकर्माणि प्रोषधस्थो विवर्जयेत् ।।४३१।।
यो निरारम्भमप्थे कमुधवा समयाश्रेयेत् ।
बहु कर्मक्षयं कृत्वा सोऽक्षय सुखमश्नुते ।।४३२।।

**अर्थ** प्रोषधोपवास मे स्थित श्रावक स्नान, गन्ध-विलेपन, शरीर श्रृगार, स्त्री-सेवन और सर्व सावध कर्मो का परित्याग करे ।।४३१।। जो मनुष्य सर्व आरम्भ से रहित होकर एक भी उपवास का आश्रय करता हैं, वह बहुत कर्मो का क्षय करके सुख को प्राप्त होता है ।।४३२।।

## व्रतोद्योतन - श्रावकाचार

सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की बात नहीं सुनता वह जैन नहीं

न श्रुत्ता यैर्व्रताचार विचार नियम स्थिति ।
जिन श्रुतिगुरूत्पन्नास्ते स्थिता नामधारका ।।२४५।।
ये गृहीत्वा व्रतादीना सयमनियमास्थितिम् ।
पालयान्तिन भोगान्धास्तेः स्थिता स्थापनाधरा ।।२४६।।
श्रावकाचार सयुक्ता आगमज्ञान गुणार्थिन ।
दानपूजापरा ये स्युस्ते स्थिता द्रव्यधारका ।।२४७।।
भावतो भावसम्पन्ना द्रव्यतो द्रव्यतत्परा ।
येऽभीष्टा द्रव्यभावाभ्या ते स्थिता भावधारका ।।२४८।।
एव चतुर्विधा· प्रोक्ता श्रावका जिनशासने ।
द्वयोन दृश्यते सिद्धिर्द्वयो सम्यक्त्वकारणम् ।।२४९।।
उपासकाश्च सद्-दृष्टि श्रेष्ठी साधुर्गृही वणिक् ।
दाताच श्रावको जैनो भव्योभावक उच्चते ।।२५०।।
धर्मोपासनया युक्तो रत्नत्रय समन्वित ।
कथोपाख्यानसद्बुद्धि शत्रु-मित्रसमप्रभा ।।२५१।।
द्वादशव्रत सम्पूर्णो निश्चयव्यवहार भाक् ।
जिनमार्ग समद्धर्त्ता जैनशास्त्र विचक्षण ।।२५२।।
अर्हद्धेवं नमस्कृत्य नान्यदेवे नमस्कृति ।
सघवात्सल्यसयुक्तो भावनाङ्नप्रभावक· ।।२५३।।
नाम्नक दशाना यो नामैकमपि पालयेत ।
उत्तम श्रावको भूत्वा लभते सोऽव्यय पद ।।२५४।।

**अर्थ** जिन पुरुषो ने व्रतो का आचार - विचार और नियम की स्थित जिनशास्त्रो से और गुरुजनो के मुखसे नही सुनी है वे नाम धारक श्रावक है ।।२४५।। जो व्रतादिको के सयम और नियम की स्थिति को ग्रहण करके पीछे भोगाध होकर उसका पालन नही करते है वे स्थापनाधारी

श्रावक है ।।२४६।। जो श्रावक के आचरण से सयुक्त है, आगम के ज्ञाता है, गुणो के इच्छुक है और दान-पूजन मे तत्पर है, वे द्रव्यनिक्षेप धारी श्रावक है ।।२४७।। जो भावकी अपेक्षा भावसम्पन्न है और द्रव्य की अपेक्षा द्रव्य मे तत्पर है, जो द्रव्य और भाव से अभीष्ट है, अर्थात् दोनो से सम्पन्न है, वे भाव-धारक श्रावक है ।।२४८।। इस प्रकार जिनशासन मे चार प्रकार के श्रावक कहे गए है। इनमे से आदि के दो श्रावको के सिद्धि नही दिखाई देती है और अन्तिम दो श्रावको की सिद्धि सम्यक्त्वकारणक है ।।२४९।। श्रावक को उपासक, सद् दृष्टि, श्रेष्ठ साधु, गृही, दणिक, दाता, जैन, भव्य, और श्रावक भी कहते है ।।२५०।। जो धर्म की उपासना से युक्त है, रत्नत्रय धर्म से समन्वित है कथा और उपाख्यान सुनने से सद्-बुद्धिवाला है शत्रु और मित्रमे समान बुद्धि रखता है श्रावक के सम्पूर्ण बारह व्रतो को पालन करता है, निश्चय और व्यवहार का धारक या ज्ञाता है, जिनमार्ग का उद्धारक है, जैनशास्त्रो मे कुशल है, अर्हन्तदेव को नमस्कार करने के सिवाय अन्य देव को नमस्कार नही करता है सघ के वात्सल्यभाव से सयुक्त है सम्यक्त्व के प्रभावना अग का प्रभावक है तथा जो श्रावक के ग्यारह प्रतिभारूप नामो मे एक भी नामका पालन करता है, वह उत्तम श्रावक हो करके अविनाशी पद को प्राप्त करता है ।।२५१-२५४।।

अधर्म का स्वरूप पाप है

पापेन गेह बहु छिद्रजर्जर पापेन रोगालापित कलेवरम् ।
पापेन पुत्राश्चिरजन्मवैरिणो भवन्ति पापेन तथा कुटुबिन ।।३४८।।
नित्य दु ख समाश्रयो न च सुख चित्तक्षया नेन्दिराभार्या दोषशतान्विता
कटुकवाग्वेश्येव दुश्चारिणी पुत्री त्यक्त परारिपोपरिभवो दैन्यच दौर्भाग्यता
दारिद्र्य मलसचयोव्यसनिता सपद्यते पापत ।।३४९।।
दौर्जन्य सह सज्जनेन कलहो विद्वज्जनै स्यात्सम ।
वस्त्र जीर्णमल कलङ्क मलिन चित कुविद्यामयम् ।।३५०।।

नो हर्षो न च भोजन न च गुणो भोगो न शय्या न च ।
स्नान नो न कलान तोषवचन
पुसो ही पापम स्थित कीर्ति नमि गुणा यश परिजना लक्ष्मीर्धन
धान्यता शास्त्र सज्जनता परोपकरण देवार्चन सत्क्रियः ।
प्रीतिर्भोग सुख गुरूप्रणमन दान कृपा सयम एतेतत्रन ।
सम्भवंति रचिता पापेन यत्र स्थिति ।।३५१।।
दुष्टत्वाद्विबुधापवाद वचनै स्त्रीबालगोहिंसनैरून्यन्यास
विलापनैरशमनैर्घूतादिससेवनै दोषाणूमति जल्पनै परिजनै
सत्यव्रत ध्वेस नैर्मन्त्रोच्चाटन कल्पनैरनादुन पाप हि सजायते।।३५२।।
यद्यद्वस्तु विरुद्ध तत्तत्सर्वच पापतो भवति ।
इति विज्ञाय जिनेंद्र प्राक्तो धर्मोऽत्र ससेव्य ।।३५३।।
धर्मो न मिथ्यात्व समुद्‌भवेन धर्मो न पञ्चोम्बर भक्षणेन
धर्मो न तीर्थाम्बुधि गाहनेन धर्मोन पञ्चाग्निसुसाधनेन ।।३५४।।
धर्मोन गोपश्चिमभागनत्या धर्मो मकारश्रयतो न भाति ।
न सागरस्नानजलेन धर्मोधर्मो न दृष्टो मधु पान तोऽत्रो ।।३५५।।
धर्मो न मोहक्रियया हुताशाद् धर्मो न वीरस्य कथाप्रबधे ।
कुपात्रदानेन कदा न धर्मो धर्मो न रात्रौ कृतभोजनेन ।।३५६।।

**अर्थ** पापसे अनेक छिद्रोसे जर्जरित गृह प्राप्त होता है, पापसे रोगग्रसित शरीर मिलता है, पापसे चिरकाल तक वैर रखने वाले पुत्र होते है और पापसे कुटुम्बी वैरी होते है ।।३४८।। पाप के उदय से सदा ही दु ख आते रहते है, क्षणभर भी सुख नही मिलता, चित्त का क्षय हो जाता है, लक्ष्मी नही मिलती है, स्त्री सैकडो दोषो से युक्त, कटुभाषिणी, और वेश्या के समान दुराचारिणी मिलती है, पुत्री पति को छोडनेवाली पैदा होती है, दीनता, दुर्भाग्यता, दरिद्रता व्यसनिता और मलमूत्र की अधिकता भी पाप से ही होती है ।।३४९।। पाप की स्थिति मे दुर्जनता, सज्जनो के साथ कलह, विद्वज्जनो के साथ विद्रोह, जीर्णमलिन वस्त्र और कुविद्यायुक्त चित्त प्राप्त होता है । पाप के उदय से न मनमे हर्ष होता है, न भोजन

मिलता है, न गुण प्राप्त होते हैं, न भोग मिलते हे, न खाने को इच्छा मिलती है और न सतोषकारक वचन श्रवण ही प्राप्त होते हे, न [illegible] प्राप्त होती है और न सन्तोषकारक वचन ।।३५०।। जहाँ [illegible] स्थिति होती है, वहाँ कीर्ति, नाम-प्रसिद्धि सद्-गुण, यश परिजन, लक्ष्मी, धनधान्य, शास्त्र-ज्ञान, सज्जनता, परोपकार करना, देव-पूजन [illegible] अन्य क्रियाये करना, प्रीति भोग-सुख, गुरु-वन्दना, दान, दया और संयम ये सबकुछ वहाँ सम्भव नही है ।।३५१।। स्वभाव की दुष्टता से [illegible] के अपवाद-कारक वचन बोलने से, स्त्री, बालक और गौ की हत्या करने से, दूसरो की धरोहर को विलोप करने से, सभाव नहीं रखने से [illegible] क्रोधादि कषायरूप प्रवृत्ती से द्युत आदि व्यसनोकी सेवन से दूसरों [illegible] को अधिक बोलने से, परिजनो के साथ सत्यव्रत का विध्वंस करने से और मत्रो के द्वारा दूसरो का उच्चाटन करने से पतिदिन पाप का संचय होता है । ससार मे जो जो वस्तु अपने को पतिकूल प्राप्त होती है वह सब पाप से होती है ऐसा जानकर इस लोक मे जिनेन्द्रभाषित धर्म का सेवन करना ही है ।।३५३।।

गो-षण्ढ पाणिग्रहणेन धर्मो युक्तो न तीर्थास्थिनिपातनेन ।
गुड़घृतोपस्कृत धेनुदानैरनेकधा पिप्पल पूजनैश्च ।।३५८।।
अनेन मिथ्यात्वपरिग्रहेण धर्मेण जीवो लभते न सिद्धिम् ।
धर्मो भवेज्जैनमतैक बुद्धया धर्मो भवेद् द्वन्द्वविनाशनेन ।
रत्नत्रयाराधनतोऽस्ति धर्मो धर्मो भवेदानचतुर्विधाङ्गै ।।३६०।।
धर्मो भवेत्पञ्चमहाव्रतेन धर्म षडावश्यक पालनेन
धर्मो भवेल्लक्षित सप्तस्तत्त्वाद् धर्मो भवेद् सिद्धगुणाष्टकेन ।।३६१।।
नवप्रकार स्मररोधनेन धर्मो भवेद् धर्मदशाङग भावात् ।
एकादशाभि प्रतिमाभियोगैर्धर्मो भवेत् द्वादशभिस्तपोभि ।।३६२।।
चारित्र भेदान्त्रि दशप्रकाराद् धर्मो भवेत्पूर्वचतुर्दशाङ्गात् ।
धर्मो भवेत्पञ्चशप्रमाद-प्रध्वसनात् षोड़श भावनात· ।।३६३।।
धर्मो भवेज्जीवदयागमेन धर्मो भवेत्सयम धारणेन ।
धर्मो भवेदोषनिवारणेन धर्मो भवेत् सज्जन सेवनेन ।।३६४।।
जिनस्य शास्त्रस्य गुरो सदैव पूजासभ्यासपद प्रणामै ।
शुश्रुषया साधुजनस्य नित्य धर्मो भवेच्चारूविशुद्ध भावै·।
धर्मो भवेद्दर्शनशुद्धि बुद्धया निशागमे भोजनवर्जनेन ।
सदाष्टधामूलगुणस्य भेदैर्निषिद्ध योगान्नवनीत लेहात् ।।३६६।।
धर्मोऽन्यनारी धनवारणेन शिक्षागुणाणुव्रतपोषणेन ।
वै सत्यवाक्य प्रतिभाषणेन पात्रत्रयस्वीकारणान्नदानात् ।।३६७।।

**अर्थ** यज्ञ मे जीव - समूह के हवन करने से धर्म नही होता । कुशासन (मिथ्यामत) मे धर्म का एक पदभी नही देखा जाता । गया मे श्राद्ध करने से धर्म नही होता, उसका भाव भी नही है और न मास आदि के तथा स्त्री के दान से ही धर्म नही होता है ।।३५७।। गाय और साड का विवाह कराने से धर्म नही होता, हरिद्वार आदि तीर्थो पर अस्थिविसर्जन से धर्म नही होता है, गुड-घृत से सम्पन्न पकवानो से और गोदान से धर्म नही होता, और अनेक प्रकारो से पीपल-पूजन के द्वारा धर्म नही होता

।।३५८।। इस प्रकार ऊपर कहे गए मिथ्यात्व के ग्रहण रूप धर्म से जीव सिद्धि को प्राप्त नही करता है, कितु जो मानव दश प्रकार के उज्ज्वल धर्म को धारण करते है वे मोक्ष पद को पाते है ।।३५९।। एकमात्र जैनमत ही आरभ कल्याणकारी है ऐसी दृढ बुद्धि से धर्म होता है, (कलह) का विनाश करने से धर्म होता है, रत्नत्रय की आराधना से धर्म होता है और चार प्रकार के दानो को देने से धर्म होता है ।।३६०।। पॉचो महाव्रतो के पालन से धर्म होता है और छह आवश्यको के पालने से धर्म होता है, सप्त सत्वो के चिन्तन मनन और श्रद्धान से धर्म होता है तथा सिद्धो के आठ गुणोका चितन करने से धर्म होता है ।।३६१।। नौ प्रकार के कामवेगो के निरोध से और नौ शील-बाडो के पालने से धर्म होता है, धर्म के दशो अगो के धारण से धर्म होता है, ग्यारह प्रतिमाओ के पालने से धर्म होता है और बारह प्रकार के तपो के आचरण से धर्म होता है ।।३६२।। तेरह प्रकार के चारित्र को पालन करने से धर्म होता है, चौदह पूर्वो का अभ्यास करने से धर्म होता है, पन्द्रह प्रमादो का विध्वस करने से धर्म होता है, सोलह कारण भावनाओको भाने से धर्म होता है ।।३६३।। जीवदया के करने से धर्म होता है । सयम के धारण करने से धर्म होता है । अपने दोषो के निवारण करने से धर्म होता है और सज्जनोकी सेवा करने से धर्म होता है ।।३६४।। सदैव जिनेन्द्र देव की पूजा करने से, शास्त्र का अभ्यास करने से और गुरु के चरणोमे प्रणाम करने से धर्म होता है । साधुजनो की नित्य शुश्रुषा करने से और सुदर विशुद्ध भावोसे धर्म होता है ।। ३६५।। सम्यग्दर्शन की शुद्धि करने से धर्म होता है । रात्री के समय भोजन त्याग से सदा आठ मूल गुणो के धारण करने से नवनीत आदी निशिद्ध लेह पदार्थो के नही खाने से धर्म होता हैं तथा सिद्धो के आठ गुणो का चितन करने से धर्म होता है ।।३६६।। पर-स्त्री और परधन के निवारण से, अणुवत, गुणव्रत और शिक्षाव्रतो के पोषण से दूसरो के प्रति सत्य भाषण से और तीनो प्रकार के पात्रो को पडिगाहन करके अन्नदान करने से धर्म होता है ।

जिनेन्द्र और जिनेद्र वाणी कैसे है

जिनेश्वरमुखोत्पन्न वाक्य स्वर्गापवर्गदम् ।
मिथ्यात्वकन्द दलन श्रूयता भो कुवादिन ।।४१३।।
सकलो नि·क्लोऽतन्द्रो निश्चलो निरूपद्रव ।
निरञ्जनो निरापेक्षो निरीहो निखिल प्रभु ।।४१४।।
निर्व्यापारो निरास्वादो निष्कषायो निराश्रय ।
निरालम्बो निराकारो नि· शल्यो निर्भयात्मक· ।।४१५।।
निर्मोहो निर्मदो योगनिर्दोषो निर्मलस्थिति ।
निद्वन्दो निर्गताभावो नीरागो निर्गुणाश्रय ।।४१६।।
सिद्धो बुद्धो विचारज्ञो वीतरागो जिनेश्वर ।
सम्यग्दर्शनशुद्धात्मा मुक्तिबध्वाऽभिगम्यते ।।४१७।।
एव मिथ्यात्वसस्थान जित येन महात्मना ।
तस्य पादद्वय नत्वा जीवतत्व कथित जिनेन्द्रै· ।।४१८।।

अर्थ हे कुवादियों, सुनो - जिनेश्वर के मुख से उत्पन्न हुआ वाक्य स्वर्ग और मोक्ष का देनेवाला है, तथा मिथ्यात्व के मूलको दहन करने वाला है ।।४१३।। जिनेश्वर देव कैसे है ? सुनो - अरहन्त भगवान सकल (शरीर-सहित) है और सिद्ध भगवन्त नि कल (शरीर-रहित) है, तद्रा-रहित है, निश्चल हैं, उपद्रव-रहित हैं, निरजन है, निरापेक्ष है, निरीह (इच्छा-रहित) है, सर्व प्राणियो के प्रभु है, व्यापार-रहित है, आस्वाद-रहित है, कषाय-रहित है, आश्रयरहित है, अलम्वनरहित है, आकाररहित हैं, शल्यरहित है, निर्भय स्वरूप है, मोह रहित है, मदरहित है, योगो के दोष से रहित है, निर्मल स्थिति वाले है, द्वद्व रहित है, अभावरहित हैं, रागरहित है, निर्गुण आश्रयवाले है, सिद्ध है, बुद्ध है, विचारज्ञ है, वीतराग है, उनकी आत्मा सम्यगदर्शन से शुद्ध है और वे मुक्तिरूपी वधू के द्वारा अभिगम्य है जिस महात्माने उक्त प्रकार मिथ्यात्व सँस्थान को जीत लिया है, उसके दोनो चरणो को नमस्कार करके अब जीवतत्व आदि-तत्वो का निरूपण किया जाता है ।।४१४-४१८।।

पॉच प्रकार का स्वाध्याय

इति जीवादितत्त्वानां चिन्तन य करीत्यरम् ।
शङ्कादिभिरतीचारैस्त्यत्क्त स्यात्तस्य दर्शनम् ।

शास्त्रप्रत्यूहनं यत्र वाचना तत्र जायते ।
सन्देह भञ्ज यत्र पृच्छना तत्र सभवेत् ।।४२८।।

वैराग्यकारण यत्रानुप्रेक्षा सा प्रकीर्तिता ।
यत्रागमप्रमाणानि स चाम्नाय प्रकल्पते ।।४२९।।

श्लाघ्यं धर्मद्वय यत्र सैव धर्मोपदेशना ।
स्वाध्यायः पञ्चधा प्रोक्त· सम्यग्दर्शनहेतवे ।।४३०।।

**अर्थ** इस प्रकार से जीवादि सप्त तत्वो का जो भलीभॉति से निरन्तर चिन्तन करता है और शका अकाक्षा आदि अतिचारो से विमुक्त रहता है, उसके सम्यगदर्शन होता है ।।४२७।। जहॉ पर शास्त्रो का उहापोह होता है वहॉ पर वाचना नामक स्वाध्याय होता है । जहॉ पर गुरुजनो से पूछकर सदेह को दूर किया जाता है, वहॉ पर पृच्छ्ना नामका स्वाध्याय होता है ।।४२८।। जहॉ पर वैराग्य की कारणभूत भावनाओ का चिन्तन किया जाता है वह अनुप्रेक्षा नामका स्वाध्याय कहा गया है । जहॉ परतत्व सिद्धी के लिये आगम प्रमाण उपस्थित किये जाते है । वह आम्नाय नाम का स्वाध्याय कहा जाता है ।।५२९।। जहॉ पर प्रशसनीय मुनिधर्म और श्रावक धर्म इन दो प्रकार के धर्म का उपदेश दिया जाता है वह धर्मोपदेश नामका स्वाध्याय है । सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए यह पॉच प्रकार का स्वाध्याय कारण रूप कहा गया है ।।४३०।।

अपने हाथ मे परलोक सुधार
सारोद्धार श्रावकाचार तृतीय परिच्छेद

अन्नपानादिक कर्म मद्यमासाशिस द्मासु ।
प्राणान्तेऽपि न कुर्वीरन् परलोकाभिलाषुका ।।७५।।

भोजनादिषु ये कुर्युर पङ्क्तेयै सम जना ।
ससर्गात्तेऽत्र निन्द्यन्ते परलोकके‌ऽपि दु खिता ।।७६।।

**अर्थ** जो लोग परलोक को सुन्दर वनाने के अभिलापी है उन्हे प्राणात होने पर भी मद्य मारा खाने-पीने वालो के घरो मे अन्न पानादि कार्य नही करना चाहिये ।।७५।। जो मनुष्य पक्ति मे नही वैठने के योग्य ऐसे नीच पुरुषो के साथ भोजनादि करते है, वे मनुष्य उनके ससर्ग से इसी लोक मे निन्दा को प्राप्त होते है और परलोक मे भी दु खी होते है ।।७६।।

श्रावकाचार मे व्रतोद्योतन
जीव गति के लक्षण

**टीका** यऽ क्रुरो दुष्ट बुद्धिर्विनिहत करूणो हीनचेष्ट- कृतघ्नो, दुष्ट श्र्चाण्डालवृति परधनरमणीहर्तुकामो जड़ात्मा । सावधो मन्त्रभेदी प्रहतगुरूजनो रातिवादोहताशो, दोषज्ञो मर्मघाती व्यसनभरयुतो दुर्गतेरागतोऽसौ ।।४३५।।

**अर्थ** जो वक्र (कुटिल स्वभावी) है, दुष्टवुद्धि है, करूणा-रहित है, हीन चेष्टाए करने वाले है, कृतघ्नी है, दुष्ट कार्य करने वाला है, चाण्डाल वृत्ति है, परधन और पररमणी को हरण करने की इच्छा रखता, जडस्वभावी (महामूर्ख) है, सावद्य (पाप) कार्य करनेवाला है पर मत्र का भेदन करता है, गुरुजनोका घातक है । कलह और वादविवाद करनेवाला है । हताश है । दोषज्ञ अर्थात् पर दोषो का अन्वेषक या दोष ग्राही है, मर्मघाती है, और व्यसनो के भार से लदा हुआ है, वह मनुष्य दुर्गति अर्थात् नरकगति से आया है, ऐसा जानना चाहिये ।।४३५।।

**टीका** यो रोषी रोणपूर्णो मलभृव्दसन श्लेषिताङ्गोवराको, हाहा कारेण युक्त परिजनरहितो निन्दित्मा क्षुधार्त । नि सत्यो दूरकर्मो कलुषितवदनो नित्यमुच्छिष्टसेवी मायरूप प्रकल्पी समभवदशुभ तस्य तैरश्र्चजन्म ।।४३६।।

**अर्थ** जो रोषी (रोष-युक्त) है, जिसका शरीर रोगो से परिपूर्ण है मलसे भरे हुए वस्त्रो को धारण करता है, हीन अधिक चिपटे हुये अगवाला है, दिन हाहाकार से युक्त है स्वजन - परिजनोसे रहित है, जिसकी आत्मा निन्दा को प्राप्त हो रही है, भूख से सदा पीडित रहता है, असत्यवादी है, कर्तव्य करने से दूर रहता है कलुषित मुखवाला है, नित्य दूसरो की जूठन खाता है, मायाचार के अनेक रूपो का धारक है, और अशुभ कार्य को करता है, उसका जन्म तिर्यच योनी से हुआ है ऐसा जानना चाहिये ।

**टीका दान सत्यमना परोपकरणं वर्गत्रये भावना श्रीसङ्गो निरहङ्कृतिर्गतदो जीवावन साधुता । सर्वप्रीतिरनाकुलत्ववचन रत्नत्रयालङ्कृतिर्यस्योदारगुणो मनुष्यभवतोऽ सावागतो धार्मिकः ।।४३७।।**

**अर्थ** जो दान देता है, सत्य हृदय है, परोपकार करता है, धर्म अर्थ और काम इन तीन वर्गो मे भावना रखता है, लक्ष्मी से या शोभा से सपन्न है । अहकार से रहित है, जाति कुलदिके मदो से रहित है, जीवो की रक्षा करने वाला है, साधु स्वभाव वाला है सब से प्रीति रखता है आकुलता रहित वचनवाला है, रत्नत्रय से अलकृत है, उदार गुणवाला है, और धार्मिक है, वह मनुष्यभव से आया है ऐसा समझना चाहिये।।४३७।।

**टीका कायक्लेशो मधुरवचनो जैनधर्मोपदेशी ध्यानी, मौनी ममपरिगतिर्मोक्षवर्त्मानुभावी । पात्रान्यर्थो विषयपदवीत्यक्त बुद्धिर्विचारी यो, रुच्यङ्गो भवति स नरो ह्यागतो देवयोने ।।४३८।।**

**अर्थ** जो कायक्लेश, तप करनेवाला है, मधुर वचन बोलता है, जैन धर्म का उपदेश देता है, ध्यान करता है, मौन रखता है, समान परिणति वाला है, मोक्षमार्ग पर चलने वाला है, पात्रा की अभ्यर्थना करता है, इन्द्रियो के विषयो की पदवी मे त्यक्त बुद्धि है, विचारक है और जो मनमे धर्म के प्रति रुचि, अर्थात्, श्रद्धा रखता है, वह देवयोनि से आया है, ऐसा समझना चाहिए ।।४३९।।

# मिथ्यात्व

श्री पद्मनन्दि विरचित श्रावकाचार सारोद्धार

हिंसादिकलितो मिथ्यादृष्टिभि प्रतिपादित ।
धर्मो भवेदिति प्राणी विन्दन्नपिहि पाप भाक् ।।१३९।।
महाव्रतान्वितास्वत्त्व ज्ञानाधिष्ठितमानसा ।
धर्मोपदेशका पाणिपात्रास्ते गुरवो मता ।।१४०।।
पञ्चाचारविचारज्ञा शान्ता जित परीषहा ।
त एव गुरूवो ग्रथैर्मुक्ता । बाह्यौरिवान्त रै ।।१४१।।

उक्तंच

क्षेत्र वास्तु धन धान्य द्विपद च चतु पद ।
आसनं शयन कुप्य भाण्ड चेति बहिर्दश ।।१४२।।
मिथ्यात्वदेवरागाश्च द्वेषो हास्यादयस्त या ।
क्रोधादयश्च विज्ञेया आभ्यतर परिग्रह ।।१४३।।
यथेष्ट भोजना भोगलालसा कामपीडिता ।
मिथ्योपदेशदातारो न तो स्युर्गुरव सताम् ।।१४४।।
ससारा पारपायोधौ य मग्ना सपरिग्रहा ।
स्वयमेव कथ तेऽन्यतारणेऽ लभविष्णव ।।१४५।।

उक्तच

सरागोऽपि ही देवश्चेद् गुरूर ब्रम्हचार्यापि ।
कृपाहीनोऽपि धर्म स्यत्कष्ट नष्ट हहा जगत् ।।१४६।।
एतेषु निश्चयो यस्य विद्यते स पुमानिह ।
सम्यग्दृाष्टिरिति ज्ञेयो मिथ्यादृष्टिश्च सशयी ।।१४७।।
जीवाजीवादितत्वाना श्रद्धान दर्शन मतम् ।
निश्चयात्सस्वरूपे वाऽवस्थान मलवर्जितम् ।।१४८।।

**अर्थ** मिथ्यादृष्टियो के द्वारा प्रतिपादित और हिसादि से सयुक्त धर्म होता है, ऐसा जानने वाला भी प्राणी पाप का सेवन करता है ।।१३९।। जो पच महाव्रतो से युक्त है, जिनका मन तत्त्वज्ञान से

अधिष्ठित है, जो अहिसामयी धर्म के उपदेशक है और पाणिपात्र-भोजी है, वे ही सच्चे गुरु माने गए है ।।१४०।। जो दर्शनाचार आदि पॉचो आचारो के विचारज्ञ है जिनकी कषाय शात है, परिषहो के जिवनेवाले है और बाहरी तथा भीतरी सभी प्रकार के परिग्रहो से विमुक्त है, वे ही सच्चे गुरु है।।१४१।। कहा भी है - क्षेत्र, वस्तु, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद, आसन, शय्या, कुप्य और भाण्ड ये दश प्रकार के बाहिरी परिग्रह है ।।१४२।। मिथ्यात्व, वेद राग, द्वेष हास्यादि छहनोकषाय, और क्रोधादि चार कषाय ये चौदह प्रकार का आभ्यन्तर परिग्रह है ।।१४३।। जो इच्छानुसार इष्ट भोजन भोगने की लालसा रखते है, काम-विकार से पीडित है और मिथ्या उपदेश को देते है वे सत्यपुरुषो के गुरु नही है ।।१४४।। जो स्वय ही अपार ससार-सागर मे निमग्न हैं और परिग्रह से युक्त है, वे कुगुरु दूसरो को तारने मे कैसे समर्थ हो सकते है ।।१४५।। कहा भी है-यदि राग-युक्त भी पुरुष देव हो, ब्रम्हचर्य से रहित भी पुरुष गुरु हो और दया से रहित भी धर्म हो, तव तो हाय-हाय बडा कष्ट है - यह सारा जगत् ही नष्ट हो जायगा ।।१४६।।

उक्त प्रकार के सच्चे देव, गुरु और धर्म मे जिसका निश्चय है, वह पुरुष सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए । और जिसके इन तीनो मे सशय है अर्थात् निश्चय या विश्वास नही है वह पुरुष मिथ्यादृष्टि जानना चाहिये ।।१४७।। जीव, अजीव आदि सात तत्वो के निर्मल श्रद्धान करने को व्यवहार से सम्यग्दर्शन माना गया है और निश्चय से अपने आत्म - स्वरूप मे अवस्थान करना सम्यग्दर्शन कहा गया है ।।१४८।।

**कायक्लेशैर्वणिक् तस्य भक्तिनिष्ठोऽभक्तर ।**
**पाखाण्डिभिर्न के चात्र पण्डिता आपि खण्डिता ।।४२८।।**

**अर्थ** जिनेन्द्रभक्त सेठ उसके कायक्लेशवाले तपो के आचरण से उसकी भक्ति मे और भी अधिक तत्पर हो गया । ग्रन्थकार कहते है कि पाखण्डियो के द्वारा इस लोक मे कौन-कौन से पण्डित खण्डित नहीं हुए ? अर्थात् सभी ठगाए गये है ।।४२८।।

जगति भयकृताना रागदोषाकुलाना
मलकुलकलिताना प्राणिघातोद्यतानाम् ।
स्मरशरविधुराणा सेवन देवताना
यदमितमतरयास्तद्धेवमूढत्वमहु ।।७४५।।
सूर्योर्घो गृह देहलीवटगजास्त्र श्वादि सपूजन,
गोमूत्रापरगात्रवन्दनमकूपारापगामज्जन ।
पञ्चत्वाप्तजलादि दानमनिश स्नान च सक्रान्तिषु,
प्रयो लोकविमूढिता निगदिता ससार सवर्धिनी ।।७४६।।
तत्तन्मन्त्रमदोषधोद्धतकलात्यामोहित प्राणिना,
मिथ्याशास्त्रविचार वञ्चितधिया दुर्ध्यानलीनात्मनाम् ।
स्नेहाशाभयलोभत कुतपसा पाखण्डिना यादरात्,
शुश्रूषा गुरुमूढतेति गदिता सा शीललीला धरै ।।७४७।।

**अर्थ** जगत मे भय उत्पन्न करने वाले, राग-द्वेष से आकुल, मल-मूत्र से मलिन, जीवघात करने के लिये उद्यत और कामदेव के बाणो से पीडित देवताओ की जो सेवा उपासना करना सो उसे अपरिमित बुद्धिवाले ज्ञानियो ने देवमूढता कही है ।।७४५।। सूर्य को अर्घ देना, घर की देहल्ली, वटवृक्ष, हाथी, अस्त्र-शस्त्र और अश्व आदि का पूजन करना, गाय के मूत्र को पवित्र मानना, गाय के पिछले शरीर भाग की वन्दना करना, समुद्र नदी आदि मे स्नान करना, मरण को प्राप्त पूर्वजनों को नित्यजल, अन्न-पिण्ड आदि प्रदान करना, और मकर सक्रान्ति मे स्नान करना, तथा इसी प्रकार के प्राय अन्य लोक-प्रचलित एव ससार को बढानेवाली क्रियाएँ करना लोकमूढता कही गई है ।।७४६।। अनेक प्रकार के लौकिक कार्यो को सिद्ध करने वाले उन उन मत्रो से, महान औषधियो से और उद्धत कलाओ से प्राणियो को मोहित करने वाले, मिथ्यात्ववर्धक खोटे शास्त्रो के विचार से वचित बुद्धि वाले, खोटे ध्यान मे जिनकी आत्माएँ लीन है, ऐसे खोटे तप करने वाले पाखडी गुरुओ मे स्नेह, आशा, भय और लोभ के वशीभूत होकर जो आदर से उनकी शुश्रुषा की जाती

है उसे शील के लीला के धारक गुरुजनोने गुरुमूढता कहा है ।।७४७।।

भव्यमार्गोपदेश
उपासकाध्ययन चतुर्थ परिच्छेद

देवार्थं वा भेषजार्थवा क्रोधमानभयश्च वा ।
प्राणिहिंसा न कर्तव्या तदाद्याणुव्रती भवेत् ।।२५६।।

**अर्थ** · देवता की प्रसन्नता के लिए, अथवा औषधि के लिए, अथवा क्रोध, मान, भयसे प्रेरत होकर प्राणियो की हिसा नही करना चाहिए, तभी मनुष्य प्रथम अहिसाणुव्रती होता है ।।२५६।।

श्री शिवकोटि विरचित रत्नमाला मे

अबध्दायुष्क पक्षे तु नोत्पतिः समभूमिषु ।
मिथ्योपपादत्रितये सर्वस्त्रीषु च नान्यद्या ।।११।।
महाव्रताणुव्रतयोरू पलाब्धिर्निरीक्ष्यते ।
स्वर्गेऽन्यत्र न सम्भाव्यो व्रतलेशोऽपि धधिनैः ।।१२।।
संवेगादिपरः शान्तस्तत्त्वानिश्चियवान्नर· ।
जन्तुर्जन्मजरातीता पदवीमवगाहते ।।१३।।

**अर्थ** यदि सम्यक्त्व के प्राप्त करने के पूर्व किसी से आगामी भव की आयु नही बॅधी है तो उस जीव की सातो नरक भूमि मे मिथ्यादृष्टियो के उत्पन्न होने के योग्य ऐसे तीनो उपपाद जन्मवालो मे अर्थात् भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषि देवो मे और, सर्वप्रकार की स्त्रियो मे उत्पत्ति नही होती है, यह शास्त्र-वचन अन्यथा नही है ।।११।। महाव्रत और अणुव्रत की प्राप्ति एकमात्र इस भूलोक मे ही देखी जाती है, स्वर्ग मे या अन्यत्र (नरक मे) तो बुद्धि के धनी ऐसे या नारकियो के तो व्रतका लेश भी सभव नही है ।।१२।। जो प्रथम सवेग आदि गुणो का धारक है, शान्त चित्त है तत्वो के दृढ निश्चय वाला है, ऐसा, जीव ही जन्म - जरा से रहित पदवी को पाप्त करता है ।।१३।।

पद्मनदि पचविशातिकागत श्रावकाचार मे, देव गुरू शास्त्र का पूज्यादि करना

प्रपश्यन्ति जिन भक्त पूजयान्ति स्तुवन्ति ये ।
ते च द्दश्याश्च पूज्याश्च स्तुत्याश्च भुवनत्रये ।।१४।।

ये जिनेन्द्र न पश्यान्ति पूजयान्ति स्तुवान्ति न ।
निष्फल जीवित तेषा रधिकच गृहाश्रमम् ।।१५।।
प्रातरूत्याय कर्तव्य देवतागुरु दर्शनम् ।
भक्त्या तद्वन्दना कार्या धर्मश्रुतिरूपासकै ।।१६।।
पश्चादन्यानि कर्मानि कर्तव्यानि यतो वुधै ।
धर्मार्थ काम मोक्षाणामादौ धम प्रकीर्तित ।।१७।।
गुरोरेव प्रसादेन लभ्यते ज्ञानलोचनम् ।
समस्त द्वश्यते येन हस्तरेखेव निस्तुषम ।।१८।।
ये गुरु नैव सन्यन्ते तदुपास्ति न कुर्वतै ।
अन्धकारो भवेन्तेषामुदितेऽ पि दिवाकरे ।।१९।।

**अर्थ** जो भव्य जीव प्रतिदिन जिनदेव के भक्तिपूर्वक दर्शन करते हैं, उनका पूजन करते हे, और स्तुति करते ह, वे तीनो लोको मे दर्शनीय, पूजनीय और स्तवन करन के योग्य है, कितु जो जिनेद्र देव की स्तुति न दर्शन करते है, न पूजन करते हे ओर न स्तुति करते हैं, उनका जीवन निष्फल है और उनका गृहस्थाश्रम भी धिक्कार योग्य हे ।।१४-१५।। इसलिए भव्य जीवो को प्रात काल उठकर जिन भगवान और गुरुजनो का दर्शन करना चाहिये । भक्ति से उनकी वन्दना करनी चाहिए । तथा धर्म का उपदेश सुनना चाहिये । इसके पीछे ही धर्म उपासना करने वाले गृहस्थो को अन्य सासारिक कार्य करना चहिए । क्योकि गणधरादि ज्ञानीजनो ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थो मे धर्म को ही आदि मे कहा है ।।१६-१७।।

गुरु के प्रसाद से ही ज्ञानरूप नेत्र प्राप्त होता है, जिसके द्वारा समस्त विश्वगत पदार्थ हस्तरेखा के समान स्पष्ट दिखाई देते है । इस लिए ज्ञानार्थी गृहस्थो को भक्तिपूर्वक गुरुजनो की वैय्यावृत्य और वदना आदि करना चाहिये । जो गुरुजनोका सम्मान नही करते है और न उनकी उपासना ही करते है, सूर्य के उदय होने पर भी उनके हृदय मे अज्ञानरूप अन्धकार बना ही रहता है ।।१८-१९।।

श्री देवसेनविरचित प्राकृत - भावसग्रह मे पुण्य दो प्रकार के

मिच्छादिट्ठी पुण्य फलदू कुदेवेसु कुणरतिरिएसे ।
कुच्छियभोगधरासुय कुच्छियपत्तस्स दाणेण ।।५१।।
जइवि सुजाय वीर्य ववसायप उत्ताओ विजइ कसओ ।
कुच्छिय खेत्तेण फलइत वीर्य जह तहा दाण ।।५२।।

**अर्थ** मिथ्यादृष्टि का पुण्य कुत्सित (खोटे) पात्रो को दान देने से व्यतरादि कुदेवो मे और कुभोगभूमि के कुमनुष्य और कुतिर्यचो मे फलता है ।।५१।। जैसे कि उत्तम जाति का बीज भी व्यवसायपूर्वक यदि कोई किसान खोटे खेतो मे (ऊसर भूमि) मे बोता है तो वह बीज फल को नही देता है, उसी प्रकार खोटे पात्रो मे दिया गया दान भी फलको नही देता है ।।५२।।

सत्वे मदकसाया सव्वेणिर से सवाहिपरिहीणा ।
मरिउजण वितरा वि हु जोइसुभवणेसुजायति ।।१९२।।
तत्थचुयापुण सता तिरियणरा पुण हवंति ते सव्वे ।
काऊण तत्थ पाव पुणो विणिरयावहा होंति ।।१९३।।

**अर्थ** कुपात्र दान का फल कुभोगभूमि मिलता है । कुभोग भूमिज ये सब मनुष्य और तिर्यचमन्द कषायवाले और सर्व प्रकार की व्याधियो से रहित है । ये मरकर के व्यन्तर, ज्योतिषी और भवनवासी देवोमे उत्पन्न होते है ।।१९२।।

वहॉसे च्युत होकर वे पुन मनुष्य और तिर्यञ्च उत्पन्न होते है । वहॉ पर अनेक प्रकारके पाप करके वे नरकके पथगामी होते है ।।१९३।।

कुगुरु का लक्षण

मय कोहलोह गहिओ उड्डियहस्थो य जायणासीलो
गिहवावारासत्तो जो सो पत्तो कह हवइ ।।२०३।।
हिसाइदोसजुत्तो अट्टरउद्धेहि गमियअहस्तो ।
कयविक्कय वट्टतो इदिय विसएसु लोहिल्लो ।।२०४।।

उत्तमपत्त णिंदिय गुरूषणे अप्पय पकुव्वंतो ।
होउ पावेण गुरू वुड्डई पुण कुाइउ पुण कुमइ उवाहिम्मि।।२०५।।
जो बोलइ अप्पाणं ससार महण्णवामिगुरूयम्मि ।
सो अण्ण कह तारदू तस्साणुमगो जण लग्ग ।।२०६।।
एव पत्तविसेस णाऊण देह दणमण वरय ।
णियजीवसग्गमोक्ख इच्छयमाणो पयत्तेण ।।२०७।।

अर्थ - जो मद, क्रोध, लोभ मे गृहित है, हाथ उठा-उठा करके याचनाशील है, अर्थात् इधर - उधर मॉगते फिरते हैं और घरके व्यापार मे आसक्त है, ऐसे लोग पात्र कैसे हो सकते हं ? अर्थात् कभी नही हो सकते ।।२०३।। जो हिंसा, असत्य आदि दोषोसे युक्त हं, आर्त-रौद्र ध्यान से दिन और रात को गवॉते है, सासारिक वस्तुओं के क्रय-विक्रय मे लगे रहते है, इन्द्रियो के विषयों मे लोलुपता रखते है, उत्तम पात्रो की निन्दा करके, गुरूओ के स्थान मे अपने आपको प्रकट करते हैं वह अपने ही पापो से गुरु (भारी) होकर कुगतिरूप समुद्र मे डूवते हैं ।।२०४-२०५।। जो इस अगाध ससार-समुद्र में अपने आपको डुवाता है वह उसके मार्ग मे लगे (चलनेवाले ) मनुष्य को कैसे तारेगा । इस प्रकार पात्र विशेष को जान करकेही स्वर्ग मोक्ष के अभिलाषी मनुष्योको प्रयत्नपूर्वक निरतर दान परखकर देना चाहिये ।।२०७।।

लोकमूढ़ता - गुरु मूढता का स्वरूप

सूर्याघ्यो वटाश्वत्थगोगजाश्वादपूजनम् ।
गोमूत्रवन्दन सिन्धु सुरसिन्ध्वादिमज्जनम् ।।१४९।।
मृतानाम मृतादिना दान स्नान च ।
सडक्रमे कथ्यते कियतीत्यादिरहोलोक विमूढता ।।१५०।।
विहितैर्हव्यफव्यार्थं प्राणीघतैर्न पातकम ।
भूदवेस्तर्पितैरत्र पितृतृप्ति· प्रजायते ।।१५१।।
प्राक्कृलादेन सो गड्गस्नान मात्रेण मुच्यूते ।
सौदामिन्यादियज्ञेषु मद्यपानादि नाशुभम् ।।१५२।।

इत्यद्युक्तिक् सिद्धान्ताशिष्ट कृत्योपदेशका· ।
कुविद्या मंत्र शक्त्या मोहयन्त्र मानवान ॥१५३॥
कुतपोभिर्द्रय जन्महारितं व.कुवृद्धिभि ।
निद्या निंदंति ये जैनं धर्म शर्मकरं नृणाम ॥१५४॥
भयाशास्नेहलोभादिहेतोस्तषां यदादर· ।
भक्त्याविधियते तज्जै स्या मना गुरुमूढता ॥१५५॥

स्वाङ्गे छिन्ने तृणेनापि यस्य स्यात्महत्ती व्यथा ।
परस्याङ्गे स शस्त्राणि पातयत्यदय कथ ।।५७।।
स्थावरान् कारणेनैव निघ्नन्नपि दयापर ।
यस्त्रसान् सर्वथा पाति सोऽहिंसाणुव्रती स्मृत ।।५८।।
भोजने शयने याने सदा यत्नपरो भवेत ।
त्रसरक्षापरो धीर प्रमत्तस्य कुतो व्रतम् ।।६०।।
प्रेषणी गर्गरी चुल्लीत्यादिज ते शोधयेदघं ।
प्रायश्चित्तेन नान्यस्मै दद्यादन्यादि किञ्चन ।।६१।।
क्वचित्कथञ्चित्कस्मैचित्कदाचित् त्रसहिंसन ।
न कुर्यादात्मनो वाञ्छेद्यदि लोकव्दये सुखम् ।।६२।।
युक्ति जैनागमाद् बुद्ध्वा रक्षाया सत्त्वसतते ।
अप्रमत्त सदा कुर्यान्मुमुक्षुस्त्र सरक्षणम् ।।६३।।

अर्थ - सर्व कल्याण करने वाली यह प्राणि-रक्षा मनुष्यो को सदा करनीही चाहिये, यह जिनागम मे सक्षेप से धर्म का उपदेश दिखया गया है ।।५५।। सभी अन्यवादी लोग जीव-घात से पाप कहते है, फिर भी वे दुर्बुद्धि उसी को यज्ञादि मे हवन करने का उपदेश देते है ।।५६।। जिसके अपने शरीर मे तृण से भी छिन्न भिन्न होने पर भारी पीडा होती है । वह परके शरीर मे निर्दय होकर शस्त्रो का पात कैसे करता? यह आश्चर्य की बात है ।।५७।। कारण-वश स्थावर जीवो का घात करता भी जो दयालु पुरुष त्रस और स्थावर जीवो की मन, वचन, काय और कृतकारित अनुमोदना से सर्व प्रकार रक्षा करता है, वह अहिसाणुव्रती माना गया है ।।५८।। इसलिए त्रसरक्षा करने मे परायण धीर पुरुषो को भोजन मे, शयन मे और गमनागमन मे सदा सावधान होना चाहिए क्योकि प्रमाद-युक्त पुरुष के व्रत कहॉ से सभव हो सकता है ।।६०।। पीसने मे, जल भरने मे और चूल्हा आदि जलाने मे जो पाप उत्पन्न होता है, उसे भी प्रायश्चित से शुद्ध करे । तथा अग्नि, शस्त्र आदि जीव-घात करने वाली

कोई भी वस्तु अन्य को न देवे और न उस अग्नि आदि वस्तु को मदिर आदि धर्म कार्यो मे नही करना चाहिए अन्यथा पाप लगने वाला है ।।६१।। यदि कोई पुरुष दोनो लोको मे अपना हित, चाहता है, तो कही पर, किसी भी प्रकार से किसी के लिए भी कभी त्रस और स्थूल स्थावर का भी धर्मो मे जीव की हिसा न करे ।।६२।।

**स्वामिकार्ति के यानुप्रेक्षा के (११) बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा भावना मे देवगति मे शील नही है । सुभचद्राचार्य कृतटीका मे भी लिखा है देवो मे शील लेश भी नही है ।**

अहवा देवो होदि हु तत्थ वि पावेदि कह व सम्मत्त ।
तो तव-चरण ण लहदि देस-जम सील - लेस पि ।।२९८।।

छाया · अथवा देव· भवति खलु तत्र अपि प्राप्नोति कथमिव सम्यक्त्वम् । तत तपश्चरणं न लभते देशयम शील लेशम् अपि । अथवा, हु इति कदाचिद्दैवयोगता; "सराग-सयम) सयमासंयमाकामनिर्जरा बालतपांसि दैवस्य" इति पुण्ययोगात् देव अमरो भवति । तत्रापि देवत्वे कथमपि महता कष्टेन काललब्ध्या, तथा खओवसम विसोही देसण पाऊग्ग करणब्दीए इति पञ्चलब्ध्या सम्यक्त्व सुदर्शन लभते प्राप्नोति । तो तर्हि सम्यक्तवे लब्धेऽपि न लभते न प्राप्नोति । किं तत । तपश्चरण तपोऽनशन ।। मोदर्यादि द्वादशधा । चरणं सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिर्या सूक्ष्मसापरायात्मक पञ्चभेदम् । अपि पुन देशसयम देशचारित्रं श्रावकव्रत पुनःशील लेश ब्रम्हचर्याणुमत्र अथवा शीलसप्तक न प्राप्नोति ।।२९८।।

**अर्थ** यदि कदाचित् यह जीव मरकर देव भी होता है और वहॉ किसी तरह सम्यकत्व को भी प्राप्त कर लेता है तो तप और चारित्र को नही पाल सकता । और तो क्या, देश, सयम और शील का लेश भी नही होता ।

**भावार्थ** कदाचित् मनुष्य पर्याय मे इस जीवन मे राग सहित सयम का अथवा देश सयम का पालन किया, अथवा अकाम निर्जरा और

खोटा तप किया और मरकर पुण्य योग से देव हुआ । तथा देव होकर क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि, प्रायोग्यलब्धि और करणलब्धि के मिल जाने से सम्यग्दर्शन भी प्राप्त कर लिया किन्तु बारह प्रकार का तप और पॉच प्रकार का चारित्र तो वहाँ किसी भी तरह प्राप्त नही हो सकता । और तो क्या, श्रावक के व्रत तथा शीलका लेश भी पाल सकना वहॉ शक्य नही है । क्योकि देवगति मे सयम सभव नही है ।।२९८।।

## देवताओ का कामतिर्व भोग

**सिद्धिन्तसार सग्रह नरेन्द्र सेनाचार्य विरचित**
**जीवराज जैन ग्रन्थमालाया पञ्चमोग्रन्थ अष्टम अध्याय**

आ ऐशानान्मता देवा· सङ्क्लिष्ट परिपरिणामत ।
कायेनैव प्रवीचार प्रकुर्वाणा मनुष्यवत् ।।९६।।

**अर्थ** (प्रवीचार युक्त और देवो का वर्णन) भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क देव तथा सौधर्म और ऐसान स्वर्गवासी देव ये सक्लेशयुक्त परिणाम होने से मनुष्यो के समान शरीर के द्वारा मैथुन सेवन करते है ।।९६।।

षदस्वधोभूमिभागेषु भावनव्यन्तरेषुच ।
ज्योतिर्निपुसक स्त्री षु सद् दृष्टिर्नैव जायते ।।८७।।

**अर्थ :** (सम्यग्दृष्टि कहाँ उत्पन्न नही होते) पहला नरक छोडकर सम्यग्दृष्टि जीव शर्कराप्रभादि महातम प्रभान्त छह नरकभूमियो मे नही जन्मते है । भवनवासी, व्यन्तर तथा ज्योतिष्क देवो मे सम्यग्दृष्टि जन्म ग्रहण नही करते तथा नपुसक और स्त्रियो मे वह उत्पन्न नही होता ।

**तात्पर्य** जिसको नरकायु का बध होने पर सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता वह जीव पहले नरक मे ही उत्पन्न होता है । देवायु का बध होने पर सम्यदर्शन जिसको प्राप्त हुआ है वह जीव सौधर्मादि स्वर्गो मे महादिक देव होता है ।।८७।।

**धर्म परीक्षापूर्वक ग्रहण कर प्रथम अध्याय मे**

त परीक्ष्पात्र गृह्णान्ति प्रेक्षावन्त· प्रयत्नत ।
बञ्चनाभयतो रत्न यथा रत्नपरीक्षक· ।।१६।।

अधर्मोऽपि मतो धर्मो मर्त्यज्ञानादिदोषतः ।
अत एव परीक्ष्येमं न गृह्णन्ति महाधियः।।१७।।
हेयोपादेयबुद्धिनां सतोमानन्द वर्तिनाम् ।
न पारम्पर्यतो धर्म. प्रमाणं जातु - जायते ।।१८।।
कुलायातमापि त्याज्यमवद्यमति निन्दितम् ।
मूर्खापवादमात्रोक्त दोषोऽनन्त गुणं गुणा ।।१९।।

**अर्थ** : (परिक्षापूर्वक धर्म-ग्रहण) जैसे रत्नपरीक्षक ठगे जाने की भीतिसे परिक्षा करके रत्नग्रहण करते है वैसे ही बुद्धिमान लोग धर्म की परीक्षाकर प्रयत्न से उसे ग्रहण करते है । कुमति, कुश्रुत और विभगावधि ज्ञानके द्वारा लोग अधर्म को भी समझते । इसलिए महाबुद्धिमान लोग अधर्म की परीक्षा कर उसे छोड़ देते है । ग्राह्याग्राह्य का निर्णय करनेवाले लोग कुल परपरा से चले आए धर्म को ऑख मीचकर कभी भी ग्रहण नही करते है । उसे प्रमाण नही मानते है । कुल परम्परा से जो अतिशय निन्दा धूतदिक पाप चले आये है उनको छोडना ही चाहिये और मूर्ख के अपवाद वचन कही जिसमे दोष है ऐसा अनन्त गुण वाला धर्म नही छोडना चाहिये ।।१६-१९।।

**यज्ञ से महापाप (प्रस्तावना से) तीसरे परिच्छेद मे**

ग्रन्थकार ने सामायिकादि पॉच चारित्रो का उल्लेखन किया है । तदन्तर पॉच पापो से विरक्त होना यह व्रतका लक्षण कहा है । हिसादिक पॉच पापो से इस लोक और परलोक मे दु ख की प्राप्ति होती है । देव अतिथि, मन्त्रसाधन तथा यज्ञदिक के लिए जो प्राणी हिसा की जाती है वह अहिसा नही हिसा ही है । हिसा करने वाले जीव बालमृत्यु से ही मरते है । एकेद्रियावस्था से पञ्चेन्द्रियावस्था तक जितने क्षुद्रजन्म और मरण है वे अब हिसा प्राणियो को ही प्राप्त होते है । "यज्ञ मे जो हिसा होती है वह मत्रसे पवित्र होने से पापका कारण नही है" ऐसे याज्ञिक विचार का खण्डन करते हुए ग्रन्थकार ने उसको एक छोटे से वाक्य मे उत्तर दिया है अर्थात् " यदि ता प्रवर्तन्मन्त्र पापात्मा च कथ नहि "। अर्थात् यदि वह

मन्त्र हिंसा का प्रवर्तन करनेवाला है तो वह भी पापमन्त्र ही है । इसके अनन्तर असत्य, चोरी आदि पापो का वर्णन कर सत्यादि व्रतो की जैनागम से अविरुद्ध आत्म हितकारिता दिखलाई है ।

कुधर्म और धर्म का वर्णन

आचार्य श्री सकलकीर्ति विरचित (प्रश्नोत्तर - श्रावकाचार) तीसरा परिच्छेद

# धर्मरत्नाकर

दया के बिना धर्म भी शोभायमान नहीं होता है ।।७६।।

पितृपरिपन्थी पुत्र कुलपुत्री परग्रहाटनसवित्रौं ।

धर्मो दयाप्रहीण प्रहीणधर्मा स्तुवन्त्येतान ।।१७।।

।।७७।।विनयविकलान् सख्यातीतान् विनेयजनान न हि ।

नहि कृतधियस्तत्वाख्यानप्रहीनमतीन यतीन् ।

मतिमापि न वा श्रेयोवन्ध प्रसिद्धि पड्गमुखीं ।

न च करूणयापास्त धर्म स्तुवन्ति कथचन ।।१८।।

**अर्थ** पिता की आज्ञा के प्रतिकूल चलने वाला पुत्र, दूसरों के घर पर पर्यटन की जनक सदा वहॉ जाने वाली कुलीन पुत्री और दया से रहित धर्म इनकी वे ही प्रशसा किया करते है जो स्वय धर्म से दूर दुराचारी है ।।१७।।

विवेकी विद्वान विनय से रहित असख्यात शिष्यों की, यथार्थ वस्तु स्वरूप का प्रतिपादन करनेवाली बुद्धि से विहीन मुनियो की, पुण्यबध की प्रसिद्धि से पराड्मुख पापवध को सिद्ध करने वाली बुद्धि की और दया से रहित धर्म की किसी प्रकार से भी प्रशसा नही किया करते है ।।१८।।

।।८३।। हीनाष्टादशदोषतो न हि परो देवो न पुण्याद्धित

ज्ञानाश्यासमृतेतपो न हि परो नाराधनीयो गुरो ।

नैर्ग्रन्थ्यान्न पर सुख न सुखतो ऽभीष्ट पर प्राणिना

जीवाना परिपालनान्न च परो धर्मो जगत्या मत ।।२३।।

**अर्थ** जो अठारह दोषो से रहित है वही देव होते है, उनको

छोडकर अन्य देव नही हो सकते है, पुण्य के बिना अन्य कोई हितकर नही है, ज्ञानाभ्यास को छोडकर अन्य कोई तप नही है, गुरु को छोडकर अन्य कोई आराधनीय नही है, पूर्ण निर्ग्रन्थावस्था अर्थात् पूर्ण परिग्रह से रहितावस्था को छोडकर अन्य कोई सुख नही है, सुख को छोडकर प्राणियो को अन्य कोई अभीष्ट नही है तथा जीवो के परिपालन को छोडकर जगत मे अन्य कोई धर्म सम्भव नही है ।।२३।।

**।।१३६।। नकुलो यज्ञवाटस्थ इद वचनमब्रवीत् ।**
**न सक्तुप्रस्थतुल्यो हि यज्ञो बहुसुवर्णकः ।।१७३।।**

**अर्थ** यज्ञवाट मे गया हुआ नेवला यह बोला कि बहुसुर्णक नामक यज्ञ जिसमे बहुत सुवर्ण ब्राह्मणो को दिया जाता है सत्तु के प्रस्थ (एक प्रकार का माप) समान नही है । तात्पर्य बहुत सुवर्णादि के दान की अपेक्षा एक प्रस्थ सत्तू का देना कही श्रेष्ठ है ।।१७३।।

**।।४५७।। गुरूजनमुखे भक्तया न्यस्यन्मुहुर्मरीक्षणे**
**क्षणमपि कथा कुर्वन्नन्या न चापराचितानम् ।**
**उपचित रति सूत्रस्यार्थे शिरोरचिताञ्जलि·**
**पुलकितवपु पूज्ये जल्पस्तथेति समाहितः ।।३७।।**
**।।४५८।। उदान्दाश्रुणी विभ्रन्नेत्रपात्रे पवित्रितम**
**स्व कृतार्थ च मन्वान पिबेत्तद्व चनामृत्म ।।३८।।**

**अर्थ** · जो गुरुजन के मुख पर भक्ति से बार-बार अपने नेत्रो को रखकर एक क्षण भी अन्य कथा को वा मनमे अन्य चिन्तन को नही करता है, जो सूत्र के अर्थ मे अतिशय प्रीति रखता है, जिसने अपने भालप्रदेश पर हाथ जोडकर रखे है अर्थात् जो विनय पूर्वक मस्तक झुकाकर नमस्कार करता है, जिसका शरीर आनद रोमाचित हो रहा है, तथा गुरु ने जो कुछ भी कहा है उसे जो तथा ठीक है, वैसा ही करूँगा।यह कहकर स्वीकार करता हुआ समाधान को प्राप्त हुआ है, ऐसे सत्पुरुष को उत्पन्न हुए आनन्दाश्रुओ से परिपूर्ण नेत्ररूप पात्रो के साथ मनमे

पवित्रता को धारण करके अपने को कृतार्थ मानते हुए गुरु के वचनामृत का पान करना चाहिये ।।३७-३८।।

।।४८५।। यज्ञ तत्फलसवन्धं विवुध्यन्ते वुधा· कृत ।
अबोधान्न प्रवर्तेरान्निवर्तेन्न वा सदा ।।१२।।

।।४८६।। नरोत्तम निराकृत्य नरपाश पशुप्रिया· ।।
धर्मोपदेशदातार वदन्तो विप्रतारिता ।।१३।।

अर्थ · वेद के व्याख्याता के विना विद्वज्जन यज्ञ और उसके फलके सबध को कहाँ से जान सकते हैं और तद्विपयक ज्ञान के विना न तो वे सदा उक्त यज्ञादिक के विषय मे प्रवृत्त ही हो सकते है और न उसमे निवृत्त भी हो सकते है ।।१२।।

कितने ही पशुओं को प्रिय मानने वाले - उनका यज्ञ मे हवन करने वाले मनुष्यों मे उत्तम सर्वज्ञ का निराकरण करके हीन-पुरुष धर्मोपदेशक कहते हुए स्वय आत्मवचना करते है ।।१३।।

।।६८६।।तदुक्त-स्पर्शोऽमेध्यभुजा गवामघहरो वन्द्या विसंज्ञा द्रुमा
स्वर्गश्छागवधाद्धिनोति च पितृन विप्रोपभुक्ताशनम् ।
आप्ताश्छद्मपरा· सुरा शिखिहुतं प्रीणाति देवानहवि-
रीत्थ फल्गुच दुर्जय च जगति व्यामोह विस्फुर्जितम् ।।५८१।।

अर्थ जो गाये अपवित्र विष्ठाका भक्षण किया करती है - उनका स्पर्श पापको नष्ट करता है, चेतना शून्य-विशेष विचार से रहित पीपल आदि वृक्ष वन्दनीय हैं, बकरो के वध से स्वर्ग पाप्त होता है, श्राद्धकर्म मे ब्राम्हणो के द्वारा उपभूक्त भोजन पितरो को मृत्-माता-पिता आदि पूर्वजो को तृप्त करता है, कपट मे निरत रहनेवाले देव आप्त है, तथा अग्नि मे होमा गया घृत आदि हवनीय द्रव्य देवताओ को प्रसन्न करता है इस प्रकार की यह घोषणा मूर्खता के वश की जाती है जो निरर्थक व लाभ हीन है (तात्पर्य यह कि उपयुक्त सब कथन मूढ़ मिथ्यादृष्टियो के द्वारा किया जाता है, जो भोले प्राणियो को धर्म मार्ग से च्युत करने वाला है ।।५८१।।

**।।७१२।।इत्थं पानीयदानं हुतवहहवन तर्पण स्यात्पितृणा-**
**मित्थं वा द्वादशाहो मृतवति स्वजने मेलनं यत्पितृणां ।**
**गौरेका तीर्थदेवव्रतगणनिलयस्ततत्प्रदानं विधाना ।**
**दीत्याद्यन्योपदेशात्प्रभवति कुमतं यच्च तद् ग्राहितं स्यात् ।।८०।।**

**अर्थ** : इसी प्रकार पानी देना, अग्नि मे हवन करना, पितरो को तर्पण करना किसी स्वजन के मरने पर बारहवे दिन मे पितरो का मेलन करना, तथा एक गायको सबतीर्थ, देव व व्रतसमूह का घर मानकर योग्य विधि से देना इत्यादिक उपदेश से जो कुमत - मिथ्यात्व उत्पन्न होता है उसको ग्रहित मिथ्यात्व जानना चाहिये ।।८०।।

**।।७८५।। त्यजद्भिरामूलत एव संगान्नग्नत्वमडगीक्रियतेस्प सर्वैः।**
**पाषाण्डिभिर्धर्तुम शक्नुवानैरथोभय भ्रष्टतया स्थित तै।।४३१०।।**

**अर्थ** : परिग्रह का पूर्णतया परित्याग करनेवाले सब ही मुमुक्षु जनो ने नग्नता को स्वीकार किया है । किन्तु जो पाखण्डी जन उस नग्नता को धारण करने के लिए असमर्थ थे वे उभय से भ्रष्ट होकर स्थित हुए है, अर्थात् वे न तो गृहस्थ धर्म का ही परिपालन कर सके और न मुनिधर्म का भी, तात्पर्य यह है कि, मुनिधर्म को धारण करनेवाले साधु जनोको नग्नता को धारण करना अनिवार्य होता है ।।४३१०।।

**।।८२०।। ज्ञाने तपासि पूजाया यतीनां यस्त्वसूयति ।**
**स्वर्गापिवर्ग भूर्लक्ष्मीर्नुन तस्याप्यसूयति ।।६६।।**

**अर्थ** जो ज्ञान, तप और पूजा के विषय मे मुनियो से ईर्ष्या करता है, (उनके गुणो को सहन नही करता हैं) उससे स्वर्ग मोक्ष की लक्ष्मी भी उनसे ईर्ष्या करता है (उसे वह नही प्राप्त होती हैं) ।।६६।।

**।।९३२।। तदुक्त - तथाच शान्तचित्ताना सर्व भूत दयावताम्।**
**वैदिकीष्वपि हिंसासु विचिकित्सा प्रवर्वते ।।३५।।**

**अर्थ** जिनके अन्त करण मे शान्ति का वास हैं, तथा जो सब ही प्राणियो के विषय मे दयालु हैं, उन महापुरुषो को वैदिकी तरह हिंसा

वेदविहित याज्ञिकी जीव हिसा- के विषय मे भी घृणाभाव प्रवृत्त होता है। (वे उससे सहमत नही होते है) ।।३५।।

।।९५९।। अत्यन्तनिशित धारादुरासद जिनवरस्य नयचक्रम।
खण्डयति धार्यमाण झगिति दुर्विदग्धानाम ।।८९।।

अर्थ जिनेन्द्र देव का वह नयरूप चक्र अतिशय तीक्ष्ण धार से सयुक्त दुर्ज्ञेय होने से दुष्प्राप्त है · मन्दबुद्धिजन उसका ठीक ठीक उपयोग नही कर सकते हैं। इसलिये जो दुर्बुद्धि या दुराभिमानी जन उसको धारण करते है उनके मस्तक को वह शीघ्र ही खण्डित कर देता है। (यथा स्थान उसका ठीक-ठाक उपयोग न कर सकने के कारण वे मार्गभ्रष्ट हो जाते है ।।४९।।

।।१०६१।। हव्यैरिव हुतप्रीति पाथोभिरिव नीरधि ।
धृतिमेति पुमानेष न भोगैर्भवसंभवै· ।।१६१।।

अर्थ · जिस प्रकार होम के योग्य घृतादि पदार्थो से कभी अग्नि तृप्त नही होती हैं, तथा न आत्म शान्ति होती हैं पानी से कभी समुद्र तृप्त नही होता है। उसी प्रकार ससार के भोगो से यह मानव भी कभी तृप्त नही होता हैं ।।१६१।।

जिसके रक्षण करने पर अहिसादिक गुण वृद्धिगत होते हैं उसे ब्रम्हविद्या मे चतुर अध्यात्मवेदी महर्षि-ब्रम्ह कहते हैं ।।१६२।। जिसके बुद्धि बाहिरी आरभ कार्य मे सलग्न है वह अपने जाति बन्धुओं और तीनो लोको के हित को प्राप्त करने वाले गुरुजनो का भी उल्लघन करता है - उनका तिरस्कार करता है। वह दुर्लभ धर्मयुक्त उत्तम आचरणो को धूलि के समान तुच्छ मानता है इसलिए कुश के समान आरम्भ मे मैं कितने दोषयुक्त तृण हूँ ।।३२।।

।।१४४४।। यागज्ञ नास्तिक जदि क्षण वादिमख्य
पाखण्डिना समय सत्करणैकवा से ।
सद्दर्शन मलिनाताभुपयात्यवश्यं
क्षीर यथा कटुकतुम्बक भाजनस्थम् ।।३२।।

**अर्थ** · यज्ञ के ज्ञाता नास्तिक - चार्वाक, क्षणवादी, बौद्ध साधु-इत्यादि पाखण्डियो के आगम का आदर करना तथा उनके साथ रहने से कड़ुवी तुबी के प्रात्र मे रखे हुए दूध के समान सम्यग्दर्शन अवश्य मलिनता को प्राप्त होता है ।।३२।।

जिनका चित्त तत्वज्ञान से शून्य है तथा जो दुराग्रह से एकात मिथ्यात्व मलिन हो रहे है, उनके साथ गोष्ठी - वार्तालाप आदि करने से परस्पर लाठियो से और बाल पकडकर युद्ध का ही प्रसग होता है ।।३२१।।

**णमोकार ग्रन्थ**
**देशभूषणजी महाराज द्वारा सम्पादित**

सम्यग्दर्शन का ही यह प्रभाव है जो सम्यक्त्व से सपन्न चाण्डाल कुलोत्पन्न मानव भी पूज्य हो जाता है । और सम्यक्त्व के बिना मुनिधर्म का पालन करनेवाले द्रव्यलिगी साधु को सम्यग्दृष्टि गृहस्थ से ही हीन बतलाया हैं । उसकी हीनता का कारण सम्यक्त्व का अभाव ही है ।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से पूर्व यदि कोई जीव नरक, तिर्यचायु का वद्धायुष्क हो गया हो तो उसके सम्यग्दर्शन होने पर उसके प्रभाव से उनकी स्थिति मे अवश्य ही सुधार हो जाता है। वे मरकर
नरक को जरूर प्राप्त करेगे । गति मे स्थिति बन्ध नही
भी स्थिति अल्पत हो जाती है । जैसा की
प्रगट है ।

**दुर्गतीवायुषोबन्ध सम्यक्त्व यस्य जायते ।**
**गतिश्छेदो न तस्यास्ति यथात्यतरा स्थिति ।।**

यह भी सम्यग्दर्शन का ही प्रभाव है जो अबद्धायुष्क शुद्ध
जीव अव्रती होते हुए भी नरक, तिर्यचगति, र स्त्री
प्राप्त नही होते और निद्यकुल, विकलाक, अल्पायु
नही होते और न स्थावर एव विकलाग पर्याय
वृद्धायुष्क होने पर भी वे सम्यग्दर्शन क प्रभाव से

आयु बॉधनेवाले प्रथम नरक से आगे नही जाते । तथा विकलत्रय पर्याय को न धारण कर सज्ञी पचेद्रिय पुल्लिग पर्याय का ही धारण करते है । सम्यगदृष्टि जीव प्रथम पृथ्वी को छोडकर अधस्तन छहो पृथ्वियो मे ज्योतिषी, व्यतर, भवनवासी देवो मे और सर्व प्रकार की स्त्रिया मे, तिर्यचि, मनुष्यनी और देवियों मे वारह मिथ्यावाद मे - एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और असज्ञी पचेद्रिय सवधी तिर्यचो को द्वादश जीव समासो मे उत्पन्न नही होता ।

उपासकाध्ययन प्रथम अध्याय
श्री परमपूज्य १०८ ज्ञानभूषणजी महाराज कृत

मिथ्यात्व मेव दुष्कृत सदाऽसंयमतो दु खम्।
येन नरक वास खु लभते देहिनो नित्यम ।।६।।

भावार्थ : दर्शन मोह ही सवसे दड़ा पाप है यदि कोई एक लाख स्त्रियो का शील भग करे और दूसरा व्यक्ति एक मिथ्या देव की पूजा करे तब एक लाख स्त्रियो के शील भग करने वाले को उतना पाप नही लगता है जितनाकि एक मिथ्यादेव की पूजा करनेवाले को लगता है । इसका कारण यह है शीलभग करनेवाला तो नरक तकही जावेगा किन्तु मिथ्यादेव की पूजा करनेवाला ७० कोटा-कोटि सागर की स्थिति बॉधकर बहुत काल तक ससार मे जन्म मरण के दु ख भोगता रहेगा । अत मिथ्यात्व ही ससार मे सबसे बडा पाप हे । असयम के कारण जीव प्राणियो की हिसा करता है जिस पाप के कारण निरन्तर दुखी रहता है। मिथ्यादर्शन मोह असयम रूप अनतानुबधी कषायो के उदय मे जीव पाप कर नरकगामी हो जाता है ।

चर्मकाले रूदान्त देवा आत्तध्यानाल्लभन्तेऽ शुभम ।
स्थावर नामकर्मायु निगोदेवासं समोहिन ।।२२७।।
अवसानेऽशुभभाव वियोगे दुःख समालिग च ।
उद्भवन्ति नृतिर्यक्षु भावने बिना सौख्य सदा ।।२२८।।

सम्यक्त्वेन युक्ताश्च देव पर्यायावसाने मनुजायुम् ।
मुञ्चन्ति पुण्यफल पुनरपि न भ्रमति भव वने ।।२२६।।

**भावार्थ** भवनवासी देव व देवी, व्यन्तर देव व देवी, ज्योतिषी देव और देवियॉ ये सब ही मिथ्यादर्शन से युक्त मनुष्य अवस्था मे कुछ अज्ञानवश होकर मिथ्यातपश्चरण को करते है जिस कारण से इनको देवगति की प्राप्ति होती है। पापानुबन्धी पुण्य प्रकृति के उदय मे रहने के कारण देवो के विशेष लोभ कषाय का उदय और परिग्रह नामकी चौथी सज्ञा का विशेष उदय रहने के कारण देव अपने को दु खी अनुभव करते है । जो विशेष पुण्यवान सम्यग्दृष्टि देव है जिनको पुण्यके प्रताप से देवागनाये और सेवक देवो का समागम तथा अघिमा, गरिमा लघिमा इत्यादि ऋद्धियॉ प्राप्त हुई है उनके उस वैभव को देखकर अपने को हीन ऋद्धियो के धारक देखकर दु ख का अनुभव करते है । विचार करते है कि कैसी कुरूप अविनयवान देवागनाये प्राप्त हुई है ऐसा मनमे चिन्तवन करके देव दु ख का अनुभव करते है । कितने ही देव अपने मनमे विचार करते है कि हम कितने पुण्यहीन है कि हमको नदीश्वर जाने के लिए रास्ता ही नही मिलता और हमको अपने इद्र महाराज के दर्शन का और राजसभा मे जाने की आज्ञा भी प्राप्त नही है, ऐसी मनमे चिन्ता कर दु ख का अनुभव करते है । यद्यपि कल्पवासी देवो के दस भेद होते है । उनमे से त्रायस्त्रिश और लोकपाल देव ज्योतिषी और व्यन्तर देवो मे नही होते है । यह निकाय का नियम है । शेष आठ भेद होते है ये जितने देव हैं वे [illegible] विशेष आयु के धारक और उनकी नियोगिनी देवियॉ अल्प आयुवाली होती हैं । देवागनाओ के वियोग होने पर उनके विशेष गुण, उनके द्वारा की गई सेवा को यादकर वियोग रूप दुख को प्राप्त होते हैं । कभी बडे देव का अवसान प्राप्त होने पर छोटे सेवक देव उनके वियोग होने पर मनमे विचार करते है हमने उनकी सेवा नही करी परन्तु उन्होने अपने को बहुत उपदेश दिया अथवा धर्म का उपदश देकर धर्म का

सहीमार्ग बताया ऐसा मनमे चिन्तवन कर वियोग जन्य दु ख को प्राप्त होते हैं । इस मिथ्यादृष्टि भवनवासी, व्यन्तर ज्योतिषी और कल्पवासी देवो के सामान्य से दु ख कहे गये हैं और भी विशेष मदार माला के मुरझाने पर मरण का भय होने से और पदच्युत होने के भयसे निरन्तर देव दु ख का अनुभव करते है इन देवो मे एक विशेष बात यह है कि सम्यगदृष्टि जितने देव है वे मरणादि के दुखका अनुभव नही करते हैं ।

मिथ्यादृष्टि भवनवासी व्यन्तर देव और ज्योतिषी देव आर्तध्यानपूर्वक शरीर का त्यागकर एकेन्द्रिय वायुकायिक और अग्निकायक को छोडकर शेष तीन स्थावर एकेन्द्रिय जीवो मे उत्पन्न होते हैं। कोई कोई मिथ्यादृष्टि या सम्यग्दृष्टि देव मनुष्य और तिर्यञ्चो मे तथा कल्पवासी और कल्पातीत देव नियम से मनुष्य भवको प्राप्त होते हैं जिनमे से सम्यग्दृष्टि देव तो उच्च पदो को प्राप्त करते हैं और तपस्या कर कर्म पुज को भस्म कर निर्वाण सुख को प्राप्त होते है । २२७ से २२९ तक ।।

**मिथ्यादृष्टि जीवको जिनवाणी नहीं रुचती**

> या तृष्णा खलु भाति बालक युवानौ विस्रसाव्याधय ।
> राभुत्क न च कोऽपि पडितजनाश्चिन्तातुरासन्तिमा ।।
> आशासेवतिमूढधी परमसौख्यार्थ न लभ्यकदा ।
> रोचन्ते न जिनप्रणीतचरन्यै एव सिद्धवच ।।२७४।।

**अन्वयार्थ** (यातृष्णा) यह तृष्णा (बालक युवानौ) बच्चो को या नवयौवनवालो को (विस्रसा) वृद्ध स्त्री पुरुषों के (खलु) निश्चय से (भाति) दिखाई देती है । (पण्डितजना ) । विद्वान पुरुष (च) और मूर्ख मानव (चिन्ता तुरा ) चिन्ता से आकुलित (सन्ति) होते है । अथवा चिन्ता सबके अन्दर व्याप्त रहती है (मा) चिन्ता से रहित कोई नही (मूढधी ) अज्ञानी मोही प्राणी (परमसौख्यार्थ) उत्तम सुख को प्राप्त करने के लिए (आशा) आशा की (सेवति) सेवा करते है (तदपि) तो भी (न लभ्य कदा) सुख को कदापि प्राप्त नही होते (जिनप्रणीत तवच ) भगवान जिनेन्द्र देव के द्वारा कही गई वाणी (न) नही (रोचन्ते) रुचिकर लगती है (अन्य एव सिद्ध

वच ) अन्य मिथ्यादृष्टि देव या मनुष्य वाणी मिथ्या होने पर भी यथार्थ वचन मानता है ।

**भावार्थ** इस पचम काल मे बच्चे, जवान, वृद्ध, पडित या मूर्ख जितने देह धारी है वे सब ही तृष्णारूपी नदी मे गोता खा रहे है । आशा की सहेली चिन्ता है कि जिसने पडितजनो को भी अपना दास बना लिया । इन दोनो ने ससारी आत्माओ के विवेक और बुद्धि को अपहरण कर लिया है । आशा और चिताओ के मध्य मे स्थित ससारी प्राणी निरन्तर सुख की इच्छा करता रहता है फिर भी सुख की प्राप्ति नही होती है । दु ख को ही प्राप्त होता है । इसका एक ही कारण यह है कि भगवान जिनेन्द्र प्रणीत धर्म और वचन के प्रति विश्वास नही होता है । परन्तु मिथ्याभाषी विधर्मावलम्बियो के द्वारा जो कुछ भी उपदेश दिया जाता है वह वचन सिद्ध है उसका शीघ्र ही श्रद्धान कर लेता है । जिससे परमसुख को न प्राप्त कर दु ख को ही प्राप्त होता है ।।२७४।।

**क्रोध सबसे बडा पाप है**

**अनर्थानातु कोष सर्व दुष्कर्माण जनकश्च कोप ।।**
**रिपुभ्यो हि महारिपु ज्ञातव्य ससार बीजम् ।।२८१।।**
**सद्ज्ञान धर्मश्च सच्चारित्र श्रध्दान च हन्ति ।**
**सांध्यत्यज्ञान च कुधर्मे श्रद्धान कोप ।।२८२।।**

**भावार्थ** क्रोध ही जीवो का महा वैरी है यह शत्रु से भी वढकर शत्रु है यह क्रोध, धर्म और धर्म बुद्धि का नाश जड से कर डालता हैं । खोटे दुष्कर्मों को जन्म देने के लिये पिता तुल्य है । क्रोधी मानव के दया, क्षमा, सयम शीलादि मानवाछित गुण नष्ट हो जाते हैं, शुभ भावनाये विलीन हो जाती है तब विशेष रूप से पापो मे ही जीव की प्रवृत्ति वन जाती हैं । क्रोध आने पर सुमति के साथ-२ धर्म भी भाग जाता है । तव सम्यग्श्रद्धापूर्वक आत्मा मे आचरण भी नही होता हैं । अशुभ भावनाये हिसादि प्रवृति उत्पन्न हो जाती हैं जिससे क्रोधी को शान्ति न मिलने से दु ख ही दुख होता है ।।२८१-२८२।।

पचपरावर्तन मुख्य कारण

ससारति ससारिण पचससारेऽनादितोऽपि।
न लभते खलु मगल नित्यममगल सेवते ।।२८७।।
विस्मरति स्वभाव च भ्रमति परगृहेऽशक्तपशु सदा ।।
तस्मात्परभाव च मुचेछ्रत लब्धस्वभावम् ।।२८८।।

**भावार्थ** यह ससारी प्राणी अनादि काल से मिथ्यादर्शन मोह और चारित्र मोह के कारण को पाकर, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, और भाव रूप पचपरावर्तनो को करता हुआ चोरासी लाख योनियो मे अनादि काल से जन्म मरण रूपी अटवी मे भ्रमण करता हुआ चला रहा है । नित्य ही अमगल स्वरूप मिथ्यादर्शन मोह की सेवा करता चला आ रहा है । कितना ही काल व्यतीत हो गया परन्तु मगल स्वरूप सम्यग्दर्शन की व भगवान जिनेद्र देव प्रणीत समीचीन धर्म की प्राप्ति नही हुई । जो धर्म पाप मल पुञ्ज को धोकर पवित्र बना देता हैं वही सम्यग्दर्शन और जिनोक्त समीचीन धर्म है । परपदार्थो मे आशक्त व्यक्ति पर पदार्थो को मोहवश अपने मानता चला आ रहा हैं । परन्तु अपने निज द्रव्य गुण और पर्याय का भान नही होने के कारण जीव नाना योनियो को धारण करता हुआ अज्ञानता के कारण दु खी होता चला आ रहा है । आचार्य कहते है कि अब पर घर रूप पर भावो को शीघ्र ही त्याग कर और स्वधर्म स्वभाव को प्राप्त करने मे प्रवृत्तिकर तब ससार की परपरा शात हो जावेगी ।।२८७-२८८।।

**प्रश्न - कतिगुणान्हन्तिकोप कान रक्षयति प्रज्वलितकोप ।**
**वदतु प्रभोमहत्य च न जानामि किंचित्समयेऽपि ।।२९५।।**

**भावार्थ** शिष्य ने भगवान से प्रश्न किया है कि हे भगवान् ! क्रोध के विषय मे मानव अनेक प्रकार की चर्चा करते हुए देखे जाते है । यह क्रोध जाज्वल्यमान होता हुआ किन-किन गुणधर्मो को नाश करता है और किन-किन अवगुणो की रक्षा करता है सो आप कृपाकर हमारे लिये कहे ? हम अज्ञानी इसके महत्व को जानना चाहते है ।।२९५।।

**उत्तर प्रथमोपशम सम्यक्त्व द्वितीय सयमासंयम चरण च ।**
**तृतीयो सकल सयमं तुर्य यथाख्यात चरण च ।।२९६।।**

**भावार्थ** प्रथम अनतानुबधी क्रोध कषाय है यह आत्मा के सम्यक्त्व श्रद्धान रूप गुण का घात करती है अथवा अनतानुबधी क्रोध का जब तक उदय रहता है तब तक यथार्थ तत्त्वो का श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन उत्पन्न नही हो सकता है । अप्रत्याख्यान क्रोध के उदय मे रहते हुए सम्यग्दर्शन तो जीव को प्राप्त हो जाता है परन्तु सयमासयम चारित्र जो श्रावको का होता है वह नही होता यह कषाय यह सयमासयम रूप आत्मा के गुण का घात करती है । तीसरा क्रोध प्रत्याख्यान रूप है जो मुनिव्रत के योग्य भाव नही होने देता और जिसके उदय मे रहते हुए सकल सयम रूप गुण प्रकट नही हो सकता यह सकल सयम का घात करती है । चौथा क्रोध सज्वलन है कि जिसके उदय मे रहते हुए सकल सयम तो हो जाता है परन्तु यथाख्यात चारित्र नही हो सकता है यह कषाय यथाख्यात रूप आत्मा के गुण का घात करती है । चारो ही प्रकार के क्रोध का स्वभाव क्रमश शिला के समान कठोर दूसरा हड्डी के समान तीसरा लकडी के चौथा बैत के समान स्वभाव वाला क्रोध होता है यह आत्मा को निरन्तर कसता रहता है ।।२९६।।

**नित्य कलह यच्छति रिपुत्व वर्धको नृणाम् ।**
**स्थापयने भवसागरे राति दु ख च देहिनाम् ।।३०३।।**

**भावार्थ** यह क्रोध मनुष्यो मे परस्पर प्रेम को नाशकर नित्य ही शत्रुता का बढाने वाला है । नित प्रति होने वाले झगडे व कलह का कारण यह क्रोध कषाय ही है । ससार सागर मे रहते हुए इस सागर मे डूबने का मूल कारण क्रोध कषाय ही है ।।३०३।।

मान कषाय है –

**नित्योवृद्ध गुणाश्च यात्यृजुगुणा ज्ञानादयाशोधता ।**
**रूप पश्यति मूढधीरपर जीवाना तदा निदति ।।**

ऐश्वर्य प्रभुता यदाऽसहति यत्तुग शिरो दर्पत ।
स्व प्राणव्य परोपण न लघु तमालोक्यत स्वल्पत ।।३।।

**भावार्थ** मान कषाय युक्त अज्ञानी मोही दुष्टबुद्धि मानव दूसरो के शील सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, क्षमा विनयादि गुणो की प्रशसा होते हुये अपने कानो से सुनकर मनमे खेद खिन्न होता हुआ अपने प्राणो का नाश करने के सन्मुख होता है। अपने मे हीन गुण होने पर जिसका मस्तक मान ऊँचा उठा है वह दुर्बुद्धि गुणी जनो की प्रशसा को देखकर सुनकर सहन नही करता हुआ उसका निरादर करता है तो वह अपने जीवन-जीविका को नष्ट करने के सन्मुख होता है ।।३।।

प्राग्घन्ति च सम्यक्त्तव द्वितीयो सयमासयम दर्प।
तृतीय सकलसयम तुर्य यथाख्यात चारित्रम् ।।५।।

**भावार्थ** मानकषाय चार प्रकार की होती है एक तो अनतानुबन्धी मान सम्यक् श्रद्धागुण को तथा दूसरा अप्रत्याख्यान मान जीवों के सयमासयम रूप चितकवरे चारित्र का घातक है । यह चारित्र श्रावक जनो का है। तीसरी मान कषाय आत्मा के होने वाले दया-गुण जो विशेष होता है उसको नही होने देता हैं अथवा दसप्राण सयम अथवा छ काय के जीवों की व पॉच इन्द्रिय छठवॉ मन इनके सयम मे नही ठहरने देता है अथवा मुनि वनने मे बाधक होता है और सकल सयम को नष्ट करता है । चौथी मान कषाय सज्वलन कषाय है यह जीव के गुणो मे प्रधान ऐसे 'यथाख्यात चारित्र को नही होने देती है ।।५।।

कलह वैरस्य हेतु प्रीत्यादि भाव विनाशको दर्प ।
अविनयस्य हेतुश्च यश कीर्ति विराधकोऽमर्ष ।।६।।
मूल विपत्य स्मर कोपारिव कथ्यते मुनि पगव।
यथा स्वामिना हन्तितथा क्षमा मार्दवादि गुणान् ।।१०।।
हरति सुखसत्य सुख स्वस्वामिन विभूषयते व्याधिभि ।।
मत्तमिव मुख क्लानिं बात पादपरिव कम्पनच ।।११।।

ऐश्वर्य प्रभुता यदाऽसहति यत्तुग शिरो दर्पत ।
स्व प्राणव्य परोपण न लघु तमालोक्यत स्वल्पत ।।३।।

भावार्थ मान कषाय युक्त अज्ञानी मोही दुष्टबुद्धि मानव दूसरो के शील सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, क्षमा विनयादि गुणो की प्रशसा होते हुये अपने कानो से सुनकर मनमे खेद खिन्न होता हुआ अपने प्राणो का नाश करने के सन्मुख होता है। अपने मे हीन गुण आने पर जिसका मस्तक मान ऊँचा उठा है वह दुर्बुद्धि गुणी जनो की प्रशसा को देखकर सुनकर सहन नही करता हुआ उसका निरादर करता है तो वह अपने जीवन-जीविका को नष्ट करने के सन्मुख होता है ।।३।।

प्राग्घन्ति च सम्यक्तव द्वितीयो सयमासयम दर्प ।
तृतीय सकलसयम तुर्यं यथाख्यात चारित्रन् ।।५।।

भावार्थ मानकषाय चार प्रकार की होती है एक तो अनतानुबन्धी मान सम्यक् श्रद्धागुण को तथा दूसरा अप्रत्याख्यान मान जीवों के सयमासयम रूप चितकवरे चारित्र का घातक है । यह चारित्र श्रावक जनो का है। तीसरी मान कषाय आत्मा के होने वाले दया-गुण जो विशेष होता है उसको नही होने देता है अथवा दसप्राण सयम अथवा छ काय के जीवो की व पॉच इन्द्रिय छठवॉ मन इनके सयम मे नही ठहरने देता है अथवा मुनि बनने मे बाधक होता है और सकल सयम को नष्ट करता है । चौथी मान कषाय सज्वलन कषाय है यह जीव के गुणो मे प्रधान ऐसे यथाख्यात चारित्र को नही होने देती है ।।५।।

कलह वैरस्य हेतु प्रीत्यादि भाव विनाशको दर्प ।
अविनयस्य हेतुश्च यश कीर्ति विराधकोऽमर्ष ।।६।।
मूल विपत्य स्मर कोपारिव कथ्यते मुनि पगव ।
यथा स्वामिना हन्तितथा क्षमा मार्दवादि गुणान् ।।१०।।
हरति सुखसत्य सुख स्वस्वामिन विभूषयते व्याधिभि ।।
मत्तमिव मुख क्लानि बात पादपरिव कम्पनच ।।११।।

**अघाना महाकोष अस्मरो ददाति दु ख ससारेभ्य ।**
**भावकानने भ्रमावति मिथ्यात्वासयमादिभि ।।१२।।**

**भावार्थ** मान कषाय चार प्रकार की होती है। प्रथम अनतानुबन्धी मिथ्यादर्शन की सहयोगी है। दूसरी अप्रत्याख्यानी मान कषाय ग्रामासयम गुण के साथ है, तीसरी प्रत्याख्यानी मान कषाय सकल ग्रम का प्रतिकार करती है और चौथी सज्वलन मान कषाय सकल रित्र के यथाख्यात चारित्र का घातकर मानव को पागल जेसा बना देती जिससे वह अपने से वृद्ध गुरुजनो के प्रति विशेष निन्दा अविनय करने सन्मुख होता है जिससे सम्यग्दर्शन, सयमासयम तथा सयम जो पूर्ण जीवो का हितकारी है उन सबको विनाश कर ससार के मान कीर्ति यश का नाश कर निरतर आकुलता को देता है। आकुलता कारणही यह आत्मा ससाररूपी महावन मे भ्रमण करता हुआ दु ख ी समुद्र मे निरन्तर गोते खाता रहता है अथवा निरन्तर दु खी रहता । यह मान कषाय भी क्रोध कषाय के समान घातक है। यह मान ाय आत्मा के अविनाशी उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव ज्ञान दर्शन यवत्व और सयमादि गुणो का घातकर मानव को व्याकुल कर दे ा देता है तब वह निरन्तर दु खी रहता है ।।८ से १२ तक

## ाया का लक्षण

वसवेरि विषाणच मेषगोमूत्रक्षुरप्रसदृशाया ।
आभ्यन्तरे माया च नरकतिर्यचगत्यो राति दु खम् । १४

है इसकी आकृति मेढा के सीग के समान टेढी मेढी होती है यह जीवो को नरक तिर्यचायु और नरक तिर्यचगति के बध का कारण है मायावी जन अपने जाल मे फसाकर बहुत से जीवो को हिसाकर रौद्रध्यानी होते है और लक्ष्मी की प्राप्ति ही उनका विशेष ध्येय बना रहता है । ये जीव आत्महित से बहुत ही दूर रहते हुए कृष्ण लेश्या से युक्त होते है और अपने जीवन-जीविका को नाश करने मे अपने को सुखी मानते है ।

तीसरी माया कषाय गाय के चलते हुए मूत्र करने के समान अनेक मोड वाली होती है । वह भी जीवो को नरक, तिर्यच मनुष्य गति और आयु के बध का कारण होती है फिर भी विशेष रूप से तिर्यच गति का कारण है । इसे प्रत्याख्यानी माया कहते है । सज्वलन माया कषाय हॅसिया के समान एक दो मोड़ वाली होती है यह माया कापोत लेश्या से युक्त होती है और तिर्यच गति और आयु का कारण है यह माया कषाय जीवो को नरक मे हमेशा दु ख देती है । तिर्यच गति मे छेदन भेदन, मारण, पीडन्, वध बधन, अतिभार वहन शीत व ऊष्ण की भूख-प्यास की वेदना को प्रदान करती है ।

माया हन्ति सत्य च विश्वासघात करोति च माया ।
अपघात परघात सर्वगुणान् खलु हन्ति माया ।।४६।।
भेदकोजपि न लभ्यन्ते चमूरोऽरण्ये घातयाति जीवान् ।
तथा माया वचति विकासावशेष गुणानाम् ।।४७।।
स्वक वचति मायक सचिनोत्यष्ट विधकर्मणातदा
नरक निगोद वास च भरति भवार्णव बहुदु खम् ।।४८।।
सा मिथ्यात्व माया च आत्म गुणान्विनाशयति सत्वरम् ।
अवगुणा स्थापयति सा माया पाप वृक्ष मूलम् च ।।४९।।

भावार्थ यह माया कषाय प्रथम मे मानव की सच्चाई का घात कर देती है और प्राणियो के परस्पर के विश्वास को नही रहने देती है । ठग मायाचारी जितने लोग होते है उनका कोई विश्वास नही करता

है और कोई भोला मानव यदि उनके ऊपर विश्वास करलेता है तब उसके साथ वे विश्वासघात करते हुए उसके धन माल को छीनकर-लेकर निकल जाते है । मायावी लोग सत्य और सरल भाषा नही बोलते है । उनके मनमे क्या वर्त रहा है वचन मे क्या और करने मे क्या कर डालेगे यह कोई पता नही लग सकता है । मायाचारी दूसरो को ठगते है यह परघात हुआ और मायाचारी करने से विशेष पापबध हो जाना यह अपने को ठगना हुआ । नरक निगोद आयुकर्म का बधक बन जाता है । जिससे भविष्यकाल मे विशेष मात्रा मे दु ख भोगने को प्राप्त होगा यह स्वात्मघात हुआ । मायावी पापबुद्धि करता हुआ अपने आत्मिक गुण सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र्य, उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, सयम, तप, त्याग, अकिचन्य, ब्रम्हचर्य दया, दानादि गुणोका नाश कर जुआ खेलना, मास खाना, चोरी करना, शराब पीना, अण्डे खाना, शिकार खेलना, वेश्या की सगत और परस्त्री के साथ मायाचारी करते हुए विषय सेवन करना और असत्य सभाषण करते हुए निर्दयता का व्यवहार करना इत्यादि अनेक दुर्गुणो को प्राप्त हो जाता है । दुर्गुणो का सेवन करता हुआ मायावी मानव विशेष सकलेश परिणामी होने के कारण तीव्रतर एव तीव्रत्तम पाप प्रकृतियो का आस्रव और बन्धकर लेता है जिस पापकर्म के कारण मायावी मानव नरक और तिर्यञ्च गति के दीर्घकालीन दु खो को प्राप्त होता है । मायाचारी का भेद मायाचारी के माता, पिता, भाई, स्त्री, पुत्र, ससुर, सास, साला भी नही ले पाते है तो अन्य मानवो की तो बात ही क्या ? जिस प्रकार जगल मे विचरने वाला क्रूर स्वभावी माया से युक्त तेदुआ यात्री को देखकर सीधा साधा निकलता है यात्री उसको देखकर विचार करता है कि वह तो निकल गया अब मेरे प्राण बच गये इतना विचार कर ही रहा था कि तेदुओ ने वार कर दिया और पथिक को मार डाला । बस इसी प्रकार मायावी मानव वचन की अपेक्षा अत्यन्त मधुर भाषा को बोलते है और ऐसे प्रतीत होते है कि यही हमारे परम उपकारी सच्चे सम्बन्धी है । जब वह भोला प्राणी उनकी मधुर वाणी रूपी जाल मे

भलीप्रकार से फॅस जाता है तव उसके धन, जवर, माल का व लकर शीघ्र ही निकल जाते है जिससे वह रोता हुआ दुखी हा रह जाता है । मायावी अपने और दूसरों के विकसित गुणो का नाशकर कुत्सित गुणा मे तथा पापों मे प्रवृत्ति करता है यह मायावी दूसरे मानवा को ता अपने मायाजाल मे फॅसाने का प्रयत्न कर फॅसा कर अपने का सुखी मानना है परन्तु स्वय अपने को भी विशेप पाप रूपी कीचड़ मे फंसा दता है । और आप दु खा का भोग जन्म मरण रूप तिर्यच गति और नरक गति को वहुत काल तक करता है । जिस प्रकार मकड़ी दूसर हीन शरीर के धारक जीवो को फॅसाने के लिए जाल वनाती है और विचार करती है की इस जाल मे सब जीव फॅस जायेंगें और मे सुखसे उनको खाती हुई रहूगी परन्तु वह अपने जाल मे आप ही फॅस जाती है । और दुखद मरण को प्राप्त हो जाती है । बस यही दशा मायाचारी मानवो की होती हैं । मायावी मानवो के निरतर अशुभध्यान और रोद्रध्यानही वर्तमान रहते है कि जिसके कारण वह निरतर अशुभ कर्मो का आसव कर वध करता रहता है । अतसमय में मरणकर मायावी एकेन्द्रिय तिर्यच स्थावर कायनिगोद पर्याय मे जन्म लेता है तथा पशुपक्षी आदि मे जन्म लेकर निरतर दु खोका अनुभव करता है ।

मिथ्यादर्शन मोह कर्म से युक्त माया आत्मा के शुभ गुणो का नाशकर पाप बुद्धि को विकसित करती है जिससे मायावी को कोई भी चाहता नही है । यहा माया आहार, भय, मैथुन और परिग्रह सज्ञा से युक्त निवास करती है । सब पापों की जड माया है ।।४६।।४७।।४८।।४९।।

**लोभ कषाय द्वारा घात**

**प्रथमो हन्ति सम्यक्त्व द्वितियौ सयमासमभाव च ।**
**तृतीयः सकल चरण च तुर्यं लोभर्यथाख्यात च ।।५५।।**

**भावार्थ** यह लोभ कषाय नाम की अपेक्षा एक प्रकार का गुणो के घात करने की शक्ति की अपेक्षा से चार प्रकार का होता है । प्रथम में अनतानुबधी लोभ जीव के होने वाले सम्यक श्रद्धान गुण का नाश

करता है दूसरा लोभ अप्रत्याख्यानी जो जीव के सयमासयम गुण का घात कर असयमी बना देता है । तीसरा प्रत्याख्यानी लोभ है जो सर्व घातिया रूप होता हुआ मुनियो के होनेवाले सकल सयम को नही होने देता यह लोभ कषाय उपशम श्रेणी चढने वाले योगियो को ग्यारहवे उपशान्त गुण-स्थान मे उदय मे आकर गिरा देता है ।।५५।।

**उदय की अपेक्षा**

**असंय मात्प्रथेमोलोभ सयमासयमाद्द्वितियलोभश्च ।**
**प्रमत्तात्त्रितयोलोभः उपाशान्त मोहात्तुर्यो लोभ· ।।५६।।**

**भावार्थ** · किसी सादि या अनादि मिथ्यादृष्टि जीव को प्रथमोपशम सम्यकदर्शन की प्राप्ति हुई वह अतर्मुहूर्त तक प्रथमोपशम सम्यकत्व मे रहा तब प्रथम लोभ कषाय का उदय अप्राप्त हुआ जिससे वह उपशम सम्यग्दर्शन से गिर कर मिथ्यादृष्टि बन गया । कोई मिथ्या दृष्टि जीव क्षयोपशम सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने के अनतर अप्रत्याखानी लोभ का उपशम कर सयमासयमी श्रावक बना तब अप्रत्याख्यानी लोभ का उदय अप्राप्त हुआ और सयमासयम से च्युत हो असयत सम्यग्दृष्टि बन गया । कोई प्रथम तीन लोभ कषायो का उपशम करके सकलसयम को धारण कर चितकबरा चारित्र पालने लगा कि प्रत्याख्यान लोभ कषाय का उदय हो गया तब सकल सयमप्रमत्त गुणस्थान से गिरकर सयमासयम गुणस्थान को प्राप्त होता है । कोई मुनि सात प्रकृति को दबाकर उपशम सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर शेष २१ कषाये थी उनका भी उपशम कर उपशम श्रेणी से चरित्र रूपी महल मे चढा और उपशान्त मोह नामक गुणस्थान मे जा पहुँचा वहॉ यथाख्यात चरित्र को प्राप्त किया ही था कि सज्वलन सूक्ष्मलोभ कषाय का उदय अप्राप्त को हुआ तब उपशान्त मोह से गिरकर सूक्ष्म लोभ (सूक्ष्म सापराय) गुणस्थान को प्राप्त हो पीछे प्रमत्त गुणस्थान को प्राप्त होता हैं । विशेष यह कि क्रोध मान और माया ये तीनो कषाऍ अनिर्वृत्तिकरण गुणस्थान तक ही उदय मे आती हैं और कषाय भाग मे उपशम या क्षय हो जाती है उनकी सत्ता आगे नही रह जाती हैं ।।५६।।

प्रागमेचकवर्णलोभ आराच्चक्रमलमिवद्वितीयं ।
तृतीयोरक्तवर्णश्च तुर्यं तु हरिद्रिका इव वा ।।५७।।

भावार्थ · लोभ कषाय शक्ति की अपेक्षा चार प्रकार की होती है जिनमे से प्रथम अनतानुबधी लोभ कषाय पक्के काले रग के समान है कि जिसके ऊपर दूसरे रगो का प्रभाव नही पडता है । दूसरा लोभ कषाय अप्रत्याख्यानी है इसका रग गाडी के पहिए की धुरी मे लगाये गये ओंगन के समान वर्ण का है । तीसरा प्रत्याख्यान लोभ कषाय लालवर्ण का और चौथा लोभ सज्वलन है यह हल्दी के रग के समान व कापसी रग के समान वर्ण वाला है । इनमे एक दूसरे की शक्ति की अपेक्षा हीन शक्ति को लिये हुए है । प्रथम अनतानुबधी लोभ अनत ससार का कारण है । दूसरा लोभ कषाय अर्धा पुद्‌गल परावर्तन का कारण है तीसरा छह मास और चौथा एक दो दिन रहता है ।।५७।।

क्रोध कषाय के बाह्य चिह्न

आननकुटिलाकृतिश्च रक्तवर्णो युगलनेत्रयो सदा ।
कम्पन सर्वागेषु विचलित चित्त को पोदये ।।७९।।

भावार्थ बाह्य मे धन माल का क्षय या अपहरण का होना और अतरग मे स्थित क्रोध कषाय का उदय होता है तब मानव का विवेक भाग जाता है, तब मुख की आकृति भयावनी हो जाती है और दोनों ऑखे लाल हो जाती है । सब शरीर के अग उपाग हिलने लग जाते है । मनमे विचार करने की शक्ति नही रह जाती है तब मन डोलने लग जाता है अथवा विशेष आकुलता मनको व्याप्त कर लेती है ।।७९।।

उद्‌भवतिमहाभीम मावरणयति सर्वागजल कणैः ।
मरणमिच्छत्यमर्षो अपघात खलु करोति सहसा ।।८०।।

भावार्थ क्रोधमान और लोभ कषाय से युक्त मानव की कषायो के उदय आने पर बुद्धि चलायमान हो जाती है । बुद्धि के चलायमान हो जाने से उसकी भय की मात्रा विशेष बढ जाती है और शरीर कॉपने

लगता है। शरीर पसीना-२ से युक्त हो जाता है जिससे शरीर मे पानी की बूँदे दिखाई देने लगती है अथवा शरीर भीग जाता है। क्रोधी, मानी, मायावी मानव अपने मरण को अपघात करके मरने के सन्मुख होता है ॥८०॥

**अवशेषगुणह्रासं दुर्गुणा· ऐधन्ते सविभवैश्च ।**
**अविवेकासत्य वच मानुष्यं न चावैदुष्यम् ॥८१॥**

**भावार्थ** क्रोध, मान, लोभ, कषाय इन तीनो के एक साथ उदय मे आजाने पर जीव के ज्ञान, विवेक, वैराग्य, सयम, शील, क्षमा, दया, विनय, सरलता, सतोष, दान, तप, त्याग, अकिचन्य, ब्रम्हचर्य, सम्यग्दर्शन और चारित्रादी सामान्य और विशेष गुणो का ह्रास हो जाता है, जुआ खेलना, चोरी करना, झगडा करना परस्त्री या कुमारी के साथ दुराचरण करना, ब्रम्हचर्य व्रत को तुडवाना, या तोड देना, शराब पीना, मास खाना इत्यादि दुर्गुण अपने वैभव के साथ उत्पन्न होते है। विद्वान होने पर भी पापी मूर्ख है, मनुष्य होने पर भी पशु के समान है ॥८१॥

**न क्षमासहिष्णुताश्च मार्दवार्जवाऋजु संतोषं च ।**
**तपसंयमशीलानि क्षपयति सर्वगुणान मर्ष ॥८२॥**

**भावार्थ** · क्रोधादि कषायो के उदय विपाक होने पर आत्मा के जो निजगुण उत्तम, क्षमा सहिष्णुता, मार्दव, आर्जव ऋजुभाव, सतोष, तप, सयम, शील, इत्यादि गुण है उन सब गुणो को यह क्रोध मानादि नष्ट कर देता है। इसलिए अब इन क्रोधादि सब कषायो को, भावोको जानकर, शीघ्र ही उनका त्याग करो यह सब पौद्‌गलिक और रूपरस, स्पर्श गधवाली उदय विपाक हो जाने पर नियम से निर्जरा को प्राप्त हो जाती है ॥८२॥

वर्धन्तेऽपद्ध्यानानि अपर द्रव्यस्त्रीव्यवसाय ह्रासम् ।
स्थापयतिविघ्नानि च व्यवसाय धर्मकार्ये कोप ॥८३॥
न मैत्री प्रमोदचनकरूणा समता माध्यस्था भावा· ।
समिति गुप्तयोनसन्ति व्रतान्येवगहन कोप ॥८४॥

षड्लेश्याभिर्हेतु सन्ति क्रमेण क्रोधादिकषाया
यथो लेश्याच भावे भावेन लभते वा दु·खम ।।८५।।

**अन्वयर्थ** (कोप·) क्रोध कषाय का उदय विपाक हाने पर (अपद्ध्यानानि) खोटे स्वपर को हानि पहुंचाने वाले ध्यान (वर्धन्ते) वृद्धिको प्राप्त हो जाते हे (अपरद्रव्यस्त्री व्यवसाय हासम्) उसकी स्त्री मर जावे, पुत्र मर जावे, धन का क्षय हो जावे और व्यापार म घाटा पड़ जावे इत्यादि अनेक प्रकार के भावो का होना अपध्यान करता हुआ (धर्मकार्ये) धार्मिक अनुष्ठानो मे (व्यवसाये) व्यापार मे (च) घर सम्बन्धी विशेष कायो मे (विघ्नानि) विघ्न (स्थापयति) डालता है (कोप) क्रोध कषाय के रहते हुए (मैत्री प्रमोदश्च) रागद्वेष का निवारण कर परस्पर मे प्रेम भाव का होना और गुणवानो को देखकर मन मे हर्ष होना और उनके गुणो मे अनुराग करते हुए सेवावेय्यावृत्ती करने के भाव का होना (करुणा) दीन दुखियो को देखकर उनके दुख को दूर करना, धैर्य बॅधाना, द्रव्य का खर्चकर साता पहॅुचाना (समता) ससार के बढाने वाले राग द्वेष को दूर कर समभाव का होना (माध्यस्थभावा) किसी के द्वारा अपमान किये जाने पर या कार्य मे विघ्न डालने पर भी उसके प्रति दुराभाव का नही होना ऐसा माध्यस्थ भाव (व्रतानि) अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रम्हचर्य और अपिग्रह रूप महाव्रत या स्थूल रूप अणुव्रतो को (समिति गुप्तयो) ईर्या, भाषा, ऐषणा, आदान, निक्षेपण, उत्सर्ग, समिति, मनोगुप्ति, कायशुप्ती (अवगहम) इनका यथाविध पालन करना (कोप) क्रोध, कषाय के होते हुए (नसन्ति) नही हो सकते है (क्रोधादि कषाया) क्रोध, मान, माया, लोभ ये चारो ही कषाये (क्रमण) क्रम से (षडलेश्याभि) कृष्ण नील कापोत ये अशुभ लेश्या पीत, पद्म, शुक्ल, ये शुभलेष्याका (हेतु) कारण (सन्ति) होते है । (यथालेश्या) क्रोधादि कषायो से अनुरजित भावो को लेश्या कहते है जो आत्मा के गुणो को लेपन (आच्छादन) करत्ती है वह लेश्या है जैसी लेश्या हो (च भाव) वैसे ही जीवो के भाव (सन्ति) होते है (भावेन दु ख) जैसे जीव के भाव होते है वैसे दु ख को (लभते) प्राप्त होते है । (स अनतानुबाधिनादर्शन मोह

ससक्ताना सदा कृष्ण लेश्या) दर्शन मोह के साथ अनतानुबधी क्रोध, मान, माया, लोभ, कषाय का तीव्रतर रूप प्राप्त होने पर जीव के जो परिणाम हो वह कृष्ण लेश्या (च) और दर्शन मोह मे आशक्त मिथ्यादृष्टि जीव के जब अनतानुबधी क्रोधादि कषायो का क्षयोपशम उपशम या क्षय होता है तब शुभ या शुद्ध भाव हो तब (शुक्ला) शुक्ललेश्या के परिणाम होते है जिनके कारण को प्राप्तकर (नरकनाकौ) कृष्णादि तीन अशुभ लेश्या वाले जीव नरक को और शुक्ल लेश्या स्वर्ग के सुखो को (रति) देती है (सर्वदा) यही रीत सब कालो मे लेश्या चलती रहती है ।

**अशुभ लेश्या और उनका कार्य**

फलार्थिन· समूल मुपटियमिच्छतिपादपं
कृष्णलेश्यादेहिना समूल जीवगुणानां दाति ।।८७।।
फलार्थिनस्तक्षतिहि परशुना पादपस्कधान् सहसा ।
तथा नीललेश्या खु नरक तिर्यञ्चगतयोश्चैव ।।८८।।
दाति फलार्थिनो यदा दीर्घ वृक्ष शाखांपरशुना पशु· ।
तथा कापोतलेश्या नरकतिर्यञ्चमनुष्यगतिषु ।।८९।।
स्वहस्तेन तक्षाति यो लघुपादपशाखा फलार्थो बुभुक्षु:।
तथातेजोलेश्या च देव मनुष्यतिर्यञ्चगतिषु ।।९०।।
छिदति सपक्वफल न विराधयति मूलस्कंधशाखान् ।
पद्मलेश्यास्वभावो देव मनुष्य गतयोर्हेतुः ।।९१।।
सपक्व पतित फलानि संचिनोति सुखेन भुञ्जति सुधी· ।
तथा शुक्ललेश्या च देवमनुष्य गतयोश्च सदा ।।९२।।

**भावार्थ** · लेश्याये शुभ और अशुभ के भेदसे दो विभागो मे व्यवस्थित है । शुभलेश्या के तीन भेद और अशुभ लेश्या के तीन भेद होते है ये शुभ और अशुभ मिलकर छ भेद होते है । जैसा जहॉ क्रोधादिकषायो का उदय होता है उसी प्रकार भाव लेश्या होती है । द्रव्य लेश्या शरीर के वर्ण को कहते है ये द्रव्य लेश्या देव नारकियो के तो भाव लेश्या को यथा द्रव्य लेश्या कहे है । कषायानुरजित जीवो के भावो की लेश्या कहते

हैं। जो आत्मा के ज्ञानादि गुणा के वैभव ढक दती है और अविवेक वढाती है उसको लेश्या कहते है। क्रोधादि चारो कषाये जीवा के जैसी जिस समय मे आती है तव जीव के वैसे ही परिणाम हो जाया करत है। क्रोधादि कषायो का विपाक उदय छ प्रकार से होता है। प्रथम मे दर्शन के साथ तीव्रतम दूसरी तीव्रतर, तीसरी तीव्र, चौथी मद, पाँचवी मदतर और छठी मदतम ऐसे भेदो को लकर उदय विपाक मे आती है। उदय के अनुरूप ही जीवो के परिणाम हो जाते है कि इस वैरी क कुलको समूलनाश कर डालूँ ऐसे भावा के होने का कृष्णलेश्या कहते है। जैसे कोई भूखा मानव जामुन के वृक्ष को देखकर विचार करता है कि इस पर जामुन पकी हुई लगी है इनको तोडकर खाना चाहिये। मनमे विचारकर हाथमे कुल्हाडी लेकर जडसे खोद निकालकर वृक्ष को काटकर फिर खाना चाहता है इसको भाव कृष्ण लेश्या कहते हैं। जव वे ही कषाये तीव्रतर रूप से उदय विपाक को प्राप्त होती ह तव जीव के परिणाम अशुभरूप होते है जिससे वह समूल तो नष्ट नही करता है परन्तु बहुत कुछ हानि पहुँचाना चाहता है ऐसे परिणाम के होने को भावनील लेष्या कहते है। जैसे कोई मानव फलवान वृक्ष को देखकर विचार करता है की इसपर पके फल लगे हुये है। इसके फलो को खाकर अपनी भूख का उपशमन करना चाहिये। यह मनमे धारणा कर कुल्हाडी से मोटी डाली को काटना प्रारभ करता है, समूल नष्ट नही करता है और फलो को चुन-चुनकर खाता है ये ही नील लेश्या के परिणाम है।

जब तीव्र क्रोधादि चारो कषाये दर्शन मोह के साथ उदय मे आ जाती है। तब जीव के परिणाम अशुभ होते है जिससे वह सामने वाले के प्रति समूल और स्कध को तो नष्ट नही करना चाहता है। परन्तु हानि अवश्य ही पहुँचाना चाहता है ऐसे अशुभ परिणामो को कापोत लेश्या कहते है। जिस प्रकार कोई फलवान वृक्ष को देखकर वृक्ष के ऊपर चढ जाता है और उसकी मोटी सी डाली को काटकर गिराता है एव उसमे से फल तोडकर खाता है। जब क्रोधादि कषाये मन्दोदय मे आती है तब जीव

के शुभ भाव किसी अपेक्षा से होते है तब वह सामनेवाले को मात्र कुदृष्टी से देखता है । हानि पहुॅचाता है । पहले की तीनोकी अपेक्षा सरल परिणाम हो जाते है और परोपकार करने के सन्मुख होता है परन्तु दु ख के उत्पादक कठोर वचन बोल देता है ऐसे परिणामो के होने को पीत लेश्या कहते है इसमे प्रमाद ही प्रधान है । जिस प्रकार कोई भूखा मानव फलवान वृक्ष को देख उसके ऊपर चढ जाता है और उसके गुच्छा को ही मात्र तोडकर फल खाता है ।

जब मिथ्यादर्शन मोह के साथ क्रोध, मान, माया, और लोभ ये चारो मदतर होकर उदय मे आती है तब जीव के परिणाम अत्यन्त सरल परिणाम और परोपकार करने के भाव होते है और कोई प्रकार से हानि नही पहुॅचाता है । यदि उपकार नही कर सकता हूँ तो हानि क्यो पहुॅचाऊ, ऐसे भावो के होने का नाम ही पद्म लेश्या है । पद्म लेश्या वाला जीव दूसरो के दु ख को देख स्वय दुखी दूसरो को सुखी देख स्वय सुखी होता है क्योकि उसके परिणाम दया, क्षमा और असयम के परिहार रूप होते है । जैसे भूखा मानव पके हुये फल को देखकर पेडपर चढता है और जड, स्कध, शाखा, डाली, टहनी अथवा गुच्छा को नही तोडता वह मात्र पके फल को तोडकर खाता है । जब मिथ्यादर्शन के रहते हुए कषायो के विशेष रूपसे उपशम हो जाता है तब जीव के मदतम कषाये रहती है जिससे जीव स्वपर को कोई भी प्रकार से हानि नही पहुॅचाता हुआ लाभ पहुॅचाने का चिन्तक होता है । दुख-सुख है । दुख सुख मे मदद करता है और मन, वचन, काय की वृत्ति अत्यन्त सरल एक समान परोपकार करने की विशेष इच्छा होती है और बैर विरोध का अत्यन्ताभाव होता है । किसी की निदा एव किसी की प्रशसा करने को भी अच्छा नही मानता है और वह मैत्रीभाव, प्रमोदभाव, करूणा भाव और माध्यस्थ भाव से युक्त होता है और ससार शरीर और भोगो के प्रति अरुचि होती है ऐसे परिणामो के होने का नाम शुक्ल है । जैसे कोई भूखा मनुष्य फलवान वृक्षको देखकर पेड के नीचे पहुॅचा और स्वय स्वभाव से गिरे हुए पके

फलो को चुनचुन कर खाकर उदर की पूर्ति करना ही उसका लक्ष्य होता हे हानि पहुँचाने का नही । पहली कृष्णलेष्या नीललेष्यावाले जीव सर्वघाति होते है । वे हिंसादि पापोंको करनेसे पीछे नही हटते । जिस कारण से वे नरकगति को तथा तिर्यंचगतिको प्राप्त होते हैं । वे सामान्य से सातो नरकोमे जाते है । कापोत और नील लेश्यावाले पांचवे नरक तक के नारकी होते हे । कापोत लेश्यावाले जीव तीसरे नरक तक के नारकिया मे उत्पन्न होते हे । पीत लेश्या वाले जीव तिर्यञ्च मनुष्य और भवनवासी, व्यतर और ज्योतिषी तथा सौधर्म ईशान स्वर्ग तक के देवो मे उत्पन्न होते हे । पद्म लेश्या वाले जीव ब्रम्ह स्वर्ग तथा ब्रम्होत्तरादि स्वगो मे उत्पन्न होते हे । शुक्ल लेश्या के धारक मिथ्यादृष्टि जीव अन्तिम ग्रीवक तक कल्पातीत अहमिन्द्र देवो मे उत्पन्न होते हैं । मनुष्यो मे छहो लेश्या वाले जीव उत्पन्न होते हे तथा प्रथम चार लेश्या वाले जीव सब तीर्यञ्चोंमे और तीर्यञ्चगतिवाले होते है । ।।८७।। ८८।।८९।।९०।।९१।।९२।।

**कृष्ण लेश्या का भाव**

> **धर्म दयाविहीनोनृ भण्डनशीलश्च सकोपकैश्च**
> **पापात्यजतिनैबैर कालान्तरेऽपि कृष्णलेश्या ।।९२।।**

**अन्वयार्थ** (धर्म दया विहीन) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से तथा दया भाव से रहित (भण्डनशील) परस्पर मे झगडा करने वाला (सकोपकैश्च) क्रोध, मान, माया, और लोभ इन चारों कषायो से और मिथ्यादर्शन से युक्त (नृ) मनुष्य (बैर) वेरभाव को (कालान्तरेऽपि) बहुत समय निकल जाने पर भी (न) नही (त्यजति) छोडता है (पाप) बडे खेद की बात है (कृष्णलेश्या) ऐसा कृष्ण लेश्या का स्वभाव है ।

**भावार्थ** - जिस समय जीव के तीव्रतम अनतानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय तथा मिथ्यादर्शन मोह का उदय विपाक होता है तब जीव के भाव सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इनसे विपरीत मिथ्यादर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप रूप हो जाते है । इनके उदय विपाक

काल मे दया शून्य हृदय हो जाता है तब निरन्तर हिसादि पापो मे सलग्न होता है अथवा हिसा करना, झूठ बोलना, चोरी करना, परिग्रह मे आशक्त हो विशेष इच्छा का रहना, परस्पर मे झगडा करने मे आनन्द मानने वाला, वैर विरोध को कालान्तर मे नही छोडने वाला ऐसा कृष्ण लेश्या का धारक जीव है ।।९५।।

**भवन वाणव्यन्तर ज्योतिष्कदेवाणामशुक्ल पद्मे।**
**कल्पवासिदेवानां शुभ त्रयोलेश्यायथास्य· ।।११०।।**
**कल्पातीत देवानां नित्यशुक्ललेश्या स्वभावात् ।**
**तीर्थकराणां सदा एकमेवशुक्ललेश्या च ।।१११।।**

**अन्वयार्थ** · (भवनवाण व्यन्तर) भवनवासी, वाण व्यन्तर (जोतिष्क देवाण) और ज्योतिष्क देवो के पद्म और शुक्ल लेश्या को छोडकर शेष चार लेश्याये कल्पवासी देवो के (शुभत्रयो लेश्या) तीनो शुभ-लेश्यायें (यधास्त ) जैसे जहॉ परिणाम है वैसे रहती है । (कल्पातीत देवाना) कल्पातीत नवग्रैवेयक, नव अनुदिश, पॉच अनुत्तर विमानवासी देवो के (नित्य शुक्ल लेश्या स्वभावात्) स्वभाव से ही शुक्ल लेश्या (तीर्थकराणा सदा) सदा तीर्थकरो के (एक एव शुक्ल लेश्या) एक ही शुक्ललेश्या द्रव्य भाव से होती है ।

**भावार्थ** भवनवासी देव और देवियो के, बाण व्यन्तर देवो के, ज्योतिषी देवो के पहले की चार लेश्या मे नियम से होती है कल्पवासी देवोके पीत, पद्य और शुल्क ये शुभ लेश्याये होती है । कल्पातीत देवो के स्वभाव से ही शुक्ललेश्या होती है । तीर्थकर प्रकृति के बध करने वाले जीवो के एक ही शुक्ल लेश्या होती है ।।११०।।१११।।

**भवनवासी देवो का निवास एव आयु**

भवनवासी देव कहॉ रहते है और इनकी आयु कितनी है सो कहते हे

भवनेषु निवसन्ति ये भवनवासिनोदेवाश्च दशधा ।
चित्राऽधोभागे वा कुमारास्तेषा सदवस्था ।।३४।।

असुर नागाविद्युतश्च सुपर्णाग्नि वातस्तनितोदधिद्वीपा ।
दिग्पालाश्चायु दशसहस्त्रधिक सागरोपमम् ।।३५।।

भावार्थ · (ये) जो देव (भवनेषु) भवना मे (निवसान्ति) रहते है (भवनवासिन ) वे भवनवासी देव कहे जाते है (तेषा) उन भवनवासी दवो की (कुमारा सदवस्था ) यौवन युक्त सदवस्था होती है (चित्राऽधोभारो) चित्रा पृथ्वी १,८०,००० (एक लाख ८० हजार) योजन मोटी होती हैं इसके मध्य मे तीन पोल है उनमे से प्रथम पोल मे रत्नमयी महल बने है प्रत्येक भवन मे एक अकृत्रिम जिन मन्दिर है जहाँ ये देव निरतर भगवान की पूजा करते हैं । (असुर नाग विद्युता सुपर्णाग्नि वातस्तनितोदाही द्वापाः) असुर कुमार, नागकुमार, विद्युतकुमार, सुपर्णकमार, अग्निकुमार, वायुकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार (च) और (दिग्पाला ) द्विक्कुमार इसप्रकार (दशधा ) भवनवासी देव दस प्रकार के होते हैं । इनमे प्रत्येक के दो इन्द्र प्रतीन्द्र के भेदसे ४० इद्र होते है इन देवो की (आयु ) आयु (दशसहस्त्रोधिक सागरोपम) दस हजार वर्ष की जघन्य और उत्कृष्ट से एक सागर से कुछ अधिक जानना चाहिये ।।३४-३५।।

व्यन्तर देव

किन्नर किंपुरूष महोरग गन्धर्व यक्ष राक्षस भूता· ।
पिशाचाष्टविधा एव चित्रोपरिमध्याऽधोभान्ति ।।३६।।

अन्वयार्थ व्यन्तर देव ( किन्नर किपुरूष महोरगगन्धर्व राक्षस भूता ) किन्नर, किपुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत (च) और (पिशाचा ) पिशाच के भेदसे (अष्टाविधा) आठ प्रकार के होते हैं (चित्रापरि) चित्रा पृथ्वी के ऊपर (मध्या) मध्य भाग मे (अधो) और भवनवासी देवो के पक भाग मे (भान्ति) रहते है ।

भावार्थ किन्नर, किपुरूष, महोरग, गधर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच के भेद से व्यतर देवो के ८ (आठ) भेद होते है । इन व्यतर देवो के भी प्रत्येक के दो इद्र और दो प्रतीन्द्र कुल मिलाकर ३२ इन्द्र होते है

ये देव चित्रा पृथ्वी के उपर जहॉ तहॉ वृक्षोपर, पर्वतोपर, गुफाओमे अथवा मकानोमे उसर (उवड-खाबड) भूमि मे निवास करते है । ये व्यतर देव नाना प्रकार की क्रीडा करने मे उद्यत रहते है । ये मध्यलोक के असख्यात द्वीप, पहाड और समुद्रो मे विचरण करते रहते है तथा अपने अपने स्थानो मे बने हुए अकृत्रिम चैत्यालयो की कुलदेव मानकर पूजा किया करते है ।।३६।।

**व्यंतराश्च ज्योतिष्का·अर्क विधुग्रह नक्षत्र प्रकीर्णा·।**
**तारकाश्चित्तोपरी निवसन्ति चल विमानेषु वा ।।३६।।**

**अन्वयर्थ** · (अर्क विधुग्रश्च नक्षत्र पुकीर्णा) सुर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, प्रकीर्णक (च) और (तारका) तारे ये पॉच प्रकारके देव (चित्रोपरी) चित्रा पृथ्वी के ऊपर ७९० योजन जानेपर (चलविमानेषु) घूमते हुए विमानो मे (ज्योतीष्का) ज्योतिषी देव (निवसन्ति) निवास करते है (वा) अढाई द्वीप से आगेवाले ज्योतिषी देव भ्रमण नही करते है उनके विमान जहॉ के तहॉ स्थिर रहते है ।

**भावार्थ** : चित्रा पृथ्वी के ७९० योजन ऊपर जाने पॅर विमान ज्योतिषी देवोको भ्रमण करते है । ये ज्योतिषी देव पॉच प्रकार के कहे गये है जिनमे से मुख्य चन्द्रमा है यह इन्द्र और सूर्यदेव प्रतीन्द्र है बाकी देव तारा, नक्षत्र और केतु, राहू, मगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि तथा विपु और सूर्य इनको नवग्रह भी कहते है । इन सभी प्रकार के ज्योतिषी देवो के विमान पॉचो मेरूओ की प्रदक्षिणा लगाते हुए मध्यलोक मे भ्रमण करते रहते है । प्रथम मे तारा देव के विमान घूमते हैं उसके ९० योजन उॅचा जानेपर सूर्यदेव का विमान भ्रमण करता है मध्य मे अनेक श्रेणीबद्ध ज्योतिषी देवो के विमान हैं उन सबके ऊपर मे ९० योजन पर चन्द्रमा का विमान भ्रमण करता है चन्द्रमा के विमान से ऊपर मगल, बुध, गुरु, शुक्र और अन्त मे शनिदेव का विमान भ्रमण करता है यह भ्रमण का क्रम मनुष्य लोग के भीतर ही है बाहर मे नही क्योकि वाहर के विमान ज्योति

रहित काले वर्ण अथवा राहु केतु के वर्ण क समान और ध्रुव तार की तरह स्थिर रहते है । मनुष्य लोक मे व्यवहार काल का माप दण्ड ज्योतिषी देवो का भ्रमण ही कारण है । पल, मिनट, घटा, पहर, दिनरात, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, काल, वर्षाकाल और सम्वत्सर इत्यादि भेद हो जाते है ।।३७।।

**बन्ध के चार भेद**

चतुर्विधोबंधश्च प्रकृतिस्थित्यनुभाग पदेशत· ।
स कषायै स्थित्यनुभागप्रकृतिप्रदेश बधयोगै· ।।७१।।
अष्टविधप्रकृति बधोऽनेक भेदैश्च युक्त ।।
यथाभावजीवाना तथाच प्रदेशानु भागौ ।।७२।।
यावत्कालेजीवः परिणमती शुभाशुभभावेभ्य· ।
सति तावत्प्रकारं शुभाशुभकर्मणा बन्ध ।।७३।।

भावार्थ · प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बन्ध की अपेक्षा चार प्रकार का बन्ध होता है । कषायों कि तीव्रता-मन्दता के अनुसार कर्मों की स्थिति पडती है और अबाधा काल पूर्ण हो जाने पर फल देने को शक्ति प्रकट होती है उसको स्थिति बन्ध कहते हैं । मन-वचन-काय योगोके कारण को प्राप्त हो, प्रकृति और प्रदेश बन्ध होता है । प्रकृति बन्ध आठ प्रकार का होता है । ज्ञानावरणादि के भेद से एक और क्षयोपशम की अनेक भेद व पॉच भेदवाला है । दर्शनावरण की अपेक्षा एक और क्षयोपशम की अपेक्षा ९ (नौ) व ४ भेद वाला है । वेदनीय कर्म एक और उदय की अपेक्षा या क्षयोपक्षम की अपेक्षा अनेक भेदवाला और दो भेदोवाला है । मोहनीय कर्म दर्शन मोह और चरित्र मोह की अपेक्षा दो प्रकार का और उपक्षम क्षयोपक्षम की अपेक्षा अनेक प्रकार का है । आयु कर्म नाम से एक आस्रव और बध की अपेक्षा अनेक भेद वाला है और गति की अपेक्षा चार प्रकार का होता है । नाम कर्म नाम से एक है और उदय और बद की अपेक्षा असख्यात भेदवाला है । और सामुहिक की अपेक्षा ४२ भेदवाला है और ९३ भेदवाला है । गोत्र अनेक आकार के होते

है । और नाम से, उदयसे, दो भेदवाले होते है । अतराय कर्मनाम से एक परतु क्षयोपशम की अपेक्षा पॉच और सख्यात और असख्यात भेदवाला होता है । क्योकी विघ्न अनेक प्रकार के होते है । जेसे जीवोके शुभभाव या अशुभभावोका परिणाम है और आत्मा के प्रदेश असख्यात होते ह । उनके साथ सबधों को प्राप्त होते है । यह प्रदेश वध है । कर्मो की स्थिति सख्यातसागर की पडती है । यह स्थिति वध है ।।७१।७२।७३।।

**स्थिति बध**

> **आवरणवेदनीय मन्तरायकर्मणा परास्थितिश्च ।**
> **त्रिंशत्मोहनीयस्य सप्तति कोटाकोट्युद्धि ।।८०।।**
> **नामगोत्रयोर्विशति कोटाकोटयायुत्रायत्रिशत् ।**
> **वेदनीयाद्द्वादशाष्टौ नामगोत्रेऽन्तुमुर्हुर्त मोह च ।।८१।।**

**अन्वयार्थ** (आवरण वेदनीय अन्तरायकर्मणा) ज्ञानवर्ण, दर्शनवर्ण, वेदनीय और अतराय कर्मोकी (परिस्थिति ) उत्कृष्ट स्थिति (त्रिशत) तीस (मोहनीयस्य) मोहनीय कर्मो को (सप्तती) सत्तर (कोटाकाट्युदधि ) कोटा कोटी सागर प्रमाण (नामगोत्रयार्विशति) नामकर्म और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटाकोटीसागर की आयु (त्र्यायत्रिशत्) ३३ सागर प्रमाण है । (च) चारित्र मोह की चालीस कोटा कोटो सागर प्रमाण ह (नामगोत्रे) नाम और गोत्र की (अष्टो) आठ (मुहूर्त) मुहूर्त को जघन्य स्थिति (वेदनियद्वादश) वेदनोय कर्म को जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त और (मोहम्) मोहनीयकी (च) ज्ञानावरण, दर्शनावरण की अन्त मुहूर्त की जघन्य स्थिति (भवति) होती है ।

होती है। वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्तप्रमाण और नामगोत्र की आठ मुहूर्त तथा ज्ञानवरण, दर्शनावरण मोहनीय और अतराय कार्य की जघन्य स्थिति अतर्मुहूर्त प्रमाण होती'है ।।८०।८१।।

**अनुभाग बध का स्वरूप**

**कर्म विपाक फल चदत्वा विक्ररन्ति स्वस्थिति यदा ।**
**कर्म विपाक मिवमेवम शुभ शुभौ करोती भावानि ।।८२।।**

**अन्वयार्थ** (कर्म विपाक फलच) कर्मो के विपाक फल को (यदा कत्वा) जिस काल मे देकर निकालते हैं (स्वस्थिति) अपनी स्थिति को पाकर (विकरन्ति) खिर जाती है। (कर्मविपाकम) कर्मों के उदय विपाक के अनुसार (भावानि) जीव अपने भावोके (इन) समान (एव) निश्चय से (शुभाशुभौ) शुभभाव अशुभभाव (करोती) करता है। जिससे पुन नवीन कर्मो का बध कर लेता है।

**भावार्थ** ज्ञानावरणादी आठ कर्म आबाधाकाल के व्यतीत हो जानेपर कर्मो मे फल देने की शक्ति नियमित रूप से उत्पन्न होती है। कर्म उदय मे आ आकर अपना साता या असाता रूप फल दिखाते हुए अपनी स्थिति को पूर्ण कर नियम से निकल जाते हैं। इसप्रकार अनुभाग बध होता है परन्तु उदय विपाक काल मे मुमुक्षु तो फल भोगते समय समभाव से भोगते है और विचार करते है कि यह वेदना हो रही है यह सब कर्मो के उदयविपाक का ही फल है ऐसा विचारकर परिणामो मे विकृती नही होने देते है। अज्ञानी कर्म विपाक का फल अनुभव करते हुए शुभ कभी अशुभ भाव रूप, राग, द्वेश परिणामो को कर नवीन कर्म बन्ध करते है। इसप्रकार अनुभाग बध का स्वरूप कहा है ।।८२।।

**मोक्ष तत्व**

**अत्यन्ताभावकर्माणां द्रव्य भावविहीनाना ।**
**नो कर्मान्युक्तमोक्षच आत्यान्तिकावस्थाऽशेष· ।।८८।।**

**अन्वयार्थ :** (अत्यन्ताभावकर्माणा) ज्ञानावरणादि आठो द्रव्य कर्म राग द्वेषादि (द्रव्य भावविहीनाना) द्रव्य कर्म और भाव कर्मो से रहित हो

जाना (नोकर्मान मुक्त मोक्ष च) औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्माण नो कर्म शरीरो से मुक्त हो जाना (मोक्ष) मोक्ष (च) और (आत्यान्तिकावस्थाऽशेष) जिसके पीछे कोई भी अवस्था शेष नही रह जाती ऐसी अन्तिम अवस्था का प्राप्त होना (मोक्ष) मोक्ष है ।

**भावार्थ** : द्रव्य कर्म ज्ञानावरणादि, भावकर्म राग-द्वेषादि, नोकर्म औदारिकादि शरीर इन सब का नाश हो जाना अथवा कर्मो के योग से जितनी अवस्थाये होती चली आ रही है उन सब अवस्थाओ का अवसान प्राप्त हो गया है जिनके पीछे कोई भी अवस्था बाकी नही रह गई ऐसी अतिम अवस्था के प्राप्त होने को मोक्ष कहते है । जिस अवस्था मे विभाव गुणो के योग्य हेतु का अभाव हुआ और स्वभाव गुणो को पूर्णता प्राप्त हुई यह मोक्ष तत्व है ।।८८।।

**गतिसंसरणाभावात् तिष्ठत्यचलनिर्वाणे ।**
**वृषभोऽभावतः कथ गच्छत्यलातचक्रं च ।।८९।।**

**भावार्थ** : जब तक जीव और कर्मो का परस्पर मे सम्बन्ध है तब तक चतुर्गति भ्रमण रूपी ससार चक्र निरन्तर चलता रहता है । जब तीनो ही प्रकार के कर्म आत्मा से पृथक हो जाते है । तब चार गति रूपि रहॅट का चलना बद हो जाता है और आत्म निर्वाण स्थान मे अचल होकर ठहर जाता है । जिस प्रकार रहॅट तभी तक चलता है कि जबतक उसमे बैल जुता रहता है, जब बैल को उससे अलग कर दिया जाता है तब अलात चक्र का घूमना बन्द हो जाता है तब रहॅट की घरियो का चलना बन्द हो जाता है । इसी प्रकार कर्मो के अभाव होने पर चार गति को चौरासी लाख योनियों रूपी ससार चक्र शान्त हो जाता है ।।८९।।

**उपासकाध्ययन १०८ मुनि श्री ज्ञानभूषणजी महाराज**

**कतिविधोऽास्तिदेवश्च किं सर्वेसादृशालोके ।**
**को देवादेव एवैति देवस्यलक्षणं मेवद् ।।१।।**

**अन्वयार्थ** : (देव) देव (कतिविध) कितने प्रकार के (अस्ति) होते है (कि) क्या वे देव (सर्वेसादृशा) सब समान धर्म वाले होते हैं (लोके)

ससार मे (क ) (देवादेव ) देव और कौन कुदेव (एव) निश्चय (देवस्यलक्षण) यथार्थ देव का लक्षण और अदेव का लक्षण (मे) मेरे लिये कृपाकर (वद्) कहें ? (इति) इस प्रकार शिष्य ने प्रश्न किया है ।

**भावार्थ** यहाँ पर भगवान से प्रश्न किया है कि हे भगवान् । हम जगत् मे अनेक देवो को देख रहे है वे देव समान गुण धर्म के धारक है या भिन्न-भिन्न हैं इसमे से कौन सा देव और कौनसा अदव अथवा कुदेव है ? और देवादेवो का क्या स्वरूप सो कृपा मेरे लिए कहे ।।१।।

**त्रिविधोऽनेकविधोदेवा पूज्यापूज्यौ प्रभेदत·।**
**दोषादोषौ स्थिता देवा प्रवक्ष्यामि प्रयत्नम ।।२।।**

**अन्वयार्थ** : (त्रिविध) अदेव, कुदेव और देव की अपक्षा तीन प्रकार के (अनेकविध देवा ) भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी, कल्पवाशी, पर्याय की अपेक्षा अनेक भेदवाले देव होते हैं (पूज्यापूज्यजो ) पूज्य और अपूज्य के (प्रभेदत ) भेद से (दोषादोर्षो) सदोप और निदोष रूप से (देवा ) देव (स्थित ) विद्यमान है (प्रयत्नत ) प्रयत्नपूर्वक (प्रवक्ष्यामि) कहता हूँ सो तू सुन !

**भावार्थ** देव तीन प्रकार के होते है और पूज्य अपूज्य की अपेक्षा अनेक भेदवाले होते है । सदोष और निदोष, सपरिग्रह - नि परिग्रह की अपेक्षा विचार करने पर भी अनेक भेद होते है इन सब देवो का स्वरूप हम कहते है तुम चित्त की एकाग्रता कर सुनो ।।२।।

**अदेव का स्वरूप**

**लब्ध्वानिग्रोधमपि जनै अर्चन्ति जलाक्षतपुषपैश्च ।**
**समर्प्यापवीत च स्तुवान्ति प्रणमन्ति षाष्टागै ।।३।।**
**त्रिवरीत्येतिभक्ता पातु भो श्रीवटोशरण गतान् ।**
**तव ये दाशव्याकुला देहि सर्वविभूतयस्तान ।।४।।**

**भावार्थ** मोहान्धकार मे व्यस्त मानव, निग्रेहध कहते है बड के वृक्ष को, अपना इष्टदेव मानकर पानी पिण्डका के ऊपर डालकर जनेऊ पहनाता है, तीन प्रदक्षिणा देकर स्तवन करता है और अक्षत, आदि आठ

द्रव्यो से पूजा करता है कहता है वट वृक्षादिको के लिए देव मानकर हम सब भक्तजन आपकी शरण को प्राप्त हुए है, हम सबको धन-धान्य कुटुम्ब परिवार से समृद्ध करो । ये भक्तजन व्याधियो के कारण व दरिद्रता के कारण व्याकुल हो रहे है इन शरणागतो की रक्षा कर सुख शाति प्रदान करो । इस प्रकार जिसके साधारण वनस्पतिकायक एकेन्द्रिय स्थावर नामकर्म का उदय है वह इतने कार्य कैसे कर सकता है ।।३-४।।

**प्राप्तोमालूरं च वरवाञ्छा पायसपानकार्दिभिः ।**
**अर्चतिनित्यं लोभी रक्षार्थ कुल धनबान्धवान् ।।८।।**

**भावार्थ** : मिथ्याभावना से युक्त धर्माधर्म, देवादेव के स्वरूप को नही जानने वाला लोभी मानव वेलपत्रादि के वृक्ष को प्राप्त कर उसकी खीर, लपसी, दूध, दही, पानी, पूडी इत्यादि से पूजा करता है और नमस्कार कर वर पाने के इच्छा प्रकट करता है कि हमारे धन, धान्य, पुत्र इत्यादि सब वैभव को तुम रक्षा करो यही हमे वरदान दो ।।९।।

**पृथ्वी देवी की पूजा मिथ्या**

**तवनाम्नक्षमामात दुर्गुणान् क्षयस्वमातोवरदेही ।**
**धरित्रीसर्वविटपान रक्षन्ति चराचर जीवान् ।।१७।।**
**वय सेवकगणा· रर्चथामो जलगंधाक्षत कुसुमैश्च ।**
**नैवद्यदीपधूपफलादि द्रव्यै रक्ष रक्ष ।।१८।।**
**दानवारान्ति दु ख दुर्जना संतापयान्ति बहुधाश्च ।**
**तन्निवारय मात देहि धनधान्यस्त्रीपुत्रादि ।।१९।।**

**भावार्थ** · हे पृथ्वी माता । आप सविस्तार विराजमान है आपका नाम क्षमा है कि आपके ऊपर शीत, उष्ण और मेघ पडते है उनका आघात को आप सहन करती है । नाना प्रकार के वृक्ष, लताओ को जन्म देने वाली वृद्धि करने वाली और रक्षा करने वाली होने के ही कारण आपको धरित्री कहते है, यह सार्थक है । किसी के द्वारा तोडने पर, फोडने पर, रोदने पर हल-वखर के चलाने पर या ग्रीष्म ऋतु की गर्मी के पडने पर

या वर्षा ऋतु की वर्षा होने से जहाँ तहाँ कट जाने और शीतकाल के आने पर, हिमपात होनेपर या वर्फ पडने पर जो सताप होता है उसको आप सहन करती है इसलिए आपका नाम क्षमा और धरित्री है । लोग मे स्थित चराचर जीवोकी आप रक्षा करती है । दुर्जन, पापी, दानव, दैत्य हमको वहुधाकर दु ख देते है । हे माता ! हम भक्तगणो की कुरीतिया को और दुर्गणो का नाश करे । दैत्यगण, हम आपके भक्तो को विशेष समय समय पर दु ख देते हैं और हमारे धन, धान्य, पुत्री, स्त्री इत्यादि को नष्ट-भ्रष्ट कर विशेष सताप उत्पन्न करते है उन पापियो से हे माता हमारी रक्षा करो ! हम भक्तजन पानी, सुगन्धित चन्दन, केशर, कपूर अक्षत, पुष्प, पूडी, पापडी, खीर, लापसी, लड्डू, दीपक, धूप, फलो से आपकी पूजा करते है । हम भक्तजनो को धन, धान्य, पुत्र, पत्नी देकर सतुष्ट करो । इस प्रकार पृथ्वी को पूजा आराधना करते हैं तथा एकेन्द्रिय स्थावर पृथ्वीकाय की पूजाकर सुख की कामना करते हैं विचार कीजिये कि वे स्वय ही एकेन्द्रिय स्थावर हे कारण दु ख का निरन्तर अनुभव करते हैं फिर वे भक्तो को कैसे सुख सपत्ति दे सकते हैं ।।१७-१८-१९।।

**जल देव की मिथ्या आराधना**

> जलदेवतवनाम्नमृतं जीवनोऽपिवदन्ति मुनिपुंगवैश्च ।
> जीवनदातुलोकान् त्वं रक्षरक्ष शरणगतानाम् ।
> ग्रह दानवैश्चपीडा मॉ न जहति शान्ति सतापम् ।
> तेभ्यो रक्ष देहिसुख पूजयामि दुग्धाक्षतादिभिः ।।२१।।

**भावार्थ** · अज्ञानी मोही सुख की वाछा कर पानी को देव मानकर पूजा करता है और सुख-शान्ति प्राप्त करने की इच्छा करता है प्रथम मे पानी की प्रशसा रूप स्तवन करता हुआ कहता है कि हे जल आपका नाम अमृत है क्योकि प्राणी पानी पीकर चिरकाल तक रहते है आपका दूसरा नाम जीवन भी है क्योकि सब देहधारी पानी पीकर जीवित रहते है । यदि पानी नही होता, तो सब ही मरण को प्राप्त हो जाते । ऐसा (मुनियुगवै) ब्रम्हा, विष्णु, महादेव, गणेश, गुहा, कपिल, भारद्वाज इत्यादि जितने मुनि

है उनके द्वारा ऐसा कहा गया है और वे ऋषिगण भी आपका पानकर अमर हो गये है । जब दैत्यो ने देवो पर प्रहार किया और देवो के होश उड गए तब उनको होश मे लाने के लिए मदराचल पर्वत की रई (मथानी) बनाई और शेषनाग की रस्सी बनाकर समुद्र का मथन किया था तब उसमे से अमृत निकला था उसको पीकर जितने देव थे वे अमर हो गये आप सब देहधारियो की प्यास से होने वाली वेदना को नष्ट करने वाले तथा मरण से रक्षा करने वाले होने के कारण आपका नाम जीवन है ऐसा ब्रम्हा, विष्णु, और महादेव मुनित्रय कहते है । आप सब प्राणियो को जीवन दान देते है इसलिए अब हमारे पीछे लगे हुए राहू, केतु, सुर्य, चन्द्र, मन्डल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनिश्चरादि ग्रहो से हमारी रक्षा करो । क्योकि ये पापी हमको निरन्तर दु ख देते है । कभी धन, धान्य मकान का नाश कर देते है, कभी पुत्र, स्त्री, माता-पिता का वियोग कर दु ख देते है । कभी सोना, चॉदी, माल दौलत को अन्य रूप परिवर्तन कर शरीर मे रोग हो जाने रूप दु ख देते है । उन ग्रह रूपी पापियो से हम सेवको की आप रक्षा करो । हम आपको पूजा घी, दूध, दही, खीर, पूडी आदि दीप, धूप, श्रीफल से करते है हमपर प्रसन्न होवो । इत्यादि से जल को नदी, समुद्र, तालाव, कुआ, बावडी पर जाकर पूजा करते है यह मिथ्यात्व है ।

**अग्नि की मिथ्या पूजा**

> **दहनदेवी तवनाम्नाः दहति भवता कल्मषानियोगिनाम**
> **अस्माकमप्यमित्राणी भस्मी कुरूतात् सत्वशंम ।।२२।।**
> **अर्चयामो हविदधि धूपगंधमालाक्षतनैवेधैः ।।**
> **दानवारान्ति दु·ख अपहरान्ति धन धान्य सपदाम् ।।२३।।**

**भावार्थ** · अज्ञानाधकार मे मार्ग भ्रष्ट विषयाशक्त ससार सम्बधी नाना प्रकार की कामनाये करता हुआ अपने कुल की वृद्धि धन, धान्य, राज्य, वैभव मान्यता की वृद्धि कि इच्छा करता हुआ अग्नि को देवी या देव मानकर घी, गुड, दूध, दही, पूडी, पापडी की आहूती देकर दीप, धूप,

फल की आहुतियाँ देकर पूजा करता है। प्रथम ही कहता है कि हे अग्नि देवी तेरा नाम दहन है तू ही योगी जनो के पाप पुज को जलाकर भस्म कर देती है। जिससे योगीजन वैकुठधामको प्राप्त हो जाते है। हम भक्तगणो को वैरीगण निरन्तर दु ख देते है, कभी धन हरण, कभी पुत्र, मित्र, स्त्री, मरण, रूपवियोग रूप दु ख देते है। कभी शरीर मे रोगो को उत्पन्नकर, कभी इष्ट वियोगकर, कभी मानसिक वेदनाकर दु ख देते हैं। उनसे भयभीत हो हम आपकी शरण मे आये हुए हैं। क्योकि आपकी सेवा ब्रम्हा, विष्णु, राम, हरिहर इत्यादि सब ही करते है क्योकि आपकी सबसे बढ़कर शक्ति है, आपकी शक्ति के सामने यमराज राहु केतु शनिश्चरादि ग्रहो की शक्ति नही है। अब हम भक्तजन आपकी पूजा आहूतियाँ देकर घी, दही, दूध, चन्दन, केशर कपूरादि सुगधित द्रव्यो से तथा नैवेद्य, धूप, फल और पुष्पो की माला से करते है। आप हमारी वैरी, दानवो से रक्षा करो, वे ग्रह भक्तजनों को दिन-रात्र दु ख देते है। उन राहू, केतु, शनि इत्यादि को शीघ्र भस्म कर दो और धन, धान्य, बल, वैभव, परिजनो की रक्षा करो और वृद्धि करो। इस प्रकार अग्नि की पूजा स्तवन करते है। यदि विचारकर देखा जावे तो आग्निकायक एकेन्द्रिय स्थावर नामकर्म कि कर्म फल भोगने वाले स्वयम् ही दु खी है तब पूजा करने वाले भक्तजनों को सुख, समृद्धी, वैभव कैसे दे सकते है और कैसे, बैरी, दानवो को भस्म कर सकते है ? नही कर सकते है अर्थात् यह सब मिथ्यात्व ही है ।।२२-२३।।

कोई भक्त कहता है कि हे आकाश देव असमय मे होनेवाली अकाल मृत्यु को दूर करो। राहु, केतु, शनि आदि खोटे ग्रह हम भक्तों को समय समय पर विशेष दु ख देते हुए गुजरते है इन दुष्ट ग्रहो को दूर करो। आप हमारे पापो का नाश कर पुण्य को प्रदान करो और भक्तजनो को स्त्री, पूत्र, पौत्र, सुवर्ण, चाँदी इत्यादि वैभव देकर समृद्ध करो। इस प्रकार आकाश को देव मानकर ऋद्धियाँ देते है और वर माँगते है यह बडी ही आश्चर्य की बात है कि जो जड अचेतन है वह (एकेन्द्रिय है) कैसे वे भय दूर कर सकता है ?

लोक मूढता

**प्रेतं प्रेत्वश्यर्नि भस्म संचिनोत्यस्थिकानि कुधीः ।**
**भक्त दुग्ध घृततोयैः भस्मप्रेतमर्चान्ति च ये ।।२९।।**

**भावार्थ** - अज्ञानी मूढ बुद्धि जब जब अपने घर मे किसी की मृत्यु हो जाती है और मृतक शरीर को श्मशान भूमि मे जला देते है, जलने के दूसरे दिन श्मशान मे भस्म हुए शरीर की हड्डियो को भस्म मे से चुनकर एकत्र करते है तथा राख को एकत्र करते है उसके पश्चात् घर से साथ मे लाये हुए चावल, दूध, घी, शक्कर की खीर भात बनाकर तीन स्थानो पर पत्तर रखकर उनमे उस खीर भात को रख देते है और कहते कि हे मृतक ! अब अन्तिम यह खीर का भोजन करो । जो श्मशान मे एकत्रित हुए है वे कहते है कि इस भोजन को करके मरे को दिखा करके पित्र तृप्त हो जावेगे । जब जीवित था तब तो बेचारा रोटी के लिये तरसता था, अब तिया के दिन खीर खिलाते है, यह भोजन क्या मृतक के या पितृ के पास पहॅुच जावेगा ? नही पहॅुचेगा । कोई अज्ञानी आश्विन कृष्ण पक्ष मे ब्राम्हणो को पूडी खीर, उस दिन खिलाते है कि जिस दिन जिस तिथि को मरण हुआ था, ब्राम्हणो (उपध्यायो) को खिलाकर मानते है कि यह दान-पुण्य हमारे पूर्वज मर गये है उनके पास पहॅुच जावेगा और वे कष्ट से छुटकारा प्राप्त कर लेवेगे । यदि विचार पूर्वक देखा जावे तो जिस जीव का तिया किया जा रहा है वह जीव पूर्व शरीर को छोडने के पीछे एक, दो या तीन समय के अन्तर्गत नवीन शरीर को अवश्य ही प्राप्त हो जाता है । फिर विचार करिये कि वह तुम्हारे दिये हुए भोजन को कैसे ग्रहण करता है ? सो कहो ।।२९।।

कुदेवो का स्वरूप

**कोऽप्यर्चन्तिकिन्नर भूतपिशाच भैरववैतालेभ्य ।**
**चन्द्रार्कराहु बुधगुरू शुक्रमगलकेतु शनीश्चरेभ्य ।।३२।।**
**मन्यते दातपशुस्तान सुखसम्पत्ति विभवान्नित्यम् ।**
**इच्छन्तिसुतभार्याश्च रिपुव्याधिव्यथाना क्षयम् ।।३३।।**

**भावार्थ** - कोई अज्ञानी प्राणी सुख, सम्पति, वैभव, पुत्र, स्त्री, भाई, माता-पिता इत्यादि की इच्छा कर जितनी ससार मे इष्ट वस्तुये है वे सब वस्तुये इन किन्नर, भूत, पिशाच, भैरव, वेताल, राहु, केतु मगल, रवि, चन्द्रमा, वुध, गुरु, शुक्र, शनि तारा, ग्रहो की पूजा जल, गध, इत्र, पूडी, पापडी, खीर को चढाकर और धूप दीप, से आरती उतारता है। कोई अज्ञानी मिथ्याधकार मे पड़ा हुआ तीव्र दर्शन मोह का उदय विपाक होने के कारण जगत मे अनेक प्रकार के देव-देविया स्थान-स्थान पर विराजमान है - कही काली, कही महाकाली, कही दुर्गा, केला, चण्डी, चामुण्डी, कुसुमाण्डी इत्यादि देवी तथा किन्नर, भूत, पिशाच, वेताल, जिन्द इत्यादि अनेक व्यन्तर देवो की पूजा घी, गुड़, पूडी पापडी, दुध, दही, दीपक, चन्दन, तेल इत्यादि चढाकर प्रसन्न मानता है और अनेक प्रकार के पशुओ की हिसा करता है। उसके वाद देव देवियो से याचना करता है कि हे देव! आपकी कृपा से मेरा वैरी मुझको वहुत दु ख देता है वह मर जावे। मेरे कुल का दीपक पुत्र नही सो पुत्र का वरदान दो। कोई कहता है कि पुत्र, स्त्री दोनो ही दो, कोई कहता है कि मेरे स्त्री नही, पुत्र, धन, वेभव कुछ नही होने से मै अपने को निस्सार मानता हूँ इसलिए आप स्त्री, पुत्र, धन, धान्य, वैभव सुख देकर मुझे प्रसन्न करो। सूर्य, चन्द्रमा, मगल, बुध, गूरु, शुक्र, शनि, राहु केतु ये नव ग्रह तथा तारा और नक्षत्र इन सबको सुख दुख, वैभव का दाता मानकर इनकी पूजा नैवेद्य, दीप, धूप फलादि लेकर करता है और विनयपूर्वक मस्तक झुकाकर नमस्कार करता है ग्रहो को शान्ति करने के लिये घी, तेल, चन्दन, इत्यादि से हवन करता है और उनसे वरदान मॉगता है ।।३२-३३।।

भुमिया यक्षवरूणेभ्य याग सूत्राभगधाक्षत धूपै· ।
तेलगुड़ श्रीफलपुष्प नैवेद्य दीप प्रज्वालितै ।।३४।।
कुक्कुटाजामेषान बलिदत्वा करोति रक्तकर्दमम् ।
तान् प्रसन्नकरणार्थ करोतियत्नं मूढमनसा ।।३५।।

**भावार्थ** - जिसकी मति भ्रष्ट हो गई है वह मानव सुख, वैभव, स्त्री,

पुत्र घर, सम्पत्ति आदि को प्राप्त करने की प्रसन्न करने कि प्रबल इच्छा को लेकर भूमियॉ भैरव, यक्ष, वरूणदेव, क्षेत्रपाल इत्यादि को प्रसन्न करने के लिए प्रयत्न करता हुआ प्रथम मे वह भक्त पानी के घडे से उनकी मूर्ति को स्नान करता है और जनेऊ पहनाता है और दूध, दही से मूर्ति को स्नान कराता है उसके पश्चात् तेलसे स्नान कराता है, सिन्दूर, चॉदी का वर्क तथा इत्र लगाता है। गुड, पूडी, पापडी चढाता है तथा दीपक और धूप जलाकर आरती उतारता है नारियल को फोडता है। पचमुखी, सप्तमुखी दीपको को जलाकर और सुगन्धित धूप को अग्नि मे डालकर आरती उतारता है। कोई मूढ पाप बुद्धि सुख की आकाक्षा से देव को प्रसन्न कर उनसे वैभव, पुत्र, स्त्री, धन, इत्यादि की याचना करता है। इस प्रकार लौकिक जनो के द्वारा पूजा की जाती है। ये देव व्यतर, सूर्य, चन्द्रमा, राहु, केतु, मगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि आदि ग्रह और ज्योतिषी देव है ये मनुष्य लोक से ७९० योजन की ऊँचाई से लेकर ९०० योजन तक रहते है और अपने किये गये कर्म के विपाक फल को भोगते हुए जन्म-मरण रूपी झूला मे झूल रहे है। फिर वे तुम पुजारियो को धन-धान्य, पुत्र, स्त्री, सम्पदा कैसे दे सकते है यदि ग्रह और वरूण और पचभूत वृक्ष ही सब देने लग जावे तब अपने किये गये पुण्यकर्म और पापकर्म निरर्थक हो जावेगे इससे यह स्पष्ट जाता है कि प्रत्येक प्राणी अपने-अपने पुण्य-पाप के फल को भोगता है ।।३४-३५।।

**ब्रम्हविष्णुपिनाकी गुहाबुद्धकल्की भृगुश्चदेवा ।।**
**अष्टादशदोषयुक्ता भवनव्यन्तर ज्योतिषी वा ।।५०।।**

**भावार्थ** अन्य धर्मावलाम्बियो के द्वारा माने गये देव असख्यात भेदवाले होते है जिनमे से कितने ही तो देहधारी और कर्मफल भोगने मे रत है कितने ही कर्म चेतना से युक्त है। परतु ज्ञान चेतना वाला कोई देव नही। अन्य मतावलम्बी अपने-अपने कर्म के अनुसार अवतारोका कथन कहते है। कोई मतावलबी भगवान के दस अवतार मानता है, उनके नाम मच्छली, कछुआ, सूकर, नरसिंह, राम, रामचन्द्र, कृष्ण,

वामन, वुद्ध, और कल्की ये दस देव है और विष्णु के अवतार है । परतु इनमे से एक भी देव ऐसा ज्ञाता दृष्टा नही, क्योकि मीन और कछुआ तो जल मे विचरण करने वाले पचेन्द्रिय प्राणी है । सुकर यह एक पचेन्द्रिय तिर्यञ्च प्राणी है अव शेप सात वचे वे भी मनुष्य है सो सदोष ही अनुभव गोचर होते है ।।५०।।

**शिवपुराण से**

एक दिन महादेवजी वेल की सवारी पर वाये हाथ की तरफ पार्वती को और दाहिनी तरफ कार्तिकेय को लेकर वैठे दिगम्वर अवस्था मे आ रहे थे । उनके गले मे गुहेरा सर्पो की माला थी । एक हाथ मे डमरू और दूसरे हाथ मे त्रिशूल आयुध था । उस समय उदाधि कुमार नाम का प्रतापी राजा हुआ था । वह न्याय नीति का जाननेवाला सदाचारी एक पत्नी मे आशक्त परपत्नी का त्यागी था । उसकी पटरानी धर्मात्मा और पतिव्रता थी । उदधिकुमार ने अपने पराक्रम से ब्रम्हा, विष्णु इत्यादि देवो को युद्ध मे जीत लिया और केद खाने मे छ महीने तक रोक रखा था । उसके पश्चात् महादेवजी को जीतने की इच्छा प्रकट की तव महादेवजी को पता लग गया कि देत्यो का यह राजा महा पराक्रमी है कि जिसने ब्रह्मा विष्णू इत्यादि देवो को केद खाने मे रोक रखा है । तव भयभीत होकर हिमालय की गुफा मे जाकर छिप कर रहने लगे तब भी उस देत्यराज ने उनका पीछा नही छोडा । तब महादेवजी उससे युद्ध करने लगे और ऑखे बचाकर गुफा मे प्रवेश कर गये तब उदधिकुमार खोजता हुआ गुहा मे पहुँच गया और महादेव जी वैकुठ मे विष्णु भगवान के पास गये । वहाॅ भी विष्णु भगवान को नही पाया । मनमे हैरान होकर अपने गुप्त स्थान को चले गये और वहाॅ जाकर उदधिकुमार से युद्ध होने लगा । ब्रम्हा, विष्णु को कैदखाने से मुक्ति मिली तब देवो ने आकर कहा कि हे भगवान्। यह दैत्यराज बडा ही प्रबल बलवान है और हम सब देवो को दु ख देता है और समुद्र का पुत्र है इसलिए इसके मारने का कोई प्रयत्न करो ? यह सुनकर यम देव बोला कि इस दैत्य की स्त्री पतिव्रता है जब तक उसके

पतिव्रत धर्म को भग नही किया जावेगा तब तक यह बलवान, पराक्रमी किसी के द्वारा नही मारा जा सकता है । तब सब देवो ने कहा कि उसकी स्त्री का पतिव्रत धर्म कौन नष्ट कर सकता है यह सुनकर ब्रम्हमाजी ने प्रति उत्तर मे कहा की यह काम भगवान विष्णु ही कर सकते है । सब देवो ने विष्णु भगवान् से विशेष आग्रह किया की आपही इस कार्य को कर सकते हो अन्य नही, तब विष्णु भगवान ने कहा कि इस बात का उसकी स्त्री को पता लग जावेगा और वह श्राप देगी उसको कौन भोगेगा ? तब देवो ने कहा कि इम सब आपके साथ ही है इतना सुनने के पश्चात् विष्णु भगवान वहॉ चल पडे और उदधिकुमार की स्त्री जिस शय्या पर सोई हुई थी वही पर उदधिकुमार का रूप धारण कर उसके साथ विषय भोगकर पतिव्रत को भग किया तब शकरजी ने उसके माथे पर त्रिशूल चलाया जिससे वह दैत्य मरण को प्राप्त हुआ । दैत्य के मर जाने पर देवो को सुख हुआ । जो महादेवजी एक दैत्य से घबडाकर पहाड की गुफा मे स्त्री, पुत्र और नादिया को लेकर छिपते फिरते है क्या वह महादेव अठारह दोष रहित देव है ? नही ।

ब्रम्हाजी अपनी चार हजार वर्षो से की गई तपस्या का त्यागकर वेश्या के नाच और गाने को सुनने मे खो गये और काम बाण से भेदे गए । मोह राग के वशीभूत होकर अपने को भूलकर सुर युवती को खोजते फिरते है । जिन्होने चार हजार वर्षो से की गई तपस्या को चारदिशा, मे चार मुख बनाकर उर्वशी के राग विशेष मे आकार खो दिया, वे ब्रम्हाजी चारो वेदो के वक्ता कैसे हो गये और कैसे सर्वज्ञ वीतराग हितोपदेशी हो सकते है । नही हो सकते है यही कारण था कि लक्ष्मीजी ने सीता के रूप मे जन्म लिया और विष्णुभगवान जिनको कहते है उन्होने राजा दशरथ की रानी कौशल्या की गर्भ मे आकर जन्म लिया और विवाह होने के पश्चात् राम वनवास को गये, सीता का अपहरण रावण ने किया जिससे विष्णु सीता वियोग मे दु खी हुए । इस प्रकार ब्रम्हा, विष्णु, महादेव, इत्यादि देव नही वरून कुदेव ही है ।।५०।।

लौकिक जनों के धर्म

भागीरथी स्नानेऽपि गगासगरापगावापिकासु ।
पुष्कर सरोवरेऽपि लौकिक जनार्मन्यते धर्म ।।७१।।
पर्वतात्पतने वृष बालुकापिण्डदानेऽपि धर्मः।
नित्यं यज्ञ कर्मेण गोवृषभकन्यादानेषु ।।७२।।

अन्वयार्थ (लौकिकजाना ) अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि लोग (भागीरथी) स्नानेऽपि) गगाजी मे स्नान करने, पर (गगा सागरापगावापिकासु) गगासागर, नर्मदा, गोदावरी, कृष्णा, कावेरी, जमुना, इत्यादि, नदियो मे बावडी, कुआ आदि में गोता लगाकर स्नान करने पर (पुष्प रस्त रो वरेपि) पुष्कर तालाव मे भी स्नान करने पर (धर्म ) धर्म होता है (पर्वतात्पतने) पर्वत से गिरकर मरने पर (वृष ) धर्म (भवति) होता है(बालुकापिण्डदानेऽपिधर्म) गगा नदी मे रेत का ढेर लगाकर उसको दान देने पर धर्म और जो पूर्वज मर गये हे उनकी तिथि के दिन जौ के आटे का पिण्ड बनाकर उसको दान देने पर धर्म होता हे (नित्ययज्ञकर्मेण) रोज प्रभात मे उठकर हवन कर्म करने से (गोवृषभकन्यादानेषु) पृथ्वी का ब्राम्हणो को दान देने पर, किसी की पुत्री का पाणीग्रहण करने पर या कन्या दान देने पर, (धर्म ) धर्म होता है । कहते है कि कोई मानते हे कि नित्य हवन करन पर धर्म होता है । किन्तु यदि स्थिर चित्त से विचार किया जावे तब ये सब मिथ्या क्रियाये पाप बध का ही कारण हो सकती है ।

देवताग्रेपशुबलौपितृदान शस्त्रायुधदानेषु वा ।
जीव कलेवर भक्षणे दानेऽापिमन्यते पशुधर्म· ।
ब्राम्हणेभ्योऽर्चनेऽपि गोदीपावली श्रीपूजने ।।७३।।
शास्त्रलांगलमर्कट वस्त्राभूषणान्यर्चनेषु ।।७४।।

भावार्थ अज्ञानी मोहाधकार मे फसे हुए दिशाभूले मानव देवी दुर्गा, काली, यक्ष क्षेत्रपाल, इत्यादि देवो के मन्दिरो मे जाकर दीन हीन शक्ति से धारक पशुओ को मारकर चढाने मे धर्म मानते है । कोई

सुर्यचन्द्रमस्तार का भुवनभवन भामिनी सुतसुताश्च ।
अर्चनवन्दनेऽपि च लौकिक धर्मोवहुविधाश्च ।।७५।।

भावार्थ कोई सूर्य को जल चढाकर पूजने मे धर्म मानते है तो दूसरे चन्द्रमा को अर्घ देने मे धर्म मानते है कोई तारा नक्षत्र और ग्रहो की पूजा, वदना, करने मे धर्म मानते है । कोई स्वर्ग क देव व दविया क विमानो मे रहने वाला की पूजा, वदना करन म धर्म मानत है, और वे अपने मकान, दुकान, की पूजा करने मे मानते है और कितने ही स्त्री, पुत्र, पुत्री इत्यादि की सेवा चाकरी करने मे धर्म मानते है इस प्रकार से लौकिक धर्म अनेक भेदवाले होते हैं ।।७५।।

सारासार का वर्णन

विधते रागहिंसा कालुष्यरागद्वेष कलहंच ।
यं भरवि जगति दु ख कथ धर्म· सम्मोहेषु ।।७८।।
असत्यस्तेया ब्रह्मदयाऽक्षमामार्दिवार्जवाश्च ।
मा संतोष सयम धर्म· कथ खलुशुध्यते ।।७९।।

भावार्थ · जिन मतो मे हिसादि पापो के करने मे विशेष प्रवृत्ति है मनमे क्रोधादि कषायो के कारण विशेष आकुलता (कलुषता) वर्तमान रहती है । एक व्यक्ति के प्रति प्रेम और दूसरे के प्रति द्वेषकर वेरभाव को परस्पर मे कर लड़ाई झगडे किये जाते है जिनके कारण को पाकर प्राणी दु ख को प्राप्त हो जाते है वे धर्म केसे हो सकता है ? जिस धर्म के प्रवर्त्तक स्वय ही हिसा करते हो, मिथ्याभाषण करते हो, चोरी करते हो और विषयो मे आशक्त हों और परिग्रह सग्रह का उपदेश देते हों ऐसे सत्पुरुषो के द्वारा निरूपण किया धर्म सुख का साधक कैसे हो सकता है ? जिन धर्मो मे दया, क्षमा, सन्तोषादि का अभाव पाया जाता है वहॉ धर्म कैसे हो सकता है ? जहॉ छ कायक जीवो की रक्षा नही की जा सकती वहॉ धर्म नही क्योकि पापो मे प्रवृत्ति ही दु ख का मूल साधन है और उसको ही सुख की इच्छा करके करना यह लोक मूढता या धर्म मूढता है ।।७८-७९।।

**आर्त्तरौद्रध्यानाभ्यां मुक्तो धर्म शुक्ल ध्यानेस्थित· ।**
**जिनोक्त समीचीन धर्मोत्तमस्त्रिलोकेषु ।।८३।।**

**अन्वयार्थ** · (आर्त्तरौद्रध्यानाभ्या) आर्तध्यान और रौद्रध्यानो से (मुक्त ) रहित होकर (धर्म शुक्लध्यानेस्थित ) जो धर्म ध्यान और शुक्लध्यान मे स्थित होना (जिनोक्त समीचीन) धर्मोत्तम ) भगवान् जिनन्द्र देव के द्वारा कहा गया धर्म ही समीचीन और उत्तम (श्रेष्ठ) है त्रिलोकेषु) स्वर्गलोक मध्यलोक और पाताललोक मे जीवो का कल्याण करने वाला है ।

**भावार्थ** : धर्म ससार मे अनेक है वे सब ही धर्म अपनी-२ मान्यता के अनुसार है जैसे कोई चार्वाक (आर्य समाजी लोग) नित्य अग्नि मे आहुति देने मे धर्म मानते हुए सुबह की बेला मे अग्नि जलाकर गायत्री मत्र बोलकर आहुति देते है और कहते है कि हवन करने से हमारे सब पाप पुज जल जाते है और पुत्र पौत्रादि वैभव की प्राप्ति होती है । कोई देव देवियो के मठ मदिर मे पशुओ की बलि चढाने मे धर्म मानते है और कहते कि इनके यहॉ बलि देने से सब अनिष्ट नष्ट हो जाते है और सुख शाति की प्राप्ति होती है । कोई मानते है कि यज्ञ मे पडने वाले जीव मरने से पाप नही लगता है ऐसे कहने वाला पापी मूढ मिथ्यादृष्टि है । धर्म नही और अधर्म ही है । कहते हैं कि प्राणी दुर्गति के दु ख से मुक्त हो जाते है । इस प्रकार अनेक प्रकार की मान्यताये प्रचलित है ये सब ही मान्यताये आर्त्तध्यान का ही कारण हैं और अशुभ गति की प्राप्ति मे कारण होती है यहॉ पर रत्नत्रय भगवान जिनेन्द्र देव के द्वारा कहा गया है वही अशुभ ध्यानो का निराकरण कर शुभ एव शुक्लध्यान कारण है । यह रत्नत्रय धर्म ही सर्वलोक मे स्थित प्राणियो का हित करने वाला है और ससार के दु खो से निकालकर स्वर्ग एव मुक्ति के सुख को देनेवाला है । जो लौकिक जनो के द्वारा माने गये धर्म प्राणियो के घातक होते है जिससे ससार की परिपाटी निरन्तर चलती रहती है इस प्रकार देवमूढता, धर्ममूढता का स्वरूप कहा गया है ।।८३।।

# भरतचक्रवर्ती के १६ स्वप्न दर्शन और उन स्वप्नों का फल
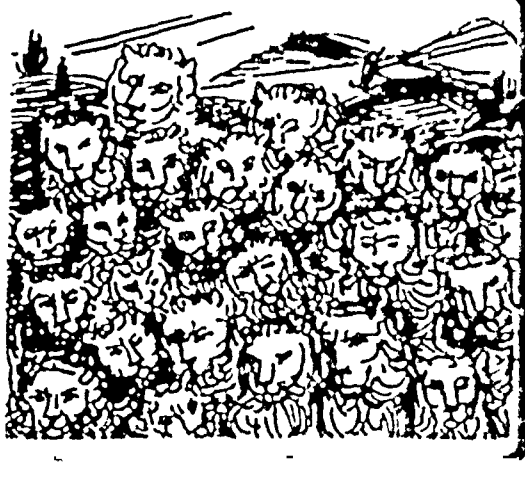
१ तेईस सिंहो को देखा ।

१ तेईस तीर्थंकरो के समय मे खोटे मुनि न रहगे ।

२ एक सिंह के पीछे मृग समूह ।

२ महावीर स्वामी के पश्चात् मुनि परीष न सहेंगे भ्रष्ट होगे ।

३ घोडे पर हाथी चढ रहा हे ।

३ साधु तप से डरेंगे और असमर्थ होंगे ।
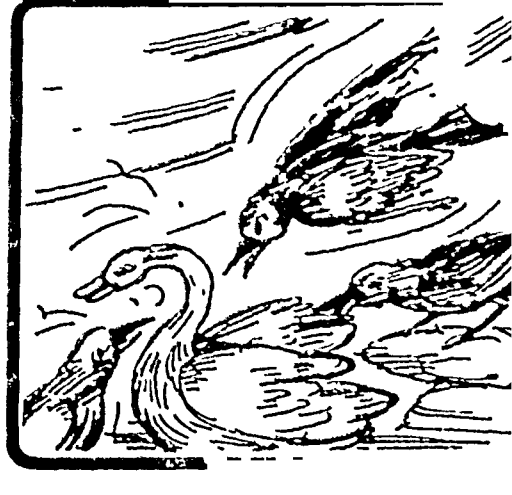
४ हॅस को कौवे सता रहे है ।
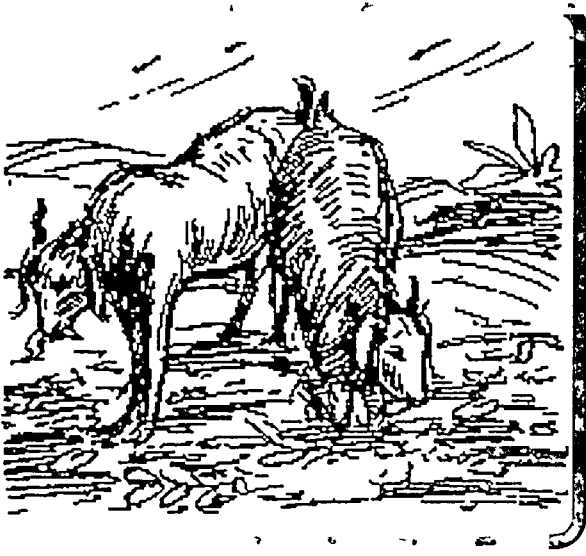
५ दो बकरे सूखे पत्ते खा रहे है ।

५ क्षत्रियो का (राज वश) नाश होगा नीच कुल वाले राज्य करेगे ।
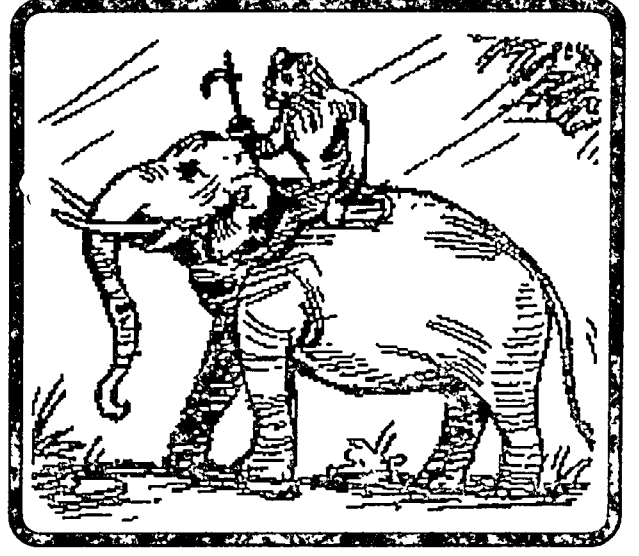
६ हाथी पर बन्दर बैठा है ।

६ पचम कालमे भोले जीव मुनि धर्म छोडेगे पापी जीव धर्मात्माओ का अपमान करेगे ।

७ भूत प्रेत नाच रहे है ।

७ अज्ञानी जीव भूतादि कुदेवो की पूजा जिनदेव के समान करेगे ।

८ तालाब, मध्य मे खाली है ओर किनारो पर जल भरा हुआ है ।

८ उत्तम तीर्थो मे धर्म का अभाव होगा । हीन स्थान मे धर्म रहेगा ।

९ रत्नराशि धूल म मिली हुई है ।

९ पचम काल मे शुक्लध्यानी नही होगे धर्म ध्यानी कई एक रहेगे ।
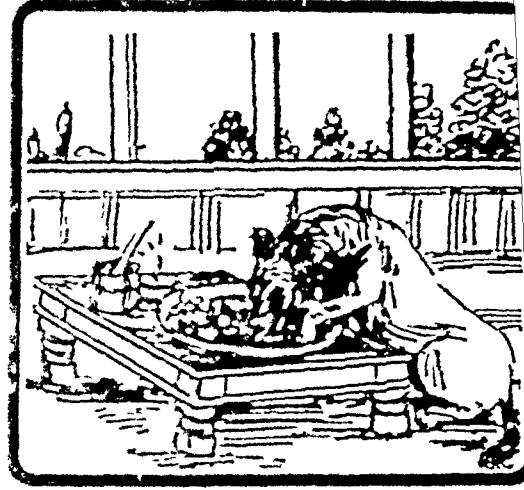
१० कुत्ता पूजन का द्रव्य खा रहा है ।

१० पचम काल मे कुपात्र भी पात्र की तरह आदर पावेगे ।
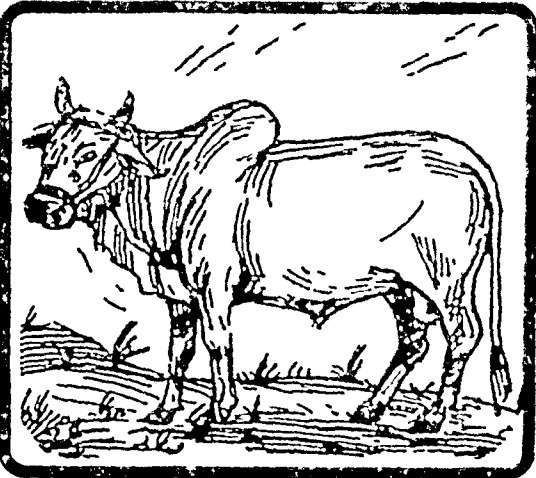
११ एक तरुण बैल को देखा ।

११ पचम काल के जीव तरुण अवस्था मे धर्म साधन करेगे । परन्तु वृद्धावस्था मे अरुचि करेगे ।
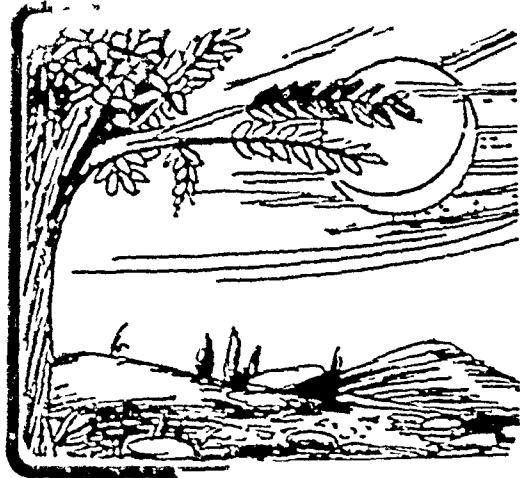
१२ शाखा सहित चन्द्रमा को देखा ।

१२ पचम काल मे अवधि ज्ञान व मन पर्यय ज्ञानके धारी मुनि नही होगे ।
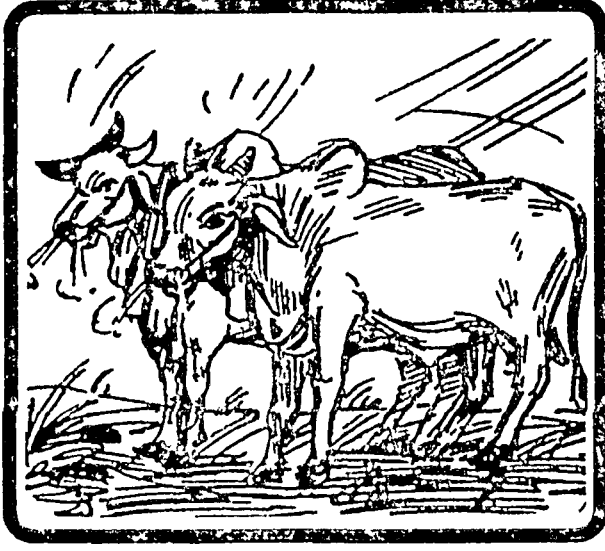
१३ युगल बैल दहाड रहे है ।

१३ पचम काल मे मुनि सघ सहित रहेगे एकाकी नही रहेगे ।

१४ सूर्य मेघो से घिरा हुआ है ।

१४ पचम, काल मे केवलज्ञान नही होगा ।

१५ पत्ती रहित सूखे वृक्ष को देखा ।

१५ पचम काल के स्त्री पुरुष शीलव्रत धारण करके भी कुशील सेवन करेगे ।

१६ सूखे जीर्ण पत्ते ।
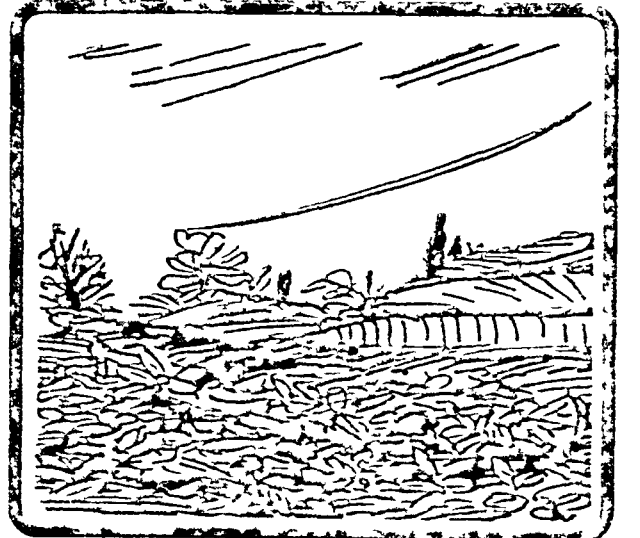
१६ पचम काल मे अन्न आदि औषधिया नीरस होगी ।

श्री वर्द्धमानाय नम

परमपूज्य वीतराग तपोमूर्ति श्री आचार्यवर्य

सकलकीर्ती विरचित

# मूलाचार प्रदीपः

मगलाचरण

"श्रीमतं मुक्ति भर्तार, वृषभ वृषनायकम् ।
धर्म तीर्थकर ज्येष्ठ, वन्देऽनत गुणार्णवम् ।।"

श्रेष्ठ मुनियो के मूलभूत अट्ठाईस (२८) मुलगूणो को कहूँगा –

५ (पॉच) महाव्रत, ५ (पॉच) समिति, ५ (पॉचो) इद्रिया का निरोध, ६ (छह) आवश्यक, १ (एक) केशलोच, १ नग्नत्व धारण करना १, स्नान नही करना, १ दतधावन नही करना, १ राग रहित खड़े होकर भोजन करना, १ (दिन मे एक वार) खडे होकर भोजन करना ओर १ भूमि पर शयन करना । ये सक्षेप मे २८ अट्ठाईस मूलगुण ।। ४४ (२८)

श्रेष्ठ मुनिराज अपने मन, वचन, काय ओर कृत, कारित, अनुमोदना से जो हिसा, झूठ, चोरी, कुशील ओर परिग्रह इन पॉचो पापो का पूर्ण रूप से सर्वथा त्याग कर देते है उनको भगवान जिनेन्द्र देव मुनियो के महाव्रत कहते है ।

" मन्वेति तत्समारम्भो जातु कार्यो न योगिभि ।
स्बेन वान्येन मुक्त्याप्त्यै चैत्य गेहादि कारणोः ।।६४।।

**अर्थ** यही समझ कर मुनियो को मोक्ष प्राप्त करने के लिये स्वय या दूसरे के द्वारा जिनालय आदि बनवाकर भी पृथ्वी का समारम्भ नही करना चाहिये ।

मालिनी छन्द

" असम गुण निधान, स्वर्ग मोक्षैक हेतु ।
व्रत सकल समूल तीर्थनाथैर्निषेव्यम् ।

**अभय करमपापं सर्वयत्नेन दक्षाः ।**
**भनत शिव सुखाप्त्यै ह्यादिम सद्व्रतं भो" ।।२१।।**

**अर्थ** यह अहिंसा महाव्रत सर्वोत्तम गुणो का निधान है । स्वर्ग मोक्ष का कारण है, समस्त व्रतो का मूल है, भगवान तीर्थंकर परमदेव के द्वारा भी सेवन करने योग्य है, तथा समस्त जीवो को अभय देनेवाला है और पापो से सर्वथा रहित है । इसलिए हे चतुर पुरुषो ! मोक्ष सुख प्राप्त करने के लिये सब तरह के प्रयत्न कर इस अहिंसा महाव्रत का पालन करो '

**" उक्तेनानेन येऽन्येषा शुभ किं काशुभं भवेत् ।**
**यशोथवा यशः स्वास्थ्य श्रेयोथ सप्रति " ।।३९।।**
**" पूर्वं चित्ते विचार्येति पश्चाद्वदन्तु योगिनः ।**
**शाश्वद्धर्मोपदेशाय स्वागमर्निदितं वचः ।।४०।।"**

**अर्थ** मुनियो को बोलने के पहले यह विचार कर लेना चाहिये कि इन वचनो के कहने से मेरा वा दूसरे का शुभ होगा वा अशुभ होगा, यश होगा वा अपयश होगा तथा कल्याण होगा वा अकल्याण होगा । यह सब विचार कर मुनि को बोलना चाहिये, तथा निरतर धर्मोपदेश देने के लिए अपने आगम के अनुसार अनिन्दित वचन ही कहने चाहिये ।

**" नोचेन्मौन प्रकुर्वन्तु सारं सर्वार्थसिद्धिदम् ।**
**धर्म शुक्लागतात्मज्ञाः सर्वदोषापह परम् ।।४१।।**

**अर्थ** यदि ऐसे वचन (आगमानुकूल वचन) कहने का समय न हो तो धर्म-ध्यान, शुक्ल ध्यान और आगम को जानने वाले मुनियो को समस्त दोषो को दूर करनेवाला, समस्त पदार्थो की सिद्धि करनेवाला सर्वोत्कृष्ट और सारभूत मौन धारण कर लेना चाहिये ।।४१।।

**" क्रोध लोभभयः त्यागाः हास्यवर्जनमेव च ।**
**सामस्तेन विचार्योच्चेरागमोक्त सुभाषणाम् ।।५८।।**

" इमा सद्भावना पच भावयन्तु तपोधना ।
सत्यव्रत विशुद्धयर्थ प्रत्यह व्रत कारिणो ।।५१।।

अर्थ क्रोध का त्याग, लोभ का त्याग, भय का त्याग, हास्य का त्याग और सब बातो का विचार कर आगम के अनुसार भाषण करना । ये पाँच इस सत्य महाव्रत की भावनाए है । ये भावनाएँ ही व्रतो को स्थिर रखती है । इसलिए मुनियो को अपना सत्यव्रत विशुद्ध रखने के लिये प्रतिदिन इन भावनाओ का चिंतवन करना चाहिये ।

" याचाख्या समनुज्ञापना नात्म भाव एव हि ।
तथैव निरवद्य प्रतिसेवन सुभावना " ।।७७।।

अर्थ कभी किसी से याचना नही करना, नही लेना । किसी को कुछ आज्ञा नही देना ।

" सधर्म्यपूकरस्यानु वीची सेवन त्विमा ।
अस्तेय व्रत शुद्धयर्थं भावनीय सुभावना ।।७८।।"

अर्थ न देना, किसी भी पदार्थ से ममत्व न रखना, सदा निर्दोष पदार्थ का सेवन करना और साधर्मी पुरुषो के साथ शास्त्रानुकूल बर्ताव करना । ये पाँच अचौर्य महाव्रत को शुद्ध रखनेवाली श्रेष्ठ भावनाए हैं ।

मालिनी छन्द

" अखिल विभव हेतुं, लोभामातग सिंह,
शिव शुभ गति मार्ग सारमस्तेय सज्ञम् ।।
व्रतवरमपदोष मुक्ति कामा शिवाप्त्यै ।
भजत परमयला लोभ शत्रु निहर्त्यै " ।।७९।।

अर्थ यह अचौर्य महाव्रत समस्त विभूतियो का कारण है । लोभ रूपी हाथी को मारने के लिए सिह के समान है । मोक्ष और शुभ गति का मार्ग है । समस्त व्रतो मे सार है । सब व्रतो मे उत्तम है और समस्त दोषोसे रहित है । इसिलिए मोक्ष की इच्छा करने वालो को लोभ रूपी शत्रु

को मारकर, बडे प्रयत्न से केवल मोक्ष प्राप्त करने के लिए महाव्रत का पालन करना चाहिये ।।७९।।

**" स्त्रीरूप मुखश्रृगार विलासादि निरीक्षणम् ।**
**स्त्री श्रृंगार कथा त्याग सरसान्नादि सेवनम् " ।।२६।।**
**" कामिनीजन ससक्त वसति त्यजन सदा ।**
**पुर्वानुभूत सद्भोगरित्यादि स्मरणोज्झनम् ।।२७।।**
**" पचमो भावना शुद्धा ब्रह्मव्रत विशुद्ध दा ।**
**न भोक्तव्या हृदो जातु मुनिभिर्ब्रह्म शुद्धयो ।।२८।।**

**अर्थ** स्त्रियो के रूप, मुख श्रृगार आदि (विलास) नही देखना । एकभुक्त (एक बेला मे आहार लेना), पहले भोगे हुए भोग और रतिक्रीडा आदि के स्मरण आदि का भी त्याग कर देना । स्त्रियो की श्रृगार कथा का भी त्याग कर देना । रसीले पौष्टिक आहार का त्याग कर देना और स्त्रियो के रहने, सोने-बैठने आदि के स्थान का भी सदा के लिए त्याग कर देना । ये पॉच बह्मचर्य व्रत को विशुद्ध करनेवाली शुद्ध भावना है । मुनियो को अपना ब्रह्मचर्य शुद्ध रखने के लिये अपने हृदय से इन भावनाओ को कभी अलग नही करना चाहिये अर्थात् इनका चितवन सदा करते रहना चाहिये ।।२६।।२७।।२८।।

मालिनी छन्द (ग्रथ मुलाचार प्र कृ ४)

**नर सुर पति वद्य स्वर्ग सोपान भूत,**
**सकल गुण समुद्र धीर वीरैर्निषेव्यम् ।**
**शिव सुख शुभ खानि सर्व यत्नेन युक्त**
**भजत गत विकार ब्रह्मचर्य सदार्च्या ।।२९।।**

**अर्थ** यह ब्रह्मचर्य महाव्रत इन्द्र, नरेन्द्र आदि सबके द्वारा वदनीय है । स्वर्ग के लिए सीढी के समान है । समस्त सद्गुणो का समुद्र है । धीर वीर पुरुष ही इसका सेवन कर सकते है । अत्यन्त शुभ ऐसे मोक्ष सुख की यह खान है । अत्यन्त पवित्र है और विकार रहित है । इसलिए

पूज्य पुरुषो को बड़े प्रयत्न से सदा इसका पालन करते रहना चाहिये ।।२९।।

" शब्द, रूप, रसस्पर्श गंधेषु विषयेषु च ।
सुमनोज्ञामनोज्ञेषु पचाक्षाणामिहाखिला ।।५८।।"

अर्थ इद्रियॉ पांच है तथा उनके विषय भी शब्द, रूप, रस, गध और स्पर्श ये पांच है । ये पांचो विषय मनोज्ञ भी होते है और अमनोज्ञ और अनिष्ट भी होते है । इन सब मे चतुर पुरुषो को राग द्वेष छोड देना चाहिये । मनोज्ञ विषयो मे राग और अमनोज्ञ विषयो मे द्वेष छोड देना चाहिये (व्रतो का निरतिचार पालन करना यह शील का अर्थ है ।) मिद भोयण - स्थिति भोजन-खडे होकर पांवो मे चार अगुल अन्तर रखकर भोजन करना चाहिये ।

**परिग्रह त्याग महाव्रत**

मालिनी छन्द

" त्रिभुवन पति पूज्य लोभ तृष्णाद्रिवज्र ।
दुरित तिमिर सूर्य श्री जिनेशादि सेव्यम् ।।
शिव शुभ गति मार्गं सौख्य खानिं गुणाब्धिं ।
श्रयत विद इहकिंचन्यसार प्रयत्नात् ।।६०।।"

अर्थ यह आकिंचन महाव्रत तीनो लोको के स्वामी तीर्थंकर देवो के द्वारा भी पूज्य है, लोभ-तृष्णा रूपी पर्वत को चूर करने के लिये यह वज्र के समान है, पाप रूपी अधकार को दूर करने के लिये सूर्य के समान है । भगवान जिनेन्द्र देव भी इसको सेवन करते है । यह मोक्ष और शुभ गति का मार्ग है । सुख की खान है और गुणो का समुद्र है । इसलिए बुद्धिमानो को बडे प्रयत्न से इस परिग्रह त्याग महाव्रत को धारण करना चाहिये ।

**पॉच समितियॉ**

१) ईर्या समिति २) भाषा समिति, ३) एषणा समिति

४) आदान - निक्षेपण समिति, ५) प्रतिष्ठापन समिति । ये पॉच समितियॉ कहलाती है ।

**आगम मे सत्य वचनों के दस भेद**

१ जनपद सत्य २ समत सत्य ३ स्थापना सत्य ४ नाम सत्य ५ रूप सत्य ६ प्रतीत सत्य ७ सभावना सत्य ८ व्यवहार सत्य ९ भावसत्य १० उपमा सत्य ।

**श्रुत सकल गुणाग्वा विश्व विज्ञान खार्नि ।**
**जिन पंक्ति मुनिसेव्या पाविनी धर्म मूलाम् ।**
**शिव शुभ गति वीथी मोक्ष कामास्वसिद्ध्यै ।**
**प्रभजत समिती भाषा भिधां सर्वयत्नात् ।।८४।।**

**अर्थ** यह भाषा समिति समस्त श्रुत ज्ञान को देने वाली है । समस्त विज्ञान की खान है । भगवान तीर्थकर परम देव और मुनियो के द्वारा सेवन योग्य है, अत्यन्त पवित्र है, धर्म की मूल है, तथा मोक्ष और स्वर्ग गति का मार्ग है । इसलिये मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियो को मोक्ष प्राप्त करने के लिये पूर्ण प्रयत्न के साथ साथ भाषा समिति का पालन करना चाहिये ।।८४।।

**अनुभव भाषा के भेद**

१ आमत्रणी २ आज्ञापना ३ याचना ४ सप्रच्छना ५ प्रज्ञापना ६ प्रत्याख्याना ७ इच्छानुलोमा ८ सशय वचनी ९ अनक्षरा यह नौ अनुभव भाषा के भेद है ।।४०।।

**निंद्य भाषाओ का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ।**

१ कर्कश २ कटुक ३ परुष (कठोर) ४ निष्ठुर ५ परप्रकोपिनी ६ मध्यकृशा ७ अभिमानिनी ८ अनयकारी ९ छेदकरी और १० भूतबधकरी । ये दस भाषाये निंद्य है । इनका त्याग कर देना चाहिये ।

"मूलभूता न जानाति भाषा समिति वर्जिताम्
जिन धर्मस्य य सोत्र कथ कर्मास्त्रवास्त्यजेत् "।।८२।।

**अर्थ** जो मुनि जिन धर्म के मूलभूत और सर्वोत्कृष्ट ऐसी इस भाषा समिति को नही जानता है, वह अपने कर्मो के आस्रव को कैसे रोक सकता है । अर्थात् कभी नही रोक सकता है ।

"छ्यालिस दोष बिना सुकुल, श्रावक तनै घर अशनको, ।
लै तप वढावन हेतु, नही तन पोषते तजि रसन को ।।
शुचि ज्ञान-सयम-उपकरण, लखिकै गहै लखिके धरै ।
निर्जन्तु थान विलोक तन, मल मूत्र श्लेषम परिहरै ।।"

**अर्थ** वीतराग जैन मुनि उत्तम कुलवाले श्रावक के घर आहार के छ्यालिस दोषो को टालकर और एक, दो आदि रसो को छोडकर (या स्वाद की चाह नहि कर) शरीर को पुष्ट करने का अभिप्राय न रखते हुये केवल तप वढाने के लिये आहार लेते हैं । इसलिये उनके एषणा समिति होती है । पवित्रता के साधन कमण्डलु को, ज्ञान के साधन शास्त्र को और सयम के साधन पीछी को जीवो की विराधना बचाने के लिये देखभाल कर रखते और उठाते है, इसलिये उनके आदान निक्षेपन समिति होती है । मल-मूत्र कफ आदिक शरीर के मैलो को जीव रहित स्थान देखकर छोडते है - इसलिये उनके व्युत्सर्ग या प्रतिष्ठापन समिति होती है ।

१६ उद्गम दोष

१ उद्देशिक २ अध्यधि ३ पूति ४ मिश्र ५ स्थापित ६ बलि ७ परावर्तित ८ प्राविक्करण ९ क्रीत १० प्रमिच्छ ११ परिवर्तक १२ अभिघट १३ उद्भिन्न १४ मालारोहण १५ आच्छेद और १६ अनीशार्थ । ये सोलह उद्गम दोष कहलाते है । ये दाता और पात्र दोनो के अश्रित है ।

**१६ उत्पादन दोष**

१ धात्री २ दूत ३ निमित्त ४ आजीवन ५ वनीपक वचन ६ चिकित्सा ७ क्रोध ८ मान ९ माया १० लोभ ११ पूर्व सस्तुति १२ पश्चात्सस्तुति १३ विद्या १४ मत्र १५ चूर्ण योग १६ मूलकर्म ।

**१० अशन दोष**

१ शकित २ मृषित ३ निक्षिप्त ४ पिहित ५ व्यवहार ६ दायक ७ उन्मिश्र ८ परिणत ९ लिप्त और १० परित्यजन ये दस अशन के दोष है ।

**१ उद्देश्य अर्थ** गृहस्थो के द्वारा जो नाग आदि देवो के उद्देश्य से तैयार करते है - ऐसे आहार को लेना उद्देशक दोष कहलाता है ।

**२. अध्याधि** आहार के लिये आते हुए सयमियो को देखकर पके हुए अपने चॉवलो मे किसी दूसरे के चॉवल और मिला देना अध्याधि नाम का दोष कहलाता है ।

**३ पूति अर्थ** जो अन्न पानादिक अप्रासुक वस्तु से मिला हो - उसको पूति दोष कहते है ।

**४. मिश्र अर्थ** मुनियो को देने के उद्देश्य से पाखडी गृहस्थो के साथ-साथ जो अन्न तैयार किया गया है उसमे मिश्र नाम का दोष उत्पन्न होता है ।

**५. स्थापित** जिस बर्तन मे भोजन बनाया गया है उसमे से लेकर यदि किसी दूसरे बर्तन मे रख दिया गया हो-ऐसे अन्न लेने मे स्थापित नाम का दोष होता है ।

**६ बलि** किसी यक्ष, नाग आदि देवो के लिए जो अन्न तैयार किया जाता है उसमे से उनको देकर जो पूजा-जल-क्षपण आदि के द्वारा जो बलि कर्म किया जाता है - वह बलि नाम का दोष कहा जाता है ।

**७ परावर्तित** जो दान आज देना हो उसे कल या परसो देना अथवा जो दान कल-परसो देना हो उसको किसी मुनि के आने पर आज ही देना, दिवस परावृत्य नाम का स्थूल प्राभृत दोष है ।

८ **प्राविष्करण** आहार और वर्तना का एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश मे ले जाना वर्तनो को भस्म से मांजना अथवा दीपक जलाकर मडप को प्रकाशित करना वा घर मे प्रकाश करना प्राविष्करण नाम का दोष है।

९ **क्रीत** अपने वा दूसरो के गाय भैंस आदि चेतन पदार्थ अथवा रूपया-पैसा आदि अचेतन पदार्थो को देकर आहार लेना और फिर उसे मुनियो को देना क्रीत दोष है अथवा अपनी विद्या वा मंत्र को देकर वा दूसरे की विद्या वा मत्र को देकर आहार लेना फिर उसे मुनियो को देना क्रीत दोष है।

१० **प्रमिच्छ** जो दाता दूसरे के घर से कर्ज के रूप मे दालचॉवल, रोटी आदि लाता है और उसे भक्तिपूर्वक मुनियो को देता है उसके प्रमिच्छ नाम का दोष लगता है।

११ **परिवर्तक** जो दाता अपने भात वा रोटी को दूसरे के घर से मुनियो को देने के निमित्त श्रेष्ठ भात-रोटी लेकर भक्तिपूर्वक मुनियो को देता है उसको परिवर्तक नाम का दोष लगता है।

आहार लेने की योग्यता कहॉ तक है ? जो अन्न-पान पक्ति रूप मे रहनेवाले दो-तीन आदि सात घरो से आये है वह मुनियो के लिये योग्य माना जाता है।

१२ **अभिघट** जो अन्न पान अपने गॉव से वा दूसरे गॉव से आया है वा अपने देश से आया है ऐसे अन्न-पान को देना और पक्ति के बिना, अथवा आठवे नौवे घर से लाया गया है - वह मुनियो के ग्रहण करने के अयोग्य समझा जाता है और उसको लेता है तो सर्वाभिघट नाम का दोष लगता है। इसके लिये चार भेद है –

१ स्वग्रामाभिघट २ परग्रामाभिघट ३ स्वदेशाभिघट ४ परदेशाभिघट।

१३ **उद्भिन्न** जो घी, गुड, शक्कर का पात्र किसी से ढका हो

वा कीचड आदि के जतुओ से आच्छादित हो रहा हो उसको उघाडकर मुनियोको देना उद्‌भिन्न नाम का दोष लगता है ।

**१४ मालारोहण** जो अन्न-पान नसैनी (सीढी भासकी) पर चढकर व उतरकर ऊॅची वा नीची दूसरे की भूमि पर से लाकर दिया जाता है उसमे मालारोहण दोष लगता है ।

**१५ आच्छेद** मुनियो के आगमन को देखकर राजा वा चोरो के भय से जो लोगो के द्वारा मुनियो को दान दिया जाता है-उसको आच्छेद दोष कहते है ।

**१६ अनीशार्थ** इसमे एक दान देता है और दूसरा निषेध करता है - इस प्रकार के दान मे अनीशार्थ नाम का दोष लगता है । इस प्रकार ये उद्‌गम नाम के सोलह दोष है । इनका त्याग कर देना चाहिये ।

**" सोलह उत्पादन दोष "**

**१ धात्री अर्थ** जो मुनि, गृहस्थो को युक्तिपूर्वक धाय के समान बच्चो को स्नान कराने, वस्त्रा-भूषण पहनाने, क्रीडा कराने, दूध पिलाने आदि की विधि का उपदेश देकर निद्य रीति से उत्पन्न हुये अन्नग्रहण करते है - उनके निदनीय धात्री नाम का दोष उत्पन्न होता है ।

**२ दूत अर्थ** जो मुनि एक गॉव से दूसरे गॉव को जाकर वहॉ पर समाचारो को सुनाकर गृहस्थो को हर्षित कर दान को स्वीकार करता है उसको दूत दोष लगता है ।

**३ निमित्त अर्थ** १ व्यजन, २ अग, ३ स्वर, ४ छिन्न, ५ भौम, ६ अतरिक्ष, ७ लक्षण, ८ स्वप्न । ये आठ प्रकार के निमित्त माने जाते है । इन आठ प्रकार के निमित्तो का उपदेश देकर जो साधु भिक्षा ग्रहण करता है उसके निमित्त नाम का दोष लगता है ।

**४. आजीविका अर्थ** जो मुनि अपनी जाति, कुल, तप ओर शिल्प कर्म व हाथ की कलाओ का उपदेश देकर वा जाति

वतलाकर अपनी आजीविका करता है उसे आजिविका नाम का दोष लगता है ।

५ **वनीपक वचन अर्थ** यदि कोई गृहस्थ मुनि से यह पूछे कि पाखडियो को कृपण वा कोढिया को अथवा भिक्षुक ब्राह्मणो का दान देने मे पुण्य होता है या नही ? उसके उत्तर मे वह मुनि उस दाता के अनुकूल यह कह दे कि हाँ ' पुण्य होता है - इस प्रकार बताकर दान को ग्रहण करता है - उसके वनीपक नाम का दोष लगता है ।

६ **चिकित्सा_अर्थ** चिकित्सा शास्त्रो मे आठ प्रकार की चिकित्सा वतलाई है - उनके द्वारा मनुष्यो का उपकार कर जो मुनि उन्ही के द्वारा दिये हुए अन्न को ग्रहण करता है उसके चिकित्सा नाम का दोष लगता है ।

**७. क्रोध, ८ मान, ९ माया, १० लोभ**

**११ पूर्व सस्तुति अर्थ** जो मुनि दान ग्रहण करने के पहले श्रेष्ठ दान देने के ही अभिप्राय से उसी दाता के सामने उसके श्रेष्ठ यश वर्णन करता है उसके पूर्व सस्तुति नाम का दोष प्रकट होता है ।

**१२ पश्चात् सस्तुति अर्थ** जो मुनि दान लेकर पीछे से अपनी वाणी के द्वारा दाता के दिये हुए उस दान के गुणो की प्रशसा करता है उसके पश्चात् सस्तुति नाम का दोष लगता है ।

**१३ विद्या अर्थ** जो मुनि दाता को यह आशा दिलाता है कि, " मै तुझे सिद्ध करने के लिये एक अच्छी विद्या दूँगा ' इस प्रकार आशा दिलाकर जो भिक्षा उत्पन्न करता है उसे विद्या नाम का दोष लगता है ।

**१४ मत्र अर्थ** जो मुनि किसी गृहस्थ को किसी सिद्ध किये हुए मत्र को देने की आशा दिलाता है और इस प्रकार आशा दिलाकर आहार ग्रहण करता है उसके मत्र नाम का दोष लगता है ।

**१५ चूर्ण योग** जो मुनि नेत्रो का अजन तथा शरीर का सस्कार करनेवाला कोई चूर्ण देकर लोक मे भिक्षा उत्पन्न करता है - उसके चूर्ण नाम का दोष लगता है ।

**१६ मूलकर्म योग** जो मनुष्य कितने ही योजन दूर रहते है और दान नही देते - दान देने से अलग रहते है, उनको अपने लिये दान देने मे लगा देना-पाप उत्पन्न करनेवाला मूल कर्म नाम का दोष लगता है।

**दस असन दोष**

**१ शंकित** यह चार प्रकार का आहार अध कर्म से उत्पन्न हुआ है अथवा नही इस प्रकार की शका रखता हुआ भी उस आहार को ग्रहण करता है - उसके शकित नाम का दोष लगता है ।

**२. मूषित अर्थ :** जो साधु चिकने बर्तन से वा चिकने हाथ से अथवा चिकनी कडछली से दिये हुए आहार को ग्रहण कर लेता है - उसके मूषित नाम का दोष लगता है ।

**३. निक्षिप्त अर्थ** · जो देने योग्य पदार्थ सचित्त, पृथ्वी सचित्त, अग्नि सचित्त, हरित सचित्त बीज अथवा त्रस जीवो पर रक्खे हो, ऐसे पदार्थो को जो लोग दान देते है - उनके सचित्त दोष को उत्पन्न करनेवाला निद्य निक्षिप्त नाम का दोष लगता है ।

**४ पिहित अर्थ** जो देने योग्य पदार्थ किसी सचित्त पदार्थ से ढके हो अथवा भारी अचित्त पदार्थ से ढके हो, ऐसे पदार्थो को मुनियो के लिए देना पिहित नाम का दोष कहलाता है ।

**५. व्यवहार अर्थ** दान देने के लिए जो वस्त्र, बर्तन आदि को झटपट बेचकर आहार तैयार करता है - उसके व्यवहार नाम का दोष लगता है ।

**६ दायक अर्थ** · जो बच्चो को खिलानेवाला हो, रोगी हो, जो नपुॅसक हो, जिसे वात की व्याधी हो, जो वस्त्र न पहने हो, नग्न हो, जो मूर्च्छित हो, जो वमन करके आया हो, जिसके शरीर पर रुधिर आदि रोग लगा हो, जो वैश्या हो, दासी हो, आर्जिका हो, लाल वस्त्र पहनकर आया हो, दीवाल के बाहर रहनेवाली हो, और भी हो-ऐसा पुरुष वा स्त्री दान देवे और मुनि लेवे तो उनके दायक नाम का पाप उत्पन्न होता है और भी अग्नि

को फूँककर, मिट्टी आदि से रगड़कर आया हो जिसने एक ही वस्त्र धारण किया हो उसके हाथ से दान नही लेना चाहिये ।

७ **उन्मिश्र अर्थ** जिस आहार मे सचित्त पृथ्वी, जल, बीज, हरित वनस्पति और त्रस जीव मिले हो - ऐसे आहार को लेने से उन्मिश्र दोष लगता है ।

८ **परिणत अर्थ** तिलो के धोने का पानी, चावलो के धोने का पानी, चनो को धोने का पानी, चावलो को भूसी के धोने का पानी, तथा जो पानी बहुत देर पहले गरम किया हो और ठडा हो गया हो - वह हरड बेहडा के चूर्ण से अपने रस वर्ण को बदल न सका हो, ये सब प्रकार के सयमियो को भी ग्रहण नही करने चाहिये । ऐसे जल को आँख से अच्छी तरह देखकर, परीक्षा कर सयमियो को ग्रहण करना चाहिये । ऐसा ही अज्ञानी मुनि ग्रहण करता है तो उसके अनेक जीवो की हिंसा होती है व परिणत नाम का दोष उत्पन्न होता है ।

९ **लिप्त अर्थ** अर्थात् तिल व चावलो का धोया जल, ठडा हुआ गरम जल, धान्यादि का धोया जल-जिसका वर्ण-रस न बदला हो-ऐसा जल कभी ग्रहण नही करना चाहिये अथवा गीले बर्तन व गीले हाथ से आहार देना लिप्त नाम का दोष है और ऐसे आहार मे सूक्ष्म जीवो की हिसा होती है ।

१० **परित्यजन अर्थ** जो दाता घी, दूध, छाछ व जल का आहार देता है और वह अपने हाथो से अधिक रूप मे टपकता हो - ऐसे असयम उत्पन्न करनेवाले आहार को जो मुनि ग्रहण करता है - उसके परित्यजन नाम का दोष लगता है । इन सभी को त्याग करना चाहिये ।

१ **सयोजन अर्थ** जो मुनि ठडे भोजन को गरम जल मे मिलाकर खाता है अथवा गरम को ठडे जल मे मिलाकर खाता है - उसके सयोजन नाम का दोष लगता है ।

२ **अप्रमाण अर्थ** : जो मुनि उपरोक्त दोषो से बचकर निम्न प्रमाण से अधिक आहार ग्रहण करता है - उसको अप्रमाण नाम का दोष लगता है ।

३. **अगार अर्थ** · जो मद बुद्धि मुनि अपनी लपटता से मूर्च्छित होकर आहार को ग्रहण करता है - उसके पापो का सागर ऐसा अगार नाम का दोष प्रकट होता है ।

४. **निंदनीय धूम अर्थ** जो अधम मुनि सरस आहार के न मिलने से अपने वचनो से दाता की निदा करता हुआ आहार ग्रहण करता है उसके निदनीय धूम नाम का दोष प्रकट होता है ।

ये सब दोष मिलकर छयालीस (४६) होते है तथा सब अन्य अनेक दोष उत्पन्न करनेवाले है । इसलिए बुद्धिमानो को यत्नपूर्वक इनका त्याग करना चाहिये ।

**चौदह अशुभ मल**

१ नख २ रोम ३ जतु (जीव) रहित शरीर ४ हड्डी ५ कुड· (चॉवल आदि के भीतर सूक्ष्म अवयव) ६ कण (जौ, गेहूँ आदि के बाहरी अवयव) ७ पीव ८ रुधिर ९ चर्म १० मॉस ११ बीज १२ फल १३ कद १४ मूल ।

ये चौदहो मल मोक्ष की इच्छा करनेवाले मुनियो का आहार मे परीषह उत्पन्न करनेवाले है ।

**अध कर्म अर्थ** शुद्ध आहार को ढूंढने से अध कर्म से उत्पन्न हुआ अन्न भी उस साधु के कर्म बन्ध करनेवाला नही हो सकता । मुनिराज को गोचर आदि पॉच प्रकार की वृत्तिपूर्वक आहार ग्रहण करना चाहिये तथा ३२ (बत्तीस) अतराय पालन करने का वर्णन - मुनिराज को स्वाद छोडकर १ गोचार २ अक्ष मृक्षण ३ उदराग्नि प्रशमन ४ भ्रमराहार ५ श्वभ्रपूरण इन पॉच प्रकार की वृत्ति रखकर आहार ग्रहण करना चाहिये ।

**१. गोचार अर्थ** जिस प्रकार कोई सुन्दर स्त्री किसी गाय को घास - भूस डालने आती है तो वह गाय उस घास-भूस को खाने लगती है। वह गाय उस सुन्दर स्त्री को नही देखती। इसी प्रकार वस्त्रभूषणो को धारण करनेवाली किसी दिव्य सुन्दर स्त्री के द्वारा दिय हुय आहार को श्रेष्ठ मुनिराज गहण कर लेते है परन्तु उसके रुप का नही देखते है।

**२. अक्ष मृक्षण अर्थ** गुणरुपी रत्नो से भरी हुई इस शरीर रूपी गाडी को चिकनाई के समान थोडा सा आहार देकर इस आत्मा को मोक्ष नगर तक पहुँचा देते है - इसको अक्षमृक्षण वृत्ति कहते है।

**३ उदराग्नि प्रशमन अर्थ** मुनिराज भी सम्यगदर्शन आदि रत्नो की रक्षा करने के लिये अपने पेट मे बढी हुई क्षुधारूपी अग्नि को सरस या नीरस आहार लेकर शीघ्र ही बुझा देते है - इसको उदराग्नि प्रशमन वृत्ति कहते है।

**४ भ्रामरी अर्थ** जिस प्रकार भमर अपनी नासिका द्वारा कमल का गध को ग्रहण कर लेता है और उस कमल को किंचित मात्र भी बाधा नही देता, उसी प्रकार मुनिराज भी दाता के द्वारा दिये हुए आहार को ग्रहण कर लेते है। परन्तु उन्हे चाहे आहार मिले वा न मिले अथवा थोडा ही मिले तो भी वे मुनिराज किसी भी दाता को रच मात्र भी पीडा नही देते है। इसको भ्रामरी वृत्ती कहते है।

२ अन्तराय

१ काक नाम का अन्तराय।

२ विष्टा का स्पर्श हो उसको अमेध्य नामक अतराय कहते है।

३ वमन हो जाय तो छर्दी नाम का अन्तराय।

४ रोक ले तो रोधन नाम का अन्तराय।

५ शरीर से निकले हुए रुधिर को देख लेवे तो उनके रुधिर नाम का अन्तराय।

६ ऑसुओ को मुनि देख ले तो अश्रुपात नाम का अन्तराय ।

७ जघा के नीचे के भाग को स्पर्श कर लेवे तो जान्वध परामर्श नाम का अन्तराय ।

८ जघा से ऊँची सीढी पर या डडा या सीढी पर चढे तो जानुपरिव्यतिक्रम नाम का अन्तराय ।

९ नाभि से नीचे सिर करके निकले उसके नाभ्यधो निर्गमन अन्तराय है ।

१० त्याग किये हुए पदार्थ को ग्रहण कर ले उसको प्रत्याख्यत सेवन नाम का अन्तराय है ।

११ काकादि पिण्डहरण (हाथ मे से ग्रास का हरण) नाम का अन्तराय ।

१२ जीव को मार डाले तो जीव वध नाम का अन्तराय ।

१३ हाथ से एक ग्रास के समान आहार गिर जाय तो उसके पिण्ड पतन का अन्तराय ।

१४ कोई जीव स्वय आकर मुनि के हाथ पर मर जाय तो उसके पाणि पात्र जन्तुवध का अन्तराय है ।

१५ मासादिक अशुभ पदार्थो को देख लेवे तो उसके मास दर्शन का अन्तराय है ।

१६ उपसर्गकृत अन्तराय ।

१७ पदान्तर पचेन्द्रिय जीव गमन अन्तराय ।

१८ दाता के हाथ से कोई बर्तन गिर जाय तो मुनि के आहार मे भोजन सपात अन्तराय है ।

१९ मुनि के पेट से मल (उदर से) निकल आवे तो उच्चार अन्तराय है ।

२० मूत्र निकल पडे तो प्रस्रवण का अन्तराय ।

२१ कोई चॉडालादिक घर मे प्रवेश कर जाय तो उसके अभोज्य गृह प्रवेश का अन्तराय है ।

२२ आहार करते हुए मुनि मुर्च्छा आदि के कारण से गिर जाय तो उसके पतन नाम का अन्तराय है।

२३ आहार करते हुए मुनि बैठ जाय तो उनके उपवेशन नाम का अन्तराय है।

२४ कुत्ता आदि कोई जानवर काट ले तो दष्ट नाम का अन्तराय है।

२५ भूमि स्पर्शन नाम का अन्तराय है।

२६ थूक दे अथवा कफ थूक दे तो उनके निष्ठीवन अन्तराय है।

२७ उदर से अपने आप कोई कीड़ा बाहर निकल आवे - उसको उदर कृमि निर्गमन अन्तराय है।

२८ दिये हुए बिना किसी पर पदार्थ को ग्रहण कर लेवे उसको अदत्त ग्रहण नाम का अन्तराय है।

२९ शस्त्र प्रहार नाम का अन्तराय।

३० ग्राम दाह नाम का अन्तराय।

३१ पादेन ग्रहण नाम का अन्तराय।

३२ मुनि अपने हाथ से पृथ्वी पर से कोई वस्तु उठा ले तो उनके हस्तेन ग्रहन नाम का अन्तराय।

**एषणा समिति**

मालिनी छन्द

" सकल चरणमूला दु ख दावाम्बु वृष्टि ।
जिन मुनिगण सेव्या स्वाक्ष कर्मारी शस्त्रीम् ।
परम सगुण खानि स्वर्ग मोक्ष दुधात्री ।
परम यत्नादेषणा शुद्धिमार्या ।।३०९।।

**अर्थ** इस प्रकार यह एषणा शुद्धि समस्त चारित्र की मूल कारण है, दु ख रूपी दावानल अग्नि के लिये पानी की वर्षा है। भगवान जिनेन्द्र

देव और समस्त मुनिगण इसकी सेवा करते है । अपनी इन्द्रियॉ और कर्मरूपी शत्रु को नाश करने के लिये यह भिक्षा शुद्धी एक अमोघ शस्त्र है, सर्वोत्कृष्ट श्रेष्ठ गुणो की खान है । स्वर्ग मोक्ष रूपी वृक्ष को बढाने के लिये धाय के समान है । अतएव मुनियो को परम प्रयत्न पूर्वक इस एषणा शुद्धि को धारण करना चाहिये ।

**आदान निक्षेपण समिति**

मालिनी छन्द

**" वृषभमुनि निषेव्या स्वर्ग सोपान पक्ति ।**
**शिव शुभगति वीथी निर्जरा सवरस्य ।।**
**भुवि सकल विधीना हेतु भूता मुनिन्द्राः ।**
**प्रभजत समिर्ति चादान निक्षेपणाख्यम् " ।।३२३।।**

**अर्थ** - इस आदान निक्षेपण समितिको सर्वोत्कृष्ट मुनि भी पालन करते है । यह स्वर्ग के लिये सीढियो की पक्ति है, मोक्ष का मार्ग है तथा शुभ गतियो का मार्ग है और कर्मो की निर्जरा की तथा सवर की समस्त विधियो का कारण है । अतएव हे मुनिराजो ! आप लोग भी इस आदान निक्षेपण समिति का पालन करो ।

**प्रतिष्ठापना समिति**

(मालिनी छन्द)

**" जिनवर मुखजाता धर्मरत्नादि खानिं ।**
**गणधर मुनि सेव्या स्वर्ग सोपानमालाम् ।।**
**शिवसुख फलवल्ली मुक्ति कामा भजन्तु ।**
**समिति मपमला यत्नात्प्रतिष्ठापना ख्याम् "।।३३३।।**

**अर्थ** यह प्रतिष्ठापना समिति भगवान जिनेन्द्रदेव के मुख से प्रकट हुई है । धर्मरूपी रत्नो की खान है, समस्त गणधर देव और श्रेष्ठ मुनि इसकी सेवा करते है, इसको पालते है, यह स्वर्ग के लिये सिढियो की पक्ति है, मोक्ष सुखरूपी फलो की बेल है और समस्त दोषो से रहित

है । ऐसी यह प्रतिष्ठापना समिति मोक्ष की इच्छा करनेवाले पुरुष को प्रयत्नपूर्वक पालन करनी चाहिये ।

**इन्द्रियरूपी वैरी को जीतना**

अर्थ 'आधे जले हुए मुर्दे की आकृति धारण करने वाला जो नग्नमुनि भिक्षा भोजन का नियम लेकर मिष्ट रस की इच्छा करता है वह लोक मे लज्जित क्यो नही होता ? ।।५६।।

' यदि द्रव्य देकर, खरीदकर लाया हुआ अन्न बिगडा हुआ हो तो क्रोध करना भी अच्छा लगता है । परन्तु इस ससार मे ऐसा समय वा कारण कब मिलता है ? अर्थात कभी नही ।।५७।।

" यदि ऐसा नही तो फिर भिक्षावृत्ति से शुभ वा अशुभ (इष्ट वा अनिष्ट) अन्न को ग्रहण करना व्यर्थ है । फिर तो आदरपूर्वक भोजन ग्रहण करना चाहिये । ऐसी अवस्थामे भी क्रोध का अवसर कभी नही आ सकता " ।।५८।।

" येषा मध्ये जर्नेर्जेयौ रस स्पर्शनाह्वयौ ।
द्वैही कामेन्द्रियौ नृणा महानर्थ विधायिनौ "।।७५।।

अर्थ इन पाँचो इन्द्रियो मे से स्पर्शन इन्द्रिय और रसना वा जिह्वा इन्द्रिय ये दोनो इन्द्रियाँ कामेन्द्रिय कहलाती है और मनुष्यो के लिये अनेक महा अनर्थ उत्पन्न करने वाली है ।।७५।।

" श्रोत्र घ्राणेन्द्रिय चक्षुरिमानि त्रीणि सभ्रतौ ।
भोगेन्द्रियाणि जतूना स्तोकानर्थ कराण्यापि "।।७६।।

अर्थ इसी प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, और चक्षुरिन्द्रिय ये तीन इन्द्रियाँ भोगेन्द्रिय कहलाती है और जीवो का थोडा ही अनर्थ करती है ।

" इमे पचेन्द्रियाश्चौरा धर्म रत्नापहारिण ।
जिता सयम वाणैर्यै सुखिनस्ते न चापरे" ।।७७।।

अर्थ ये पाँचो इन्द्रियाँ चोर है और धर्मरूपी रत्न को चुरानेवाली है । जिन सयमियो ने अपने सयम बाणो से इनको जीत लिया है. इस ससार मे वे सुखी है अन्य नही ।

" रुद्राद्या मुनयोऽत्राहो दश पूर्व धरा विदः ।
खद्युतैवचित हत्वा चारित्रं नरकं ययु·" ।।९५।।

**अर्थ** : देखो ग्यारह अग और दस पूर्व को जानकर रुद्र आदि कितने ही मुनि इस ससार मे इन्द्रियो से ठगे गये और अपने चारित्र को नष्ट कर नरक मे जा पहुँचे है' ।

**ब्रम्हचर्य महाव्रत के दोष**

" स्रवनमूत्रादि दुर्गन्ध योनिरन्ध्र घृणास्पद ।
श्वभ्रागरीयावा सार कथ स्यदरतये सताम् "।।२०१।।

**अर्थ** · स्त्रियो की योनि मे सदा रुधिर मुत्र रहता है । इसलिये वह दुर्गधमय अत्यन्त घृणित और नरक के समान असार समझी जाती है । उसमे भला सज्जन लोग कैसे अनुराग कर सकते है'? अर्थात् कभी नही।

" सूक्ष्मा अलब्धपर्याप्ता जायते मानवा· सदा ।
यो नौ नाभौ च कक्षाया विस्रस्त्रीणां स्तनान्तरे "।।२०२।।

**अर्थ** कर्मभूमि की समस्त स्त्रियो की योनि मे, नाभि मे और दोनो स्तनो के मध्य भाग मे सूक्ष्म और अलब्ध पर्याप्तक मनुष्य सदा उत्पन्न होते रहते है ।

" तेषु सर्व प्रदेशेषु भ्रियन्ते जन्तुराशय ।
लिंग हस्तादि सस्पर्शादित्युक्त स्वागमे जिनै "।।२०३।।

**अर्थ** उन समस्त प्रदशो मे लिग वा हाथ का स्पर्श होता है - उस स्पर्श से वह सब जीवो की राशि मर जाती है । ऐसा भगवान जिनेन्द्र देव ने अपने आगम मे बतलाया है ।

" अतो मुनीश्वरैर्निंद्य श्वभ्र दु ख निबधनम् ।।
सर्व पापकारी भूत मैथुन स्यात्कुमार्गगाम् "।।२०४।।

**अर्थ** इसलिए नही करना चाहिये । यह मंथुन कर्म मुनीश्वरो के द्वारा निदनीय हैं । नरक के दु खो का कारण है, समस्त पापो की खान है और कुमार्ग मे ले जाने वाला हे ।

" काम दाहादिशान्त्यर्थं सेवन्ते यत्र मैथुनम् ।
वृषभास्तेऽनल दीप्त तैलेन वायरन्ति भो " ।।२०५।।

**अर्थ** जो लोग केवल काम के संताप को शान्त करने के लिये मैथुन सेवन करते है उन्हे बैल समझना चाहिये । वे लोग जलती हुई अग्नि को तेल से बुझाना चाहते हैं ।

" इद च धनिनो गेहमिद हि निर्धनस्य भो ।
इति जातु न सकल्प हृदि धत्ते जितेन्द्रिय· " ।।२०५।।

**अर्थ** उन जितेन्द्रिय मुनियोको ' यह किसी धनी का घर है अथवा यह किसी निर्धन का घर है ' ऐसा संकल्प अपने हृदय मे कभी नही करना चाहिये ।

" यथोपनीयमान तृणादिक दिव्ययोषिता ।
गौश्चाभ्यवहरत्यत्र न तदग निरीक्ष्यते "।।२५४।।

" तथालकार धारिणया दिव्य नार्योपि ढौकितम् ।
पिण्ड गृह्याति सद्योगी तस्या रूप न पश्यति " ।।२५५।।

**अर्थ** जिस प्रकार कोई सुन्दर स्त्री किसी गाय को घॉस - भूस डालने आती है - वह गाय उस सुन्दर स्त्री के शरीर को नही देखती और उस घॉस-भूस को ही खाने लगती है । इसी प्रकार वस्त्राभूषणो को धारण करनेवाली किसी दिव्य सुन्दर स्त्री के द्वारा दिये हुए आहार को श्रेष्ठ मुनिराज ग्रहण कर लेते है, परन्तु उसके रूप को नही देखते ।

" अथवा गौर्यथा नाना तृण नीरादि सचयम् ।
न सर्वमहिते किंतु यथालब्ध भजेत्सदा " ।।२५६।।

" तथान्नरस सुस्वाद व्यजनादि समीहते ।
नैकी कृत मुनि किंतु यथालब्ध भुनक्ति तत् " ।।२५७।।

**अर्थ** अथवा जिस प्रकार गाय अनेक प्रकार के घॉस को व पानी को चाहती नही - किन्तु, जो सामने आ जाता है उसको खा लेती है । उसी प्रकार मुनिराज भी अन्न-रस-स्वादिष्ट व्यजन आदि किसी की इच्छा

नही करते - किन्तु जो कुछ दाता दे देता है - उसे इकठ्ठा करके खा लेते है इसको गोचार वृत्ति कहते है ।

**छह आवश्यक मूल गुण**

**" सामायिक स्तुति वंदना कार्योत्सर्ग सदा ।**
**है षट आवश्यक प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान जुदा " ।।४।।**

**अर्थ** : १ सामायिक २ स्तव ३ वदना ४ प्रतिक्रमण ५ प्रत्याख्यान ६ कार्योत्सर्ग । ये मुनियो के छह आवश्यक मूलगुण कहलाते है ।

**१ सामायिक** सयोग-वियोग मे, शत्रु-बधु मे, जीने-मरने मे लाभ - अलाभ मे पत्थर मणि मे, दुष्ट-सज्जन मे तृण-स्वर्ण मे, सुख-दु ख मे, शुभ-अशुभ पदार्थो मे समान परिणाम रखना सामायिक कहलाता है यह सामायिक ६ प्रकार की कही गयी है ।

**१. नाम सामायिक** : शुभ-अशुभ नामो मे राग-द्वेष का त्याग कर देना नाम सामायिक है ।

**२. स्थापना सामायिक** मन और इन्द्रियो के सुख देने वाली प्रतिमाओ को देखकर राग नही करना तथा नेत्रो को अनिष्ट कुरूप बैताल की आकृति के समान प्रतिमाओ को देखकर द्वेश नही करना स्थापना सामायिक है ।

**३ द्रव्य सामायिक** . सोना, चॉदी, माणिक, मोती, वस्त्र आदि अथवा मिट्टी, कॉटे आदि पदार्थो मे राग-द्वेष का त्याग कर देना, सभी मे समता धारण कर समान परिणाम रखना द्रव्य सामायिक है ।

**४ क्षेत्र सामायिक** राजभवन, बगीचा, नदी का किनारा और नगर आदि शुभ क्षेत्रो को पाकर राग नही करना तथा कॉटो से भरे हुए, ककड-पत्थरो से भरे हुये, दावग्नि से जले हुए वन आदिक अशुभ क्षेत्रो को पाकर द्वेश नही करना क्षेत्र सामायिक है ।

**५ काल सामायिक** - छहो ऋतुओ का परिवर्तन होता रहना

है । इस प्रकार के सुख-दुःख देने वाले समयों में राग द्वेष नहीं करना काल सामायिक है ।

६ **भाव सामायिक** समस्त जीवों में मैत्री, प्रमोद, कारुण्य आदि भावों को धारण करना, समस्त गुणों से सुशोभित शुद्ध परिणामों का धारण करना आदि रूप से बुद्धिमानों के उत्कृष्ट परिणाम होते हैं । उसको भाव सामायिक कहते हैं ।

" यह छह प्रकार के निक्षेपों से उत्कृष्ट सामायिक है, ध्यान का कारण है । जो महापुरुष समस्त घोर उपसर्ग और तीव्र परिषहों को जीत लेता है, जो व्रत, समिति गुप्ति, समस्त यम नियम, सारभूत समस्त भावनाये और शुभ ध्यान से सुशोभित रहता है, जो सर्वत्र निश्चल बना रहता है - वह उत्कृष्ट सामायिक करनेवाला कहा जाता है " ।।३२-३३।।

" जो बुद्धिमान पुरुष स्व पर पदार्थों के संबंध के स्वरूप को जानता है, जिनागम के अनुसार द्रव्य-गुण और पर्याय के स्वरूप को उनके संबंध के स्वरूप को जानता है हेय और उपादेय तत्वों को जानता है और बंध-मोक्ष के कारणों को जानता है-उस परमज्ञानी के सामायिक होता है । ।।३४-३५।। यह सामायिक है ।

**स्तुति**

(मालिनी छन्द)

**जिनवर गुण हेतु दोष दुर्ध्यान शत्रुं ।**
**सकल सुख निधान ज्ञान विज्ञान मूलम् ।।**
**पर विमल गुणौघैस्तद् गुण गण सिद्ध्यै कुरूत ।**
**बुध जना नित्य स्तब तीर्थ भाजाम " ।।३०।।**

**अर्थ** भगवान तीर्थकर परमदेव का स्तवन करना अनेक गुणों की प्राप्ति का कारण है । समस्त दोष और अशुभ ध्यानो का नाश करने वाला है । समस्त सुखो का निधान है और ज्ञान विज्ञान का मूल कारण है । इसलिये बुद्धिमान पुरुषो को तीर्थकरो के समस्त श्रेष्ठ गुणो को सिद्ध करने के लिये उनके निर्मल गुणो का वर्णन कर उनकी स्तुति सदा करते रहना चाहिये ।

**वदना के ५ भेद**

१ कृतिकर्म २ चिति कर्म ३ पूजा कर्म ४ विनय कर्म ५ वदना करना । मोक्ष विनय के लिये पॉच कृति कर्म किये जाते है । इससे भी आठ कर्म नष्ट हो जाते है ।

**मोक्ष विनय के ५ भेद**

१ दर्शन विनय २ ज्ञान विनय ३ चारित्र विनय ४ तप विनय ५ उपचार विनय । ये पॉच भेद है ।

**वदना के ३२ दोष**

१ अनाहत २ स्तब्ध ३ प्रविष्ट ४ परिपीडित ५ दोलायित ६ अकुशित ७ कच्छ परिगत ८ मत्सर्योद्वर्त ९ मनोदुष्ट १० वेदिकाबद्ध ११ भय १२ विभ्दोष १३ ऋद्धि गौरव १४ गौरव १५ स्तेनित १६ प्रतिनीत १७ दुष्टदोष १८ तर्जित १९ शब्द २० हिलित २१ त्रिवलित २२ कुचित २३ दृष्ट २४ अदृष्ट २५ सघकर मोचन २६ लब्ध २७ अनालब्ध २८ हीन २९ उत्तर चूलिका ३० मूक ३१ दुर्दुर ३२ चुलुलित ।

**१. अनाहत-अर्थ** · आदर के बिना वदना करना अनाहत दोष है।

**२. स्तब्ध-अर्थ** · ज्ञान पूजा आदि - उत्पन्न हुआ मद से वदना करना ।

**३. प्रविष्ट-अर्थ** · जिन बिब के समीप होकर वदना करना ।

**४. परिपिडित-अर्थ** अपने हाथ से पैर के घुटनो को स्पर्श कर वंदना करना परिपिडित दोष है ।

**५. दोलायत-अर्थ** · शरीर अथवा मन की चचलता पूर्वक वदना करना यह दोलायत दोष है ।

**६. अंकुशित-अर्थ** · अकुश के समान अगुलियो को सिर पर रखकर वदना करना अकुशित दोष है ।

**७ कच्छ परिंगत अर्थ** · कछुवे के समान हाथ-पैरो को सकुचित करके वदना करना कच्छ परिगत दोष है ।

८ मस्त्योद्वर्त अर्थ मछली के जैसे एक पार से अर्थात् बगल से वदना करना मस्त्योद्वर्त दोष है ।

९ मनोदुष्ट अर्थ आचार्यादि को मन मे खेद कर वदना करना - मनोदुष्ट दोष है ।

१०. वेदिकाबद्ध-अर्थ . अपने घुटने को झुकाये बिना खड-खड वेदी के पास जाकर छाती पर हाथ लगा कर वदना करना वेदिका बद्ध दोष है ।

११ भय - अर्थ . भगवान आदि को वदना करते वक्त किसी को मालूम हुवे बिना गुरु से भयभीत होकर वदना करना भय दोष है ।

१२ विभ्दोष अर्थ . अपने आप गुरु आदि से भय-भीत होकर वदना करना विभ्दोष है ।

१३ ऋद्धिगौरव अर्थ · मेरे देव वदना से ऋषि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका चतुर्विध सघ से मेरे भक्त हो जाय - ऐसे भाव से वन्दना करना ऋद्धिगौरव दोष है ।

१४ गौरव अर्थ . अपने को अनौलिक अर्थात् आहार आदि मिल जाय ऐसी इच्छा से वदना करना गौरव दोष है ।

१५ स्तेनित दोष अर्थ . किसी को मालूम हुवे बिना वदना करना स्तेनित दोष है ।

१६ प्रतिनीत अर्थ : गुरु आदि की आज्ञा को उल्लघन कर वदना करना प्रतिनीत दोष है ।

१७ दुष्ट दोष अर्थ : कलह आदि करके वदना करना ।

१८ तर्जित अर्थ . आजू-बाजू वालो को भय दिखा कर वदना करना तर्जित दोष है ।

१९ शब्द अर्थ कुछ न कुछ वार्तालाप करते हुए वदना करना शब्द दोष है ।

२० हिलित-अर्थ आजू बाजू वालो को हिला हिला कर वन्दना करना हिलित दोष है ।

**२१. त्रिवलित-अर्थ** : कमर, गर्दन, हाथ, आदि अगो को टेढा करते हुए वदना करना त्रिवलित दोष है ।

**२२. कुंचित अर्थ** : शरीर को सकोच करके, सिर को छूकर वदना करना कुचित दोष है ।

**२३ दृष्ट अर्थ** : कोई भी अपनी तरफ देखे तो वदना करना दृष्ट दोष है ।

**२४. अदृष्ट-अर्थ** : कोई देखे बिना वदना करना अदृष्ट दोष है।

**२५. संघकर मोचन-अर्थ** देव वदना करते हुए " यह ऋषियो का कार्य है " ऐसा कहते हुए वदना करना सघकर मोचन दोष है ।

**२६. लब्ध अर्थ** : गुरुओ से कुछ प्राप्ति हो जाय ऐसा सोचकर वदना करना लब्ध दोष है ।

**२७. अनालब्ध दोष-अर्थ** · वदना करते हुए लाभ न हो या हो जाय ऐसा सोचकर अनुत्साह पूर्वक वदना करना अनालब्ध दोष है ।

**२८. हीन दोष-अर्थ** वदना की विधि को हीन करके वदना करना हीन दोष है ।

**२९. उत्तर चूलिका-अर्थ** वदना के समय का उल्लघन करके दूसरी क्रिया के समय वदना करना उत्तर चूलिका दोष है ।

**३०. मूक दोष-अर्थ** मौन से आकर वदना करना मूक दोष है।

**३१. दुर्दुर-अर्थ** . जोर से चिल्लाते हुये वदना करना ।

**३२. चुलुलित दोष-अर्थ** लोगो के मन मे आश्चर्य कराकर गाते हुए वदना करना चुलुलित दोष है ।

**" नृसुर जिनयतीना विश्व सम्पत्ति खानि**
**वर पद जननी बा सद्गुणाराम वृष्टिम् ।**
**अतुल सुख निधिं सद्वदना धर्म मान्यॉ ।**
**प्रभजत शिव कामा सर्वदोच्चै पदाप्त्यै " ।।३७।।**

**अर्थ** यह वदना नाम का आवश्यक मनुष्य, देव और जिनेन्द्र देव

की समस्त सम्पत्तियो की खान है। इन्द्रादिक श्रेष्ठ पदो का देने वाली है, श्रेष्ठ गुण रूपी बगीचे के लिये वर्षा के समान है अनुपम सुखो की निधि है और धर्मात्मा लोगो को सदा मान्य है। इसलिये मोक्ष की इच्छा करने वालो को उच्च पद-प्राप्त करने के लिये यह वंदना सदा करते रहना चाहिये।

(४) प्रतिक्रमण

" प्रतिक्रामक आत्मा य· प्रतिक्रमणमेतत् ।
यत्प्रतिक्रमितव्य तत्भय सर्वे ब्रुवेऽधुना " ।।१६।।

अर्थ · १ इस प्रतिक्रमण के करने म आत्म प्रतिक्रमण होता है।

२ जो किया जाता है उसको प्रतिक्रमण कहते हैं।

३ और जिसका प्रतिक्रमण किया जाता है उसको प्रतिक्रमितव्य कहते है।

(५) प्रत्याख्यान

" अशन पानक खाद्य स्वाद्यं सर्वं चतुर्विधम् ।
आहार विविध द्रव्य सचित्ताचित्ता मिश्रकम् ।।९१।।
" उपाधि· श्रमणायोग्य· क्षेत्र कालोदयोऽखिला ।
इत्याद्यन्यतरं वस्तु प्रत्याख्यात व्यमजसा " ।।९२।।

अर्थ अन्न, पान, स्वाद्य खाद्य के भेद से चार प्रकार का आहार है। इनके सिवाय सचित्त, अचित्त, मिश्र के भेद से अनेक प्रकार के पदार्थ है। मुनियो के अयोग्य अनेक प्रकार के उपकरण है, अयोग्य क्षेत्र काल आदि सब त्याग करने योग्य प्रत्याखान पदार्थ है ।।९१-९२।।

" द्रव्य मिश्रित पानेनोपबासो याति खडताम् ।
सचित्त न जल पातुं योग्य तस्मात्यजेद्बुधै· " ।।९३।।

अर्थ किसी द्रव्य से मिला हुआ पानी पीने से उपवास खडित हो जाता है, तथा सचित्त जल भी पीने के अयोग्य है।

" रागोष्ण काल दाहाद्यैर्यदि त्युक्तुं न शक्यते ।
नीर षष्टाष्टमादौ तद्व्युष्णि ग्राह्यं क्वचिज्जनै " ।।

**अर्थ** : राग की अधिकता के कारण वा उष्ण काल होने के कारण अथवा दाह होने के कारण यदि बेला तेला मे पानी का त्याग न हो सके तो लोगो को ऐसे समय मे उष्णजल ग्रहण करना चाहिये ।

" पारणाह्निन जातासु रागक्लेशादिकादिषु ।
प्राणान्तेऽपि न चादेयं भोजनांतरे जलम् " ।।९५।।

**अर्थ** : पारणा के दिन यदि रोग-क्लेश भी उत्पन्न हो जाय और प्राणो के अन्त होने का समय आ जाय तो भी उस दिन भोजन के बाद जल ग्रहण नही करना चाहिये ।

" प्रत्याख्यानस्य भगेन भग यान्ति यतोऽखिलाः ।"
गुणा मूलोत्तराद्याश्च तद् भगाच्छ्वभ्र कारणम् " ।।८।।
" महापापं प्रयाजेत तेन दु:ख वचोतिगम् ।
भ्रमण शिथिलाना च श्वभ्रादिदुर्गतो चिरम् ।।९।।
" मत्वेति विश्व यत्नेन पालयन्तु तपोधना ।
प्रत्याख्यान जगन्मारं सत्सूपद्रव कोटिषु " ।।१०।।

**प्रत्याख्यान का विषय**

(मालिनी छन्द)

" सर्वानर्थहरं मनोक्ष जयिनं कर्मारि विध्वसक,
सर्व मोक्षैक निबंधन शुभानिधिं तीर्थेश्वरै सेवितम् ।
अन्तातीत गुणाम्बुधि सुमुनय सपालयेताखिल,
प्रत्याख्यान वर सदा सुविधिना सर्वार्थ ससिद्धये " ।।११।।

**अर्थ** यह प्रत्याख्यान समस्त अनर्थो का हरण करनेवाला है । मन और इद्रियो को जीतने वाला है, कर्म रूपी शत्रुओ को जीतने वाला है । स्वर्ग और मोक्ष का एक अद्वितीय कारण है । शुभ की निधि हे । तीर्थकर परम देव भी इसकी सेवा करते है और यह अनत गुणो का समुद्र है ।

की समस्त सम्पत्तियो की खान है। इन्द्रादिक श्रेष्ठ पदो को देने वाली है, श्रेष्ठ गुण रूपी बगीचे के लिये वर्षा के समान है, अनन्त सुख की निधि है और धर्मात्मा लोगो को सदा मान्य है। इसलिये मोक्ष की इच्छा करने वालो को उच्च पद-प्राप्त करने के लिये यह वंदना सदा करते रहना चाहिये।

(४) प्रतिक्रमण

" प्रतिक्रामक आत्मा य प्रतिक्रमणमेतत् ।
यत्प्रतिक्रमितव्य तत्‌भय सर्वे ब्रुवेऽधुना " ।।१६।।

अर्थ · १ इस प्रतिक्रमण के करने मे आत्म प्रतिक्रमण होता है।
२ जो किया जाता है उसको प्रतिक्रमण कहते हैं।
३ और जिसका प्रतिक्रमण किया जाता है उसको प्रतिक्रमितव्य कहते हैं।

(५) प्रत्याख्यान

" अशनं पानक खाद्य स्वाद्यं सर्वं चतुर्विधम् ।
आहार विविध द्रव्य सचित्ताचित्ता मिश्रकम् ।।९१।।
" उपाधिः श्रमणायोग्य· क्षेत्र कालोदयोऽखिला ।
इत्याद्यन्यतरं वस्तु प्रत्याख्यात व्यमजसा " ।।९२।।

अर्थ अन्न, पान, स्वाद्य खाद्य के भेद से चार प्रकार का आहार है। इनके सिवाय सचित्त, अचित्त, मिश्र के भेद से अनेक प्रकार के पदार्थ है। मुनियो के अयोग्य अनेक प्रकार के उपकरण है, अयोग्य क्षेत्र काल आदि सब त्याग करने योग्य प्रत्याखान पदार्थ हैं ।।९१-९२।।

" द्रव्य मिश्रित पानेनोपबासो याति खडताम् ।
सचित्त न जल पातुँ योग्य तस्मात्यजेद्‌बुधै· " ।।९३।।

अर्थ किसी द्रव्य से मिला हुआ पानी पीने से उपवास खडित हो जाता है, तथा सचित्त जल भी पीने के अयोग्य है।

" रागोष्ण काल दाहाद्यैर्यदि त्युक्तुं न शक्यते ।
नीर षष्टाष्टमादौ तद्द्युष्णि ग्राह्यं क्वचिज्जनैः " ।।

**अर्थ** राग की अधिकता के कारण वा उष्ण काल होने के कारण अथवा दाह होने के कारण यदि बेला तेला मे पानी का त्याग न हो सके तो लोगो को ऐसे समय मे उष्णजल ग्रहण करना चाहिये ।

" पारणाह्नि जातासु रागक्लेशादिकादिषु ।
प्राणान्तेऽपि न चादेय भोजनातरे जलम् " ।।९५।।

**अर्थ** : पारणा के दिन यदि रोग-क्लेश भी उत्पन्न हो जाय और प्राणो के अन्त होने का समय आ जाय तो भी उस दिन भोजन के बाद जल ग्रहण नही करना चाहिये ।

" प्रत्याख्यानस्य भंगेन भंगं यान्ति यतोऽखिलाः ।"
गुणा मूलोत्तराद्याश्च तद् भगाच्छूभ्र कारणम् " ।।८।।
" महापाप प्रयाजेत तेन दु:ख वचोतिगम् ।
भ्रमण शिथिलाना च श्वभ्रादिदुर्गतो चिरम् ।।९।।
" मत्वेति विश्व यत्नेन पालयन्तु तपोधना ।
प्रत्याख्यान जगन्मारं सत्सूपद्रव कोटिषु " ।।१०।।

प्रत्याख्यान का विषय

(मालिनी छन्द)

" सर्वानर्थहर मनोक्ष जयिन कर्मारि विध्वंसकं,
सर्व मोक्षैक निबधन शुभानिधिं तीर्थेश्वरै· सेवितम् ।
अन्तातीत गुणाम्बुधि सुमुनय सपालयेताखिल,
प्रत्याख्यान वर सदा सुविधिना सर्वार्थ ससिद्धये " ।।११।।

**अर्थ** · यह प्रत्याख्यान समम्त अनर्थो का हरण करनेवाला है । मन और इद्रियो को जीतने वाला है, कर्म रूपी शत्रुओ को जीतने वाला है । स्वर्ग और मोक्ष का एक अद्वितीय कारण है । शुभ की निधि है । तीर्थकर परम देव भी इसकी सेवा करते है और यह अनत गुणो का समुद्र है ।

(६) कायोत्सर्ग

कायोत्सर्ग के ३२ दोष है। इनसे दूर रहना चाहिये। १ घोटक २ लता ३ स्तभ, ४ कुड्य ५ माल ६ वर-वधू ७ निगल ८ लबोत्तर ९ स्तनदृष्टी १० वायस ११ रवलीन १२ युग १३ कपित्थ १४ शिर प्रकम्पित १५ मूकित १६ अगुलि १७ भ्रू विकार १८ वारूणीपायी १९ दिग्दशालोकन २९ ग्रीवान्नमन ३० प्रणमन ३१ निष्ठीवन ३२ अग मर्श

दोषो का स्पष्टीकरण

१ **घोटक** एक पैर स्थिर रखकर दूसरा पैर चलायमान (अर्थात् घोडे के समान) रखने से घोटक दोष कहलाता है।

२ **लता** वदन को लता के समान हिलाना लता दोष है।

३ **स्तंभ** खम्भे के सहारे से खड़ होना स्तभ दोष है।

४ **कुड्य** दीवाल के सहारे बैठना या खडे रहना कुड्य का दोष कहलाता है।

५ **माल** सिर पर किसी का सहारा लेना माल दोष है।

६ **वर-वधू** लिग और गुदा दोनो हाथो से छिपाकर सामायिक करना वरवधू दोष है।

७ **निगल** बेड़ी डाले हुए पैरो के समान पैरो को पसार कर कायोत्सर्ग करना निगल दोष है।

८ **लम्बोत्तर** सिर को झुकाकर कायोत्सर्ग करना।

९ **स्तनदृष्टि** अपने स्तनो पर दृष्टि रखकर कार्योत्सर्ग करना स्तनदृष्टि दोष है।

१० **वायस** कौआ के जैसे तिरछा देखकर कायोत्सर्ग करना वायस दोष है।

११ **रवलीन** घोडे की लगाम द्वारा हिलने वाले मुँह की तरह सिर को हिलाते हुए कायोत्सर्ग करना रवलीन नाम का दोष है।

१२ **युग** · बैल के कधे के ऊपर रखे हुए जूए की तरह झुके या तने हुए कायोत्सर्ग करना युग नाम का दोष है ।

१३ **कपित्थ** बिल्वपत्र के फल के समान हाथ की मुष्ठी बॉधकर कायोत्सर्ग कपित्थ नाम का दोष है ।

१४ **शिर प्रकम्पित** · अपने सिर को हिलाते हुवे कायोत्सर्ग करना शिर प्रक्मिपत नाम का दोष है ।

१५ **मूकित** : मूक (गूॅगे) के समान सकेत करते हुए कायोत्सर्ग करना मूकित दोष कहलाता है ।

१६ **अगुलि** अगुलि चलाकर सकेत करना कायोत्सर्ग मे अगुली नामक दोष है ।

१७ **भ्रूविकार** भौओ का चलायमान करना कायोत्सर्ग मे भ्रूविकार दोष है ।

१८ **वारुणीपायी** मद्य पान किये हुए जैसे चलायमान होकर कायोत्सर्ग करना वारुणीपायी नाम का दोष है ।

१९ **दिग्दशालोकन** दसो दिशाओ की तरफ देखकर कायोत्सर्ग करना दिग्दशालोकन नाम का दोष है ।

**नोट** दसो दिशाओ की सख्या १-१ कर १० है ।

२९ **ग्रीवोन्नमन** गर्दन को कायोत्सर्ग करते समय ऊचा करना ग्रीवोन्नमन नाम का दोष है ।

३० **प्रणमन** गर्दन को नीचा करके कायोत्सर्ग करना ।

३१ **निष्ठीवन** · थूकते हुए, लार गिराते हुए कायोत्सर्ग करना निष्ठीवन नाम का दोष है ।

३२ **अगमर्श** बदन को खुजलाते हुए कायोत्सर्ग करना अगमर्श नाम का दोष है ।

उपरोक्त ३२ दोषो को टालकर कायोत्सर्ग करना चाहिये ।

मालिनी छद

" ग्रीवा तीर्थेशान् धर्म मूलान् त्रिभुवन पतिभि सेवमानाघ्रिपद्यावन,
सिद्धानन्तोतिगान् सद्वसुगुण कीलितान् ज्ञान देहानदेहान्।
सुरिनाचार दक्षान् स्वपरहित करान् पाठकान् ज्ञान श्रद्धान् ।।
साधून् सर्वांश्च मूलोत्तर गुणजलधीन सस्तुवे तद्गुणाप्त्यै ।।४३८।।

**अर्थ** जो तीर्थकर परमदेव धर्म के मूल हैं और तीनो लोको के समस्त इन्द्र जिनके चरण कमलो को नमस्कार करते हैं ऐसे तीर्थकर को मै उनके गुण प्राप्त करने के लिए नमस्कार करता हूँ । जो अनन्त सिद्ध सम्यक्त्व आदि आठो श्रेष्ठ गुणो से सुशोभित है तथा ज्ञान ही जिनका शरीर है और स्वय शरीर रहित हैं - ऐसे सिद्ध परमेष्ठी गुणो से सुशोभित है तथा ज्ञान ही को मै उनके गुण प्राप्त करने के लिय नमस्कार करता हूँ । जो आचार्य पॉचो आचारो को पालन करने मे चतुर हैं, जो उपाध्याय अपना और दूसरो का हित करने वाले है, जो साधु ज्ञान और ऋद्धियो से सुशोभित है - तथा मूलगुण और उत्तर गुणो के समुद्र हैं, उन सब को मै उनके गुण प्राप्त करने के लिये स्तुति करता हूँ ।

स्रग्धरा छन्द

" विश्वाग्र्य धर्ममूल सकल विधिहरं तीर्थनाथैर्निषेव्य,
मुक्ति श्री दान दक्ष गुणमणिजलधि धीरवीरैकगम्यम् ।
दु खघ्न शर्मखानि कुरुत सुविधिनाध्यानमालब्य दक्षा:,
कायोत्सर्ग शिवाप्त्यैव पुषि जगति वा निर्ममत्वं विधाय " ।।७।।

**केशलोच**

मालिनि छन्द

" इति गुणमणि खानिं सर्वतीर्थ सेव्य
मुनिवर गति हेतुं सत्तयो धर्म बीजम् ।
सुर शिव गति मार्ग मुक्तिकामा कुरुध्व
दुरिततिमिर भानुं लोचमात्मादि शुद्धै " ।।४१।।

**अर्थ** यह केशलोच ऊपर लिखे हुए अनेक गुणरूपी मणियो की

खान है, समस्त तीर्थकर इसकी सेवा करते है - अर्थात् लोच करते है । यह मुनियो को श्रेष्ठ गति का कारण है, धर्म का बीज है, मोक्ष वा स्वर्ग गति का मार्ग है और पाप रूपी अधकार को नाश करने के लिये सूर्य के समान है । ऐसा यह लोच मोक्ष की इच्छा करनेवाले मुनियो को अपनी आत्मा को शुद्ध करने के लिये अवश्य करना चाहिये ।

**नग्नत्व व्रत**

> **" असम गुण निधान मुक्तिधामाग्रमार्ग,**
> **जिन गणधर सेव्य विश्वसौख्यादि खानि ।**
> **त्रिभुवनोपवद्यं धी धना स्वीकुरुध्व,**
> **शुभ शिव गतयेत्राऽचेलकत्वं त्रिशुद्धा " ।।५९।।**

**अर्थ** : यह नग्नत्व गुण अनेक सर्वोत्कृष्ट गुणो का निधान है, मोक्ष महल का मुख्य मार्ग है । तीर्थकर और गणधर देव भी इसको धारण करते है । समस्त सुखोकी की खान है और तीनो लोको के स्वामी तीर्थकर भी इसकी वदना करते है । इसलिए बुद्धिमान पुरुषो को स्वर्ग-मोक्ष प्राप्त करने के लिये मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक यह नग्नत्व धारण करना चाहिये ।

**अस्नान व्रत**

> **रहित निखिल दोष राग विनाश हेतु**
> **मसमगुण समुद्र लोकनाथैक पूज्यम् ।**
> **जगति पर पवित्र शुद्धिद पाप हान्यै**
> **भजत विगत सगा नित्यमस्नान सारम् ।।७४।।**

**अर्थ** यह अस्नानव्रत समस्त दोषो से रहित है, राग को नाश करने का कारण है, सर्वोत्कृष्ट गुणो का समुद्र है । तीनो लोको के स्वामी तीर्थकर भी इसको पूज्य समझते है । यह ससार भर मे पवित्र है और आत्मा को शुद्ध करनेवाला है । इसलिए परिग्रह रहित मुनियो को अपने पाप नष्ट करने के लिये इस अस्नान व्रत को नित्य ही पालन करना चाहिये ।।७४।।

भूमि शयन

" वुधजन परिसेव्य धर्म शुक्लादि मूल,
श्रम हरमपदोष योग वीज गुणाब्धिम् ।
निहत मदन सर्पं निष्प्रमादत्व हेतु
क्षिति शयनमतद्रा मुक्तये स्वीकुरुध्व "।।८५।।

अर्थ इस भूमि शयन नाम के मूलगुण को विद्वान लोग धारण करते है। यह धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान का कारण है परिश्रम को हरण करनेवाला है, समस्त दोषो से रहित है योग साधन का कारण है और प्रमाद को दूर करने का कारण है । इसलिए मोक्ष प्राप्त करने के लिये तथा तन्द्रा दूर करने के लिये इस भूमि शयन व्रत का अवश्य धारण करना चाहिये । इससे कामरूपी सर्प का भी नाश होता है ।

अदत धावन

शम यम दम सौधं वीतरागत्व मूल,
वरयति गुणवार्द्धि दुर्विकारादि दूरम् ।
सुरशिब गति मार्गं त्यक्त सगा,
अदतधवन मपगत दोष शुद्धये भो भजन्तु " ।।२९।।

अर्थ यह अदत धावन नाम का गुण समता परिणाम, यम, नियम और इन्द्रिय दमन के करने के लिये राज-भवन है, वीतरागता का कारण है, श्रेष्ठ मुनियो के गुणो का समुद्र है, अशुभ विकारो से सर्वथा रहित है, स्वर्ग और मोक्ष का कारण है और समस्त दोषो से रहित है । इसलिए परिग्रह रहित मुनियो को अपनी आत्मा शुद्ध करने के लिये यह अदतधावन नाम का गुण अवश्य धारण करना चाहिये ।

एक भुक्त व्रत

" विषय सफर जाल, सत्तपोवृद्धि हेतु,
सुरगति शिवमार्ग चान्न सज्ञादि दूरम् ।

**श्रुत वन महाध्यान गयो गादि कर्तृ,**
**भजत विगत कामा एक भक्त शिवाय " ।।९३।।**

**अर्थ :** यह एक भुक्त व्रत विषय रूपी मछलियो के लिये जाल है । श्रेष्ठ तपश्चरण की वृद्धि का कारण है । स्वर्ग मोक्ष का मार्ग है, आहार सज्ञा से दूर है और श्रुत ज्ञान तथा महाध्यान के अगभूत योग को उत्पन्न करनेवाला है । इसलिये इच्छाओ को त्याग करनेवाले तपस्वियो को मोक्ष प्राप्त करने के लिये इस एक भुक्त व्रत को अवश्य पालन करना चाहिये ।

**असम गुण निधानान् स्वर्ग मोक्षादि हेतून्,**
**गणपति मुनि सेव्यॉस्तीर्थनाथै प्रणीतान् ।**
**दुरित तिमिर सूर्यान् धर्म वार्द्धीन् महान्तो,**
**भजत निखिलयत्नात् मल सज्ञान गुणौघान् ।।२८।।**

**अर्थ :** ये समस्त मूल गुण अनुपम गुणो की निधि है, स्वर्ग मोक्ष के कारण है । भगवान तीर्थंकर परमदेव ने इनका स्वरूप बतलाया है तथा गणधर देव और मुनिराज इनको पालन करते है । पापरूपी अधकार को नाश करने के लिये ये सूर्य के समान है, धर्म के समुद्र है और सब मे उत्तम है । इसलिये महापुरुषो को अपने समस्त प्रयत्नो के साथ इनको पालन करना चाहिये ।।२८।।

**दिगम्बर गुरु से ही कल्याण**

**" विश्व सत्व हितेभ्योऽत्र निर्ग्रथेभ्योऽपरे परा ।**
**भवाब्धि तरितुॅ तारयितुॅ न गुरव क्षमा ।।२४।।**

**अर्थ** समस्त जीवो का हित करनेवाले दिगम्बर गुरु ही उत्तम गुरु है और वे ही इस ससाररूपी समुद्र से पार हो सकते है तथा दूसरो को पार कर सकते है । दिगम्बर गुरुओ के सिवाय और अन्य कोई गुरु नही हो सकता है वा न अन्य किसी को पार करा सकता है ।

**सम्यग्दर्शन का सर्वोत्कृष्ट माहात्म्य**

**" निखिलगुण निधानं मुक्ति सोपानमाद्य,**
**दुरित तरु कुठार पुण्य तीर्थ प्रधानम् ।**

कुगति ग्रह कपाट धर्म मूल सुखाब्धि ।
भजत परम यत्नाद् दर्शन पुण्य भाज " ।।५०।।

अर्थ यह सम्यग्दर्शन समस्त गुणो का निधान है मोक्ष की प्रथम सीढी है, पाप रूपी वृक्ष का काटने के लिये कुठार के समान है। पुण्य बढाने के लिये तीर्थ है, सब मे प्रधान है, कुगति रूपी घर को बन्द करने के लिये कपाट के समान है, धर्म का मूल है और सुख का समुद्र है। इसलिये पुण्यवान पुरुषो को परम यत्न से इस सम्यग्दर्शन का शुद्धता पूर्वक धारण करना चाहिये ।।५०।।

सम्यकज्ञान की प्राप्ति के लिये कारण

" क्रोधमानादिकान् सर्वान् क्लेशेर्ष्याशोक दुर्मदान् ।
हास्यारति भयादीश्च त्यक्त्वा प्रसन्न मतिसम " ।।२८।।
" कृत्वा यो गृह्यते दक्षै स्वाध्यायो जिन सूत्रज
त्रिशुद्धा शास्त्रविज्ञे या भावशुद्धिर्विशुद्धि दा " ।।२९।।

अर्थ चतुर मुनि क्रोध, मान, माया, लोभ, क्लेश, ईर्ष्या, शोक, दुर्मद, हास्य, रति, अरति, भय आदि सब का त्याग कर मन, वचन, काय की शुद्धता पूर्वक जिन सूत्रो का स्वाध्याय करते है। इसको विशुद्धता उत्पन्न करनेवाली भाव शुद्धि कहते है।

" एही गच्छ मुदा तिष्ठ कुरु कार्यमिदं द्रुतम् ।
इत्यादि न वचो वाच्य प्राण त्यागेपि सयतै " ।।१७।।
" यतोत्रा संयतावा ये प्रेषणाकार यान्ति वा,
यातायात कुलस्तेषा वृताद्या प्राणि घातनात् " ।।१८।।

अर्थ मुनियो को प्राणो के त्याग करने का समय आने पर भी " आओ, जाओ प्रसन्न होकर बैठो, इस काम को शीघ्र करो " इस प्रकार के वचन कभी नही बोलने चाहिये। क्योकि जो मुनि अन्य असयमी लोगो को बाहर भेजते है अथवा उनसे आने जाने का कार्य लेते है-उनके कारितजन्य प्राणियो के घात होने से व्रतादिक निर्मल कैसे रह सकते है ? अर्थात् कभी नही ।

" ज्ञात विश्वागमैर्नित्य कर्तव्य मौनमजसा ।
पाठन वा स्व शिष्याणामागमस्य प्रयत्नत " ।।१५।।

" क्वचिद्वात्र विधातव्य सतॉ धर्मोपदेशनम् ।
अनुग्रहाय कारुण्यान्मोक्षमार्ग प्रवृत्तये " ।।१६।।

**अर्थ** समस्त आगम को जाननेवाले मुनियों को या तो नित्य मौन धारण करना चाहिये, अथवा प्रयत्नपूर्वक अपने शिष्यों को आगम का पाठ पढ़ाना चाहिये ।

८ बहुजन जिस समय बहुत से श्रावक आदि इकठ्ठे हुए हो उस समय दोष कहना बहुजन दोष है ।

९ अव्यक्त अव्यक्त रूप से दोष कहता है स्पष्ट नही कहता यह अव्यक्त दोष है ।

१० तत्सेवित . जो पाप गुरु के आगे प्रकाशित किया है उसे सर्व प्रकार से छोड़ता नहीं बार बार उसे ही करता है यह तत्सेवी दोष है।

**पृथ्वी काय के भेद**

**कोमल पृथ्वी के १६ भेद**

१ पृथ्वी, २ बालू ३ तांबा ४ लोहा, ५ रांगा, ६ शीसा ७ चाँदी, ८ सोना, ९ हरताल, १० मनशिल ११ हिंगुल १२ सस्यक १३ सुरमा १४ अभ्रक, १५ अभ्र बालुका और १६ लवण ।

**कठोर पृथ्वी के २० भेद**

१ कठिन बालू २ पत्थर के गोले ३ वज्र (हीरा), ४ बडी शीला, ५ प्रवाल वा मूँगा, ६ गोमेद मणि अर्थात् (हवाल के समान) मणि, ७ पलकमणि, ८ रूजक (राजवर्त मणि), ९ स्फटिक मणि, १० पद्मराग मणि, ११ वैडूर्य मणि, १२ चन्द्रप्रभमणि, १३ जलकाँत मणि, १४ चन्दन मणि, १५ पुष्पराग मणि १६ सूर्यकान्त मणि, १७ मरकत मणि, १८ नील मणि, १९ विद्रुम मणि और २० रुचिर मणि ।

**विनय रहित होने का फल**

**" यतो विनय हीनाना शिक्षा निरार्थ काखिला ।**
**श्रुतादि पठन व्यर्थमकीर्तर्वर्द्धतेतराम् " ।।३७।।**

**अर्थ** इसका भी कारण यह है कि जो पुरुष विनय रहित है उनकी समस्त शिक्षा निरर्थक समझनी चाहिये । इसके सिवाय अविनयी पुरुषोकी अपकीर्ती सदा बढती रहती है ।।३७।।

" यदि वही चिर दीक्षित शूरवीर अपने अभिमान के कारण ऊपर

े ध्रे दोषो को लगावे तो उसके लिये आचार्यो ने समस्त दोषोको दूर करने
.।। ' परगणोपस्थान ' नाम का परिहार प्रायश्चित्त बतलाया है"।।७१।।

" उसकी विधि यह है कि आचार्य उस अपराधी को अन्य सघ के आचार्य के पास भेजते है । वे दूसरे आचार्य भी उसकी कही हुई सब आलोचना को सुनते है तथा बिन प्रायश्चित्त दिये उसको तीसरे आचार्य के पास भेज देते है । इस प्रकार वह सात आचार्यो के पास भेजा जाता है । सातवे आचार्य आलोचना सुनकर उसको उसके ही गुरु के पास अर्थात् पहले ही आचार्य के पास भेज देते है । तदनन्तर व आचार्य ऊपर लिखा परिहार नाम का प्रायश्चित्त देते है और वह शक्तिशाली मुनि उस सब प्रायश्चित को धारण करता है " ।।७२-७४।।

भ्रष्टाचार मुनि

**" चिर प्रवृजितस्थैव शूलस्य गर्वितस्य वा ।**
**कृत दोषस्य मासादि विभागेन च योगिन" ।।५८।।**
**" छित्वा प्रवजन तद्दीछ्या लघु महात्मनाम् ।**
**अधोभागे किलावस्थापन यच्छेद एव स " ।।५९।।**

**अर्थ** यदि कोई मुनि चिरकाल का दिक्षित हो वा शूरवीर हो, वा अभिमानी हो- और वह अपने व्रतो मे दोष लगावे-ऐसे मुनि को एक महिना, दो महिना, एक वर्ष, दो वर्ष आदि की दीक्षा का छेद कर देना और उसको उससे छोटे मुनियो से भी (उसके बाद दीक्षित हुवे मुनियो से) नीचे कर देना छेद नाम का प्रायश्चित कहलाता है । " नमस्कार करने से सज्जनो का समस्त श्रेष्ठ गुणो के साथ सम्यग्दर्शन दूर भाग जाता है और मिथ्यात्व आदि दोष सब उन सज्जनो मे आ मिलते है " ।।६०।।

' यही समझकर सज्जन पुरुषो को किसी शास्त्र आदि के लोभ से भी इन भ्रष्ट मुनियो का ससर्ग नही रखना चाहिये, क्योकि इनका ससर्ग अपकिर्ति करनेवाला है । व्रतो को जड-मूल से हरण करनेवाला है और निदनीय है ।।७१।।

'आगे कहते हैं कि तत्व को कौन जानता है'। जो पुरुष गुरुओं के द्वारा कहे हुवे तत्व का निश्चल भाव से ग्रहण करता है और सदा उसी को भाता है - वही तत्व को जानता है।

**भावार्थ** : 'गुरु वगैरह ने जीवादि वस्तु का जो स्वरूप कहा है, जो भव्य जीव उस पर दृढ श्रद्धा रखकर सदा उसी का चिन्तन मनन करता है - वही अपने शुद्ध-बुद्ध परमानन्द स्वरूप को जानता है। बिना दृढ श्रद्धा और सतत भावना के सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती है।'

**अर्थ** " जो मुनि तीर्थंकर गणधर, संघ जिनसूत्र की निंदा करता है अथवा बिना राजा की सम्मति के उसके मंत्री आदि को जिन दीक्षा दे देता है अथवा राजघराने की स्त्रियों को सेवन करता है अथवा और भी ऐसे दुराचार कर जो जिनधर्म को दूषित करता है उसके लिये आचार्यों ने ' पारचिक ' नाम का प्रायश्चित्त निश्चित किया है। उस प्रायश्चित्त को देते समय अपने संघ के चारों प्रकार के मुनि इकट्ठे होते हैं और मिलकर घोषणा करते हैं कि यह मुनि महापापी है। इसलिए अवन्दनीय हैं और श्री जिन शासन से बाहर है। तदनन्तर वे आचार्य उसको अत्यन्त कठिन अनुपस्थापन नाम का प्रायश्चित देते हैं। तथा उस अपराधी मुनि को वे आचार्य अपने देश से निकाल देते हैं। मजबूत संहनन को धारण करनेवाला वह मुनि धीर, वीर और महाबलवान, जिस देश मे जिन धर्म न हो उस क्षेत्र मे जाकर गुरु के दिये हुवे समस्त दोषो को शुद्ध करनेवाले पूर्ण प्रायश्चित्त को अनुक्रम से पालन करता है"।।७६।।

**अर्थ** " मिथ्यादृष्टियो के उपदेशादिक से जिसने मिथ्यात्व को धारण कर लिया है वह यदि अपना सम्यग्दर्शन शुद्ध करने के लिये तत्वो मे वा देव-शास्त्र-गुरु मे श्रद्धान कर लेता है-उसको उत्तम श्रद्धान नाम का प्रायश्चित कहते है।"।।८२।।

**अर्थ** - " इसका भी कारण यह है कि जो पुरुष विनयरहित है उनकी समस्त शिक्षा निरर्थक है। उनका शास्त्रादिक का पढना भी व्यर्थ

समझना चाहिये। इसके सिवाय अविनयी पुरुषो को अपकीर्ति सदा बढती रहती है "।।३७।।

" जो मुनि तप और सयम को धारण करनेवाले है और योग को धारण करनेवाले है तथा बाहर अपने स्थान मे ठहरे है - अथवा अपने ही सघ के मुनि बाहर जाकर आये है उनके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और वृतो की वृद्धि के लिये, आने जाने की कुशल वार्ता पूछना, परस्पर सुख का प्रश्न करना, भगवान जिनेन्द्रदेव ने शास्त्रो मे मार्गोप सम्मत बतलाई है "।।३९-४०।।

" जो मुनि अत्यन्त उत्कृष्ट होने के कारण ग्यारह अग और चौदह पूर्व के पाठी है, श्रेष्ठ वीर्य, श्रेष्ठ धैर्य और श्रेष्ठ शक्ति को धारण करते है , जो पहले के तीन सहननो मे किसी एक सहनन को धारण करनेवाले है, बलवान है, जो सदा एकत्व भावना मे तत्पर रहते है, शुद्ध भावो को धारण करते है, जो जितेन्द्रिय है, चिरकाल के दिक्षित है, बुद्धिमान है, समस्त परिषहो को जीतने वाले है तथा और भी अन्य समस्त गुणो से सुशोभित है - समस्त परिषहो को जीतनेवाले है तथा और भी अन्य समस्त गुणो से सुशोभित है - ऐसे मुनियो को शास्त्रो मे एक विहारी (अकेले विहार करनेवाले) होने की आज्ञा है। जो इन गुणो से रहित हैं उनको भगवान जिनेन्द्रदेव ने एक बिहारी होने की आज्ञा नही दी है "।।५४-५६।।

"इसके सिवाय अकेले विहार करने से आपत्तियॉ भी बहुत आती है। कॉटे, शत्रु, कुत्ते, पशु, सर्प, बिच्छू, म्लेच्छ आदि दुर्जन, दुष्ट आदि अनेक जीवो के द्वारा तथा विसूचिका आदि रोगो के द्वारा विषादिक आहार के द्वारा तथा और भी घोर उपद्रवो के द्वारा अनेक प्रकार की आपत्तियॉ आती है। तथा सम्यग्दर्शन आदि श्रेष्ठ गुणो के साथ-साथ अन्य गुण भी सब नष्ट हो जाते हैं" ।।६१-६२।।

"अकेले विहार करनेवाले मुनि के पॉच पापो के स्थान उत्पन्न हो जाते है। एक तो भगवान जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का उल्लघन होता है,

दूसरे जिन शासन मे अव्यवस्था हो जाती है अर्थात् सभी मुनि अकेले विहार करने लग जाते है । तीसरे मिथ्यात्व की वृद्धि होती है । चौथे आत्मा का ज्ञान-चारित्र आदि गुणो का नाश और सम्यग्दर्शन आदि गुण भी नाश को प्राप्त हो जाते है । पाचवे समस्त सयम की विराधना हो जाती है । इस प्रकार एक विहारी के पाच पापो के स्थान उत्पन्न हो जाते है" ।।६६-६७।।

जिस गुरुकुल मे गुणो की वृद्धि के लिये महान आचार्य, उपाध्याय, गुणो के समुद्र, प्रवर्तक, स्थविर और गणाधीश ये पाँच उत्कृष्ट आधार न हो, उस गुरुकुल मे सज्जन मुनियो को कभी निवास नही करना चाहिये" ।।६८-६९।।

'एक व तीन मुनियो का गण और सात मुनियो का गच्छ होता है । स्थविर किसे कहते है ? जो मुनि सर्वज्ञदेव की आज्ञा के अनुसार युक्तिपूर्वक बालक वा वृद्ध शिष्यो को श्रेष्ठ मार्ग का उपदेश देते है तथा जिन्हे सब मानते है — उनको स्थविर कहते है ।।७०।।

"जो मुनि अकेले ही अपनी इच्छानुसार चाहे जहाँ निवास करते है चाहे जहाँ विहार करते हो — उनके श्रेष्ठ गुण सब नष्ट हो जाते है और करोडो दोष प्रतिदिन बढते रहते हैं ।।७६।।

"यह पचम काल मिथ्यादृष्टि और दुष्टो से ही भरा हुआ है, तथा इस काल मे जो मुनि होते है वे हीन सहनन को धारण करनेवाले और चचल होते है । ऐसे मुनियो को इस पचम काल मे दो, तीन, चार आदि की सख्या के समुदाय से ही निवास करना, समुदाय से ही विहार करना और समुदाय से ही कायोत्सर्ग आदि करना कल्याणकारी कहा है" ।।७७-७८।।

"भगवान जिनेन्द्रदेव ने यत्नाचार ग्रथो मे यतियो के समस्त शुभ आचार और गुण आत्मा की शुद्धि की वृद्धि के लिये कहे हैं । इसलिये करोडो कार्यो के होने पर भी अन्यथा प्रवृत्ति नही करना चाहिये" ।।७९।।

" क्योकि यह पचम काल विषमकाल है, इसमे मनुष्योके शरीर अन्न के कीडे होते है तथा उनका मन स्वभाव से ही चचल होता है और पचम काल के सब ही मनुष्य शक्तिहीन होते है। अतएव एकाकी विहार करनेवालो के व्रतादिक स्वप्न मे भी कभी निर्विघ्न नही पल सकते। तथा उनके मन की शुद्धि भी कभी नही हो सकती। और न उनकी दीक्षा निष्कलक रह सकती है। इन सब बातो को समझकर मुनियो को अपने विहार, निवास व योग धारण आदि समस्त कार्य निर्विघ्न पूर्ण करने के लिये तथा उनको शुद्ध रखने के लिये सघ के साथ ही विहार आदि समस्त कार्य करने चाहिये। अकेले नही " ।।८०-८२।।

" जो कुमार्ग गामी इस तीर्थकर देव की आज्ञा को उल्लघन कर अपनी इच्छानुसार विहार या निवास आदि करते है - उनको सम्यग्दर्शन से ही रहित समझना चाहिये। ऐसे मुनियो के सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र इसी लोक मे नष्ट हो जाते है। इसी लोक मे वे कलकित हो जाते है, सघ के बाहर करने योग्य हो जाते है और पद पद पर उनका अपमान होता है। भगवान सर्वज्ञदेव की आज्ञा को उल्लघन करने रूप महापाप से वे लोग परलोक मे भी नरकादिक दुर्गतियो मे चिरकाल तक महाघोर परिभ्रमण किया करते है " ।।८३-८५।।

गुरु आदि का शिष्य आज्ञा का उल्लघन करता है, ज्ञान का अविनय करने से आचार्य और शिष्यो मे प्रेम नही रहता, बुद्धि का नाश हो जाता है। ज्ञानावरण कर्म का आस्रव होता है। समाधि का नाश होता है, भगवान जिनेन्द्र की आज्ञा का उल्लघन होता है, सम्यग्दर्शन का नाश होता है। परस्पर गुरु शिष्यो मे कलह हो जाती है। श्रुतज्ञान की हानि हो जाती है। अनेक रोगादिक हो जाते हे और इष्ट वियोग हो जाता है " ।।१२-१३।।

अर्जिका अथवा महिला के साथ बातचीत कैसे करना ? " उन अर्जिका आदि स्त्रीयो के साथ वातचीत करना भी अनेक दोष उत्पन्न

करनेवाला है । अतएव निर्मल हृदय को धारण करनेवाले मुनियों को विना काम के उनके साथ कभी बातचीत नहीं करनी चाहिये " ।।२१।।

" यदि कोई अकेली अर्जिका अकेले मुनि से शास्त्र के भी प्रश्न करे तो उन अकेले मुनि को अपनी शुद्धि बनाये रखने के लिये कभी उसका उत्तर नहीं देना चाहिये ।।२२।।

" यदि वह अर्जिका अपनी गुरुणी (भगिनी) को आगे करके कोई प्रश्न करे तो उन अकेले संयमी मुनि को उस सूत्र का अर्थ समझा देना चाहिये वा प्रश्न का उत्तर देना चाहिये " ।।२३।।

' कोई तरुण श्रेष्ठ मुनि किसी तरुणी अर्जिका के साथ कथा वा वातचीत करे तो उसको नीचे लिखे पाँचो दोष लगते हैं —

१ भगवान जिनेन्द्र की आज्ञा का भंग होता है ।

२ जिन शासन मे अव्यवस्था हो जाती है । सब लोग ऐसा ही करने लग जाते है ।

३ मिथ्यात्व की आराधना हो जाती है ।

४ गुण और व्रतो के साथ-साथ उसकी आत्मा का नाश हो जाता है ।

५ उसके समस्त संयम की विराधना हो जाती है । इस प्रकार महापापो के स्थान ऐसे पाँचो दोष उस मुनि को व्यर्थ ही लग जाते है ।।२५-२६।।

**मुनियो की दस शुद्धियाँ**

१ लिंग शुद्धी २ श्रेष्ठ व्रत शुद्धि ३ वसतिका शुद्धि ४ उत्तम विहार शुद्धि ५ भिक्षा शुद्धि ६ ज्ञान शुद्धि ७ उज्झन शुद्धि ८ वचन शुद्धि ९ तप शुद्धि और १० ध्यान शुद्धि ।

इस प्रकार मुनियोके लिये ये १० शुद्धियाँ कही गई है" ।।८-९।।

" **लिंग शुद्धि** - यह धन, जीवन, यौवन, कुटुम्बी लोग तथा और भी यह समस्त संसार बिजली की चमक के समान क्षण भंगूर है । यही

समझकर जगतरूपी शत्रु को मारकर जो आत्मा को जाननेवाले धीर-वीर पुरुष प्रसन्न होकर उस धन, यौवन आदि से मोह का त्यागकर देते है और विशुद्ध जिन लिग धारण कर लेते है वह मुनियो की लिग शुद्धि कहलाती है " ।।१०-११।।

" प्रासुक स्थान मे रहनेवाले और विविक्त एकान्त स्थान मे निवास करनेवाले मुनि किसी गॉव मे एक दिन रहते है और नगर मे पॉच दिन रहते है । सर्वथा एकान्त स्थान को ढूॅढने वाले और शुक्ल ध्यान मे अपना मन लगाने वाले मुनिराज इस लोक मे गध-गज (मदोन्मत्त) हाथी के समान ध्यान के आनन्द का महासुख प्राप्त करते है " ।।३१-३२।।

" सदा ध्यान और अध्ययन मे लगे रहने वाले तथा रात-दिन जगने वाले और प्रमादरहित जितेन्द्री - वे मुनिराज निद्रा के वश मे कभी नही होते " ।।४०।।

" वे मुनिराज पहाडो पर ही पर्यकासन, अर्ध-पर्यकासन व उत्कृष्ट वीरासन धारण कर वा हाथी की सूॅड के समान आसन लगाकर, अथवा मगर के मुख का-सा आसन लगाकर, अथवा कायोत्सर्ग धारण कर वा अन्य किसी आसन से बैठकर अथवा एक करवट से लेटकर अथवा कठिन आसनो को धारण कर पूर्ण रात्रि बिता देते है " ।।४१-४२।।

**मुनियो का विचार**

**" निदा करे, स्तुति करे, तरवार मारे;**
**या आरती मणिमयी सहसा उतारे ।**
**साधू तथापि मनमे समभाव धारे;**
**वैरी - सहोदर जिन्हे इकसार सारे "।।**

" जिस समय मे शुद्धात्म चितवन मे लीन हो उस समय दुष्ट मनुष्य यदि मुझे निरतर शाप देवे या मेरी चीज चुराये-चुराओ । मेरे शरीर के टुकडे-टुकडे कर मार डाले, छेदे, मेरे रोग उत्पन्न करे, हॅसी करे, जलावे, निदा करे, आपत्ति और पीडा करे, सिरपर वज्र डाले-

डालो । अग्नि, समुद्र, पर्वत, कोटर, कूप, वन और पृथ्वी पर फेंके-फेंको । अपमान और भय कर-करा । मेरा कुछ बिगाड़ नही जा सकता है- अर्थात् - वे मेरी आत्मा को किसी प्रकार की हानी नही पहुँचा सकते ।"

" दत्तो मानोऽपमानो मे जल्पिता कीर्तिरुज्ज्वला ।
अनुज्ज्वलाप कीर्तिर्वा मोहस्तेनेति चिंतनम् " ।।

अर्थ  इसने मेरा आदर-सत्कार किया, इसने मेरा अपमान-अनादर किया, इसने मेरी उज्ज्वल कीर्ति फैलाई । इस प्रकार मन मे विचार लाना ही मोह है ।

यदि वास्तव मे देखा जाय तो किसका आदर ? किसका अनादर? किसकी कीर्ति ? किसकी अपकीर्ति ? सब बात मिथ्या है । परन्तु मोह से मूढ यह प्राणी आदर अनादर का विचार करता है यह प्रबल मोह है।

" किं करोमि क्व यामीदं क्व लभेय सुख कुत ।
किमाश्रयामि किं वच्मि मोहश्चिंतन मीदृशम् " ।।

अर्थ - मैं क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? कैसे सुखी होऊँ ? किसका सहारा लूँ ? और क्या कहूँ ? इस प्रकार का विचार करना भी मोह है । निर्मोही वीतरागी ऐसे विचार को सर्वथा मिथ्या मानकर ऐसा विचार नही करते ।

सदा दोषी निंद्योद्र गुरु विधिर कर्मा हि वचनं ।
वदन्नागी व्याद्य भवति भुवि वैशुद्धय सुखभाक् ।।

अर्थ  मै मोहके कारण विपर्यस्त होकर ही अपने को विवेकहीन, रोगी निर्धन, मतिहीन, अगुणी, शक्तिरहित, दोषी, निंदनीय, हीनक्रिया का कारण वाला अकर्मण्य आलसी मानता हूँ ।

मै वास्तविक दृष्टी से शुद्ध-बुद्ध चेतना स्वरूप हूँ । सब पदार्थो का ज्ञाता-दृष्टा और सदा आनन्द रूप हूँ, किंतु अज्ञानवश मोह के जाल मे फॅसकर मै विपरीत-सा हो गया हूँ । पागलपन, शक्तिरहितपना आदि

कर्म के सम्बन्ध से उत्पन्न हुए है। जो मनुष्य (मुनि) सदा ऐसा विचार किया करता है वह अवश्य विशुद्धताजन्य सुख को अनुभव करता है। मैं तो अवश्य ही ऐसा विचार करता रहता हूँ।"

" वे मुनिराज विष मिले हुए अन्न के समान सदोष आहार को छोड देते है, दूर से आये हुए आहार को छोड देते है - जिसमे कुछ शका पैदा हो गई हो, उसको भी छोड देते है। उद्दिष्ट और जाने हुए आहार को भी छोड देते है और स्वय बनाये हुए आहार को भी छोड देते है" ।।७०।।

**शरीर का स्वरूप**

" यह शरीर रोग रूपी सपों का बिल है, अत्यन्त निंद्य है। यमराज के मुख मे ही इसका सदा निवास है। यह शुक्र, रुधिर रूपी बीज से उत्पन्न हुआ है, सप्त धातुओ से भरा हुआ है, करोडो-अरबो कीडो से भरा हुआ है, अत्यन्त भयानक है, अत्यन्त घृणित है, मल-मूत्र आदि असार पदाथो से भरा हुआ है, विष्टा आदि अपवित्र पदार्थों का पात्र है। पॉचो इन्द्रीयरूपी चोर इसमे निवास करते है। समस्त दु:खो का यह कारण है। समस्त अपवित्र पदाथो की खान है, पवित्र पदाथोको भी अपवित्र करनेवाला है। भूख-प्यास काम-क्रोध रूपी अग्नि से सदा जलता रहता है।

वने रहते हैं। वे कभी किसी की निंदा नहीं करते और न किसी की स्तुति करने वाली बात करते हैं ।।१५-१६।।

मौन धारण करनेवाले वे मुनिराज स्त्रीकथा, अर्थकथा, भोजनकथा, राजकथा, चोरकथा वा मिथ्या कथाएं कभी नहीं करते हैं। इसी प्रकार खेट, कर्वट, देश, पर्वत, नगर, खान आदि कि कथाए भी कभी नही करते हैं। तथा वे मुनिराज नट सुभट, मल्ल, इन्द्रजालिया जुआ खेलनेवाले, कुशील सेवन करनेवाले, दुष्ट म्लेच्छ, पापी, शत्रु चुगलखोर, मिथ्यादृष्टि, कुलिंगी, रागी, द्वेषी, मोही और दुखी जीवों की व्यर्थ की विकथाएँ कभी नही कहते हैं। वे चतुर मुनि पाप की खान ऐसी और भी अनेक प्रकार की विकथाऐ कभी नहीं कहते हैं तथा न कभी ऐसी अशुभ विकथाओ को सुनते हैं ।।१७-२०।।'

'वे मुनिराज शरीर मे विकार उत्पन्न करने वाले वचन कभी नही कहते। साधुओ के द्वारा निंदनीय बकवाद कभी नहीं करते और हँसी को उत्पन्न करनेवाले दुर्वचन कभी नही कहते हैं।'

" जो धर्म सम्बन्धिनी श्रेष्ठ कथा भगवान जिनेन्द्रदेव के मुख से प्रकट हुई है, जिसमे तीर्थकर ऐसे महापुरुषोका कथन है, जो संवेग को उत्पन्न करनेवाली है, सारभूत है, तत्वो के स्वरूप को कहनेवाली है, राग-द्वेष रूपी शत्रु को नाश करनेवाली है, मन और पंचेन्द्रियो को रोकने वाली है-ऐसी श्रेष्ठ कथा ही वे चतुर मुनिराज सज्जनो के लिये कहते है " ।।२४-२५।।

" जो मुनिराज सामर्थ्यशाली है, अपने मन को सदा मुनियो की भावना मे लगाये रहते है, जो अपने आत्मध्यान मे सदा तत्पर रहते हैं और तत्वो के चितवन करने का ही जिनके सदा अवलबन रहता है। इस प्रकार के और भी जो अनेक गुणो को धारण करते है तथा गूँगे के समान मौन व्रत धारण कर ही अपनी प्रवृत्ति रखते है ऐसे मुनियो के उत्तम वाक्यशुद्धि कही जाती है " ।।२६-२७।।

" यह अपना मन रूपी दुर्धर हाथी विषयरूपी वन मे घूमता रहता है । इसको ध्यानरूपी अकुश से पकडकर बुद्धिमान लोग ही अपने वश मे कर लेते है" ।।४८।।

" वे मुनिराज श्रेष्ठ ध्यानरूपी वज्र की चोट से मोहादिक वृक्षो के साथ साथ अशुभ कर्मरूपी पर्वतो के अनेक सैकडो टुकडे कर डालते है " ।।५२।।

" वे मुनि चाहे चल रहे हो, चाहे बैठे हो आराम से, वा सुख-दु ख की अनेक अवस्था को प्राप्त हो रहे हो, तथापि वे ध्यान को कभी नही छोडते है" ।।५३।।

" ये राग-द्वेषरूपी घोडे बडे ही दुष्ट है - ये मनुष्यो को जबर्दस्ती कुमार्ग मे ले जाते है । ऐसे इन घोडो को योगी पुरुष ही अपनी आत्मध्यानरूपी लगाम से श्रेष्ठ ध्यानरूपी रथ मे जोत देते है " ।।५६।।

" देखो यह श्रेष्ठ ध्यान एक उत्कृष्ट नगर है । यह नगर जिन शासन की भूमि पर बसा हुआ है । चारित्र रूपी परकोटे से घिरा हुआ है, विवेकरूपी बडे दरवाजोसे सुशोभित है । भगवान जिनेन्द्रदेव की आज्ञारूपी खाई से वेष्टित है । इसके गुप्तिरूपी वज्रमय किवाड है । श्रेष्ठ तपश्चरण रूपी योद्धाओसे यह भरा हुआ है । उत्तम क्षमादि मत्रियो के समूह से यह सुशोभित है । सम्यग्ज्ञान रूपी कोतवाल इसकी रक्षा करते है । इसकी सीमा के अन्त मे सयमरूपी बगीचे लग रहे है । कषाय और कामरूपी शत्रुओ के समूह तथा पचेन्द्रिय रूपी चोर इसमे प्रवेश नही कर सकते । न इस नगर का भग कभी हो सकता है । यह ध्यान रूपी नगर साधु लोगो से भरा हुआ है और परम मनोहर है । इस नगर के स्वामी वे ही मुनि होते है जो उत्तम शीलरूपी महाकवचो को सदा पहने रहते है । जो समता रूपी ऊँचे हाथी पर चढते रहते है, जिनके हाथ मे धैर्यरूपी धनुष सदा सुशोभित रहता है तथा जो रत्नत्रय रूपी बाणो को धारण करते है । ऐसे उत्तम सुभटरूपी मुनिराज इस श्रेष्ठ ध्यानरूपी नगर के राजा होते है " ।।५८-६२।।

' वे ध्यानरूपी नगर के स्वामी मुनिराज निःशंकित रूपी डोरी को खींचकर रत्नत्रयरूपी बाणों की वर्षा करते हैं और मोक्षरूपी राज्य को प्राप्त करने के लिये समस्त सेना के साथ मोहरूपी शत्रु को नष्ट करते है "।।६३।।

' तदनन्तर मोहरूपी महाशत्रु के नष्ट हो जाने पर उन मुनियों के कर्मरूपि सब शत्रु नष्ट हो जाते हैं और देवों के द्वारा पूज्य वे मुनिराज सदा काल रहनेवाले मोक्षरूपी साम्राज्य को प्राप्त कर लेते हैं ।।६४।।

' वे मुनिराज तपश्चरण करके अपनी आत्मा को श्रम व परिश्रम पहुँचाते है - इसलिए श्रमण कहलाते हैं । इसलिये संयत कहलाते हैं । वे मुनिराज अपने कर्मो को अर्पण करते हैं भगा देते हैं वा नष्ट कर देते है इसिलिए ऋषि कहलाते है । वे मुनिराज अपनी आत्मा का अथवा अन्य पदार्थो का मनन करते हैं इसिलिए भी वे मुनि कहलाते हैं । अथवा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि पाँचो ज्ञानो से वे सुशोभित रहते हैं इसलिए भी वे मुनि कहलाते है । वे मुनिराज सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रयको सिद्ध करते है उनके राग-द्वेष आदि समस्त दोष नष्ट हो जाते हैं इसलिए वे वीतराग कहलाते है साधु कहलाते है । उनके रहने का कोई नियत स्थान नही रहता इसलिये वे अनगार कहलाते है उनके राग-द्वेष आदि समस्त दोष नष्ट हो जाते है इसलिये वे वीतराग कहलाते हैं और तीनो लोको के इन्द्र उनकी पूजा करते है ।।६५-६६।।

" इस प्रकार अनेक सार्थक नामो को धारण करनेवाले वीतराग ध्यानी तपस्वियो के परम ध्यान की शुद्धि होती है । रागी मुनियो के ध्यान की सिद्धि कभी नही हो सकती " ।।७०।।

" इस प्रकार भगवान जिनेन्द्रदेव के मुख से प्रकट हुई ये १० शुद्धियॉ समस्त अशुभो का नाश करनेवाली है और स्वर्ग, मोक्ष को देने वाली है । जो महापुरुष अपनी आत्मा को शुद्ध करने के लिये प्रयत्नपूर्वक धारण किये हुए परम चारित्र के द्वारा इन दशो शुद्धियो का

पालन करते है वे बहुत ही शीघ्र कर्म मल कलक से सर्वथा रहित हो जाते है ।।७१।।"

" ये मुनियो की श्रेष्ठ भावनाये सर्वोत्कृष्ट है, मोक्षरूपी [illegible] की सखी है । जो चतुर मुनि इनको सुनते है, इनका चिन्तन करते है [illegible] उद्योगी बनकर अपनी शक्ति के अनुसार इनका पालन करते है [illegible] अंत मे श्रेष्ठ तपश्चरण धारण कर मोक्ष मे जा विराजमान होते है " ।।७२।।

**नौवाँ अधिकार**

जो पुरुष चारित्र रहित है वह यदि बहुतसा श्रुत ज्ञान को पढ ले तो भी उससे कोई लाभ नही होता । क्योकि वह बिना चारित्र के ससार रूपी समुद्र मे ही डूबता है " ।।१३।।

" जो बुद्धिमान पुरुष चारित्र रूपी जहाज पर सवार हो जाते है वे ज्ञानरूपी पतवार से और ध्यान रूपी वायु से बहुत ही शीघ्र ससाररूपी समुद्र के पार हो जाते है " ।।१४।।

" जो मुनि आहार के आश्रित रहने वाले पदार्थों को (आहार को वा उच्चासन आदि को) बिना शुद्ध किये आहार ग्रहण कर लेता है वह मुनि मुनिपने के गुणो से बहुत दूर रहता है तथा मूल स्थान को प्राप्त होता है (गृहस्थ पद) । उसे फिर से दीक्षा देनी चाहिये ।।३६।।

" जो अज्ञानी मुनि चिरकाल का दिक्षित होकर भी आहार ग्रहण करने की सामग्री को बिना शुद्ध किये कायक्लेश तपश्चरण को करता है उसका वह तपश्चरण सयम रहित कहलाता है और इसलिये वह व्यर्थ है । इस प्रकार उस मुनि के लिये हुए यम, नियम, चारित्र भी सब व्यर्थ समझने चाहिये । उसकी कोई भी क्रिया श्रेष्ठ नही कही जा सकती । क्योकि, सयमहीन मुनि के सदा पाप कर्मों का आस्रव होता रहता है । और इसलिये उसकी सब क्रिया व्यर्थ हो जाती है" ।।४०-४१।।

" जो मुर्ख मन-वचन-काय से अन्न के पकाने-पकवाने वा अनुमोदन करने मे प्रवृत्त होते है वा इन नीचे लिखे पॉच पापो से नही डरते उनको मिथ्यादृष्टि ही समझना चाहिये ।"

१ चक्की २ उखली ३ चूली ४ बुहारी और ५ पानी रखने का परडा (ये पॉच पाप है)

" क्योकि वे विरुद्ध आचरणो को ही धारण करते है और इसीलिये इस लोक मे भी उनकी अपकीर्ति फैल जाने के कारण उनका यह लोक भी बिगड जाता है तथा सयम रूप आचरण धारण न करने

के कारण उनका परलोक भी बिगड जाता है । इस प्रकार उनको दोनो लोक बिगड जाते है और व्रत भग होने के कारण वे नरकादिक दुर्गतियो मे अवश्य पहुँचते है " ।।५६-५७।।

"जो मुनि मृत्यु के भय से भयभित हुए समस्त प्राणियोको अभय दान देता है उसीको समस्त गुण अपने आप आ जाते है" ।।६६।।

" सघ मे आचार्य तो महाज्ञानी वैद्य हैं । ससार से विरक्त हुआ शिष्य रोगी है । पापरहित चर्या ही औषधि है । पापरहित स्थान ही उसके लिये योग्य क्षेत्र है और वैयावृत्य करने वाले उसके सहायक है । वे आचार्यरूपी वैद्य इस सामग्री से उस रोगी मुनि के कर्मरूपी रोग को नष्ट कर शीघ्र ही निरोग सिद्ध बना देते है" ।।६७-६८।।

**दसवाँ अधिकार**

" शुभ अशुभ ऐसे मृत्यु के १७ भेदो को शास्त्र के अनुसार कहते है -- १ आवीचिमरण २ भव-मरण ३ अवधि-मरण ४ ऑधत-मरण ५ सशल्य-मरण ६ गृद्धपृष्ठ-मरण ७ जिध्रास-मरण ८ व्युतखष्ट-मरण ९ बलाका-मरण १० सक्लिश्य-मरण । इस प्रकार ये १० मरण भगवान जिनेन्द्रदेव ने बतलाये है " ।।२३-२४।।

१ बाल बाल-मरण २ बाल-मरण ३ बाल-पण्डित-मरण ४ भक्त प्रत्याख्यान-मरण ५ इगिनी-मरण ६ प्रायोपगमन-मरण और ७ सर्वोत्तम पडित-मरण । इस प्रकार ये सात मरण बतलाये है " ।।२४-२६।।

" जो मनुष्य साधु होकर भी मत्र-तत्र आदि अनेक कार्यो को करता है, ज्योतिष या वैद्यक करता है तथा ऐसे ही ऐसे और भी बहुत-से अशुभ कार्य करता है, हॅसी करता है, कौतूहल, तमाशे आदि करता है और इच्छानुसार चाहे जो बोलता है वह मरकर हाथी-घोडा आदि बनने वाले जाति के नीच देवो मे उत्पन्न होता है " ।।६३-६४।।

" जो तीर्थकरो की अविनय करता है, आगम की अविनय करता है, धर्मात्माओ के प्रतिकूल रहता है, जो मायाचारी है ओर महापापी हैं

वह अपने महापापो के कारण किल्विष जाति के देवो मे नीच किल्विष देव होता है ।।६५-६६।।

' समस्त गुणो मे मेरा अनुराग है । मै किसी के साथ वैरभाव नही रखता, मै राग को, कषायो के सम्बन्ध को, द्वेष को, हर्ष को, दीनता रूप परिणामो को, भय, शोक को, उत्सुकता को, अशुभ ध्यान को, कलुषता को, सब तरह के दुर्ध्यान को, स्नेह को, रति तथा अरति को, जुगुप्सा को तथा और भी कर्मजन्य जो आत्मा के विकार हैं उन सबका मन, वचन, काय की शुद्धतापूर्वक त्याग कर देता हूँ । मै अपने हृदय मे समस्त जीवो के लिये दया धारण करता हूँ तथा सबसे शत्रुता व मित्रता का त्याग करता हूँ । मैं अपने शरीर से भी ममत्व का सर्वथा त्याग करता हूँ । मैं तीनो लोको के समस्त पदार्थो मे निर्ममत्व धारण करता हूँ ।।९१-९८।।

' अब मै सम्यग्दर्शन आदि गुणो के साथ साथ एक आत्मा का ही आश्रय लेता हूँ । उसके सिवाय तीनो लोको मे भरे हुए समस्त पदार्थो का मै त्याग करता हूँ ' ।।९९।।

" मेरा यह आत्मा ही परमज्ञान है । आत्मा ही क्षायिक सम्यग्दर्शन है, आत्मा ही परम चारित्र है और आत्मा ही परम निर्मल प्रत्याख्यान है" ।।१००।।

" मेरा यह आत्मा ही समस्त योगरूप है और यही आत्मा मोक्ष का साधन है, क्योकि आत्मा मे जितने गुण है, वा मोक्ष के कारण भूत जितने गुण है वे बिना आत्मा के कभी हो ही नही सकते है ।।१०१।।

" यह प्राणी इस ससार मे कर्म को निमित्त से अकेला ही मरता अकेला ही उत्पन्न होता है, अकेला ही परिभ्रमण करता है और कर्म रहित होकर अकेला ही शुद्ध होता है' ।।१०२।।

" पॉचो इन्द्रियो का मुण्डन, हाथ-पैर और शरीर का मुण्डन तथा मन और वचन का मुण्डन इस प्रकार आचार्यो ने १० प्रकार का मुण्डन बतलाया है " ।।१२०।।

## श्रुतज्ञान के विशारद गणधरादि देव कथित
## शील के भेद

"यो करण स इ पृ क्ष
३ X ३ X ४ X ५ X १० X ११ = १८००० ये शील है" ।।३-४।।
यो स
९ X ४ = ३६ शील के भेद हो जाते है ।
३६ X ५ = १८० यह भी शील के भेद है ।
१८० X १० = १८०० शील के भेद है ।
हिसादिक २१ X ४ X १०० X १० X १० X १० = ८,४०,००००।।२३-२४।।

१ प्रणियो की हिसा करना २ झूठ बोलना, ३ चोरी करना, ४ मैथुन सेवन करना, ५ परिग्रह रखना, ६ क्रोध, ७ मान, ८ माया, ९ लोभ, १० भय, ११ अरति, १२ रति, १३ जुगुप्सा, १४ मन की चचलता, १५ काय की चचलता, १६ मिथ्यादर्शन, १७ प्रमाद, १८ वचन की चचलता, १९ पैशून्य, २० अज्ञान और २१ पचेन्द्रियो का निग्रह न करना ।

ये समस्त दोषो को उत्पन्न करने वाले, प्राणी हिसादिक २१ (इक्कीस) दोष है " ।।२५-२६।।

१ प्रतिक्रमण, २ व्यतिक्रमण, ३ अतिचार, ४ अनाचार । ये चार अतिक्रम आदि दोष कहलाते है । जो जितेन्द्रिय पुरुष इन दोषो का त्याग कर देते है उनके व्रतादि धर्म की वृद्धि करने वाले वे गुण हो जाते है" ।।२९-३०।।

" पहले जो हिसा का त्याग आदि २१ गुण बतलाये है उनके साथ इन ४ अतिक्रमादि के त्याग से गुणा कर देने पर (२१ x ४ = ८४) चौरासी गुणो की सख्या हो जाती है" ।।३१।।

" पृथ्वीकाय आदिक १० भेद हो जाते हैं । इनका परस्पर गुणा कर देने से १० प्रकार के प्राणी और उनकी १० प्रकार की विराधना इन

दोनो का परस्पर गुणा कर देने से सौ भेद हो जाते है' ।

(१० x १० = १००)' ।।३२ ३३।।

' पहले उत्तर गुण मे ८४ गुण बतला चुके है उनको इन १०० से गुणा कर देने पर चौरासी सौ भेद हो जाते है ।

(८४ x १०० = ८४००)' ।।३५।।

' स्त्रियो की सगति आदि १० दोष ब्रह्मचर्य की विराधना करने वाले दोष है । चौरासी सौ भेद बतलाये है उनसे इन १० का गुणा कर देने से चौरासी हजार भेद होते हैं ।

(८४०० x १० = ८४०००) ।।३९ ४०।।

'१ आकम्पित, २ अनुमानित ३ अदृष्ट ४ बादर ५ सूक्ष्म, ६ प्रच्छन्न, ७ शब्दकुलित, ८ बहुजन ९ अव्यक्त, १० तत्सवी ।

ये पाप उत्पन्न करने वाले आलोचना के दश दोष है' ।।४१-४२।।

" ऊपर ८४००० (चौरासी हजार) गुण बतला चुके हैं । उनके साथ इन १० का गुणा कर देने से आठ लाख चालीस हजार गुण हो जाते है "।

(८४०० x १० = ८४००००) ।।४४।।

१ मन, वचन काय की शुद्धता पूर्वक आलोचना करना, २ प्रतिक्रमण करना, ३ दोनो करना, ४ विवेक, ५ व्युत्सर्ग, ६ तप, ७ स्वदीक्षा का छेद, ८ मूल, ९ परिहार और, १० श्रद्धान ।

ये दस समस्त व्रतो को शुद्ध करने वाली प्रायश्चित के भेद होते है ।।४५-४६।।

ऊपर जो आठ लाख चालीस हजार गुणो के भेद बतलाते है उनके साथ इन दस के गुणाकर देने पर चौरासी लाख गुण हो जाते है । ये समस्त गुण मुनियो के समस्त दोषरूपी शत्रुओ को नाश करने वाले है और मुक्ति के कारण है ।

(८,४०,००० X १० = ८४,००,०००)" ।।४८-४९।।

"यदि कोई नग्न साधु वा एक कोपीन मात्र रखने वाला एलक वा

क्षुल्लक कही पर क्रोध करता है तो भगवान जिनेन्द्रदेव उस पापी को चाण्डाल से भी नीच समझते है" ।।९६।।

" इस ससार मे क्रोध के समान मनुष्यो का कोई शत्रु नही है क्योकि यह क्रोध इस लोक मे भी समस्त अनर्थो को करने वाला और अशुभ वा पाप उत्पन्न करनेवाला है और परलोक मे भी सातवे नरक तक पहुँचाने वाला है" ।।९७।।

" इस प्रकार अनेक दोष उत्पन्न करने वाले और अत्यन्त दुर्जय ऐसे क्रोध रूप शत्रु को तपस्वी लोग मोक्ष प्राप्त करने के लिये अपनी शक्ति से क्षमारूप के द्वारा नाश कर डालते है" ।।९८।।

**साधु के स्वरुप का वर्णन**

**"अव्यवहारी एको ध्याने एकाग्रमना भव निरारंभः ।**
**त्यक्त कषाय परिग्रह प्रयत्नचेष्टोऽसगश्च" ।।**

**अर्थ :** भो साधो । तू लोक व्यवहार को छोड दे । तू हमेशा एकत्व की चिन्ता धारण कर अर्थात् ज्ञान, दर्शनादिक छोडकर अन्य कोई मेरा नही ऐसी भावना हृदय मे धारण कर । धर्म-ध्यान मे तथा शुक्ल-ध्यान मे अपने मन को एकाग्र कर । आरभ का त्याग कर, क्रोध मान, माया, लोभ आदि से रहित हो अथवा कषाय रूप परिग्रहो का त्याग कर, सर्वदा प्रमाद रहित होकर किसी के साथ सग मत कर ।

— भगवती आराधना (पृष्ठ न ६२९)

**" अब्भ्यतर सोधीए गथे णियमेन बाहिरे च यदि ।**
**अब्भ्यतर मइलो चेव बाहिरे गिण्णाहदि हू गथे ।।**

**अर्थ** अभ्यतर परिणामनि की शुद्धता करिकै नियमतै बाह्य परिग्रह कूँ त्यागते है । जाका अभ्यतर परिणाम उज्ज्वल हो जाय तिसके बाह्य परिग्रह का त्याग होता ही है । और जिसके अभ्यकर परिणाम मलिन है सो बाह्य परिग्रह कूँ ग्रहण करता ही है । जिसके अभ्यतर राग है सो परिग्रह ग्रहण करे ही है । जिसका अभ्यतर राग नष्ट हो गया सो बाह्य परिग्रह मे ममत्व नही रखता है ।

मूलाचार कुन्दकुन्दाचार्य कृत प्रतिपृच्छक स्वरूप

" यत्किचिन्मह कार्य करणीय पृष्ट्वा गुर्वादीन् पुनरपि ।
पृच्छति साधुस्तज्जनीहि भवति प्रतिपृच्छा ।।

अर्थ जो कोई बड़ा कार्य करना होय तो इस समय गुरु प्रवर्तक, स्थविर वगैरह को बार बार पूछना चाहिये तथा अपने समान धर्माचरण करने वाला जो साधु उसको भी पूछना चाहिये । ऐसे प्रश्न को प्रतिपृच्छा कहते है ।

सूत्र · आइरिय उवज्झाया पवत्तथेरा गणधराय ।।३४।।

अर्थ · १ आचार्य, २ उपाध्याय ३ प्रवर्तक, ४ स्थविर और ५ गणधर ऐसे पॉच प्रकार के मुनि है ।

१ प्रवर्तक · सघ का सचालन करने वाले मुनि को प्रवर्तक कहते है ।

२ स्थविर जिनसे शिष्य के आचरण स्थिर होते है उन्हे स्थविर मुनि कहते है ।

३ गणधर गण को धारण करने वाले मुनि गणधर कहलाते है । आये हुए मुनि को देखकर आचार्यादिक जो आदर विधि करते है।

" आयस्यागच्छन्त सहसा दृष्ट्वा सयता· सर्वे ।
वात्सल्यज्ञा सग्रह प्रणमन हेतो समुतिष्ठन्ते" ।।३९।।

अर्थ प्रवास के अन्य सग मे से आते हुए उस अतिथि मुनि को देखकर सर्वमुनि उठकर खडे होते है । वात्सल्य से, साधर्मिकता के प्रेम से, जिज्ञासा से, स्वीकार करने के हेतु से तथा प्रणाम करने के हेतु से सघ के आचार्यादिक सर्व मुनि खडे होते है ।।३९।।

इसी आशय का स्पष्टीकरण

"आगन्तुक वास्तव्या प्रतिलेखनाभिस्तु अन्योन्यभि ।
अन्योन्य करण चरण ज्ञानहेतुं परिक्षन्ते" ।।

अर्थ आगन्तुक मुनि और अपने प्रदेश मे रहने वाले मुनि प्रति

लेखन, भोजन, स्वाध्याय, प्रतिक्रमण इत्यादि क्रियाओ के द्वारा अन्योन्य की परीक्षा करके पॉच महाव्रत, पॉच समिति और तीन गुप्ति इनको तेरह प्रकार का क्रियात्मक चारित्र कहते है। इस क्रियात्मक चारित्र का ज्ञान किसको है और किसको नही है, इस विषय का अन्योन्य परिक्षण करते है। जब अतिथि मुनि दूसरे मुनि सघ मे जाता है तब वास्तव्य मुनि अतिथि मुनि की और अतिथि मुनि वास्तव्य मुनि की उपर्युक्त विषय मे परीक्षा करते है।

**औधिक समाचार के १० भेदो का प्रतिपादन**

**"इच्छामिथ्याकारो तथा कारश्चासिका निषेधिका।**
**आपृच्छ प्रतिपृच्छ छंदन सर्निमंत्रणा चोपानिषत्" ।।**

१ **इच्छाकार** स्वीकार करना, आदर करना।

२ **मिथ्याकार** अशुभ परिणामो का त्याग करना।

३ **तथाकार** जो आप सूत्रार्थ कहते है वह सत्य है ऐसा स्वीकार करना।

४ **आसिक** पूछकर गमन करना।

५. **णिसिही** प्रकाश नही लेकर प्रवेश करना।

६ **आपृच्छ** किसी कार्य मे गुरु वगैरह पूज्य पुरुषो का अभिप्राय ग्रहण करना चाहिये।

७ **प्रतिपृच्छा** निषिद्ध अथवा अनिषिद्ध वस्तु के विषय मे पुन प्रश्न करना।

८ **छदन** जिसकी वस्तु ली है उसके अभिप्राय का अनुसरण करना।

९ **सनिमत्रण** आदरपूर्वक याचना करना।

१० **उपसपत** निवेदन करना।

**" साधयन्ति यन्महार्थ आचरितानि च यन्महद्भि ।**
**यच्च महान्ति ततो महाव्रतानि भवन्ति तानि " ।।११५।।**

**अर्थ** सव पाप योगो का त्याग होने से स्वत ही पूज्य है, अत

इनका नाम महाव्रत है । कपाल अण्डादि के ग्रहण से इनको महाव्रत नही कहते है । कपालादिको का ग्रहण जैनागम मे निषिद्ध है । ये महाव्रत के लक्षण नही है ।

**शरीर मे पॉच प्रकार का वायु रहता है**

वह इस प्रकार है –

१ हृदय मे प्राणवायु २ गुदा मे अपान वायु ३ नाभिमंडल मे समानवायु, ४ कंठ प्रदेश मे उदान वायु और ५ सम्पूर्ण शरीर मे व्यान वायु है ।(सम्मूर्छिमो को पृथ्वी उत्पत्ति, पानो का उत्पत्ति कारण है) आये हुए मुनि को तीन दिवस पर्यंत नियमसे स्वाध्याय वदना प्रतिक्रमणादि क्रियाओ मे सहायता देना चाहिये तथा शयनीय प्रदेश मे उसके साथ रहना चाहिये, अर्थात् षट आवश्यक क्रिया आहार गोचर को जाना वगैरह क्रिया करने मे उसको सहायता देना चाहिये । जिससे इन क्रियाओ मे आया हुआ मुनि स्वेच्छाचार से प्रवृत्त होता है । अथवा उसकी आगमोक्त प्रवृत्ति है- इसकी परीक्षा होती है । भाव यह है कि उसके साथ तीन दिन रहकर उपयुक्त क्रिया करने से उसकी प्रवृत्ति कैसी है ? यह ज्ञात हो जाता है । पॉच महाव्रत पाच समिति और तीन गुप्ति इन तेरह प्रकार के चारित्र का ज्ञान क्रियात्मक किसको है और किसको नही है – इस विषय का अन्योन्य परीक्षण करते है ।

**मनोगुप्ति, वचन गुप्ति का विशेष लक्षण**

" राग द्वेष से उत्पन्न होने वाले सर्व सकल्पो का त्याग करने से मनोगुप्ति होती है । और असत्य भाषण, कठोर भाषण, असभ्य भाषण आदि कुवचनो का त्याग करना अथवा मौन धारण करना वचन गुप्ति का लक्षण है ।

**तात्पर्य** राग, द्वेष पूर्वक होने वाले सकल्पो का त्याग करके मन को समता रखना अथवा धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान मे स्थिर रखना मनोगुप्ति है । इशारा करके वचनाभिप्राय व्यक्त करने से वचन गुप्ति नही है । अत इशारोका त्याग करके कठोर वचनादि का त्याग करना वचन गुप्ति है - अथवा मौन धारण करना वचन गुप्ति है " ।

**प्रायश्चित्त के नाम**

" पूर्व कर्मो को नष्ट करना वह प्रायश्चित है " १ क्षेपण २ निर्जरण ३ शोधन ४ धावन ५ पुँछन ६ निराकरण ७ उत्क्षेपन ८ छेदन ये आठ नाम प्रायश्चित्त् के है ।

**औपचारिक कायिक विनय के सात भेद**

१. आदर से उठना ।

२. **सन्नतिः** · मस्तक से नमस्कार करना ।

३ **आसनदान**· · पीठादिक बैठने के लिये देना ।

४ **अनुप्रदान**· पीच्छिकादि उपकरण देना ।

५. **क्रिया कर्म** · श्रुत भक्त्यादिक पूर्वक कायोत्सर्ग करना ।

६. प्रतिरूप इत्यादिक विनय वार योग्यता के अथवा शरीर के अनुसार करना ।

७ काल के अनुसार क्रिया-कर्म करना अर्थात् जो अपने से बडे है उनका वैयावृत्य (सेवा) करना ।

मलमूत्रादि का परिहार करना इत्यादिक को प्रतिरूप कहते है ।

**कुशील मुनि**

**कुशील** असयत जनो की सेवा करनेवाला, सयमी जनो से दूर रहने वाला, जिसका आचरण अथवा स्वभाव कुत्सित है - उसको कुशील कहते है ।

**कुचित दोष** सकुचित हाथो से मस्तक को स्पर्श करके वदना करना अथवा दो घुटनो के बीच मे मस्तक रखकर सकुचित होकर जो वदना की जाती है वह कुचित दोष है ।

**दुर्दर दोष** अपने शब्दोसे अन्यो के शब्दो को पराभूत करके जो वदना करता है वह दुर्दर दोष सहित है अर्थात् महा कल-कल करके वदना करना दुर्दरदोष है ।

**कृति कर्म के चार भेद**

वदना मे चार कृतिकर्म है - १ कृतिकर्म २ चितिकर्म ३ पूजा-कर्म ४ विनय कर्म ।

आचार्य आदि गुरु के साथ पढ़ना मन, वचन, काय को शुद्ध कर पढ़ना ।

१ कालाचार २ शब्दाचार ३ अर्थाचार ४ शब्दार्थाचार ५ विनयाचार ६ उपधानाचार ७ मानाचार ८ अनिन्हवाचार । इन आठ प्रकार के स्वाध्याय को आचार्यादि गुरु के साथ साथ ही पढ़ना श्रेष्ठ है । शास्त्रा का पठन पाठन करना सर्वोत्तम ज्ञान विनय है ।

दोषो को नाश करनेवाली आलोचना

१ आलोचना २ उत्कृष्ट प्रतिक्रमण ३ सारभूत तदुभय, ४ गुणो का सागर ऐसा विवेक ५ कायोत्सर्ग ६ तप ७ छेद ८ दोषो को क्षय करनेवाला मुनि ९ परिहार और १० श्रद्धान ।

प्रत्याख्यान-विधि

" आद्य विनय शुद्धाख्यमनुभाषा समाह्वयम् ।
प्रतिपाल शुद्धाख्य भाव शुद्धयाभिधानकम् " ।।९६।।

अर्थ इस प्रत्याख्यान मे चार प्रकार की शुद्धि रखना चाहिये - १ विनय शुद्धि २ अनुभाषा शुद्धि ३ प्रतिपालन शुद्धि ४ भाव शुद्धि।

इस प्रकार की शुद्धतापूर्वक जो प्रत्याख्यान है वही ससार को नाश करनेवाला है ।

" सिद्ध योगाभिधेभक्ति कृत्वा नत्वा गुरु क्रमौ ।
पचधा विणयेनामा प्रत्याख्यान चतुर्विधम् " ।।

" ग्रह्यते यत्तदन्ते चार्य भक्ति प्रदीयते ।
शिष्यैर्विनय शुद्ध तत्प्रत्याख्यान शिवः प्रदम् " ।।

अर्थ " प्रत्याख्यान लेते समय सिद्ध भक्ति, योगभक्ति पढना चाहिये, फिर गुरु के दोनो चरणकमलो को नमस्कार कर पॉच प्रकार विनय के साथ चारो प्रकार का प्रत्याख्यान ग्रहण करना चाहिये । इस प्रकार शिष्यो के द्वारा मोक्ष देने वाला प्रत्याख्यान ग्रहण किया जाता है उसको विनय शुद्ध प्रत्याख्यान कहते है ।"

**अर्थ** " इसका भी कारण यह है कि प्रत्याख्यान के अध होने से नरक का कारण ऐसा महापाप उत्पन्न होता है और उस महापाप से वचनातीत दुख होता है तथा इस प्रकार शिथिलाचार का धारण करनेवाले मुनि नरकादिक दुर्गतियो मे चिरकाल तक परिभ्रमण किया करते है ।।८-९।।

**अर्थ** " यही समझकर मुनियो को करोडो उपद्रव आने पर भी जगत मे सारभूत यह प्रत्याख्यान पूर्ण प्रयत्न के साथ पालन करना चाहिये ।।१०।।"

**अर्थ** " यह प्रत्याख्यान समस्त अनर्थो का हरण करने वाला है, मन और इद्रियो को जीतने वाला है, स्वर्ग और मोक्ष का एक अद्वितीय कारण है, शुभ का निधि है, और अनन्त गुणो का समुद्र है । इसलिये श्रेष्ठ मुनियो को सम्पूर्ण पुरुषार्थ सिद्धि करने के लिये विधिपूर्वक सदा पूर्ण प्रत्याख्यान पालन करना चाहिये" ।।११।।

जो सदा वसतिका मे निवास करता है वह अपने परम्परा कुल को बिगाडता है। परिग्रह और उपकरण आदि को रखने करनेवाले जो अत्यन्त मोही है, कुमार्गगामी है जो गुरुता से दूर रहते है दुष्ट असयम्मियोकी सेवा करते है जो न तो इन्द्रियो को जीतते है और न कषायो को जीतते है जो ससार मे केवल द्रव्यलिंग को धारण करते है, जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान आदि गुणो के लिए मुनियो के पास नही रहते है - उनको भगवान जिनेन्द्रदेव पार्श्वस्थ मुनि कहते है। ऐसे मुनि स्तुति व नमस्कार आदि सब से रहित होते है ।।५६-५७।।

' जिनका शील भी कुत्सित है, जिनका आचरण भी निंद्य है जिनका स्वभाव भी निंद्य है और जिनका मन क्रोधादिक से भरा है - उनको कुशील कहते है। वे कुशील मुनिगत शील और गुणो से रहित होते है साधु और संघ का अपयश करनेमे जो ससार भर मे कुशल होते है तथा जो दुष्ट होते है - ऐसे मुनियो को कुशील कहते है " ।।५८-५९।।

' जो मुनि चारित्र पालन करने मे असमर्थ है, विपरित बुद्धि को धारण करनेवाले है, असयमियो मे भी जो निंद्य है जो आहारादिक कि लालसा से ही वैद्यक वा ज्योतिष का व्यापार करते है राजादिको की जो सेवा करते है, जो मुर्ख है, मंत्र-तंत्र करने मे तत्पर है और जो लम्पटी है - ऐसे भेष धारण करने वाले मुनियो को बुद्धिमान लोग ससक्त मुनि कहते है " ।।६०-६१।।

" जिनकी सम्यग्ज्ञानादिक सज्ञा सब नष्ट हो गई है ऐसे भेषधारी मुनियो को अपगतसज्ञक कहते है। जो भगवान जिनेन्द्र देव के वाक्यो को समझते ही नही, जो भ्रष्ट है, चारित्र से रहित है, ससार के विषयजन्य सुखो मे लीन रहते है, जिनका मन चारित्र के पालन करने मे आलसी रहता है, जो इस ससार मे हिरणो के समान अपनी इच्छानुसार चारित्र वा आचरणो को पालन करते है - उन पापीयो को मृगचारित्र नाम के मुनि कहते है " ।।६२।।६३।।६४।।

" ये ऊपर लिखे पॉचो प्रकार के मुनि स्वच्छन्दाचारी होते है । जैन धर्म मे दोष लगानेवाले होते है । आचार्यो के उपदेश को छोडकर एकाकी रहते है, धैर्य से सदारहित होते है, सम्यग्दर्शन , सम्यग्ज्ञान, सम्यकचारित्र, सम्यकतप, विनय और श्रुत ज्ञान से सर्वथा दूर रहते है, भाग्यहीन होते हैं तथा गुणी मुनि और सज्जनो के दोष देखनेमे ही निपुण होते है । छिद्रान्वेषी होते है - इसलिये वे अवदनीय होते है, सर्वथा निद्य होते हैं और कृति कर्म के अयोग्य होते है " ।।६५।।६६।।

" वुद्धिमान पुरुषो को किसी शास्त्र आदि के लोभ से, वा किसी भय से भी ऊपर कहे हुए पार्श्वस्थ आदि मुनियो की वदना कभी नही करना चाहिये और न इनकी विनय करनी चाहिये । जो पुरुष अपने किसी प्रयोजन से भ्रष्ट चारित्र को धारण करनेवाले इन पार्श्वस्थो की विनय करता है वा इनकी वदना करता है - उनके रत्नत्रय, श्रद्धा वा निश्चय कभी नही हो सकता अर्थात् कभी रत्नत्रय नही हो सकता ।।६९।।"

इसका भी कारण यह हैं कि नीच लोगो के ससर्ग से वा उनके स्पर्श से, नमस्कार करने से सज्जनो का समस्त श्रेष्ठ गुणो के साथ सम्यग्दर्शन दूर भाग जाता है और मिथ्यात्व आदि सब दोष उन सज्जनो मे आ मिलते है । यही समझकर सज्जन पुरुषो को किसी शास्त्र आदि के लोभ से भी इन भ्रष्ट मुनियो का ससर्ग नही रखना चाहिये । क्योकि इनका ससर्ग अपकीर्ति करनेवाला है, व्रतो को जडमूल से हरण करनेवाला हे और निदनीय है " ।।६०-६१।।

अष्टपाहुड ग्रथ मे सूत्रपाहुड की गाथा

" बालग्गकोडि मत्त परिगहगहण होइ साहूणं ।
भुॅजेइ पाणिपत्ते दिण्णण्ण इक्कहा णम्मि " ।।१७।।

अर्थ मुनियो को बाल के अग्र भाग के बराबर भी परिग्रह का

ग्रहण नहीं होता है। वे एक ही स्थान में दूसरों के द्वारा दिये हुए प्रासुक अन्न को अपने हाथरूपी पात्र में ग्रहण करते हैं।

" जह जाय रुव वरिसो तिलतुस मित्त ण गिहदि हत्तेसु।
जइ लेइ अप्प वहुय तत्तो पुण जाइ णिग्गोद " ।।१८।।

अर्थ जो मुनि यथाजात बालक के समान नग्न मुद्रा के धारक है व अपने हाथ मे तिल तुष मात्र भी परिग्रह ग्रहण नहीं करते। यदि वे थोड़ा बहुत परिग्रह करते है तो निगोद जाते है। अर्थात निगोद पर्याय मे उत्पन्न होते है।

" जस्सा परिग्गह गहण अप्प वहुय व हवइ लिगस्स।
सो गरहिउ जिण वयणे परिगहरहिओ निरायारो ।।१९।।"

अर्थ जिस लिग मे थोड़ा बहुत परिग्रह का ग्रहण होता है वह निदनीय लिग है, क्योकि जिनागम मे परिग्रह रहित को ही निर्दोष साधु माना गया है।

" ण वि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे जइवि होइ तित्थयरो।
णग्गो विमोक्ख मग्गो सेसा उमग्गया सव्वे " ।।२३।।

अर्थ जिन शासन मे ऐसा कहा गया है कि वस्त्रधारी यदि तीर्थकर भी हो तो वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता है। एक नग्नवेष ही मोक्ष मार्ग है - वाकी सब उन्मार्ग मिथ्या मार्ग है।

" सग एव मत सूत्रे निशेषाननर्थ मन्दिर।
ये ना सन्तोऽपि सूयन्ते रागाद्या रिपव क्षणे ।।१३।।"

अर्थ सूत्र सिद्धान्त मे परिग्रह ही समस्त अनथो का मूल माना गया है क्योकि, जिसके होने से रागादिक शत्रु न हो तो भी क्षण मात्र मे उत्पन्न हो जाते है।

योगसार मे चारित्राधिकार

" साधुर्यतोऽङ्ग घातोऽपि कर्मभिर्बध्यते न वा।
उपधिक्ष्यो ध्रु वो बन्धस्याज्यास्तै सर्वथा तत ।।३४।।"

अर्थ चूँकी काय चेष्टा के द्वारा जीव का घात होने पर भी साधु

(कभी तो प्रमाद रूप अशुद्ध उपयोग के कारण) कर्मों से बधता है। परिग्रहो के द्वारा तो निश्चित बध होता ही है) और कभी (अप्रमाद रूप शुद्ध उपयोग के कारण) नही भी बधता। परन्तु, परिग्रहो के द्वारा तो निश्चित बध होता ही है। जीव घात होने पर बन्ध हो भी, न भी हो परन्तु, परिग्रह से होना निश्चित ही है। इसलिये साधुओ के द्वारा परिग्रह सर्वथा त्याज्य ही है।

**" न यत्र वियतेच्छेद कुर्वतो ग्रह मोक्षणे ।**

**द्रव्य क्षेत्र परिज्ञाय साधुस्तत्र प्रवर्तताम् " ।।४०।।**

**अर्थ** यहाँ अपवाद मार्ग की दृष्टि को लेकर कथन किया गया है। उत्सर्ग मार्ग मे चूंकी आत्मा के अपने शुद्धात्म भाव के सिवाय दूसर पर द्रव्य-पुद्गल का कोई भाव नही होता - इसलिये इसमे सभी परिग्रहो का पूर्णत त्याग विहित है। अपवाद मार्ग उससे कुछ भिन्न है ; उसने द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव की दृष्टि को लेकर अशक्ति के कारण कुछ अल्प परिग्रह का ग्रहण किया जाता है।

ग्रहण नहीं होता है । [illegible] स्थान में [illegible] दिये हुए प्रासुक अन्न को अपने [illegible] में ग्रहण करते है ।

" जह जाय रुव वरिसो तिलतुस मित्त ण गिहदि हत्तेसु।
जइ लेइ अप्प वहुय तत्तो पुण जाइ णिग्गोद " ।।१८।।

अर्थ जो मुनि [illegible] के समान नग्न मुद्रा के धारक है वे अपने [illegible] में तिल [illegible] भी परिग्रह ग्रहण नहीं करते । यदि वे थोड़ा बहुत परिग्रह करते है तो निगोद जाते है । अर्थात निगोद पर्याय में उत्पन्न होते है ।

" जस्स परिग्गह गहण अप्प वहुय च हवइ लिगस्स ।
सो गरहिउ जिण वयणे परिगहरहिओ निरायारो ।।१९।।"

अर्थ जिस लिंग में थोड़ा बहुत परिग्रह का ग्रहण होता है वह निदनीय लिग है, क्योकि जिनागम में परिग्रह रहित को ही निर्दोष साधु माना गया है ।

" ण वि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे जइवि होइ तित्थयरो।
णग्गो विमोक्ख मग्गो सेसा उमग्गया सव्वे " ।।२३।।

अर्थ जिन शासन मे ऐसा कहा गया है कि वस्त्रधारी यदि तीर्थकर भी हो तो वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता है । एक नग्नवेष ही मोक्ष मार्ग है - बाकी सब उन्मार्ग, मिथ्या मार्ग है ।

" सग एव मत सूत्रे निशेषाननर्थ मन्दिर ।
ये ना सन्तोऽपि सूयन्ते रागाद्या रिपव क्षणे ।।१३।।"

अर्थ सूत्र सिद्धान्त मे परिग्रह ही समस्त अनथो का मूल माना गया है क्योकि, जिसके होने से रागादिक शत्रु न हो तो भी क्षण मात्र मे उत्पन्न हो जाते है ।

योगसार मे चारित्राधिकार

" साधुर्यतोऽङ्गि घातोऽपि कर्मभिर्बध्यते न वा ।
उपधिक्ष्यो ध्रु वो बन्धस्याज्यास्तै सर्वथा तत ।।३४।।"

अर्थ चूँकी काय चेष्टा के द्वारा जीव का घात होने पर भी साधु

(कभी तो प्रमाद रूप अशुद्ध उपयोग के कारण) कर्मो से बधता है । परिग्रहो के द्वारा तो निश्चित बध होता ही है) और कभी (अप्रमाद रूप शुद्ध उपयोग के कारण) नही भी बधता । परन्तु, परिग्रहो के द्वारा तो निश्चित बध होता ही है । जीव घात होने पर बन्ध हो भी, न भी हो परन्तु, परिग्रह से होना निश्चित ही है । इसलिये साधुओ के द्वारा परिग्रह सर्वथा त्याज्य ही है ।

**" न यत्र विद्यतेच्छेद कुर्वतो ग्रह मोक्षणे ।**
**द्रव्य क्षेत्र परिज्ञाय साधुस्तत्र प्रवर्तताम् " ।।४०।।**

**अर्थ** यहॉ अपवाद मार्ग की दृष्टि को लेकर कथन किया गया है । उत्सर्ग मार्ग मे चूँकी आत्मा के अपने शुद्धात्म भाव के सिवाय दूसरे पर द्रव्य-पुद्‌गल का कोई भाव नही होता - इसलिये इसमे सभी परिग्रहो का पूर्णत त्याग विहित है । अपवाद मार्ग उससे कुछ भिन्न है । उसमे द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव की दृष्टि को लेकर अशक्ति के कारण कुछ बाह्य परिग्रह का ग्रहण किया जाता है । उसी परिग्रह के सम्बन्ध मे यहॉ कुछ व्यवस्था की गई है और वह यह है कि जिस परिग्रह के ग्रहण-त्याग मे उसके सेवन करने वाले को छेद दोष न लगे शुद्धपयोगी रूप सयम का घात न हो-उस परिग्रह को वह साधु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को जानकर ग्रहण कर सकता है । ऐसा कोई बाह्य परिग्रह ग्रहण न किया जाये जो अपने शुद्धोपयोग रूप सयम का घातक हो ।

**ज्ञानार्णव मे भी निषेध**

**"सगात्कामस्त क्रोधस्तस्त्माद्धिसा तथा शुभम् ।।**
**तेन श्वाभ्री गतिस्तस्या दु ख वाचामगोचरम्" ।।१२।।**

**अर्थ** · परिग्रह से काम (वॉछा) होती है, काम से क्रोध, क्रोध से हिसा, हिसा से पाप और पाप से नरक-गति होती है । उस नरक गति मे वचनो से अगोचर अति दु ख होता है । इस प्रकार दु ख का मूल परिग्रह ही है ।

अनगार धर्मामृत अध्ययन ४ पृष्ठ ३६१ से ३६५ अधर्म म प्रवृत्त कर देने वाली दूसरो के साथ की गयी मित्रता की निदा करते है ।

**" अधर्म कर्मण्युपकारिणो ये प्रायोजनाना सुहृदो मता रते ।**
**स्वान्तर्वहि· संतति कृष्ण वर्त्यन्यरस्व कृष्णे खलु धर्मपुत्रे ।।११८।।**

**अर्थ** प्राय करके लोगो के मित्र ऐसे ही हुवा करते है जो कि उनको अधर्म-कर्म, पाप क्रिया मे ही प्रवृत्त करते तथा सहायक हुवा करते है । देखते हैं कि धर्मपुत्र युधिष्ठिर ने अपनी अतरग सतति निजात्मा के लिये पाप कर्म की प्राप्ति के उपायभूत और वही सतति निजकुल का वर्तमान अग्नि के समान सहार करने वाली मित्रता से कौरव कुल का नाश करने वाली मित्रता रूप प्रीति कृष्ण (मलिन भाव) के साथ की थी ।

**भावार्थ** जब धर्मपुत्र की विष्णु के साथ की गई मित्रता ने अतरग और बहिरग अहित ही किया, तब दूसरे साधारण लोगो की मित्रता पर विश्वास न करना चाहिये । जो अपने धर्म का अनुवर्तन करना चाहते है उन्हे उचित है कि अतरग आत्मा और बाह्य कुलादिक के हित के लिये कृष्ण वर्तमा अथवा अग्नि के समान समझ कर इस लौकिक मित्रता को दूर से छोड दे । क्योकि, यह हर प्रकार के कृष्ण (काली है) अर्थात् रागद्वेष ही है । जो इस लोक मे सचय करने मे सहायता करने वाले है वे सब मोह के ही उत्पन्न करने वाले और बढाने वाले है । अतएव उनकी त्याजता प्रकट करते हुए लौकिक कार्य के साधन मे अवलब देने वाले मित्रो का निचली दशा मे सम्पूर्ण परिग्रह को छोडने की पूर्ण सामर्थ्य न होने तक अनुसरण करने का उपसर्ग देते है।

**अर्थ** सम्पत्ति के समय स्नेही मित्र, बधु, बॉधव तथा सहायक वनने वाले तो बहुत है, किन्तु, उनकी यहॉ चर्चा नही है परन्तू जो व्यक्ति सम्पत्ति की तरह विपत्ति मे भी अनेक प्रकार के कष्ट उपस्थित करने पर भी निष्कपट से स्नेह करता है और आनन्द देता है उसी को लोक

मे मित्र कहते है। तत्व दृष्टि से यह भी आत्मा को मोह उत्पन्न करता है। अत वह मुमुक्षुओ के लिये भी त्याज्य ही है। फिर भी, जब तक समस्त परिग्रह छोडने की सामर्थ नही है, तब तक उनको ऐसी सन्मति का आश्रय लेना चाहिये। क्योकि पर लोक के विषय मे सहायता करने वाले और आत्मा तथा शरीर के विशिष्ट भेदज्ञान को प्राप्त करने वाले है-जैसा कि कहा भी है।" मुमुक्षु मुनियो को और त्यागियो को सघ (अर्थात् परिग्रह) रखना सर्वत वर्ज्य है, किन्तु जब तक सर्वथा नही छोड सकते तब तक उन्हे आत्म दर्शियो के साथ सघ रखना चाहिये।" और भी कहा है "वस्तुत सघ सर्वथा छोड देने के ही योग्य है किन्तु, जब तक वह छोडा नही जा सकता तब तक सत्पुरुषो के साथ वह रहना या रखना चाहिये। क्योकि, सत्पुरुष सघ को औषधि है। सगति के निमित्त से जो दोष उत्पन्न होते है वे सब सत्पुरुषो के प्रसाद से दूर हो सकते है। अतएव वे आत्म कल्याण के सहायक है।

अन्यन्त भक्तियुक्त भी भृत्य अकृत्द कराने मे भी अग्रसर हो जाता है अतएव वह भी उपादेय नही है – इस बात को दृष्टान्त द्वारा बताते है –

जिस प्रकार वहिरात्म बुद्धि मनुष्य अत्यन्त क्लिष्ट रहने के कारण शरीर मे मोहवश आत्म कल्पना करने लगता है। उसी प्रकार कार्य स्वाथ मे तत्पर रहने वाला मनुष्य अतिभक्ति, अत्यन्त अनुराग रखने के कारण जिसमे अपनी कल्पना करने लगता है "यह और मै दो नही है" जो यह है सो ही मै हूँ ऐसा समझने लगता है ऐसा भी भृत्य अपने स्वामी रामचन्द्र से हनुमान की तरह हिसादि अकृत्य कराने मे अग्रणी बन जाता है।

**भावार्थ** · लोक मे जो स्वामी के प्रति भक्तिवश कार्य का अच्छी तरह सचालन करते है उन सेवको को लोग अपना प्रतिरूप ही समझते है, किन्तु, जब ऐसे स्वामीभक्त भी सेवक समय पर स्वामी के आत्महित के विरुद्ध दुष्कृत्य कराने मे प्रधान कारण बन जाते है तव, अभक्त

सेवको की तो बात ही क्या है ? अतएव सेवक वतन परिग्रह को भी आत्मा का अहितकर समझ कर मुमुक्षुओ को उनका संग्रह न करना चाहिये ।

" जाओ हरई कलत व इटतो वडिढमा हरइ ।
अत्थ हरइ समत्थो पुत्तसमो वोरिओ णत्थि " ।।

**अर्थ** गर्भ मे आते ही स्त्री का बढने पर वृद्धि का और समर्थ होने पर धन का अपहरण करनेवाले पुत्र के बराबर वैरी कौन हो सकता है ? इसी प्रकार यदि वह मूर्ख अज्ञानी हो अथवा पापी, ब्रम्हहत्या, परदाराभिगमन सरीखे पातको मे प्रवृत्त हो यद्वा व्याधि, काराग्रह आदि विपत्तियो मे फस गया हो अथवा मूर्खता या असामर्थ्य के कारण उपकार करने मे कृपणता करता हो, अनुपकारी हो तो वह शरीर मे कॉटे की तरह हृदय मे चुभा करता है । इस प्रकार जो पुत्र गर्भ से लेकर बडे होने तक दु खो को देने वाला और नाना प्रकार के अपकार करने वाला है उसको भी मूढ गृहस्थाश्रम के वास्तविक व्यवहार से अनभिज्ञ पुरुष अपने साथ योजना–अपनी आत्मा के साथ एकत्व की कल्पना करते है । कहते है कि 'यह मेरे सामने उपस्थित मै ही हूँ ।' हे पुत्र ! तुझमे और मेरी आत्मा मे कुछ भेद नही है । पुत्र इस नाम की अपेक्षा से तू साक्षात् मुझ से भिन्न है । स्वरूप से नही ।

●●●

# केशोत्पादन नामक मूलगुण का लक्षण और फल

" नै सङ्गयाऽयाचनाऽहिंसा, दु खाभ्यासाय नागन्यवत् ।
हस्तेनोत्पाटने श्मश्रिमूर्धजाना यतेर्मतम् ।।९७।।

**अर्थ** अपने हाथ से अपनी डाढी और अपन सिर के बालो को उखाड कर दूर करना – इसी को सयमी साधुओ का परमागम सूत्र मे केश-लुँचन नाम का मूलगुण माना जाता है । नग्नता क समान इसके भी चार फल मुख्यतया वताते है अत नि सग, अयाचना, अहिसा और दुखाभ्यास ।

**भावार्थ** मोक्ष का आराधन करनेवाले अपनी आत्मा को पूर्णतया स्वायत्त बनाने का ही प्रयत्न किया करते है । अतएव उनकी कोई भी क्रिया ऐसी नही होती जो उन्हे पराधीन अवस्था की तरफ उन्मुख कर दे । इसलिये वे वस्त्रादिक का रच मात्र भी परिग्रह धारण नही किया करते । रुपये-पैसे का सम्बन्ध भी उनसे दूर ही रहता है ।

सकता है ? इसके सिवाय स्वय ही केशो का लुंचन करने से दुखो का सहन करने का अभ्यास होता है जिससे कि परिषह और उपसर्ग के जीतने की कठिनता दूर होती है और कायक्लेश आदि तप की सिद्धि होकर शरीर के प्रति पूर्ण निर्ममता का भाव जागृत होता है व दृढ होता है । अतएव जिस प्रकार नग्नता मे वे ये और इनके सिवाय दूसरे भी अनेक गुण बताये है उसी प्रकार केशोत्पाटन मूलगुणो मे भी समझने चाहिये ।

" काकण्या अपि सग्रहो न विहित क्षौर यथा कार्य ते ।
चित्तक्षेप कुदस्त्रमपि वा तत्सिद्धये नाश्रितम् ।
हिंसा हेतुरहो जटाद्यापि तथा यूकाभिरप्रार्थने,
वैराग्यादि विवर्धनाय यतिभि केशेषु लोच कृत ।।

**अर्थ** निर्वाण पथिक साधुजन अपने पास एक कोड़ी भी नही रखते जिससे कि क्षौर कर्म कराया जा सकता है । स्वय क्षौर कर्म करने के लिये अपने पास अस्त्र भी नही रखते क्योकि उससे चित्त मे निक्षेप उत्पन्न होता है । जटा बढाना इसलिये ठीक नही कि वह जूॅ आदि के द्वारा हिसा का ही साधन है । अतएव सर्वोत्तम उपाय यही है कि हाथो से उनका उत्पाटन कर दिया जाय जिससे कि अच्छी वैराग्य आदि गुणो की वृद्धि ही हुवा करती है ।

ग्रथ परमात्म प्रकाश (योगीन्द्र देव विरचित) परमात्म प्रकाश की भावना मे लीन पुरुषो के फल को दिखलाते है ।

" जो परमप्प पयाषु मुनि भावि भावहिं सत्थु ।
मोहु जिणोविणु सयलु जियते बुज्झहिं परमत्थु ।।२०४।।

**अर्थ** (ये मुनय ) जो मुनि (भावेन) भावो से (परमात्म प्रकाश शास्त्र) इस परमात्म प्रकाश नाम शास्त्र का (भावयन्ति) चितवन करते है, सदैव इसी का अभ्यास करते है (जीव) हे जीव (ते) वे (सकल मोह) समस्त मोह को (जित्वा) जीतकर (परमार्थ बुध्यन्ति) परमात्म तत्व को जानते है ।

आगे फिर भी परमात्म प्रकाश के अभ्यास का फल कहते हं -

**अण्णु वि भक्तिए जे मुणहिं इहु परमप्प पयासु ।**
**लोयालोय पयासयरु पावहि ते वि पयासु ।।२०५।।**

**अर्थ** (अन्यदपि) और भी कहते है ये जो कोई भव्य जीव (भक्त्या) भक्ति से (इह परमात्म प्रकाश) इस परमात्म प्रकाश को (जानन्ति) पढे, सुने इसका अर्थ जाने (तेऽपि) वे भी (लोकालोक प्रकाश कर) लोकालोक को प्रकाशने वाले (प्रकाश) केवलज्ञान तथा उसके आधारभूत परमात्म तत्व को शीघ्र ही पा लेते है ।

**"जो परमप्प पयास यह, अणु दिन णानु लयति ।**
**तुट्ठइ मोहु तडति तह तिहुयण णाह हवति"।।२०६।।**

**अर्थ** (ये) जो कोई भव्यजीव (परमात्म प्रकाशस्य) व्यवहार नय से परमात्मा के प्रकाश करने वाले इस ग्रथ के तथा निश्चय नय से केवलज्ञानादि अनत गुण सहित परमात्म पदार्थ का (अनुदिन) सदैव (नाम गृहणति) नाम लेते है, सदा उसी का स्मरण करते है (तेषा) उनका (मोह) निमोह, आत्म द्रव्य से विलक्षण जो मोह नामा कर्म (झटिति-त्रुट्यति) शीघ्र ही टूट जाता है - और वे (त्रि-भुवन नाथ भवन्ति) शुद्धात्म तत्व की भावना के फल से पूर्व देवेन्द्र चक्रवर्त्यादि की महान विभूति पाकर चक्रवर्ती पद को छोडकर जिन दीक्षा ग्रहण करके केवल ज्ञान को प्राप्त कर के तीन भुवन के नाथ होते है । यही सारांश है ।

फिर भी उन्ही पुरुषो की महिमा कहते है -

**"जे परमप्पह भत्तीयर विसयेण जे विरमति**

**ते परमप्प पयासयह मुनिवर जोगग हवति" ।।२०८।।**

**अर्थ** (व) जो (परमात्मन् भत्तीयरा) परमात्मा की भक्ति करने वाला (ये) जो मुनि (विषयान् न अपि रमते) विषय कषायो मे नही रमते है (ते मुनिवरा) वे ही मुनीश्वर (परमात्म प्रकाशस्य योग्या) परमात्म प्रकाश के अभ्यास के योग्य (भवति) है । आगे फिर यही कथन करते है ।

**"णाण विहक्खणु सुध मणु जो जणु एहउकोइ ।**

**सो परमप्प पयास यह जोग्गु भणति जि जोई"।।२०९।।**

**अर्थ** (य जन) जो प्राणी (ज्ञान विचक्षण) सवेदन ज्ञान कर विचक्षण (बुद्धिमान) है और (सुधमना) जिसका मन परमात्मा की अनुभूति मे विपरीत जो रागद्वेष मोह रूप समस्त विकल्पजाल-उनके त्याग से शुद्ध है (कश्चिदपि ईदृश) ऐसा कोई भी सत्पुरुष हो (ते) उसे (ये योगिन) जो योगीश्वर है वे (परमात्म प्रकाशस्य योग्य) परमात्म प्रकाश के आराधने योग्य (भणति) कहते है ।

आगे शास्त्र के फल के कथन की मुख्यता कर एक उद्धतपने के त्याग की मुख्यता कर व्याख्यान करते है -

**लक्खण छन्द विपज्जिऊ एहु परमप्प पयासु ।**

**कुणह सुयावई भाषियउ चउ गई दु ख विणासु ।।२१०।।**

**अर्थ** - (एक परमात्म प्रकाश) यह परमात्म प्रकाश (सुभावेन भाषित) शुद्ध भावो कर भाया हुवा (चतुर्गति दु ख विनाश) चारो गति के दुखो का विनाश (करोति) करता है । जो परमात्म प्रकाश (लक्षण छदो विवर्जित) यद्यपि व्यवहार नय कर प्राकृत रूप दोहा छन्दो कर सहित है और अनेक लक्षणो सहित है, तो भी निश्चय नय कर परमात्म प्रकाश जो शुद्धात्म स्वरूप है वह लक्षण छन्दो कर रहित है ।

आगे योगीन्द्र देव उद्धतपने का त्याग कराते है -

**"इत्थु ण लेवउ पंडियही गुण दोषु वि पुणरुतु ।**
**भट्ट पयाकर करणई मइं पुणु पुण वि प्रउतु" ।।२११।।**

**अर्थ :** (अत्र) श्री योगीन्द्र देव कहते है - अहो भव्य जीवो के लिए इस ग्रथ मे (पुनरुक्त ) पुनरुक्ति का (गुण दोषोऽपि) दोष भी (पडिते) आप पडित जन (न ग्राह्य ) ग्रहण नही करे और कवि कला का गुण भी न ले क्योकि (मया) मैने (भट्ट प्रभाकर कारजेन) प्रभाकर भट्ट के - सबोधन के लिये (पुन पुनरपि प्रोक्त) वीतराग परमानदरूप परमात्म तत्व का कथन बार बार किया है ।

श्री योगीन्द्राचार्य ज्ञानीजनो से प्रार्थना करते है - किसी जगह अयुक्त कहा हो, पडित परमार्थ जानकर क्षमा करे ।

**"ज मई किं पि बिजपियउ जुत्ताजुत्त बिइत्थु ।**
**त वर णाण्णि खमतु महु जे वज्झामि परमत्थु"।।२१२।।**

**अर्थ** (अत्र) इस ग्रथ मे (यत्) जो (मया) मैने (किमपि) कुछ भी (युक्तायुक्तमपि जल्पित) युक्त अथवा अयुक्त शब्द कहा होवे तो (तत्) उसे (ये वर ज्ञानिन ) जो महान ज्ञान के धारक (परमार्थ) परम अर्थ को (बुध्यते) जानते है वे पडित जन (मम क्षाम्यतु) मेरे उपर क्षमा करे ।

फिर भी इस ग्रथ के पढने का फल कहते है -

**जं तत्तं णाण रूव परममुणिगण णिच्च झायन्ति चित्ते ।**
**जं तत्त वेददेह णिवसइ भुवणे देहीण देहे ।।**
**जे तत्तं दिव्व देह तिहुवण गुरुण सिज्झए संत जीवे ।**
**त तत्तं जस्स सुद्ध फुरइ णिय भणे पावए सोहि सिद्धि ।।२१३।।**

**अर्थ** (तत्) वह (तत्व) निज आत्म तत्व (यस्य निज स मनसि) जिसके मन मे (स्फुरति) प्रकाशमान हो जाता है (एहि) वह ही साधु (सिद्धि प्राप्नोति) सिद्धि को पाता है । कैसा है वह तत्व ? जो कि (सुह) रागादि मल रहित है (ज्ञान रूप) और ज्ञान रूप है जिसको (परममुनिगणा) परम मुनीश्वर (नित्य) सदा (चित्ते ध्यायति) अपने चित्त मे ध्याते है ।

(यत् तत्व) जो तत्व (भुवने) इस लोक मे (सर्व देहिना देह) सर्व प्राणियो के शरीर मे (निवसति) मौजूद है (देहत्यक्त) और आप देह से रहित है (यत् तत्व) जो तत्व (दिव्य देह) केवलज्ञान और आनन्द रूप अनुपम देह को धारण करता है (त्रिभुवन गुरुक) तीन भुवन म श्रेष्ठ है। (शात जीव सिद्ध जीव सिद्धयन्ति) जिसको शात जीव आधार बनाकर सत पुरुष सिद्ध पद पाते है.।

समय प्राभृत

"ण वि राग द्वेष मोह कुव्वदि णाणि कषायं भाव वा।
समयप्पणो ण सो तेण कारगो तेसिं भावणा" ।।४४।।
"नापि रागद्वेष मोह करोति ज्ञानी कषाय भाव वा।
स्वयमेवात्मनो न स तेन कारक स्वेच्छा भावाना" ।।४५।।

आत्मख्याति यथोक्त वस्तु स्वभाव जानन् ज्ञानी शुद्ध-स्वभावावेन न प्रच्यवते ततो राग द्वेष मोहादि् भावै स्वय न परिणमने न परिणापि परिणम्यते ततष्टकोत्कीर्णक ज्ञायक स्वभावो ज्ञानी राग द्वेष मोहादि भावानाम् कर्तवेति नियम ।।

"रागाहि यदोरार्धमे य कषाय कम्मेसु चेव जे भावा।
तेहिदु परिणममाणो रागादि बधादि पुणो वि" ।।४५।।
रागो दोषे च कषाय कर्मसु चैतये भावा.।
तैस्तु परिणममानो रागादीन् बध्नाति पुनरपि " ।।४५।।

आत्मख्याति यथोक्त वस्तुस्वभावमजान तत्वज्ञानी शुद्ध स्वभावात ससार प्रच्युत एव। तत कर्म विपाक प्रभवै राग द्वेष मोहादि भावै परिणम माणोऽज्ञाननी राग द्वेष मोहादि भावाना कर्ता भवत् बध्यत् एवैति प्रति नियम । तत स्थितमेतत्-

" रागह्मि दो सम्हि य कसाय कम्मेसु चेव जे भावा।
ते मम दु परिणमतो रागादीर्बधदे चेदा ।।४७।।
रागे च दोषे च कषाय कर्मसु चैव ये भावा ।
तन्मय तु परिणममानो रागादीन् बध्नाति चेतयिता" ।।

आत्मख्याति य इमे किला ज्ञानिन पुद्गल कर्म निमित्ता रागद्वेष

मोहादि परिणामास्त एव भूयो राग द्वेष मोहादि परिणाम निमित्तस्य पुद्गल कर्मणो बध हेतुरिति । (सर्वार्थसिद्धौ पुराण ग्रथ पृष्ठ न ४२५)

**मूल** - "बाह्याभ्यतर तपोऽनुष्ठान परस्य तद्भावनावशेन निस्सारी कृत मूर्तौ, पटूतयजताप निष्पत्तिसारतरोरिव विरहितच्छायस्य त्वगस्थिशिराजाल मात्र तनुयन्त्रस्य प्राणात्यये सत्यप्याहार वसति भेषजादीनि हीनाभिधानमुख वैवर्ण्याऽत्रसज्ञादि भिरया च मानस्य भिक्षाकालेपि विद्युदुद्योतवत् दुरूपलक्ष्य मूर्तैयाचना परिषह सहनम् एव सीयते" ।

**हिन्दी** जो बाह्य और अभ्यतर तप के अनुष्ठान करने मे तत्पर है, जिसने तप की भावना के कारण अपने शरीर को सुखा डाला है, जिसका तीक्ष्ण सूर्य के ताप के सार व छाया रहित वृक्ष के समान त्वचा, अस्थि और शिराजाल मात्र से युक्त शरीर यत्र रह गया है जो प्राणो का वियोग होने पर भी आहार, वसतिका और दवाई को दीन शब्द कहकर मुख की विवर्णता दिखाकर व सज्ञा आदि के द्वारा याचना नही करता तथा भिक्षा के समय भी उसकी मूर्ति बिजली की चमक के समान दुरुपलक्ष्य रहती है - ऐसे साधु के याचना परिषहजय जानना जाहिये ।

- पृष्ठ न २३९ सर्वार्थसिद्धि उद्धरण ६ अध्याय

**" शुभ· पुण्यस्याशुभ· पापस्य ।।३।।**
**पुनात्यात्मान पयसेऽनेनेति हा पुण्यम् ।**
**तत्सद्वेद्यादि पाति रक्षति आत्मान शुभादिति पापम् ।"**

**अर्थ** जो आत्मा को पवित्र करता है या जिससे आत्मा पवित्र होती है - वह पुण्य है - जैसे साता वेदनीय आदि तथा जो आत्मा को शुभ से बचाता है वह पाप है ।

समयसार कलश

**त्यजतु जगदिदानी मोहमाजन्माजन्मलीढम् ।**
**रसपतु रसिकानॉ रोचन ज्ञान मुद्यत् ।।**

इह कथमपि नात्माऽनात्मना साकमेक ।
किल कलयति काले क्वापि तादात्म्य वृत्तिम् ।।२२।।

**अर्थ** - हे ससार के प्राणियो (जगत) अनादि काल से लगा हुआ (भूत की तरह) अज्ञान भाव (पर मे एकत्व बुद्धि-विपरीतता) को छोडकर तुम सच्चे ज्ञान का स्वाद लेओ उसको (स्वसो) अनुभव करो क्योकि अभी तक तुमने झूठे अज्ञान का ही स्वाद लिया है । अतएव मौके से लाभ उठाओ । देखो कभी तीन काल मे भी आत्मा (जीव) का पर (जडकर्मादि) के साथ तादात्म्य (सर्वथा एकत्व, अभेद) नही हो सकता। दोनो सयोग रूप जुडे-जुडे रहते है । फिर भूल से तुम क्यो भला उनको अपना मानते हो अर्थात् वे तुम्हारे स्वभाव नही है विभाव (विकार) है ऐसा सम्यक्ज्ञान प्राप्त करो और मिथ्याज्ञान छोड़ो इत्यादि । अत तेरा कल्याण भेद ज्ञान से ही होगा । अन्यथा नही, यह निश्चय रखो । "कि बहुल" । सर्वोत्कृष्ट चीज जीव का ज्ञान ही है जिससे सब बातो का पता लगता है । आगे उसी की आराधना करना चाहिये । यही बात आगे भी कही जानेवाली है । आचार्य कहते है कि ससार मे भूल का मूल कारण (बीज) विपरीत बुद्धि का होना है । परम एकत्व का ज्ञान हो जाना है उसको हटाने का मुख्य उपाय रत्नत्रय से प्राप्त करना है । अतएव उसीका क्रम निश्चय नय से बताया जाता है ।

समयसार (फल्टनवाला)

**विवेचन** जिनके दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियो का और चारित्र मोहनीय की अनन्तानुबन्धी की चार प्रकृतियो का अभाव हो जाता है - उपशम या क्षय हो जाता है उनके मिथ्यात्वादि रूप विभाव परिणतियो का अभाव होकर सम्यक्त्व का प्रादुर्भाव हो जाता है । उनके सामान्यत आत्मोपलब्धि होती है और वे जिनेन्द्र भगवान के वचन मे रत हो जाते है । उसका गाढ श्रद्धान करते है । अप्रत्याख्यानावरणादि ससक्त कर्मो का अभाव हो जाने पर उनमे शुक्ल ध्यान की योग्यता के

कारण वे शुद्ध आत्मा के स्वरूप का अनुभव करने लग जाते है । यह कथन जो मिथ्यादृष्टि आकर के वाणी सुनकर दीक्षा के लिये तैयार हो करके दिगम्बर वेष धारण करता है उसीका कथन है ।

**अर्थ :** पचपरमेष्ठी की भक्ति अर्थात् पचपरमेष्ठी के जो रत्नत्रय रूप, गुण व वीतरागता मे जो रुचि, प्रतीति तथा गुणानुवाद है वह सबर तथा निर्जरा के कारण है । तथा इससे सम्यग्दर्शन निर्मल होता है । भक्ति के समय कर्मोदय से जो मद राग होता है वह कषायरूप है । वह यद्यपि शुभ राग अल्पबध का कारण है किन्तु मोक्षसुख का कारण है।

**षट प्राभृत**

**"झायहि धम्म सुक्कं अहरउद्द च झाण पुत्तूण ।**
**रूद्दट्ठ झाइयाइ इयेण जीवेण चिरकालं" ।।११९।।**

**अर्थ** . इस जीव ने आर्त-ध्यान तथा रोद्र-ध्यान चिरकाल से ध्याये है । अब इन्हे छोडकर धर्म्य-ध्यान और शुल्क-ध्यान का चितवन करे ।

**विशेषार्थ** आर्त-ध्यान और रौद्र-ध्यान ये दोनो खोटे ध्यान है। यह जीव इनका चिरकाल से चितवन करता आ रहा है । आचार्य कहते है कि मुने ! अब तू आर्त और रौद्र इन दो ध्यानो को छोडकर धर्म-ध्यान और शुल्क-ध्यान का चितवन कर । उमास्वामी के कहे अनुसार धर्म-ध्यान के १ आज्ञाविचय २ अपाय विचय, ३ विपाक विचय और, ४ सस्थान विचय । ये चार भेद है । तथा गौतम स्वामी के अनुसार १ अपाय विचय, २ उपाय विचय, ३ विपाक विचय, ४ विराग विचय, ५ लोक विचय, ६ भव विचय, ७ जीव विचय, ८ आज्ञा विचय ९ सस्थान विचय, १० ससार विचय । ये दस भेद है । इनका सक्षिप्त स्वरूप प्रकट करते है -

**१ अपाय विचय** जीव की वर्तमान मे दु ख पूर्ण अवस्था है उसका विचार करना अपाय विचय है ।

**२ उपाय विचय** इस दुःख से बचने का उपाय सम्यक्दर्शन आदि का चितवन करना उपाय विचय है।

**३ विपाक विचय** किस कर्म के उदय से क्या फल मिलता है - ऐसा विचार करना विपाक विचय है।

**४ विराग विचय** रागी जीव सदा दुःख पाता है तथा राग से ही बध होता है। आत्मा का स्वभाव राग से रहित है- ऐसा चितवन करन सो विराग विचय है।

**५ लोक विचय** यह चौदह राजू प्रमाण लोक जीवो से खचाखच भरा हुआ है। इसमे एक भी स्थान ऐसा नही जहॉ मैं उत्पन्न न हुआ हूँ। इस प्रकार लोक का चिन्तवन करना लोक विचय है।

**६ भव विचय** जीव के चतुर्गति रूप भवो का विचार करना सो भव विचय है।

**७ जीव विचय :** जीवो की भिन्न-भिन्न जातियो का चिन्तवन करना सो जीव विचय है।

**८ आज्ञा विचय** भगवान वीतराग सर्वज्ञ हैं। अत उनकी वाणी मे असत्यता का कुछ भी कारण नही है। वह आज्ञामात्र से ग्राह्य है - ऐसा चितवन करना आज्ञा विचय है।

**९ सस्थान विचय** लोक अथवा छहो द्रव्यो की आकृति का चिन्तन करना यह सस्थान विचय धर्म ध्यान है।

**१० ससार विचय** पच परावर्तनो का स्वरूप चिन्तवन करना ससार विचय धर्म ध्यान है।

**शुल्क ध्यान के चार भेद**

१ पृथक्त्व वितर्क वीचार, २ एकत्व वितर्क अवीचार, ३ सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती और ४ व्यपुरत क्रिया निवर्ति इनको सक्षेप मे स्पष्ट करते है -

**१ पृथक्त्व वितर्क वीचार** इसमे आगम के किसी पद वाक्य

या अर्थ का तीन योगो के आलम्बन से चिन्तन किया जाता है वह प्रथक्त्व वितर्क वीचार नाम का शुल्क ध्यान है। इस ध्यान मे अर्थ (व्यजन) शब्द और योगो मे सक्रमण परिवर्तन होता रहता है तथा यह अष्टम् गुण-स्थान से प्रारम्भ होकर ग्यारहवे गुण-स्थान तक चलता है।

२ **एकत्व वितर्क अवीचार** जिसमे आगम के किसी पद, वाक्य या अर्थ का तीन योगो मे से किसी एक योग के आलम्वन से चितवन होता है उसे एकत्व वितर्क शुल्क ध्यान कहते है। इसमे अर्थ, शब्द और योगो का सक्रमण नही होता है। जिस पद, वाक्य या अर्थ को लेकर जिस योग के द्वारा ध्यान प्रारम्भ किया था उसीसे अन्तर्मुहूर्त तक चालू रहता है यह बारहवे गुण-स्थान मे प्रकट होता है।

३ **सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती** . तेरहवे गुण-स्थान के अन्तिम अन्तमुहूर्त मे जब मनोयोग और वचन योग पूर्ण रूप से नष्ट हो चुकते है तथा काय योग भी अत्यन्त सूक्ष्म दशा मे शेष रह जाता है तब सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती नाम का शुक्ल ध्यान प्रकट होता है।

४ **व्युपरत क्रिया निवर्त्ति** : चौदहवे गुण-स्थान मे जब काय योग भी नष्ट हो चुकता है तथा सब प्रकार की हलन-चलन रूप क्रियाये समाप्त हो जाती हैं तब व्युपरत क्रिया निवर्त्ति नाम का शुल्क ध्यान प्रकट होता है।

धर्म ध्यान परम्परा से और शुल्क ध्यान साक्षात् मोक्ष का कारण है। परन्तु शुल्क ध्यान का जो प्रथम पाया उपशम श्रेणी वाले जीव के होता है उसमे मोक्ष की अनिवार्य कारणता नही है क्योंकि ऐसा जीव मरण होने पर स्वर्ग जाता है।

# भावप्राभृत

**महुपिंगो णाम मुणी देहाराादिचत वावारो ।**
**सवणतण ण पत्तो णियाणमित्तेण भवियणुय ।।४५।।**

**अर्थ** हे भव्य नुत ! हे दिव्य जीवा के द्वारा स्तुत मुनिराज ! देखो, मधुपिड्गल नामक मुनि नयद्यपि शरीर तथा आहार आदि समस्त व्यापार का परित्याग कर दिया था तथापि वे निदान मात्र के कारण श्रमणपनेको - भाव से मुनि अवस्था को प्राप्त नही हुए थे ।

**विशेषार्थ** मधुपिड्गल नामक मुनि ने दीक्षा धारण कर शरीर तथा आहार आदि व्यापार का परित्याग कर दिया था, फिर भी वे इस निदान से कि मै सगर को सकुटुम्ब नष्ट कर दूंगा । भाव मुनि अवस्था को प्राप्त नही हुए अर्थात् द्रव्य लिड्ग बने रहे । हे मुनि ! तू भव्य जीवो के द्वारा स्तुत हो रहा है अर्थात् भव्य जीव तेरी स्तुति करते हैं सो इतने मात्र से तू अपने आपको कृत-कृत्य मत समझ, भाव शद्धि की ओर लक्ष्य दे । यह कथा महापुराण आदि मे प्रसिद्ध है जोकि इस प्रकार है।-

**मधुपिड्गल मुनि की कथा**

अथानन्तर इसी भरत क्षेत्र मे चारण युगल नगर मे एक राजा सुयोधन रहता था। उसकी स्त्री का नाम अतिथि था । उन दोनो की सुलसा नाम की पुत्री थी । सुलसा का स्वयवर निश्चित् हुआ, अत सब ओर दूत भेजे गये। सब राजा चारण-युगल नगर मे एकत्रित हुए । अयोध्या के राजा सगर ने भी वहॉ जाने का उद्यम किया । पीछे स्नान कर जब सगर राजा तैल लगा रहा था तब सिर मे सफेद बाल देखकर वह वहॉ जाने मे विरक्त हुआ । उसी समय मन्दोदरी नामक धाय ने राजा से कहा - देव ! यह नवीन सफेद बाल आपको पूर्व द्रव्य का लाभ बतला रहा है । वही विश्वभू नाम का मत्री था, वह भी कहने लगा कि हे राजन् ! सुलसा सब राजाओ को छोडकर तुम्हे ही वरेगी ऐसा मै चतुराई से उद्यम करूँगा ।

यह सुनकर हर्षित हो राजा चतुरग सेना के साथ चल पडा। वहॉ कितने ही दिन व्यतीत हो जाने पर एक दिन मन्दोदरी सुलसा के पास जाकर बोली कि हे पुत्रि । कुल, रूप, सौन्दर्य, पराक्रम, राजनीति, विनय, विभव, भाई-बन्धु और सम्पत्ति आदि के जो गुण वर मे देखे जाते है वे सब गुण अयोध्या के राजा स्वामी सगर मे विद्यमान है, यह सुनकर सुलसा उसमे अनुरक्त हो गई।

जब सुलसा की माता से अतिथि को इस बात का पता चला तब उसने युक्तिपूर्ण वचनोसे राजा सगर को दूषित कर अर्थात् उसमे अनेक दोष दिखाकर कहा कि हे पुत्रि । सुरम्य देश के पोदनापुर नगर मे बाहुबली के कुल मे सब राजाओ मे श्रेष्ठ तृणपिड्गल नाम का मेरा भाई है। उसकी स्त्री का नाम सर्वयशा है। उन दोनो से मधुपिड्गल नाम का पुत्र है जो वर के समस्त गुणो से सहित है तथा नई अवस्था मे विद्यमान है। तुझे मेरे कहने से वरमाला के द्वारा उसे ही सन्मानित करना चाहिये। सौत का दुख को देने वाले आयोध्या के राजा सगर से तू क्या करेगी ? माता ने यह सब कहा, परन्तु सुलसा ने उनके अनुरोध को स्वीकृत नही किया। तन्दनतर अतिथिने किसी उपाय से सुलसा के पास मन्दोदरी धाय का प्रवेश रोक दिया। मन्दोदरी ने अपने स्वामी राजा सगर से कह दिया कि कार्य नष्ट हो गया है। राजा ने विश्वभू मत्री से कहा कि हे मत्रिन् । तुम्हे मेरा यह कार्य सब तरह से सिद्ध करना चाहिये। यह सुनकर विश्वभू मत्री ने स्वयवर विधान नामक एक नवीन सामुद्रिक शास्त्र की रचना कर उसकी पुस्तक को एक पेटी मे रखा और जिस तरह कोई न जान सके इस तरह पेटी को वन के मध्य पृथ्वी के अन्दर छिपा दिया।

पेटी मिली है तथा स्वय अनजान जैसा बनकर राजपुत्रो के आगे उसने वह पुस्तक वचवाई । उसमे लिखा था कि वरो के समूह मे कन्या ऐसे वर को वर-माला से सन्मानित न करे जिसके नेत्र पीले हो । यदि करेगी तो वह कन्या मर जावेगी । पीले नेत्र वाले को सभा के बीच प्रवेश नही करना चाहिये तथा पाप के भय से उसे लज्जित होना चाहिये । इतनेपर भी यदि वह सभा के प्रधान से भयभीत न हो तथा लज्जित न हो तो उस पापी को निकाल देना चाहिये । यह सुनकर अपने मे वह गुण होने से अर्थात पीले नेत्र होने से मधुपिङ्गल लज्जा के कारण सभा से स्वय बाहर निकल गया और वहाँ उसने हरिषेण गुरु के पादमूल मे दीक्षा ग्रहण की । यह जानकर सगर राजा तथा विश्वभू मंत्री हर्ष को प्राप्त हुए । इनके सिवाय अन्य कुटिल परिणामी मनुष्य भी हर्ष को प्राप्त हुए । सत्पुरुष और उनके इष्ट-जन विषाद को प्राप्त हुए । ठीक ही है स्वार्थी मनुष्य वचनो के द्वारा किये हुए पाप को नही देखते है ।

तदनन्तर लगातार आठ दिन तक जिनेन्द्र भगवान की महापूजा और अभिषेक किया तथा शुद्ध तिथि और शुद्ध वार के उपस्थित होने पर जिसे स्नान कराकर उत्तमोत्तम अलकार पहिनाये गये थे और जो उत्तम योद्धाओ से घिरी थी, ऐसी उस कन्या को रथ पर बैठाकर पुरोहित स्वयवर मडप मे ले आया और उत्तमोत्तम आसनो पर बैठे हुए राजाओ को लक्ष्य करके क्रम-क्रम से उनके अलग-अलग कुल तथा जाति आदि का निर्देश करके चुप हो रहा । किन्तु कन्या तो सगर राजा मे आसक्त थी इसलिये उसने वरमाला से उसे वर लिया, वहाँ जो राजा ईर्ष्या-रहित थे वे - विधाता ने इनका योग्य सम्बन्ध जुटाया है । यह कहते हुये सन्तुष्ट हुए । विवाह विधि के हो जाने पर सगर सुलसा के साथ वहाँ कुछ दिन तक सुख से रहकर अयोध्या चला गया और भोगसम्बन्धी सुख का अनुभव करते हुए रहने लगा ।

उधर मधुपिङ्गल मुनि भिक्षा के लिये किसी नगर ने प्रवेश कर रहे थे, प्रवेश करते समय किसी जैन निमित्त ज्ञानी ने उन्हे देखा। उन्हे देखकर वह यह कहकर सामुद्रिक शास्त्र की निन्दा करने लगा कि यह पुरुष तो राज्यप्राप्ति के योग्य लक्षणो से सहित है परन्तु भिक्षा भोजी हो रहा है, लक्षणशास्त्र से क्या प्रयोजन है ? अर्थात् लक्षणशास्त्र मिथ्या है, निमित्त ज्ञानी की बात सुनकर दूसरा आदमी इस प्रकार कहने लगा कि यह तो राज्य लक्ष्मी का ही उपभोग करता था परन्तु सगर राजा के मत्री ने कृत्रिम सामुद्रिक शास्त्र रचकर इसे व्यर्थ ही दूषित ठहरा दिया इसलिये लज्जित होकर इसने तप ग्रहण कर लिया और सुलसा ने राजा सगर को यह सुनकर मधुपिडगल मुनि ने क्रोध रूपी अग्नि स प्रदीप्त हो निदान किया कि मै तप के फल से अन्य जन्म मे सगर क समस्त कुल को निर्मूल कर दूँगा, जड से नष्ट कर दूँगा। तदनन्तर मर कर वह असुरेन्द्र की प्रथम महिष सेना ने चौसठ हजार असुरो का स्वामी हुआ।

वह महाकाल नामक असुर अपने देवो से परिवृत हो विभङ्गावधि ज्ञान से पूर्व भव का सब सम्बन्ध जान गया।

अध्यापको मे श्रेष्ठ था, पूज्य था और अतिशय प्रसिद्ध था। क्षीर कदम्ब का पुत्र पर्वत दूसरे देश से आया हुआ नारद और राजा विश्वासु पुत्र वसु ये तीनो उसके पास पढकर विद्याओ के पार को प्राप्त हो चुके थे। उन तीनो शिष्यो मे पर्वत की कीर्ति ठीक नही थी, वह विपरीत अर्थ का ग्रहण करता था परन्तु वसु और नारद को जैसा उपदेश दिया जाता, वैसा ही ग्रहण कर लेते थे। एक दिन ये तीनो शिष्य उपाध्याय के साथ कुसा आदि इकट्ठा करने के लिए वन को गये थे। वहा पर्वत की शिला के ऊपर एक श्रुतधर गुरु विराजमान थे तथा तीन उनसे अष्टाङग निमित्त शास्त्र पढ रहे थे। पाठ की समाप्ति होने पर स्तुति करके तीनो मुनि सुख से बैठे थे। उनकी चतुराई की परीक्षा करने के लिये गुरु ने पूछा- हे मुनित्रय ! ये जो तीन छात्र पढ़ रहे है। इनमे किसका क्या नाम है, क्या कुल है, क्या भाव है और अन्त मे किसकी क्या गति होगी ? गुरु के ऐसा कह चुकने पर एक मुनि बोला कि हमारे पास जो बैठा है इसका नाम वसु है। यह राजा का पुत्र है। तीव्र राग आदि से दूषित है और हिसा करना ही धर्म है, ऐसा निश्चय कर नारकी होगा।

दूसरा मुनि बोला - जो बीच मे बैठा है वह पर्वत है, ब्राम्हण का लडका है। दुर्बुद्धि तथा क्रूर परिणाम वाला है, महाकाल के उपदेश से अथर्वण (अथर्ववेद) नाम के पाप शास्त्र को पढकर खोटे मार्ग का उपदेश करेगा तथा हिसा ही धर्म है, इस प्रकार के रौद्र-ध्यान मे तत्पर हो बहुत जनो को नरक भेजकर स्वय भी नरक जावेगा।

तीसरा बोला–यह जो पीछे बैठा है इसका नाम नारद है, यह ब्राम्हण है, बुद्धिमान है, धर्म–ध्यान मे तत्पर रहता है, आश्रित मनुष्यो को अहिसा धर्म का उपदेश देता है, यह गिरितट नगर का स्वामी होगा और अन्त मे दीक्षा लेकर सर्वार्थसिद्धि जावेगा। उन तीनो मुनियो के द्वारा कहे हुए उत्तर को सुनकर श्रुतधर गुरु–आप लोगो ने निमित्त शास्त्र को अच्छी तरह पढा है यह कहते हुए सन्तुष्ट हुए।

क्षीर कदम्ब उपाध्याय निकटवर्ती एक वृक्ष के नीचे बैठा-बैठा यह सुन रहा था-सुनकर यह सब विधि की चेष्टा है, विधि की इस अशुभ चेष्टा को धिक्कार है, ऐसा कहकर वह विचार करने लगा कि इस विषय मे मैं क्या कर सकता हूँ ? तदनन्तर वहाँ बैठे-बैठे ही मुनियो को नमस्कार कर वह बेमन से शिष्यो के साथ नगर मे प्रविष्ट हुआ।

तदनन्तर एक वर्ष मे जब एक वसु की शास्त्र विषयक बाल्य अवस्था पूर्ण हो गई अर्थात् उसका जब शास्त्राध्ययन समाप्त हो गया तब विश्वावसु ने उसके लिये राज्य देकर दीक्षा ग्रहण करली-वसु निष्कण्टक राज्य करने लगा। एक दिन वह क्रीडा करने के लिये वन मे गया। वहाँ कुछ पक्षी उड रहे थे। वे पक्षी अचानक रुककर नीचे गिर गये, उन्हे देख वसु विचार करने लगा कि पक्षी आकाश मे उडते उडते गिर जाते है उसमे कुछ कारण अवश्य होगा, ऐसा विचार करके उसने उस स्थान पर अपना बाण छोडा, परन्तु बाण भी वहाँ रुक गया। तदनन्तर वसु ने सारथी के साथ वहाँ स्वय जाकर स्पर्श किया। यह आकाश स्फटिक का स्तभ है। यह जानकर वसु उसे ले आया तथा उसका किसी को भी हाल मालूम नही होने दिया। उसने चार बडे पाये बनवाकर सिहासन का निर्माण करवाया। वह सिहासन पर बैठा। राजा आदि उसकी सेवा करने लगे।

कथन को सत्य जानकर वह विस्मय करने लगा । पश्चात आगे जाने पर उन्होने हाथिया का मार्ग देखा । उसे देखकर नारद ने कहा, यहाँ से जो हस्तिनी गई है वह बाय नेत्र से अन्धी थी उसके ऊपर रेशमी वस्त्र पहने हुए एक गर्भिणी स्त्री बैठी थी तथा आज उसने पुत्र उत्पन्न किया है उसके उत्तर मे पर्वतने कहा कि जिस प्रकार कभी अचानक अधा सर्प अपने बिल मे प्रवेश कर जाता है उसी प्रकार अचानक तुम्हारा पहले का वचन सत्य होगा । परन्तु यह तो मिथ्या है । मेरे द्वारा अविदित अज्ञात क्या है ? ऐसा कौन पदार्थ है जिसे मै जान न सकूँ । इस प्रकार मन्द हास्य करके उसने ईर्ष्या के साथ हृदय मे विस्मय प्राप्त किया और नारद के कथन को असत्य करने के लिये हस्तिनी के पीछे चलता हुआ तब नगर म जा पहुँचा । वहाँ जाकर नारद ने जैसा कहा था, वैसा ही पर्वत ने देखा ।

घर आकर पर्वत ने माता के आगे कहा कि हे मात ! मेरे पिता ने जिस प्रकार नारद को पढाया उस प्रकार मुझे नही पढाया । इनके हृदय मे नारद है, मै नही । पुत्र के इस वचन से ब्राम्हणी का हृदय विदीर्ण हो गया । पाप के उदय से उसने विपरीत विचार किया । ब्राम्हणी ने शोक किया । जब क्षीरकम्दब स्नान होम तथा भोजन करने बैठा तब ब्राम्हणी बोली कि तुमने ससार को तो व्युत्पन्न कराया पर पुत्र को शिक्षित नही किया । क्षीरकदम्ब बोला प्रिये ! मै एक समान उपदेश देता हूँ । परन्तु प्रत्येक पुरुष मे बुद्धि भिन्न-भिन्न होती है । इसलिये नारद कुशल हो गया । प्रिये ! तुम्हारा पुत्र स्वभाव से ही मूर्ख है तथा नारद से ईर्ष्या रखता है, क्या किया जाय ? उसने स्त्री को विश्वास उत्पन्न कराने के लिये उसके सामने नारद से पूछा ! हे नारद ! तुमने वन मे घूमते हुए किस कारण पर्वत को आश्चर्य मे डाल दिया था ।

नारद बोला - स्वामिन् ! पर्वत के साथ जाते हुए मै हास्य कथा कर रहा था । उसी समय पानी पी चुकनेवाले मयूरो का एक झुण्ड नदी

से लौट रहा था, उनमे एक मयूर अपने चन्द्रक समूह को पानी के मध्य डूब जाने से भारी होने के कारण भयभीत हो, उल्टे पैर लौटते हुए गया था। शेष मयूर थोडे जल के भीगने के कारण पखो को फडफडाकर गये थे। वह देखकर मैने अनुमान से कहा था कि उन मयूरो मे एक तो पुरुष था और बाकी स्त्रियॉ थी। तदनन्तर वन के मध्य से आकर कोई पुरुष नगर के समीप हस्तिनी पर बैठी स्त्री को नगर की ओर लिये जा रहा था। ठहरने के स्थान पर हस्तिनी ने पेशाब की थी। वह पेशाब उसके पिछ्ले पॉव से सटती हुई गिरी थी इसलिये मैने उसे हस्तिनी कह दिया था। वह हस्तिनी जिस मार्ग से आई थी उसके दाये भाग के वृक्ष तथा लताऍ भग्न हुई थी, इसलिये मैने उसे बाये नेत्र से अधी कहा था। उस पर बैठी हुई स्त्री ने थककर कुछ दूर मार्ग से हटकर शीतल छाया की इच्छा से नदी के तट पर शयन किया, उसके पेट का स्पर्श होने से वहॉ जो चिन्ह बन गये थे उनसे उसे गर्भिणी तथा झाडी मे लगे हुए वस्त्र के छाड से स्त्री जाना था। हस्तिनी जिस मार्ग से गई थी वहॉ ग्रही के ऊपर सफेद पताका फहरा रही थी इसलिये पुत्र जन्म हुआ है ऐसा कहा था। नारद का उत्तर सुनकर ब्राम्हण ने स्त्री से कहा कि इसमे मेरा दोष नही है। जब पर्वत की माता प्रसन्न हो गई, तब ब्राम्हण ने कहा-प्रिये! पर्वत नरक मे जाएगा। मुनि ने ऐसा कहा था।

मुनि के कथन की प्रतीति के लिये भार्या तथा स्वय ब्राम्हण ने एकान्त मे जाकर चुन के दो बकरे बनाये और पुत्र तथा छात्र के भाव की परीक्षा के लिये ब्राम्हण ने एक बकरा पुत्र के लिये तथा एक बकरा शिष्य के लिये दिया और एक आदेश दिया कि तुम दोनो जहॉ कोई देख न सके ऐसे स्थान मे जाकर गन्ध, पुष्प और मगल द्रव्यो से इनकी पूजा करो और कान काटकर दोनो बकरो को आज ही वापिस लाओ। उन दोनो मे पापी पर्वत ने 'इस वन मे कोई नही हे ?' विचार कर बकरे के दोनो कान काट लिये और आकर पिता से कह दिया कि पूज्य! जेसा

आपने कहा था वैसा मन कर दिया, परन्तु नारद वन मे विचार करता है कि गुरु ने कहा था अदृश्य स्थान मे जाकर इसके कान काटना चाहिये । यहाँ चन्द्रमा देख रहा है, सूर्य देख रहा है नक्षत्र देखते है, पक्षी और नाना प्रकार के मृगो को नही रोका जा सकता । यह विचार कर नारद कानो को बिना काटे ही गुरु के पास आ गया क्योकि वह भव्य जीव था, उसने कहा - वन मे ऐसा स्थान का मिलना असम्भव है जिसे कोई नही देख रहा हो । मैं नाम, स्थापना द्रव्य और भाव निक्षेप के विचार करने मे चतुर हूँ पाप और अपकीर्ति के कारण जो क्रियाएँ है उन्हे नही करना चाहिये, इस विचार से मैंने इस बकरे का बिगाड़ नही किया है अर्थात् इसके कान नही काटे है । नारद का उत्तर सुनकर क्षीरकदम्ब अपने पुत्र की मूर्खता को जान गया, वह विचार करने लगा कि मिथ्यादृष्टि एकान्त से कहा करते है कि कार्य की सिद्धि कारण से होती है, वह असत्य है । यहाँ कारण गुरु है और शिष्य की बुद्धि का उत्कर्ष होना कार्य है परन्तु वह नियम से नही होता, क्योकि मेरे पढाने पर भी मेरा पुत्र मूर्ख है । इसलिये एकान्त मत को धिक्कार है, आखिर वह कुमत ही है । कारण के अनुसार कार्य कही होता है और कही नही होता । ऐसा अनेकान्त मत ही सत्य है । इस तरह उसने अनेकान्त मत की अनेक बार स्तुति की ।

नारद की योग्यता को जानकर क्षीरकदम्ब ने कहा-हे नारद ! तुम्ही सूक्ष्म बुद्धि और यथार्थ ज्ञाता हो, आज से मै तुम्हे उपाध्याय के पद पर स्थापित करता हूँ । इस प्रकार उसका सत्कार कर उसे खूब बढावा दिया, बुद्धिमानो को सब जगह गुणो से ही प्रेम होता है । अपने सामने बैठे हुए पुत्र से उसने कहा कि तूने विवेक के बिना ही यह विरुद्ध कार्य किया । शास्त्र से भी तुझे कार्य तथा अकार्य का विवेक नही हुआ । अरे मूर्ख ! मेरे नेत्रो के पीछे अर्थात् मेरे मरने के बाद तू कैसे जीवित रहेगा ? इस प्रकार पिता ने तो शिक्षा दी, परन्तु शोक के कारण वह नारद पर वैर बॉध बैठा, सो ठीक ही है क्योकि दुर्बुद्धि मनुष्यो की ऐसी ही गति होती है ।

एक दिन क्षीर कदम्व गृह आदि का त्याग करता हुआ वसु के पास जाकर बोला कि यद्यपि पर्वत और उसकी माता दोनो ही मद-बुद्धि है तथापि भद्र ! मेरे पीछे उनकी सव तरह से रक्षा करना ।

वसु ने कहा हे पूज्यपाद ! आपके उपकार से मै प्रसन्न हूँ यह कार्य तो बिना कहे ही सिद्ध था । इस कार्य मे मुझसे यह क्या कहना था ? इसमे सन्देह नही करना चाहिये । आप यथायोग्य अपना परलोक सुधारिये । इस प्रकार की मनोहर वार्तारूप अम्लान माला के द्वारा राजा वसु ने ब्राम्हण की पूजा की । क्षीरकदम्बक उपाध्याय ने समीचीन सयम को प्राप्त कर अन्त मे सन्यास-मरण के द्वारा उत्तम स्वर्गलोक प्राप्त किया । इधर पर्वत पिता का स्थान प्राप्त करके सब दिशाओ से आगत शिष्यो के लिये शास्त्रो का व्याख्यान करने लगा । सूक्ष्म बुद्धिनारद भी उसी नगर मे स्थान बनाकर विद्वानो के साथ रहने लगा अर्थात् शास्त्रो की व्याख्यान से उसका यश सब ओर फैलने लगा । इस तरह पर्वत और नारद दोनो का समय बीत रहा था । एक दिन विद्वानो की सभा मे, **"अजैर्यष्टव्यम्"** इसका अर्थ निरूपण करने मे विवाद खडा हुआ । नारद कह रहा था कि, अकुर की शक्ति से रहित तीन वर्ष के पुराने जौ, अज कहलाते है । उनसे बने हुए साकल्य के द्वारा अग्नि कुण्ड मे देव पूजा करने को विद्वान लोग यज्ञ कहते हैं । और पर्वत कहता था कि अज शब्द से पशु का एक भेद अर्थात बकरा लिया जाता है । उसके द्वारा निर्मित सामग्री से अग्नि मे होम करना यज्ञ कहलाता है ।

ऐसा कहकर लोगो ने उसे चाँटो से पीटा और अपमानित कर लोक मे घोषित कर दिया कि यह पापी है। दुर्बुद्धि का यही ऐसा फल होता है। इस प्रकार सबके द्वारा तिरस्कृत होकर मान भग के कारण पर्वत वन मे चला गया।

वहाँ वन मे मधुपिङ्गल मुनि का जीव महाकाल नाम का असुर घूम रहा था। वह ब्राह्मणो के वेश मे था, यमराज के चढने के लिये निकटवर्ती सीढियो के मार्ग के समान अनेक वलिया-सिकुडनो को धारण कर रहा था। अधे मनुष्य की तरह बार-बार गिर रहा था। उसके सिर पर विरल तथा सफेद बाल व्याप्त थे जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो समीपवर्ती यमराज से होने वाले भय के कारण चाँदी का शिरस्त्राण ही धारण कर रहा हो। उसके नेत्र कुछ-कुछ बन्द थे उनसे ऐसा जान पडता था कि मानो वृद्धावस्थारूपी स्त्री के आलिङ्गन से उत्पन्न सुख से ही उसके नेत्र बन्द हो गये थे। वह हाथी के समान जान पडता था जिसकी कटी सूँड हिल रही हो। क्रुद्ध साँप के समान ऊपर को श्वास खीच रहा था। राजा के प्रिय मनुष्य के समान आगे स्पष्ट नही देखता था, उसकी पीठ झुकी हुई थी, वार्तालाप अस्पष्ट था।

हाथ मे योग्य दण्ड लिये हुए था। इसलिये योग्य दण्ड सेना से सहित राजा के समान जान पडता था विश्वभू मत्री सगर राजा और सुलसा स्त्री पर अपने बद्ध क्रोध को प्रकट करने के लिये ही मानो तीन लड का यज्ञोपवीत धारण कर रहा था और अपने इष्ट कार्य के आरम्भ सम्बधी सफलता की खोज कर रहा था। पर्वत भी वही एक पर्वत पर घूम रहा था। महाकाल असुर ने उसे देखा, पर्वत भी सम्मुख जाकर नमस्कार करके अभिवादन का उच्चारण किया। महाकाल ने उसे आश्वासन देकर कहा कि तुम्हारा कल्याण हो और पहले से परिचित न होने के कारण कहा कि तुम कहाँ से आए हो। और वन मे किस लिए घूम रहे हो। पर्वत ने प्रारम्भ से अपना वृत्तान्त कहा। उसे सुनकर महाकाल ने विचार किया कि मेरे शत्रु सगर को निर्वश करने के लिये

यह समर्थ हो सकता है । उसने कहा कि हे पर्वत ! तुम्हारे पिता क्षीर कदम्ब और मै विष्णु रूप मन्यु ये तीनो ही भौम नामक उपाध्यय के शिष्य थे तथा उनके पास शास्त्र का अभ्यास करते थे । तुम्हारे पिता मेरे धर्मभाई थे, इसलिये मै उन्हे देखने के लिये आ रहा था । परन्तु मेरा आना व्यर्थ हुआ । बेटा पर्वत तुम डरो मत तुम्हारे शत्रु के नाश मे, मै सहायक होऊँगा । इस प्रकार क्षीरकदम्बक के पुत्र (पर्वत) के अभिलाषित अर्थ से सम्बन्ध रखने वाली अथर्ववेद सम्बन्धी साठ हजार पृथक ऋचाएँ पूर्वोक्त मत्रो से तीक्ष्ण शक्तिशालिनी होती है और ये वेद के रहस्य को बताने वाली है, ऐसा कहकर उस महाकाल असुर ने स्वय बनाई तथा पर्वत को पढाई और कहा कि शान्तिक, पौष्टिक तथा अभिचारात्मक (बलिदानात्मक) क्रियाएँ यदि पशु हिसा के साथ प्रयोग मे लाई जाती है तो वायु से युक्त अग्नि की ज्वाला के समान यज्ञ का फल उत्पन्न करती है । इसके बाद उसने पर्वत से यह भी कहा कि हम साकेत-अयोध्या नगरी मे रहकर वहाँ शान्तिक आदि फल को देने वाला हिसा यज्ञ प्रारम्भ करेगे और उसका प्रभाव दिखलावेगे । इस प्रकार पर्वत से कहकर वैरियो का विनाश करने के लिये उसने अपने तीव्र आज्ञाकारी दैत्यो को - तुम लोग सगर के देश मे ज्वर आदि से बाधा करो, ऐसी आज्ञा देकर सगर देश मे भेजा और स्वय भी पर्वत के साथ अयोध्या जा पहुँचा । पर्वत ने मत्र-गर्भित आशीर्वाद देकर राजा सगर का दर्शन किया तथा उसके सामने अपना प्रभाव प्रकाशित करते हुए कहा कि हे राजन् ! तुम्हारे देश पर जो बहुत भारी अनिष्ट आया है, मै उसे सुमित्र नामक, यज्ञ से शीघ्र ही समाप्त कर दूँगा ।

**'यज्ञार्थ पशव सृष्टा स्वयमेव स्वयभुवा ।'**
**यज्ञो हि बृद्धयै सर्वेषा तस्माद्यज्ञे वधोऽवध ।।**

**यज्ञार्थ** यज्ञ के लिये पशु विधाता ने स्वय बनाये है । चूँकि यज्ञ सबकी वृद्धि के लिये है, इसलिये यज्ञ मे हुई हिसा, हिसा नही है ।

इस कारण यज्ञ से स्वर्ग के महान सुख को देनेवाला पुण्य ही होगा इस प्रकार विश्वास दिलाकर पापी पर्वत ने राजा सगर से कहा हे राजन् ! यज्ञ की सिद्धि के लिये साठ हजार पशु और उसके योग्य अन्य द्रव्य का संग्रह करो । सगर ने भी सब सामग्री इकट्ठी कर उसके लिये सौंप दी । पर्वत ने यज्ञ प्रारंभ कर पशुओं को मन्त्रित किया । महाकाल असुर होमे गये उन पशुओं को 'यह शरीर के साथ स्वर्ग गया, स्वर्ग गया' इस प्रकार कहता हुआ विमान में बैठ आकाश में ले जाते हुए लोगों को दिखाता था । देश के ऊपर जो अनिष्टकारी उपसर्ग आया था उसे भी उसने उसी समय दूर कर दिया । यह देख भोले प्राणी उसकी माया से मोहित हो स्वर्ग जाने की इच्छा करते हुए यज्ञ मे मरने की तीव्र आकाक्षा करने लगे । सुमित्र नामक यज्ञ के अन्त मे उसने एक उत्तम जाति के घोडे को विधिपूर्वक होम किया । यही नहीं उस दुष्ट ने राजा की आज्ञा से रानी सुलसा को भी होम दिया । प्रिया स्त्री के वियोग-जन्य दु खरूपी दावानल की ज्वालाओ से जिसका शरीर जल गया था, ऐसा राजा सगर नगर मे प्रविष्ट हुआ और शय्या के ऊपर लेट रहा । उसके मन मे सशय उठा कि यह बहुत भारी प्राणी-हिसा हुई है । यह धर्म है या अधर्म ? दूसरे दिन उसने यतिवर नामक मुनि की वन्दना करके निवेदन किया कि हे स्वामिन् । मेरे द्वारा प्रारभ किया गया कार्य पुण्यरूप है या पाप रूप ? ठीक ठीक कहिये । मुनिराज बोले यह कार्य धर्म-शास्त्र से बाह्य है तथा करने वाले को सातवे नरक पहुचा सकता है । सगर ने कहा - स्वामिन ! इसका कुछ परिचायक है ? मुनिराज ने कहा - राजन् ! सातवे दिन तुम्हारे मस्तक पर वज्र गिरेगा, इस परिचायक चिन्ह से तुम राजन सातवे नरक जाओगे यह सुनकर राजा ने भयभीत हो पर्वत से कहा । पर्वत ने कहा राजन् ! यह नग्न साधु क्या जानता है ? फिर भी यदि तुम्हे शका है तो इसकी भी शान्ति करते है, इस प्रकार के वचनो से उसके मन को स्थिर करके शिथिल कर दिया । पुन उसने सुमित्र नामक ही यज्ञ प्रारभ किया ।

तदनन्तर सातवे दिन पापी असुर की माया से आकाश मे खडी सुलसा कह रही थी कि मै देव पद को प्राप्त हुई हूँ । पहले जो पशु मारे गये थे मै उन सब मे अग्रेसरी हूँ । प्रधान हूँ । यज्ञ मे मृत्यु होने के फलस्वरूप ही मैने यह देव गति पाई है । उस आनन्द को तुम्हे बतलाने के लिये मै विमान से आयी हूँ । तुम्हारे यज्ञ से सब देव तथा पूर्व पुरुष प्रसन्न हुए है । सुलसा के कहने से यज्ञ मे मरने का फल प्रत्यक्ष दिख गया, इसलिये जैन मुनि का कहना असत्य हो गया । तदनन्तर राजा सगर को तीव्र हिसा के अनुराग, समीचीन धर्म के साथ होने वाले द्वेष, तथा मूल प्रकृति और उत्तर प्रकृति के विकल्प से युक्त उस पर्याय मे होने वाले सर्वाधिक दुष्ट सक्लेश के कारणो से उत्पन्न होने वाले खोटे परिणामो से नरकायु आदि आठ कर्मो का अपने योग्य स्थिति बन्ध तथा अनुराग बन्ध का निकाचित बन्ध हो गया । उसी समय भयकर वज्ररूप कालासुर (यमराज) मस्तक पर गिरा जिससे यज्ञ कार्य मे लगे समस्त प्राणियो के साथ राजा सगर सातवे नरक मे जा पडा । महाक्रोध से भरा कालासुर उसे दण्ड देने के लिये उसी समय तीसरे नरक तक पीछे-पीछे गया परन्तु उसे वहाँ न देखकर अयोध्या को लौट आया ।

वहाँ आकर उस दुष्ट ने विश्वभूमत्री आदि शत्रुओ के समूह को मारने के लिये सुलसा सहित राजा सगर को विमान मे बैठा हुआ आकाश मे दिखलाया । विमान मे बैठा सगर प्रशसा कर रहा था कि मैने पर्वत के प्रसाद से जो यज्ञ किया था उसी के पुण्य से स्वर्ग पहुच कर सुख को प्राप्त हुआ हूँ ।

सगर के पीछे विश्वभू मन्त्री राजा हुआ । उसने भी महायज्ञ का उद्यम किया । महाकाल नामक असुर ने विमानो द्वारा आये हुए देव तथा पितर (पूर्व पुरुष) आकाश मे सब को दिखाये । वह कहने लगा कि हे विश्वभू । तुझ पुण्यशाली ने महामेध (महायज्ञ) किया उसमे तुम्हारे प्रसाद से होमे गये हम सभी स्वर्ग सुख को प्राप्त हुए हे । इस तरह

उन देवो तथा पितरो ने विश्वभू मन्त्री की स्तुति की । इधर नारद तथा अन्य तापसो ने जब यह सुना तब वे विचार करके अयोध्या आये कि इस दुष्ट ने यह खोटा मार्ग अपना कर लोगो को बतलाया । इस पर्वत को धिक्कार है, इसे किसी उपाय से रोकना चाहिये । यह पाप पण्डित है अर्थात् पाप के चलाने मे निपुण है । वे सब विश्वभू को देखकर बोले - जो पापी मनुष्य होते है वे भी अन्न तथा काम के लिये प्राणियो का वध नही करते । क्या कही भी कोई भी धर्म के अर्थ प्राणियो का घात करनेवाले है ? वेद के जानने वाले विद्वानो ने सर्वज्ञनिरुपित वेद को ही वेद कहा है ।

अहिंसा माता के या सखी के अथवा कल्पलता के समान जगत के हित करने के लिये कही गई है । पूर्व ऋषियो के इस वाक्य का यदि तुम प्रमाण मानते हो तो कर्म बन्ध करने वाला तथा अधिकतर हिंसा से परिपूर्ण यह कार्य छोड ही देना चाहिये ऐसा तापसो ने कहा । वे तापस सब प्राणियो का हित चाहने वाले थे । विश्वभू ने कहा कि तापसो ! जो काम साक्षात्, स्वर्ग का साधन देख लिया गया है उसे मै कैसे छोड सकता हूँ ? नारद ने विश्वभू से कहा हे मन्त्रिश्रेष्ठ! तुम तो विद्वान हो, क्या यह कार्य स्वर्ग का साधन है ? परिवार सहित सगर को निर्मूल नष्ट करने की इच्छा रखने वाले किसी कपटी ने भोले लोगो को भ्रान्ति मे डालने वाला उपाय रचा है ।

इसलिये शील तथा उपवास आदि कार्य स्वर्ग के साधन है - ऐसा आर्ष-आगम मे कहा गया है, तुम भी उसे मान्य करो । विश्वभू पर्वत से बोला-पर्वत ! नारद जो ऐसा कह रहा है उसे तुमने सुना ? कालासुर के द्वारा कहे हुए शास्त्र से मोहित दुर्बुधि पर्वत बोला - अहो मन्त्रि श्रेष्ठ ! यह शास्त्र क्या नारद ने नही सुना है ? मेरे तथा इसके गुरु मेरे पिता ही थे । यह नारद कोई दूसरा नही है । उस समय भी यह मुझ पर समत्सर था अर्थात् मुझसे ईर्ष्या रखता था फिर अब तो कहना

ही क्या है ? मेरे गुरु का धर्मभाई स्थविर नामका विद्वान था जो कि जगत प्रसिद्ध था उसने भी यज्ञ मे मृत्यु प्राप्त करना ही श्रुति का रहस्य वतलाया था । तथा मैने भी साक्षात् प्रकट किया अर्थात लागो को स्पष्ट दिखलाया है कि यज्ञ मे मरे हुए प्राणी स्वर्ग गये हे । यदि तुम्हे विश्वास नही है तो समस्त वेद रूपी समुद्र के पार गामी राजा वसु से पुछ लो । जो सत्य  के कारण आकाश मे स्थित रहता हे । यह सुनकर नारद ने कहा क्या हानि है ? उसी से पूछ लिया जाय, विचारने याग्य वात तो यह है कि -

यदि हिसा धर्म का साधन है तो अहिसा, दान, शील, आदि को पाप का साधन होना चाहिये । यदि ऐसा है, तो धीवर आदि की उत्कृष्ट गति हो और सत्य, धर्म, तप तथा ब्रम्हचारियो को अधोगति हो । यदि तुम्हारा यह कहना है कि यज्ञ मे पशुवधसे धर्म होता हे अन्यत्र नहीं, तो कहना ठीक नही है । क्योंकि वध यज्ञ मे हो चाहे यज्ञ के बाहर हो  दोनो स्थानो पर दु ख का कारण है । अत सदृशता के कारण फल भी समान होना चाहिये ।

वाला पाप से बद्ध होता है, उसी प्रकार मन्त्र आदि के द्वारा घात करने वाला पुरुषभी पाप से बद्ध होता है क्योंकि दोनों में कोई विशेषता नही है । हे पर्वत यह भी तो कहो की पशु आदि की सृष्टि विधाता के द्वारा प्रगट कि जाती है या नवीन रची जाती है ? यदि यह कहते हो कि पहले से विद्यमान सृष्टि ही यज्ञ के लिये प्रकट की जाती है, तो सृष्टि की जाती है इस अर्थ को प्रतिपादन करने वाले सभी वचन निरर्थक हो जावेगे । यदि यह मान लिया जाय कि विद्यमान सृष्टि ही विधाता के द्वारा प्रकट की जाती है तो फिर उसका प्रतिबन्धक क्या है ?

क्योंकि दीपक का जलना ही यह बतलाता है कि पहले घटादि पदार्थ अन्धकार से आच्छादित थे अथात जिस प्रकार पहले अन्धकार से आच्छादित घटादि को दीपक प्रकट करता है उसी प्रकार यहॉ बतलाना चाहिये कि सृष्टि पहले किससे आच्छादित थी ? इस दोष से बचने के लिये यदि यह कहते हो कि सृष्टि किसीसे आवृत नही थी, अनावृत सृष्टि ही प्रगट कि जाती है । तो फिर आपको सृष्टिवाद ही स्वीकृत करना चाहिये । इस प्रकार नारद के द्वारा किये हुए प्रस्तावको को सुनकर सभा मे बैठे हुए सब लोग उसकी स्तुति करने लगे । तदनन्तर सभासदो ने कहा कि यदि दोनो का विवाद वसु के द्वारा समाप्त होता है, तो उसी के सन्मुख चला जाए । यह सुनकर सभी सभा उन नारद ओर पर्वत के साथ स्वस्तिकावती को चल पडे । वहॉ जाकर पर्वत ने सब वृतान्त अपनी माता से कहा-माता पुत्र के साथ वसु से मिली ओर उससे बोली बेटा बसु पर्वत अविवाहित है, तप धारण करते हुए गुरु ने भी इसे तुम्हारे लिये सोपा था । नारद के साथ तुम्हारे सामने इसका वाद होगा । उसमे यदि उसकी पराजय होगी तो इसका यम के घर मे प्रवेश होगा । ऐसा निश्चय करो । तुम्हारे सिवाय इसका कोई शरण नही है । वसु ने कहा - माता मै गुरु का सेवक हूॅ - गुरु के पुत्र तथा स्त्री को समान ही देखना चाहिए, मै इस नीति को जानता हूॅ और इसकी जीत करूॅगा तुम डरो मत् ।

तदनन्तर दूसरे दिन सब लोगो ने उस तरह के अर्थात् अन्तरिक्ष दिखनेवाले राजा वसु के दर्शन किये । वहॉ विश्वभू आदि ने पूछा कि हे राजन् ! आप से पूर्व भी यहॉ अहिसा धर्म की रक्षा करनेवाले हिमगिरि, महागिरि, समगिरि और वसुगिरि नाम के चार राजा हो चुके है । ये सब हरिवश मे उत्पन्न हुए थे उसी हरिवश मे विश्वासु महाराज भी हुए थे और उनसे आप उत्पन्न हुए है । उस वश मे अहिसा धर्म की रक्षा सदा से होती आई है ।

इस विषय मे क्या कहना है ? आप ही सत्यवादी है ' । इस प्रकार की जोरदार घोषणा तीनो लोको मे हो रही है । वस्तु मे सदेह उपस्थित होने पर आप विष के समान, अग्नि के समान अथवा तुला के समान विद्यमान है । हे प्रभो ! चूँकि विश्वास को उत्पन्न करने वाले आप ही है । अत आप ही हम लोगो का सशय दूर करो ।

नारद ने अहिसा लक्षण धर्म का पक्ष स्वीकार किया और पर्वत उसके विपरीत आक्षेप कर रहा है । अत आप गुरु का उपदेश कहिये अर्थात् यह बताइये कि गुरु क्षीरकदम्बक का क्या उपदेश था । इस प्रकार विश्वभू मन्त्रि आदि ने राजा वसु से प्रार्थना की । गुरु पत्नि अर्थात् पर्वत की माता जिससे पहले प्रार्थना कर चुकी थी । महाकाल असुर ने जिसे महामोह तीव्र मिथ्यात्व उत्पन्न कराया था तथा जो विषय सरक्षणानन्द नामक रौद्र ध्यान मे अत्यत तत्पर था । ऐसा राजा बसु गुरु के द्वारा प्रदत्त उपदेश को जानता हुआ भी दु षमकाल-पचमकाल के निकटवर्ती होने से कहने लगा कि जो तत्व पर्वत ने कहा है वही ठीक है प्रत्यक्ष वस्तु मे अनुपपत्ति क्या है ?

पर्वत के द्वारा कहे हुए यज्ञ के द्वारा सगर-पत्नि सहित स्वर्ग को प्राप्त हो चुका है ।

जलते हुए दीपक को दूसरा कौन दीपक है जो प्रकाशित कर सके । इसलिये आप लोग पर्वत के द्वारा कहे हुए यज्ञ को स्वर्ग का साधन समझ भय छोडकर करो ।

इस प्रकार हिंसानन्द और मृषानन्द रौद्र ध्यान के द्वारा जिसे नरकायु का बन्ध पड़ गया था तथा जो मिथ्या पाप और अपवाद से नही डर रहा था ऐसे वसु ने कहा । उस समय आकाश मे ऐसा शब्द हुआ मानो ब्रह्माण्ड फट गया हो ऐसा जान पड़ने लगा मानो आकाश ही चिल्ला-चिल्लाकर कह रहा हो अहो नारद-अहो तापसो ! राजा के मुँह से ऐसा अपूर्व भयंकर वचन उत्पन्न हुआ है । नदियो का प्रवाह उल्टा बहने लगा । तालाब शीघ्र सूख गये रक्त की वर्षा निरन्तर होने लगी, सूर्य की किरण फीकी पड़ गई सब दिशाएं मलिन हो गई प्राणी भय से विह्वल होकर कांपने लगे । उसी समय पृथ्वी फट गई और उस महाछिद्र मे वसु का सिंहासन धंस गया । आकाश मे स्थित देव और विद्याधरो के अधिपति यह कहने लगे अहो महाबुद्धिमान ! राजा वसु ! तुम इस तरह धर्म का विध्वंस करने वाले मार्ग का कथन मत करो । सिंहासन के धॅस जाने पर पर्वत और वसु म्लान मुख हो गये । उन्हे वैसा देख महाकाल के किंकर तापसो का आकार रख कर अर्थात् तापसो के वेष मे आकर कहने लगे । हे पर्वत ! हे वसु ! तुम दोनो भय मत करो, इस प्रकार कहकर उन्होने वसु के सिंहासन को ऊपर उठाकर दिखलाया । उस सिंहासन पर बैठा हुआ वसु कह रहा था - मै तत्व का जानने वाला कैसे भयभीत हो सकता हूँ ।

मै पर्वत के वचनो को सत्य जानता हूँ - इस प्रकार कहता हुआ, वसु कण्ठ पर्यन्त पृथ्वी मे धॅस गया । यह देख साधुओ ने कहा - इस असत्य कथन से वसु राजा की यह दशा हुई है ।

हे राजन् ! अब भी मिथ्या मार्ग छोड दो इस प्रकार यद्यपि साधुओ ने उससे प्रार्थना की थी तथापि वह मूर्ख यज्ञ को सन्मार्ग कहता गया । कुपित पृथ्वी ने उसे सर्वांग निगल लिया तथा मरकर वह सातवे नरक गया ।

उस समय कालासुर ने लोगो को विश्वास दिलाने के लिये आकाश मे स्थित सगर और वसु के दो दिव्य रूप दिखलाये । वे कह

रह थे कि हम दोनो यज्ञ की श्रध्दा से स्वर्ग को प्राप्त हुए है, तुम सब नारद का वचन मत मानो   इस प्रकार कहकर कालासुर अन्तर्हित हो गया ।

तदनन्तर शोक और आश्चर्य मे निमग्न लोगो मे कोई तो कहता था वसु स्वर्ग गया है और कोई कहता था कि नही नही नरक गया है। इस प्रकार विवाद करते हुए सभी के साथ विश्वभू ने प्रयाग जाकर राज सूर्य यज्ञ की विधि की । महापुर के राजा आदि जो प्रमुख पुरुष थे वे लोगो की मूढता की निन्दा करते हुए परमब्रह्म जिनेन्द्रदेव के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग मे ही स्थित रहे ।

नारद ने धर्म मर्यादा की रक्षा की है इस तरह उसकी प्रशसा कर उसके लिये गिरितट नाम की नगरी दी । तापस लोग कलिकाल को दया धर्म के नाश का कारण समझते हुए दु खित हृदय से यथा स्थान चले गये । तदनन्तर किसी दिन नारद ने दिनकरदेव नामक विद्याधर से अपने मन की बात कही-आपके द्वारा पर्वत के विरुद्ध आचरण का निवारण किया जाना चाहिये । दिनकरदेव ने कहा वैसा करूँगा । इस तरह अपनी स्वीकृति दे दी । उसने नागजाति के देव के पास जाकर अपनी विद्या के द्वारा धारपन्नग नामक देवो को बुलाया और पर्वत का यह सब प्रपच कह सुनाया । धारपन्नग देवो ने सग्राम करके कालसुर को पराजित करके यज्ञ मे विघ्न उत्पन्न कर दिया । विश्वभू और पर्वत उस विघ्न को देखकर जब शरण की खोज करते हैं तब सामने खडे हुए महाकाल को देखते हैं ।

उन्होने महाकाल के आगे सब वृत्तान्त कहा । कालासुर बोलानागदेव हमारे द्वेषी हैं । उन्होने यह उपद्रव किया - विद्यानुप्रवाद मे नाग विद्याएँ कही गई है उनका प्रभाव जिन प्रतिमाओ पर नही होता है । इसलिये चारो दिशाओ मे सुन्दर जिन प्रतिमाएँ रखकर पूजा करो, इस प्रकार यज्ञ की विधि को तुम दोनो पूरा करो उस उपाय को सुनकर विश्वभू और पर्वत ने वैसा ही किया ।

विद्याधरो का राजा फिर से यज्ञ मे विघ्न करने आया परन्तु जिन प्रतिमाओ को देखकर नारद से बोला कि मेरी विद्याए यहां नही चलती है ऐसा कहकर वह अपने स्थान पर चला गया । तदनन्तर यज्ञ निर्विघ्न सम्पन्न हुआ । पश्चात् विश्वभू और पर्वत सातवे नरक गये तथा दीर्घकाल तक महादुःख भोगते रहे ।

तदन्तर महाकाल ने इष्ट कार्य सिद्ध कर अपना असली रूप धारण किया और लोगो से कहा कि मै पूर्व भव मे पोदनापुर मे मधुपिंगल नाम का राजा था । सुलसा के निमित्त मैने यह महापाप उपार्जित किया है । जिनेन्द्रदेव ने जो अहिंसा लक्षण धर्म कहा है आप सब धर्मात्माओ को उसीका पालन करना चाहिये - ऐसा कहकर वह अन्तर्हित हो गया । पुनः दया से आर्द्र बुद्धि होकर उसने अत्यन्त दुष्ट चेष्टा रूप पाप का प्रायश्चित किया । क्या प्रायश्चित किया ? अज्ञान से पाप को छोड़ देना ही प्रायश्चित है । इसी प्रायश्चित को उसने किया तदनन्तर दिव्य ज्ञान के धारक अवधिज्ञानी मुनियो को कहा कि हिंसा धर्म की प्रवृत्ति करानेवाले विश्वभू आदि नारकी हुए तथा नरक मे गये ।

यह सुनकर पाप से डरनेवाले कितने ही लोगो ने पर्वत के द्वारा उपदिष्ट मार्ग का आश्रय नही लिया अर्थात् उसे छोड दिया और कितने ही दीर्घ ससारी जीव उसी कुमार्ग मे स्थित रह गये ।

इस प्रकार मधुपिङ्गल की कथा समाप्त हुई ।

# मोक्षप्राभृतम्

ज मुणि लहइ अणतसुहु नियअप्पा झायतु ।
त सुहु इदु वि न वि लहइ देविहिं कोडि रमतु ।।१।।
विसयकसायहि जुदो रुदो परमप्पभावनरहियमणो ।
सो न लहइ सिद्धिसुह जिणमुद्द परम्मुहो जीवो ।।४६।।

**अर्थ** जो विषय कषाय से युक्त है जिसका मन परमात्मा की भावना से रहित है तथा जो जिन मुद्रा से पराङ-मुख-भ्रष्ट हो चुका है ऐसा रुद्रपदधारी जीव सिद्धि सुख को प्राप्त नही होता ।।४६।।

**रुद्र की कथा**

अथानन्तर इसी भरत क्षेत्र के विजयार्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी म एक किन्नर गीत नाम का नगर है । उसमे रत्नमाली नाम का विद्याधरो का राजा रहता था । उसकी स्त्री का नाम मनोहरी विद्याधरी थी । उन दोनो के रुद्रमाली नाम का पुत्र था । एक दिन वह स्वच्छन्दतापूर्वक वन मे विहार कर रहा था। उसी समय उसने विद्या सिद्ध करती हुई एक विद्याधर कुमारी को देखा

अर्चिमालिनी नाम से प्रसिद्ध उन्हीं दोनों की पुत्री हूँ इस प्रकार अपना परिचय देकर विद्याधर कुमारी ने भी पूछा कि तुम कौन हो ? तब रुद्रमाली ने कहा कि इसी पर्वत की दक्षिण श्रेणी पर किन्नरगीत नाम का नगर है । उसके राजा रत्नमाली और रानी मनोहरी का मैं रुद्रमाली नाम का पुत्र हूँ ।

बहुत दिनो मे विद्या सिद्ध कर, चन्द्रमुखी, इन्दुमालिनी अपने घर चली गयी । माता-पिता दोनो ने उनका मन जानकर उनका विवाह कर दिया । रति के राग से रंगे तथा प्रज्ञप्ति नामक विद्या को सिद्ध करनेवाले वे दोनो शान्ति के हेतु नन्दन वन मे जिनेंद्र भगवान का अभिषेक पूजन तथास्तवन कर सुख से बैठे थे । इतने मे मनोजय और चित्तवेग नाम के दो विद्याधर जोकि अर्चिमालिनी के अभिलाषी थे, महाजालिनी विद्या से रुद्रमाली को बाँधकर ले गये । परन्तु रुद्रमाली उन दोनो को जीतकर फिर आ गया । अर्चिमालिनी के साथ उसने नगर मे प्रवेश किया तथा अनुराग पूर्वक रहने लगा ।

एक दिन उसने विरक्त होकर चारण ऋद्धिधारी मुनि के चरणमूल मे स्त्री के साथ दीक्षा ले ली अर्थात रुद्रमाली मुनि हो गया और अर्चिमालिनी आर्यिका बन गयी । उन दोनो ने 'परस्पर यह मेरा पति होगा और यह मेरी स्त्री होगी' इस प्रकार निदान कर सन्यास धारण किया और मरकर सौधर्म स्वर्ग गये । वहाँ भी दीर्घकाल तक रति कुल का उपभोग कर देव तो गन्धार देश के माहेश्वरपुर नगर मे महाराज सत्यन्धर और उनकी रानी सत्यवती के सात्यकि नाम का पुत्र हुआ, तथा अर्चिमालिनी का जीव देवी सौधर्म स्वर्ग से च्युत हो सिन्धुदेश के विशालीनगर मे महाराज चेटक और उनकी रानी सुप्रभादेवी के जेष्ठा नाम की पुत्री हुई । ज्येष्ठा सात्यकि के लिये पहले ही दे दी थी । परन्तु विवाह नही हुआ था ।

इसी बीच मे महाराज श्रेणिक का पुत्र धूर्त अभयकुमार कन्या के

लिये सेठ बनकर वहॉ आया । वहॉ उसने राजा की दो पुत्रियो चेलना और ज्येष्ठा को चला दिया और उपायकर सुरङ्ग द्वारा निकल गया । उन दोनो पुत्रियो मे चेलना ने ज्येष्ठा को आभरण आदि के बहाने वापस लौटा दिया और स्वय अकेली श्रेणिक के पास आ गयी । जिन प्रतिमा लेकर ज्येष्ठ वहॉ पहुँची तब वहॉ कोई नही दिखा । इस घटना से ज्येष्ठ बहुत लज्जित हुई, मै बडी बहन के द्वारा ठगी गयी' इस अभिप्राय से विरक्त उसने बुआ यशस्वती नाम की आर्यिका के जो कि जिन मन्दिर मे रहती थी, चरणमूल मे दीक्षा धारण कर ली । दैदीप्यमान सुवर्ण के समान वर्णशाली ज्येष्ठ कन्या का दीक्षा लेने का समाचार सुनकर सात्यकि नामक कुमार भी ससार से विरक्त हो गया, उसने राज्यलक्ष्मी का परित्याग कर समाधिगुप्त नामक मुनिराज को नमस्कार कर जिन दिक्षा ले ली । तीन गुप्तियो से युक्त होकर तीव्र तप तपश्चरण करते हुए सात्यकि मुनि एक बार उत्तर गोकर्ण पर्वत को छोड़कर राजगृह पर्वत के समीप उच्चग्रीव पर्वत पर स्थिर हुए । एक दिन उनके गुणो मे अनुराग रखनेवाली आर्यिकाये उनकी वन्दना करने के लिये आई । वन्दना करके वे ज्योहि पर्वत से उतरने लगी, त्योहि बहुत भारी मेघवृष्टि आ पहुँची । आर्यिकाएँ भीगकर विह्वल होती हुई इधर-उधर चली गई । परन्तु जेष्ठा नाम की आर्यिका सात्यिकी मुनि की गुफा मे प्रविष्ठ हुई ।

वहॉ वह कपडा निचोडने लगी उसी समय सात्यिकी मुनि की दृष्टि उस पर पडी । देखते ही मुनि को कामोद्रेक हो गया जिससे उन्होने उसका उपभोग कर लिया । मुनि तो आलोचना, निन्दा तथा गर्हा कर मुनि धर्म मे स्थिर हो गये, परन्तु ज्येष्ठा आर्या गर्भवती हो गई । जब शान्ति नामक प्रधान आर्या को पता चला तो उसने उसे चेलना को सौंप दिया । चेलना के पास रहते हुए उसने पुत्र उत्पन्न किया । उस पुत्र को [illegible] ने स्वयभू गुफा मे डाल दिया । रात्रि के समय चेलना को

स्वप्न दिखा, जिससे उसने उस गुफा से बुलवा लिया तथा दर्शन सम्बन्धी अनिष्ट का शमन कर उसका स्वयभू नाम रखा। ज्येष्ठा कतनि शल्य होकर चली गई तथा आर्यिका के पास सयम सम्बन्धी नियमो का पालन करते हुए रहने लगी।

स्वयभू ज्यो-ज्यो बड़ा होने लगा, त्यो-त्यो चाँटा आदि की ताड़ना से अन्य बच्चो को सताप पहुँचाने लगा। किसी समय रानी चेलना ने उसके और भी अनुचित कार्य को देखकर, स्वयभू से कहा-जा दुष्ट जार जात तथा निर्लज्ज होता है वह क्या किसो भी कारण स्वभाव को छोडता है ? चलना ने भोंह टेढी कर उक्त दुर्वचन कहे थे। इसलिये स्वयभू इतना पीडित हुआ मानो किसो ने शूल से ही विदीर्ण कर दिया हो, उसने फिर प्रणाम करके पूछा-माताजी आपने यह क्या कहा है ? चेलना ने कुछ भी न रख छोडा, ज्यो का त्यो कह दिया। अपनी उत्पति का समाचार जानकर स्वयभू उत्तर गोकर्ण पर्वत पर गया और सात्यिकी मुनि को नमस्कार कर वैराग्यवश दिगम्बर साधु हो गया तथा इसी उत्तर गोकर्ण पर्वत पर रहने लगा। गुरु की शिक्षा से मन रोककर उसने ग्यारह अग सीख लिये। वहाँ उसे महान् अतिशय से युक्त रोहिणी आदि पॉच सो विद्याएँ आकर सिद्ध हो गई। विद्या का सामर्थ्य से वह सिह बनकर लोगो को डराने लगा, यह समाचार किसी ने उसके गुरु सात्यिकी मुनि को कह दिया। तब गुरु ने उससे कहा की हे मुनि इस स्त्री के कारण तुम्हारा विनाश होगा। गुरु के वचन सुनकर वह कहने लगा कि मै जहाँ स्त्री का मुख न देखूँ वहाँ तप करूँगा, ऐसा कहकर वह कैलाश पर्वत पर जाकर तप करने लगा।

उसी समय विजयार्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी पर मेघनिबद्ध नामक नगर मे कनकरथ नामक विद्याधरो का राजा रहता था। उसकी स्त्री का नाम मनोरमा था, उन दोनो के देवदारू और विद्युज्जिह्व नाम के दो पुत्र थे। एक दिन देवदारू को राज्य पर स्थापित कर तथा विद्युज्जिह्व

को युवराज बनाकर राजा कनकरथ ने गुणधर गुरु के पाद मूल मे दीक्षा ले ली । उधर प्रज्ञप्ति विद्या के प्रभाव से विद्युज्जह्व ने देवदारू को जीतकर निकाल दिया जिससे वह कैलाश पर्वत पर आकर तथा विद्या से एक नगर बसाकर सपरिवार निर्भय रहने लगा । उस देवदारू की चार महादेवियॉ थी - १) योजनगन्धा, २) कनका, ३) तरगवेगा और ४) तरग भामिनी । चारो ही अत्यन्त सुन्दर शरीर की धारक थी, योजनगन्धा के गन्धिका और गधमालिनी नाम की अत्यन्त विनीत दो पुत्रियॉ उत्पन्न हुई । कनका के-कनकचित्रा और कनकमाला ये दो पुत्रियॉ हुई- तरगवेगा के तरगसेना और तरगवती ये दो पुत्रियॉ उत्पन्न हुई और तरग भामिनी के सुप्रभा तथा प्रभावती ये दो पुत्रियॉ उत्पन्न हुई । ये आठो ही कन्याऍ दिव्य आभूषणो से सुशोभित थो, दिव्य वस्त्रो को धारण करनेवाली देव कन्याओ के समान कचुकियो क समान घिरी रहती थी । एक दिन वे सब कन्याऍ कैलाश पर्वत पर मानस सरोवर मे जल क्रीडा करने के लिये आई । स्थूल तथा उठे हुए स्तनो से सुशोभित उन कन्याओ को स्नान करते हुए रुद्र ने देखा, देखते ही वह काम के बाणो से हृदय मे घायल हो गया, क्षुभित रुद्र व्यामोह को प्राप्त हो गया समीप मे स्थित तथा काम के बाणो से जर्जरित हृदय वाले रुद्र ने उपाय सोच लिया । उसने विद्या के द्वारा सरोवर के तट पर रखे हुए उन कन्याओ के वस्त्राभूषण उठवा लिये ।

है, हमारे माता-पिता जानते हैं स्वच्छन्द चारिणी स्त्रियो को विद्या का माहात्म्य कैसे प्राप्त हो सकता है ? तब उनको वस्त्राभूषण देकर रुद्र ने कहा, अच्छा आप लोग अपने माता पिता से तथा परिवार से पूछकर उत्तर दो ।

उन कन्याओ ने घर जाकर पिता के आगे समाचार कहा । पिता ने एक कन्चुकी को दूत बनाकर रुद्र के पास भेजा । कन्चुकी ने मुनि से कहा - स्वामिन्! हमारे स्वामी ऐसा कहते है यदि आप मेघनिबद्ध नगर जाकर मेघनृप तथा मेघनाद को जोकि हमारी दासी है सम्पत्ति पर अधिकार किये बैठी है निकालकर मानसिक वाचनिक और शारीरिक के भेद से तीनो प्रकार के हर्ष को देनेवाले त्रिपुर नगर मे मेरा प्रवेश करा दे तो मनुष्यो के मन को मोहित करनेवाली अपनी आठो पुत्रियाँ आपको दे दूँ । रुद्र ने 'ओम्' कहकर स्वीकृति दे दी ।

कन्चुकी ने आकर सब समाचार कहा - जिससे विद्याधर राजा हर्ष को प्राप्त हुआ । वह समस्त मित्र तथा परिवार के लोगो के साथ जाकर रुद्र को अपने घर लिवा लाया ।

वहाँ बैठकर उस दासी ने जिस प्रकार राज्य अपहृत किया था वह सब समाचार प्रारम्भ से लेकर रुद्र को सुनाया - रुद्र ने कहा राजन् ! तुम जो कह रहे हो, वह मै अभी सिद्ध किये देता हूँ, एक त्रिपुर के राजा से क्या मै तो तीनो जगत् का सहार कर सकता हूँ ।

तदनन्तर रोष से भरा देवदारू निर्भय होकर नाना छत्र-चामर और सेना से सहित रुद्रो को साथ लेकर वहाँ गया - उसने नगर को घेर लिया । विद्युज्जिह्व बाहर निकला । रुद्र ने उसके साथ तीन लोक के चित्त मे चमत्कार उत्पन्न करनेवाला युद्ध किया तथा ज्वालिनी विद्या से शत्रु को जलाकर भस्म कर दिया । देवदारू त्रिपुर को लेकर सुखी हुआ । तदनन्तर जामाता को त्रिपुर ले जाकर उसने आठो कन्याये उसके लिए दे दिया । परन्तु वे आठो कन्याये उसके मैथुन को सहन

नही कर सकी अत मर गई । देवदारू विद्याधर के अष्टचन्द्र नामक मित्र थे उनकी मालती की माला के समान कोमल भूजाओ वाली पॉच सौ कन्याएँ थी । शत्रु को नष्ट करने वाले रुद्र के लिये उन्होने वे पॉच सौ कन्याएँ पुन दे दी, परन्तु रुद्र के विषय रत के कारण एक-एक दिन के उपभोग से एक-एक करके वे सब मर गई । उन सबके मर जाने से रुद्र व्याकुल हो उठा । अब गौरी के साथ जिस प्रकार सयोग हुआ वह कथा कहता हूँ, हे भव्य जीवो । सुनो ।

पूर्व भव मे एक साध्वी दूसरे देश को जाते हुए मार्ग के श्रम से थक गई । एक धीवर ने उसे नदी के पार उतारा - उस धीवर के शीतल शरीर के स्पर्श से वह परम स्नेह को प्रकट करने वाला मेरा भर्त्ता हो । ऐसा निदान कर वह शरीर छोड सौधर्मेद्र की देवी हुई । वह धीवर ससार मे भ्रमण कर मिथ्यातप के प्रभाव से जेष्ठा का पुत्र हुआ तदनतर श्रावस्तीपुर मे एकवासव नाम का राजा रहता था उसकी रानी का नाम मित्रवती था । मित्रवती ने विद्युन्मती नाम की कन्या को जन्म दिया वह कन्या विद्युद्दृष्ट नामक विद्याधर को दी गई ।

साध्वी का जीव तो सौधर्मेन्द्र की देवी हुई थी, वहॉ से च्युत होकर विद्युन्मती के गर्भ मे आई और नौवे माह मे बडे कष्ट से उत्पन्न हुई । विद्युन्मती विद्याधरी प्रसव कालिक पीडा से अत्यन्त खिन्न हो गई थी, इसलिये उसने उस कन्या को सावस्ति नगर के समीप पर्वत की गुफा मे छुडवा दिया । कन्या के पुण्य से प्रेरित हुई चार ब्राम्हण कन्याएँ क्रीडा करने के लिये उस गुफा मे आई । ब्राम्हण कन्याओ ने 'उमा' 'उमा' इस शब्द से रोती हुई उस कन्या को देखा। वे उसका उमा नाम रखकर उस कोमलाड्गी को दया भाव से घर लेती आई । उन चारो ब्राम्हण कन्याओ ने उस कन्या को राजमहल मे ले जाकर वासव राजा की महादेवी मित्रवती को दिखलाया और उसने भी यह हमारी पुत्री की पुत्री है' यह जानकर ले ली तथा पालन करने के लिय अपनी पण्डिता नाम की धायका को दे दी ।

तदनन्तर अष्टचन्द नामक विद्याधर राजाओं मे प्रधान चन्द्रसेन नाम का राजा एक दिन आकाश मे विमान चलाता हुआ सावत्ति नगर आया । चन्द्रसेन की स्त्री सन्तान रहित थी तथा रिश्ते मे वह सावस्ति के राजा वासव की रानी मित्रवती की बहिन होती थी उसका नाम गिरिकर्णिका था । मित्रवती ने वह उमा नाम की पुत्री उसे सम्मानपूर्वक दे दी तथा उसने भी पालकर उसे नवयौवनवती कर दिया । वह सुरकूट नगर के स्वामी तडिद्वेग नामक विद्याधर राजा की विवाही गई । उमा मदोन्मत्त थी तथा सुरत सभोग मे अत्यन्त अनुराग रखती थी, एक दिन वह सभोग सुख का अनुभव कर रही थी, उसी समय तडिद्वेग का मरण हो गया, उमा यौवन के मद से स्वच्छन्द हो गई । विधवा उमा एक दिन देवदारू के नगर आई, वहाँ देवदारू के द्वारा उसे रुद्र की प्रवृत्ति का पता चला । वह स्वय रति गुण से अधिक थी अर्थात् अधिक रति को अच्छा मानती थी इसलिये रुद्र की भार्या हो गई । रुद्र ने उसे विद्या रुद्र ऐश्वर्य का आधा भाग दिया तथा अपना अर्धासन प्रदान किया । रुद्र उसके मुख कमल को रात-दिन देखता था । वह सीता-सीतोदी आदि नदियो मे, सरोवरो मे, मेरू आदि पर्वतो मे, लवणोद आदि समुद्रो मे तथा देवारण्य आदि वनो मे सर्व मगलरूप उस उमा के साथ प्रतिदिन रमण करता हुआ पृथ्वी पर घूमने लगा । जटारूप मुकुट से विभूषित, बैल पर बैठा एव भस्म रमाये हुए लोगो से यह कहता था कि मै तीन जगत् का स्वामी हूँ, कर्ता हूँ, धर्ता हूँ, शिव हूँ, स्वयभू, शम्भू हूँ, ईश्वर हूँ, शकर हूँ, सिद्ध हूँ, बुद्ध हूँ, त्रिपुरारि हूँ, त्रिलोचन हूँ, प्रकृति से शुद्ध हूँ, सर्वज्ञ हूँ, उमापति हूँ, भव हूँ, ईश ईशान हूँ, मृड हूँ, मृत्युजय हूँ, श्रीलकठ हूँ, वामदेव हूँ, महादेव हूँ, व्योमकेश हूँ, इत्यादि सब मेरे नाम है शिव मै ही हूँ दूसरा नही हे । उस मायावती ने विजयार्ध पर्वत पर बहुत दिन तक रहकर मन्त्रो से लोगो के मन को अनुरक्त किया । तदनन्तर भरत क्षेत्र मे आकर उसने शैव शास्त्र प्रकट किया उसके द्वारा दीक्षा को प्राप्त कई शैवाचार्य होगे उसके गुणो को देखकर बहुत से गण आ मिले ।

उन सबसे घिरा अस्खलित प्रताप का धारक निरन्तर उमा के प्रेम से अनुराग रखने वाला एव विषय सुख का उपभोग करता हुआ वह रुद्र बारह वर्ष तक पृथ्वी मे शत्रु रहित हो घूमता रहा । उसके प्रताप को देखकर सभी विद्याधर अत्यन्त भयभीत हो गये । उन विद्याधरो ने विचार किया कि यह महाविद्याओ से अत्यन्त बलवान है, अत हम सबको मारकर निश्चित ही दोनो श्रेणियो को ले लेगा, जब तक यह हम लोगो को नही मारता है तब तक किसी उपाय से इस दुष्ट को मारा जाय ? लोगो को चिन्ताकुल देख माता गिरिकर्णिका ने अपनी पुत्री उमा से पूछा, कि बेटी-उमे । हमारे जामाता की विद्याएँ कभी अनाधीन होती है या नही ? उमा ने कहा । माता गिरकर्णिक ! जब यह हमारे साथ सभोग सुख का अनुभव करता है तब सभोग काल मे इसे विद्याएँ स्फुरित नही रहती । गिरिकार्णिका माता इस उपदेश को प्राप्त हुई, तदनन्तर गधारदेश सम्बन्धी दुरण्डनगर के वन प्रदेश मे जब वह सभोग कर रहा था तब उन विद्याधरो ने स्त्री सहित उसका सिर काट लिया । रुद्र के मरने पर उसकी विद्याओ ने उस देश को उजाड कर दिया । घर-घर मे यम प्रविष्ट होकर लोगो के प्राण रूपी धन को चुराने लगा, उस नगर के राजा विश्वसेन ने नन्दीशेण मुनि से पूछा कि भगवन् । इस भारी रोग के उपसर्ग का क्या कारण है ?

मुनि बोले-तुम्हारे नगर मे रुद्र नाम का विद्याधर विद्याओ से क्षमा-याचना नही कर सका इसके पहले ही उसे मार डाला, इसलिये उपसर्ग हो रहा है । राजा ने फिर पूछा कि स्वामिन् ! उपसर्ग का विनाश किस तरह होगा, तब मुनिराज बोले उसका लिङ्ग काटकर यदि आप लोग पार्वती की योनि मे रखकर पूजा करेगे तो विद्याएँ शान्त हो जावेगी । उपद्रव शात होगा यह सुनकर राज विश्वसेन ने वहाँ जाकर देश के लोगो को यह बात कही, लोगो ने ईंटो का ऊँचा चबूतरा बनाकर उस पर काटकर शिवलिग रखा उस लिग पर योनि की स्थापना की

और उसके मध्य मे खडा मणिमय रखकर उसका प्रक्षालन किया चन्दन का विलेपन लगाया, पुष्प तथा अक्षत से उसकी पूजा की । इस प्रकार राजा की आज्ञा से लोगो ने उमा और ९८ दानो की इन्द्रियो को नमस्कार किया । इसी समय विद्याओ ने क्षमा कर दी और लोगो का उपसर्ग नष्ट हो गया । उसी दिन से लेकर लज्जा को नष्ट करनेवाला शिवलिग लोगो के लिए पूज्य हो गया तथा अज्ञानी लोगो ने भगवान अरहन्त देव, परमेश्वर को छोडकर उस देव को ही परमात्मा मान लिया ।

स्वार्थवश, कुछ जीवो का मत है कि पचमकाल मे धर्म ध्यान नही होता है ऐसा उनका कहना है ।

कुन्दकुन्दाचार्य अष्टपाहुड मोक्षप्राभृत मे लिखते है –

**चरियावरिया वद समिदिवज्जिया सुद्धभाव पब्भट्ठा ।**
**केइ जपति णरा ण हु कालो झाणजोयस्स ।।७३।।**

**अर्थ** जो चारित्र को आवरण करनेवाले चारित्र मोहनीय कर्म से युक्त है, व्रत और समिति से रहित है तथा शुद्ध स्वभाव से च्युत है, ऐसे कितने ही मनुष्य कहते है कि यह ध्यानरूप योग का समय नही है अर्थात् इस समय ध्यान नही हो सकता ।

योग के आठ अग है - यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि । इन आठ अगो मे से ध्यान योग का सातवॉ अग है । कुछ लोग कहते है कि यह पचमकाल ध्यान के योग्य नही है अर्थात् इस समय ध्यान नही हो सकता है परन्तु ऐसा कहनेवाले है कौन ? जो चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से युक्त है । जो व्रतो और समितियो से रहित है । तथा राग द्वेष और मोहरूप परिणामो से कलुषित होने के कारण शुद्ध-शुभ भाव से भ्रष्ट है, आत्म-ध्यान से विमुख है । ऐसे जीव अपनी पुरुषार्थ हीनता को छुपाने के लिए कहते है कि यह ध्यान के योग्य समय नही है ।

प्रकार का धर्म ध्यान होता है तथा वह धर्म ध्यान आत्म स्वभाव मे स्थित साधु के होता है । ऐसा जो नही मानता वह अज्ञानी है भरत क्षेत्र मे क्रम २ से उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के छ कालो का परिवर्तन होता रहता है । इस समय यहा दुषमा नाम का अवसर्पिणी का पाचवॉ काल चल रहा है यह ठीक है, इस समय यहा से कोई मोक्ष नही जा सकता । यहाँ धर्मध्यान का कोई निषेध नही है जो मुनि इस समय आत्म भावना मे तन्मय है उसे धर्म ध्यान हो सकता है, ऐसा जो नही मानता है वह पुरुष पापी, अज्ञानी तथा जिनागम ज्ञान से रहित है ।

**अज्ज वि तिरयण सुद्धा अप्पा झाएवि लहइ इदत्ते ।**
**लोये तिय देवत्त तत्थ चुआ णिव्वुदि जति ।।७७।।**

**अर्थ** आज भी रत्नत्रय से शुद्धता को प्राप्त व मनुष्य आत्मा का ध्यान कर इन्द्रपद तथा लोकान्तिक देवो के पद का प्राप्त होते है । वहॉ से च्युत होकर निर्वाण को प्राप्त होते हैं । आज भी पचमकाल मे सेनी पचेन्द्रिय जीव उत्तम कुल आदि का सामग्री को प्राप्त होकर वैराग्य वश दीक्षा धारण करते है तथा रत्नत्रय से शुद्ध रहते हैं अर्थात् निर्दोष सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र के धारक ही रहते हैं । जो कहते है कि इस समय महाव्रती नही है, वे नास्तिक हैं । उन्हे जिन शासन से बाह्य जानना चाहिये । रत्नत्रय की शुद्धता को प्राप्त हुए निकट भव्य जीव आज भी इस पचमकाल के समय भी इन्द्र पद को प्राप्त होते है । न केवल इन्द्रत्व पद को प्राप्त होते है । किन्तु कितने ही मुनि अल्प श्रुत के ज्ञानी होकर भी आत्म-भावना के बल से लोकान्तिक देवो का पद प्राप्त करते है । पचम स्वर्ग के अन्तिम प्रदेशो मे लोकान्तिक देवो के विमान है । उनमे उत्पन्न होने से वे लोकातिक कहलाते है । इन्हे सुर मुनि देवर्षि भी कहते है । वे स्वय मे स्थित रहने पर भी ब्रम्हचर्य का पालन करते है। स्त्री से रहित होते है । तीर्थकरो के सबोधन के समय मनुष्य लोक मे आते है । अन्यथा अपने स्थान मे ही स्थित रहते है' ।

**जे पाव मोहिय मई लिंग घेत्तुं ण जिणवरिंदाणं ।**
**पाव कुणंति पावा ते चत्रा मोक्ख मग्गम्मि ।। ७८ ।।**

**अर्थ :** जो पाप से मोहित बुद्धि मनुष्य जिनेन्द्रदेव का लिग धारण करते है, पाप करते है । वे पापी मोक्षमार्ग से पतित है । जो ब्रह्मचर्य भग तथा प्रत्याख्यान भग आदि पापो से मोहित बुद्धि होकर जिनेन्द्रदेव का लिग अर्थात् नग्न दिगम्बर मुद्रा और चक्रवर्ती का पद अर्थात् वस्त्रमात्र परिग्रह के धारक, क्षुल्लक का पद ग्रहण करके भी पाप करते है, ब्रम्हचर्य भग आदि पाप कर बैठ्ते है, वे पापी है तथा मोक्षमार्ग से पतित है । जैसा कि कहा है –

**जे पंच चेल सत्ता गथग्गाहीय जायणासीला ।**
**अधा कम्मम्मि रया ते चत्ता मोक्ख मग्गम्मि ।।७९।।**

**अर्थ** - जो पॉच प्रकार के वस्त्रो मे आसक्त है, परिग्रह को ग्रहण करनेवाले है, याचना करते है तथा अध कर्म निद्य कर्म मे रत है, वे मुनि मोक्षमार्ग से पतित है ।

अण्डज्, गुण्डज, वल्कज, चर्मज और रोमज के भेद से वस्त्र के पॉच भेद है । जो मुनि इन पॉच प्रकार के वस्त्रो मे से किसी एक वस्त्र मे आसक्त है, किसी काम से धन स्वीकृत करते है, याचना करना, जिनका स्वभाव पड गया है और जो अध कर्म मे, निद्य कर्म मे रत है, वे मुनि मोक्षमार्ग से च्युन है, छूटे हुए है । अर्थात् पतित है । जो मुनि जिनमुद्रा को दिखाकर धन की याचना करते है वे माल को दिखाकर भाडा ग्रहण करने वालो के समान है ।

मूलाचार मे भी वताया है, जो मुनि पैसा इकठ्टा कर मन्दिर बनवाते है, अपने परिवार के सग उसी मन्दिर का सर्वेसर्वा बताते है, खेती-बाडी की सामग्री क्रय करते है, एक जगह मे रहकर आरभ-सारभ से अपना जीवन बिताते है, खुद को सम्यग्दृष्टि मुनि मानते है, सन्मार्गी मुनिको देखकर ईर्ष्या करते है, ऐसे मुनियो को आचार्य

कुन्दकुन्द ने मिथ्यादृष्टि अभव्य कहा है, ये लोक में भी अपवाद स्वरूप है, जिनागम के विरुद्ध है। ऐसे मुनि नमन के योग्य नहीं है। तथा इनके याचना करने पर दान देने वाले तथा लेनेवाले दोनों ही मूढ हैं, अभव्य है।

निग्गथ मोहमुक्का बावीह परिसहा जिय कसाया।
पावारभ विमुक्का ते गहीया मोक्ख मग्गम्मि ।।८०।।

अर्थ जो परिग्रह से रहित है पुत्र मित्र स्त्री आदि के स्नेह से रहित है, बावीस परिषहों को सहन करने वाले है कषायों को जीतने वाले है तथा पाप और आरंभ से दूर है वे मोक्षमार्ग मे अंगीकृत है। जो निर्ग्रन्थ है अर्थात परिग्रह से रहित है मोह रहित है, पुत्र मित्र तथा स्त्री आदि के स्नेह से रहित है जो बावीस परिषहों को सहन करनेवाले है जो चारो कसायो को जीतने वाले है, और पापारम्भ से विमुक्त है जो हिसादि पापो और सेवा, कृषि आदि आरम्भो से रहित है, वे मोक्षमार्ग के पथ को प्रशस्त करने वाले है।

अष्ट पाहुड ग्रथ के सूत्र पाहुड मे

"वालग्ग कोडि मत्त परिगह गहण ण होइ साहूण।
भुंजेइ पाणिपत्ते दिण्णाण इक्कठाणम्मि" ।।१७।।

अर्थ मुनियो के बाल के अग्रभाग के बराबर भी परिग्रह का ग्रहण नहीं होता है। वे एक ही स्थान मे दूसरो के द्वारा दिये हुए अन्न को (प्रासुक) अपने हाथ रूपी पात्र मे ग्रहण करते है।

दर्शन पाहुड एक्क जिणस्स रूव बीय उक्किट्ठ सावयाण तु।
अवरट्ठियाण तइय चउत्थ पुण लिंगदसण णत्थि" ।।१८।।

अर्थ जिन मत मे तीन लिग है। क्रमश उनके भेद ऐसे है

१) एक तो जिनेन्द्र भगवान का निर्ग्रंथ लिग है २) दूसरा श्रावकोएलक, क्षुल्लको का है (३) तीसरा आर्यिकाओ का है। इनके सिवाय चौथा लिग नही है।

**"णिच्चेल पाणिपत्त उवइट्ठ परम जिणवरिदेहिं ।**
**एक्कोहि मोक्खमग्गो सेसाय अमग्गया सव्वे" ।।१०।।**

**अर्थ :** तीर्थकर परमदेव ने नग्न मुद्रा के धारी निर्ग्रथ मुनि को ही पाणिपात्र आहार लेने का उपदेश दिया है । यह एक निर्ग्रथ मुद्रा ही मोक्ष मार्ग है । इसके सिवाय सब उन्मार्ग है अर्थात् मोक्ष के मार्ग नही है ।

तीर्थकर परमदेव ने निश्चल अर्थात् वस्त्र मात्र के त्यागी निर्ग्रथ मुनि को ही करपुट मे आहार लेने का उपदेश दिया है । जिसमे मुनि नग्न रहकर करपुट मे ही आहार करते है । वह निर्ग्रथ मार्ग (वेश) ही मोक्षमार्ग है । इसके सिवाय मृगचर्म, वृक्षो के वल्कल, कपास रेशम और रोम से बने वस्त्र टाट तथा तृण आदि के आवरण को धारण करनेवाले सभी साधु तथा लाल वस्त्र तथा पीले वस्त्र को धारण करने वाले सभी साधु अमार्ग है । अर्थात् ससार परिभ्रमण के हेतु होने से मोक्ष मार्ग नही है । और अपवाद मार्ग से हीन सहनन के कारण घॉस, चटाई लेने मे बाधक नही है ऐसे भव्यजीवो को जानना चाहिये ।

**षट् प्राभृत मे भावप्राभृत**

**"द्रव्यलिंग समासाद्य भाव लिगो भवेद्यति ।**
**बिना ते न वन्द्य स्याज्ञानाव्रत धरोऽपि सन् ।।१।।**
**"द्रव्य लिंग मिद सेय भाव लिगस्य कारण ।**
**तदध्यात्म कृत स्पष्ट न नेत्र विषय यत " ।।२।।**
**"मुद्रा सर्वज्ञ मान्या स्यान्निर्मुद्रो नैव मान्यते ।**
**राज मुद्रा धरोऽत्यन्त हीन वच्छास्त्र निर्णय ।।३।।**

**अर्थ** - मनुष्य, देव और भवनवासियो के इन्द्रो से वन्दित तीर्थकर परमदेव सिद्ध परमेष्ठी तथा अन्य सयमी मुनियो को शिर से नमस्कार कर मै भावप्राभूत को कहूँगा ।

**विशेषार्थ** मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व, सम्यकत्व प्रकृति तथा अनतानुवधी क्रोध, मान, माया, लोभ-इन सात प्रकृतियो की क्षय की

अपेक्षा से अव्रत सम्यक्दृष्टि श्रावक पचम गुणस्थान को आदि लेकर ग्यारहवे गुणस्थान तक के जीव क्षीणकषाय सयोग केवली और गणधर देव जिन कहलाते है । इनमे वर-श्रेष्ठ अपर केवली है उनके इन्द्रस्वामी तीर्थकर परमदेव जिनवरेन्द्र कहे जाते है । ये जिनवरेन्द्र नरेन्द्र, सुरेन्द्र और भवनेन्द्रो के द्वारा वन्दित होते है । जिनके समस्त कर्मो का क्षय हो चुका है, वे सिद्ध कहलाते है । सिद्ध भी नरेन्द्र सुरेन्द्र और भवनेन्द्रो द्वारा वदित है । इन अरहत और सिद्ध के सिवाय आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु नामक तीन प्रकार के सयमी और है । इस तरह इन पॉचो परमेष्ठियो को शिर से अर्थात् दो घुटने, दो कोहनी और शिर इन पॉच अगो से नमस्कार कर मै भाव प्राभृत को कहूँगा ऐसा श्रीकुन्दकुन्द स्वामी ने मगलाचरण के साथ प्रतिज्ञा वाक्य को प्रगट किया है ।

भाव लिग की प्रमुखता

**गाथार्थ** भाव ही प्रथम लिग है । द्रव्य लिग परमार्थ नही है अथवा भाव के विना द्रव्य लिग परमार्थ की सिद्धि करनेवाला नही है। गुण और दोष का कारण भाव ही है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान जानते है ।

**विशेषार्थ** भाव प्रथम लिग है अर्थात् दीक्षा का प्रथम चिन्ह है । (भावो य भावाश्च) यहॉ च शब्द से यह सूचित किया है कि द्रव्य लिग धारण करके भाव लिग धारण किया जाता है । जिस प्रकार सन्तान की उत्पत्ति से मनुष्य की पुरुषत्व शक्ति प्रकट होती है, उसी प्रकार द्रव्य लिगी मुनि के भाव लिग प्रगट होता है । क्योकि मनुष्य की पुरुषत्व शक्ति और भाव नेत्रो के विषय नही है - ऑखो से दिखाई नही देता है । जैसा कि इन्द्रनन्दी भट्टारक ने समय भूषण प्रवचन मे कहा है ।

**द्रव्यलिंग** "मुनि द्रव्य लिग धारण कर भावलिगी होता है क्योकि नाना व्रतो का धारक होने पर भी मुनि द्रव्य लिग के बिना वदनीय नही है । नमस्कार करने के योग्य नही है" ।।१।।

"इस द्रव्य लिग को भाव लिग का कारण जानना चाहिये क्योकि भाव लिग आत्मा के भीतर होने से स्पष्ट ही नेत्रो का विषय नही है ।।२।।

"सब जगह मुद्रा मान्य होती है (मुद्राहीन मनुष्य की मान्यता नही होती) जिस प्रकार राजमुद्रा (चपरास) को धारण करने वाला अत्यन्त हीन व्यक्ति भी लोक मे मान्य होता है उसी तरह द्रव्यलिग नग्न दिगम्बर मुद्रा को धारण करने वाला साधारण पुरुष भी मान्य होता है - यह शास्त्र का निर्णय है" ।।३।।

"द्रव्य लिग होने पर भी यदि भाव लिग नही है तो वह परमार्थ की सिद्धि करने वाला नही है । इसलिये द्रव्य लिग पूर्वक भाव लिग धारण करना चाहिये । इसके विपरीत जो गृहस्थ वेष के धारक होकर भी 'हम भाव लिगी है क्योकि दीक्षा के समय हमारे अत करण मे मुनिव्रत धारण करने का भाव था' - ऐसा कहते है, उन्हे मिथ्यादृष्टि जानना चाहिये, क्योकि वे विशिष्ट जिन लिग के विरोधी है - उससे द्वेष रखनेवाले है । युद्ध की इच्छा करते हुए कायर की तरह स्वय नष्ट होते हैं और दूसरो को भी नष्ट करते है । मुख्य व्यवहार धर्म का लोपक होने के कारण वे विशिष्ट पुरुषो द्वारा दण्डणीय है । केवल ज्ञान आदि गुणो का और नरकपात आदि दोषो का कारण भावही है । यदि कोई मुनि द्रव्य लिग नग्न मुद्रा को धारण करके राग-द्वेष, मोह आदि मे पडता है तो उसका वह भाव ससार का कारण होता है । और यदि द्रव्य लिग धारण कर "मै नि राग हूॅ, राग रहित हूॅ, निर्द्वेष हूॅ, द्वेष रहित हूॅ, एव निर्मोह हूॅ, मोह रहित हूॅ" - ऐसी भावना भाता है तो वह केवलज्ञान आदि गुणो को उत्पन्न करता है तथा मुक्ति को प्राप्त होता है । इस अर्थ को केवली जिनेन्द्र जानते है ।।२।।

"यहॉ कुन्दकुन्द स्वामी ने प्रकट किया है कि भाव लिग ही प्रमुख लिग है । भाव लिग के बिना मात्र द्रव्य लिग परमार्थ नही है । जिसके

भाव लिग होता है उसके द्रव्य लिग होता ही है, पर जिसके द्रव्य लिग है उसके भाव लिग होता भी है और नही भी होता है। जिनेन्द्र भगवान ने मोक्ष प्राप्ति के लिये दोनो लिगो को आवश्यक बतलाया है। द्रव्य लिग के बिना भाव लिग से मोक्ष नही हो सकता और भावलिंग के बिना मात्र द्रव्य लिग से आत्मा का कल्याण नही हो सकता। यहा भाव लिग पहले होता है इसका यह अर्थ नही समझना चाहिये कि सप्तम् गुणस्थान का भाव पहले होता है और वस्त्र त्याग रूप द्रव्यलिंग पीछे होता है क्योकि ऐसा मानने से सवस्त्र अवस्था मे सप्तम गुणस्थान मानना पडेगा, पर ऐसा मानना शास्त्र सम्मत नही है। इसलिये प्रथम भाव लिग होता है इसका अर्थ यह है कि ससार की मोह ममता मे लीन प्राणी प्रथम उससे विरक्ति का दृढ निश्चय करता है। मै परिग्रह त्यागकर दिगम्बरी दीक्षा धारण करूं ऐसा भाव हृदय मे उत्पन्न करता है। इस भावनासे प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय उत्तरोत्तर मन्द से मन्दतर होता जाता है। उसी मद मदतर अवस्था मे वह केशलोच तथा वस्त्रत्याग आदि की क्रिया करता है और उसके बाद सप्तम् गुणस्थान को प्राप्त करता है। तदनतर सप्तम गुणस्थान से गिरकर छठवे गुणस्थान मे होता है। इसका यह छठवे सातवे गुणस्थान का क्रम हजारो बार चलता रहता है। सस्कृत टीकाकार ने जो यह लिखा है कि द्रव्य लिग धारण कर भाव लिग प्रगट किया जाता है, वह इसी आभिप्राय से लिखा है कि केशलोच तथा वस्त्र-त्याग आदि की क्रिया पहले होती है। सप्तम गुणस्थान का भाव पीछे होता है। करणानुयोग की अपेक्षा भावो की गति का पहिचानना प्रत्येक व्यक्ति के लिये शक्य नही है, अत मुनि या श्रावक के आचार की व्यवस्था चरणोनुयोग के आधार पर ही शास्त्रकारो ने की है, करणानुयोग के आधार पर नही। इस स्थिति मे जो अन्य साधु वस्त्र धारण कर गृहस्थ के वेष मे रहते हुए भी यह कहते है कि हम भाव लिग की अपेक्षा मुनि है, द्रव्य

लिग की अपेक्षा नग्न नही हुए तो क्या हुआ ? सो उनका वैसा कहना ठीक नही है । वे जिन लिग के द्वेषी है तथा कर्मरूपी शत्रुओ से युद्ध के इच्छुक होते हुए भी कायर मनुष्यो की तरह स्वय नष्ट होते है और अपने शिथिलाचार से दूसरो को भी नष्ट करते है । विवेकी मुनि भाव लिग के अनुसार व्यवहार धर्म का अवश्य पालन करते है" ।

**मरण के १७ भेद**

**आसन्न मरण का स्वरूप**

मोक्षमार्ग मे चलने वाले सयमी जनो के समूह से जो च्युत हो गया है उसे आसन्न कहते है । यह आसन्न शब्द उपलक्षण है । अत पार्श्वस्थ, स्वच्छन्द, कुशील और ससक्त इन भ्रष्ट मुनियो का भी उसी से ग्रहण समझाना चाहिये । जिन्हे ऋद्धियॉ प्रिय हो, जो रसो मे आसक्त हो, दु ख से डरते हो, कषाय भाव से युक्त हो, सदा दु ख के समय दीनता दिखलाने वाले हो, आहारादि सज्ञाओ के वशीभूत हो, तेरह प्रकार की क्रियाओ के पालन करने मे आलसी हो, जिनका चित्त सदा सक्लेश से युक्त रहता हो, जो आहार तथा उपकरणो मे सदा उपयुक्त रहते है । निमित्त ज्ञान, मत्र, औषध तथा विष-शोधन की कला आदि से आजीविका करते है । अर्थात् इन कार्यो के द्वारा गृहस्थो को आहार देने के निमित्त अपनी ओर आकृष्ट करते है, गृहस्थो की वैयावृत्य करते हैं, गुणो से हीन है । अर्थात् मूल गुणो का जो निर्दोष पालन नही करते है गुप्ति और समितियो के विषय मे अनुद्यमी है । जिनका सवेग अल्प है । अर्थात् जिन्हे ससार से पूर्ण भय नही है अथवा जो धर्म और दस धर्म के फल के विषय मे अनुत्साही हैं, जिनकी बुद्धि उत्तम क्षमादि दस धर्मो मे नही लगती है - वे आसन्न कहलाते हैं । वे आसन्न मुनि यदि अन्तिम समय आत्म शुद्धि करके मरते हैं तो उनका मरण प्रशस्त ही कहलावेगा" ।

इसीलिये आत्म इच्छुक भव्य प्राणियो ! वीतराग मुनिरूपी धर्म को देखकर कभी भी निदा, कुचेष्टा, अपप्रचार लिखकर प्रचार-प्रसार

करने से पापरूपी नरकायु बंध होता है। मनुष्य आदि दुर्गति से बचने के लिये और स्वर्ग-मोक्ष की प्राप्ति करने के लिये कारणभूत उसी मुनि मुद्रा को देखकर सबसे पहले चरणों में झुकने से अनन्त पुण्य प्राप्त होता है। इसलिए निन्दा नहीं करनी चाहिए।

**"जल थल सहियवणवर गिरि सरिदरिकुरवपाइ सव्वत्तो।**
**वसिओसि चिर काल तिहुवण मज्झे अणप्पवसो" ।।२१।।**

**अर्थ** हे जीव! तूने अनात्मवश होकर आत्म स्वभाव से भिन्न वस्तुओं के वशीभूत होकर तीनों लोकों के मध्य जल, स्थल, अग्नि, वायु, आकाश, पर्वत, नदी, गुफा तथा देवकुरु उत्तरकुरु आदि स्थानों में सब जगह चिरकाल तक निवास किया है।

**विशेषार्थ** · हे चेतनानाथ! तूने अनात्मवश होकर निज शुद्ध बुद्धरूप एक स्वभाव से युक्त चैतन्य चमत्कार मात्र टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभाववाले आत्म तत्व की भावना अथवा जिनेन्द्र देव के द्वारा प्रतिपादित सम्यक्त्व की भावना से भ्रष्ट होकर जल मे, स्थल मे, अग्नि मे, वायु मे, आकाश मे, पर्वत मे, नदी मे, गुफा मे, देवकुरु, उत्तरकुरु नामक उत्तम भोगभूमि सम्बन्धी कल्पवृक्षो के वन मे तथा आदि शब्द से भरत, हेमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत आदि क्षेत्रो मे, अधिक क्या कहे तीनो लोको मे सर्वत्र चिरकाल तक अनन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के काल पर्यन्त निवास किया है ।।२१।।

**"विसवेयण रत्तक्खय भयसत्थग्गहण सकिलेसाण।**
**आहारुस्सासाण णिरोहणा खिज्जए आऊ" ।।२५।।**

**अर्थ** विष की वेदना, रक्तक्षय, भय, शस्त्र की चोट, सक्लेश तथा आहार और श्वासोच्छवास के निरोध से आयु क्षय हो जाती है।

**विशेषार्थ** हे जीव! मात्र द्रव्यलिंग को धारण कर तूने ऐसे अनेक भव प्राप्त किए हो जिनमे विष जनित वेदना रक्तक्षय, भय शस्त्रग्रहण सक्लेश तथा आहार और श्वासोच्छवास के रुक जाने से

असमय मे ही आयु क्षीण हुई है अर्थात् अकाल मरण हुआ है (जहॉ आयु कर्म के निषेक अपनी निषेक रचना के स्वाभाविक क्रम को छोडकर एकदम खिर जाते है उसे अकाल मरण कहते है) यह अकाल मरण उपवाद जन्मवाले देव और नारकियो के, चरम, शरीरी मनुष्यो के, भोग भूमि मे उत्पन्न हुए असख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य और तिर्यचो के नही होता है और कर्म भूमि के अवशिष्ट मनुष्य और तिर्यचो के ही होत है। आजकल कुछ लोग ऐसा कहने लगे है कि केवलज्ञानी के ज्ञान मे जितनी आयु दिखती है उतनी ही आयु पूरी कर उनका मरण होता है अत अकाल मरण नाम की कोई वस्तु नही है। सबका काल मरण ही होता है। परन्तु, उनका ऐसा कहना ठीक नही है, क्योकि अकाल मरण की परिभाषा ऊपर दी जा चुकी है। उसके अनुसार जिन जीवो के आयु कर्म के निषेक अपने स्वाभाविक क्रम को छोडकर एक साथ खिरते है उनका अकाल मरण कहलाता है। केवलज्ञान मे भी यही बात आती है कि इस जीव की आयु इतनी है परन्तु उसके निषेक अमुक समय मे अमुक कारण से एकदम खिर जावेगे। जिनागम मे अपवृत्यायुष्क और अनपवृत्यायुष्क दोनो प्रकार के जीवो का उल्लेख है। अत सबको अनपवृत्यायुष्क कहना आगम सम्मत नही है। कोई कोई लोग यह कहते देखे जाते है कि निश्चय नय से अकाल मरण नही है, व्यवहार नये से है। पर वे यह भूल जाते है कि निश्चिय नय से जीव का न जन्म होता है, न मरण होता है। जन्म और मरण दोनो का उल्लेख व्यवहार नय का ही विषय है।

**"हिमजलणसलिल गुरूयर पव्वयतरू रूहण पडण भगो हिं।**
**रस विज्जजोय धारण अणयपसगेही विविदेहिं" ।।२६।।**

**अर्थ** - हे जीव ! हिम, अग्नि, पानी, बहुत ऊँचे पर्वत, अथवा वृक्षों के ऊपर चढने और गिरने के समय होने वाले अग-भग से तथा रस विद्या के योग धारण और अनीति के नाना प्रसगो से आयु क्षीण होती है।

**विशेषार्थ** कितने ही जन्तुओ और मनुष्यो की शीत से उपमृत्यु होती है, किन्ही की अग्नि से उपमृत्यु होती है किन्ही की समुद्रादि के जल से उपमृत्यु होती है किन्ही की अत्यन्त ऊँचा शिखर वाले तुंगीगिरि आदि पर्वत तथा वृक्षो के ऊपर चढने और गिरने के कारण उत्पन्न अंग भंग से और किन्ही की रस अर्थात विष विद्या के योग से अनेक औषधियो के मेल से, किन्ही को विष निर्मित औषधियो के सेवन से तथा किन्ही को नाना प्रकार के अनर्थ प्रसंग से अर्थात अन्याय करने से उपमृत्यु होती है जैसा कि भगवान महावीर ने कहा है अगणाएग' हे जीव ! - अन्याय के कारण दरिद्र पुरुषो को सदा दुःख ही दुःख प्राप्त होता है । सो ठीक है क्योंकि खोटे पुरुषो के तो लकडो के सहारे के बिना कीचड वाला मार्ग दुर्गम ही होता है ।

"इय तिरिय मणुय जम्मे सुइर उववज्झि ऊण बहुबार ।
अव मिच्चु महा दुक्ख तिव्व पत्तोसि त मित्त" ।।२७।।

**अर्थ** हे मित्र ! इस प्रकार तिर्यंच और मनुष्य जन्म मे चिरकाल तक अनेक बार उत्पन्न होकर तू उपमृत्यु के महादुःख को प्राप्त हुआ है ।।२७।।

**दृष्टान्त** (१) एक सेठजी बाजार गये और दुकानदार से दो गेसबत्ती खरीदी । दुकानदार ने गेस देते हुए कहा कि ये दोनो एक-एक घण्टे जलेगे । सेठजी ने दोनो गेसो को जलाकर अलग-अलग कोने मे रख दिये । अब सेठजी क्या देखते है की आधा घंटे के बाद एक गेस बुझ जाता है । सेठजी दुकानदार से कहते है - दुकानदार कहता है - इसमे तेल खत्म हो गया और तेल भरकर दे देता हूँ । अब सेठजी ने उस जलते हुए गेस को देखा कि आधे घण्टे मे कैसे बुझ गया । उन्होने तेल छोडनेवाली नली को देखा तो पाया कि उस नली मे दो छिद्र है, एक छिद्र से तो तेल बराबर बत्ती तक पहुँच रहा है, परन्तु दूसरे छिद्र से तेल फालतू बाहर निकल रहा है । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि

अकाल मृत्यु भरत-ऐरावत आदि कर्म भूमि के मनुष्य-तिर्यच मे ही होती है। सकाल मृत्यु भी है और क्रम से भी होती है। अक्रम से भी होती है। मात्र अकाल से सहित सकाल से मृत्यु होनेवाले देव मे, नरक मे, भोग भूमि मे तीर्थकर केवली भगवान मे निकाचित कर्म वालो के अकाल मृत्यु नही होती है।

**२)** एक कारीगर जगल मे गया। वहॉ दो पेड है- एक आम का दूसरा केले का वृक्ष है। कारीगर ने पहले केले का वृक्ष काटा। वह एक ही चोट मे गिर गया। लेकिन आम के वृक्ष को काटते-काटते असख्य चोट लगाने के बाद गिरता है। केले के वृक्ष की अकाल मृत्यु और आम के वृक्ष की सकाल मृत्यु हुई।

**३)** दो व्यक्तियो के दो घडे है - एक ताबे का, दूसरा मिट्टी का। दोनो की पानी भरने की क्षमता बराबर है। दोनो मे बारह घण्टे पानी पीने के लिये भरा हुआ है। दोनो ने आधा-आधा पानी पी लिया। अब क्या होता है कि मिट्टी के घडेमे पानी भरने का लोटा गिर जाता है और वह फुट जाता है। एक सेकण्ड मे सारा पानी निकल जाता है। यहॉ मिट्टी के घडे की अकाल मृत्यु हुई और तॉबे के घडे की सकाल मृत्यु।

**नदीश्वर भक्ति मे**

> **"नित्य नि स्वेदत्व निर्मलता क्षीर गौर रुधिरत्वच।**
> **स्वाद्याकृति सहनने सौरूप्य सौरभ्य च सौलक्ष्यण्यम्।**
> **तित्थयरा तत्पियरा हलधर चक्कीय अद्धचक्कीय।**
> **देवा य भूय भूमा आहारो अत्थि णत्थि णीहारो॥**

**विशेषार्थ** इस जीव की अर्हत अवस्था तेरहवे गुणस्थान मे प्रकट होती है। उस गुणस्थान का नाम सयोग केवली है। यहॉ केवल ज्ञान प्रकट हो जाता है और साथ मे योग विद्यमान रहते है। इसलिये इस गुणस्थानवर्ती जीव को सयोग केवली कहते है। जो मनुष्य तीर्थकर

होकर अर्हंत बनते है उनके ३४ अतिशय और ८ प्रातिहार्य होते हैं और जो सामान्य अरहंत होते हैं उनके यथासम्भव कम भी अतिशय होते हैं।

अब यहाँ चौतीस अतिशय कौन है ? उनका वर्णन किया जाता है १०) दस जन्म के १० (दस) केवलज्ञान के और १४ (चौदह) देवकृत अतिशय होते है।

जन्म के १० अतिशय

अतिशय रूप सुगन्ध तन नाहीं पसेव निहार<br>
प्रियहित वचन अतुल्य बल रुधिर श्वेत आकार ।<br>
लक्षण सहस अरु आठ तन समचतुष्क सस्थान,<br>
वज्रवृषभ नाराच युत ये जन्मत दस जान" ।।

केवलज्ञान के दस अतिशय

"योजनशत इकमे सुविध गगनगमन मुख चार,<br>
नही अधा उपसर्ग नही नाही कवलाहार ।<br>
सब विद्या ईश्वरपनो नाही बढ़े नख केश,<br>
अहि निश दृग छाया रहित दस केवल के वेष ।।

देवकृत १४ अतिशय

"देवरचित हैं चार दश अर्ध मागधी भाष,<br>
आपस माहि मित्रता निर्मल दिश आकाश ।<br>
होत फूल फल ऋतु सवै, पृथ्वी कॉच समान,<br>
चरण कमल तल कमल है नभते जय जय वान ।<br>
मन्द सुगन्ध वयार मुनि गन्धोदक की वृष्टि,<br>
भूमी विषै कण्टक नही हर्षमयी सब सृष्टि ।<br>
धर्म चक्र आगे रहे पुनि वसु मगल सार,<br>
अतिशय श्री अरिहत के ये चोतीस प्रकार ।।

ये सब चोतीस अतिशय अरिहत के है ।

न केवल तीर्थंकर अरहत के मल-मूत्र का अभाव होता है किन्तु उनके माता-पिता के भी मल-मूत्र का अभाव होता है । तीर्थकर, उनके माता-पिता, बलभद्र, चक्रवर्ती, अर्द्ध चक्रवर्ती, देव और भोगभूमियाँ इनके आहार तो होता है परन्तु निहार नही होता । इसी प्रकार तीर्थकरो के दाढी-मूँछ नही होती किन्तु सिर पर घुँघराले बाल होते है जैसा कि कहा गया है 'देवाधिप' देव, नारका हलधर चक्रवर्ती अर्धचक्रवर्ती सब नारायण और कामदेव ये दाढी-मूँछ से रहित होते है ।

---

## दर्शन पाहुड

(अष्टपाहुड)

"जो दसणेसु भट्टा णाणे चरित भट्टा य ।
एदे भट्टवि भट्टा सेसपि जण विणासति" ।।८।।
"जो कोवी धम्म सीलो सजम तव णियमजोगुणधारी ।
तस्स य दोस कहता भग्गा भग्गत्तण दिति" ।।९।।

अर्थ : जो मनुष्य दर्शन से भ्रष्ट हैं ज्ञान से भ्रष्ट हैं और चारित्र से भ्रष्ट हैं वे भ्रष्टो मे भ्रष्ट हैं । अत्यन्त भ्रष्ट हैं तथा अन्य जनो को भी भ्रष्ट करते हैं ।।८।।

जो कोई धर्मात्मा सयम, तप, नियम और योग आदि गुणो का धारक हैं उनके दोषो को कहते हुए क्षुद्र मनुष्य स्वय भ्रष्ट हैं तथा दूसरो को भी भ्रष्टता प्रदान करते हैं ।।९।।

सूत्र पाहुड (अष्ट पाहुड)

"दुइय चवुत्तलिग उक्किट्ठ अवरसावयाणं च ।
भिक्ख भमेइ पत्तो समिदीमासेण मोणेण" ।।२१।।

अर्थ दूसरा लिग ग्यारहवी प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावको का हैं जो शिक्षा के लिये भाषा समिति अथवा मौनपूर्वक भ्रमण करते है और पात्र मे भोजन करते है ।

"लिंग इत्थीण हवदि भुजइ पिड सुएयकालम्मि ।
अज्जिय वि एक वत्था वत्थावरणेण भुजइ" ।।२२।।

अर्थ : तीसरा लिग स्त्रियो का अर्थात आर्यिका का है । वह एक ही वस्त्र रखती है और वस्त्र सहित एक ही बार भोजन करती है । क्षुल्लिका दो (२) वस्त्र रखती है तथा एक ही बार पात्र (वर्तन) मे भोजन करती है । केश लोच का नियम नही ।

प्रवचन सार

शुद्धात्म लाभके विरोधी मोह का स्वभाव और उसकी भूमि का वर्णन

"दव्वादि एसु मूढो भावो जीवस्स हवदि मोहोत्ति ।
षुब्भदि तेणो छण्णो पप्प्या राग व दोस वा" ।।८३।।

**अर्थ** द्रव्य गुण पर्याय मे विपरीताभिनिवेश को प्राप्त हुआ जीव का जो भाव है वह मोह कहलाता है । उस मोह से आच्छादित हुआ जीव राग और द्वेष को पाकर क्षुभित होने लगता है ।

मोह, राग और द्वेष यह तीन प्रकार का मोह ही शुद्धात्म लाभ का परिपथी है - विरोधी है ।

**"मोहेण व रागेण व दोसेण व परिणदस्य जीवस्स ।**
**जायदि विविहो, बधो तम्हा ते सखवइ दव्वा " ।।८४।।**

**अर्थ** मोह, राग, और द्वेष से परिणित जीव के विविध प्रकार का बन्ध होता है । इसलिये वे सम्यक् प्रकार से क्षय करने के योग्य है ।

बन्ध का कारण त्रिविध मोह ही है । अत मोक्षाभिलाषी जीव को इसका क्षय करना चाहिये ।

मोह के चिह्न

"अट्ठे अजधागहण करुणाभावो य तिरिय मणुएसु ।
विसएसु अप्प सगो मोहस्से दाणि लिगाणि ' ।।८५।।

"समण गणि गणड्ढ कुलरूववया विरिाठ मिट्ठवर ।
सामणोहि त पि पणदो पडिच्छम चेदि अणु गहिदा" ।।३।।

अर्थ जो मुनि होना चाहता है वह सो प्रथम अपने बन्धु वर्ग से पूछकर गुरु (माता-पिता), स्त्री तथा पुत्रों से छुटकारा प्राप्त करे, फिर ज्ञान, दर्शन, चारित्र तप और वीर्य इन पांच आचारों को प्राप्त होकर ऐसे आचार्य के पास पहुँचे जोकि अनेक गुणों से सहित हो कुल रूप तथा अवस्था से विशिष्ट हो और अन्य मुनि जिसे अत्यन्त चाहते हों । उनके पास पहुँचकर उन्हें प्रणाम करता हुआ यह कहे कि हे प्रभो ! मुझे अगीकार कीजिये । अनन्तर उनके द्वारा अनुगृहीत होकर निम्नांकित भावना प्रकट करें ।

"णाह होमि परेसि ण मे परे णत्थि मज्झमिह किचि ।
इदि णिच्छिदो जिदिंदो जा दो जधजाद रूवधरो" ।।४।।

अर्थ मैं दूसरो का नहीं हूँ, दूसरे मेरे नहीं है और न इस लोक मे मेरा कुछ है । इस प्रकार निश्चित होकर जितेद्रिय होता हुआ सद्योजात बालक के समान दिगम्बर रूप को धारण करे ।

अतरग छेद का कारण परिग्रह है इसका त्याग करना ।

"हवदि व ण हवदि बन्धो मदे हि जीवेऽघ कायचेट्ठम्मि ।
बधो धुव । मुवधीदी इदि समणा छडिया सव्व ।।१८८।।

अर्थ गमनागमन रूप शरीर की चेष्टा मे जीव के मरने पर कर्म का बध होता भी है और नही भी होता है, परन्तु परिग्रह से कर्म बन्ध निश्चित होता है । इसलिये मुनि सब प्रकार के परिग्रह का त्याग करते है ।

"चारित्त खलु धम्मो धम्मो जो सो सम्मोत्ति णिद्दिष्टो ।
मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हि समो ।।७।।

अर्थ · निश्चय से चारित्र को ही धर्म कहते है । शम अथवा साम्यभाव को धर्म कहा है और मोह, मिथ्या-दर्शन तथा क्षोभ, राग, द्वेष से रहित आत्मा का परिणाम शम अथवा साम्यभाव कहलाता है ।

"अप्पडिकुट्ठ उवधि अपत्थ णिज्ज असजद जणेहिं ।
मुच्छादि जण्णहिद गेण्हदु समणोजदि वियप्प" ।।२३।।

**अर्थ** अपवादमार्गी उस परिग्रह का ग्रहण कर जाकि कर्म बन्ध का साधन न होने स अप्रतिकुष्ट हो-अनिन्दित हा । असयमी मनुष्य जिसे पाने की इच्छा न करत हो । ममता आदि कि उत्पत्ति स रहित और थोडा हो । इसी प्रकार पीछी भी सजावट स रहित हो-मयूर पिच्छो से बनी हुई हो । शास्त्र भी एक दो से अधिक साथ म न रखे ।

"को अधो यो ऽ कार्य रत को वधिरो य श्रणोति न हितानि" ।

**अर्थ** अधा कौन है ? जो न करने योग्य [illegible] [illegible] [illegible] रहता है। बहरा कौन है ? जो हित की बात नहीं सुनता है।

भगवती आराधना पृ न ६२०

"जह तदुलस्स कुण्डय सोधी सतुसस्स तीर दिणकाउ ।
तह जीवस्सण सक्का लिस्सा सोधी ससगस्स" ।।१५।।

जब श्री जिनेन्द्रदेव ने शरीर को भी परिग्रह बतलाकर उसमे ममतामयी क्रियाओं के त्याग का उपदेश दिया है तब अन्य परिग्रह मुनि कैसे रख सकते है ?

प्रवचन सार (चारित्राधिकार)

'अखडित सामायिक दशा को मुनि प्राप्त होते है तो भी किसी काल मे छेदोपस्थापक होता है - यह कहते है ।

**भावार्थ** अट्ठाईस मूलगुण निर्विकल्प सामायिक के भेद है, इस कारण ये मुनियो के मूलगुण है । इन्द्रिया से मुनि पद की सिद्धि होती है । कभी इन गुणो मे प्रमादी हो जावे तो निर्विकल्प सामायिक का भग हो जाता है । इसलिये इनमे सावधान होना योग्य है । जो यह मालूम हो कि मेरा इस भेद मे सयम का भग हुआ है तो फिर उसी भेद मे आत्मा की स्थापना करे और उस अवस्था मे छेद्रोपस्थापना होती है । जैसे कोई पुरुष स्वर्ण का इच्छुक है उस पुरुष को सोने के जितने ककण, कुण्डल, मुद्रिका आदि पर्याप्त भेद है - वे सब ग्रहण करना कल्याणकारी है । ऐसा नही है कि सोना ही ग्रहण करने योग्य है । उसके भेद ग्रहण करने योग्य नही है, क्योकि सोना उन भेदो का स्वरूप ही है । इस कारण सोने के सब पर्याय भेद ग्रहण करने योग्य है क्योकि सामायिक इन मूलगुणो रूप है । इस कारण इन गुणो मे वह मुनि सावधान होता है । यदि किसी कारण से कभी भग हो जावे तो फिर स्थापना करता है ।

**प्रवचन सार** · "अनत ससार मे भ्रमण करने वाला होता है ।'

**भावार्थ** " यदि कोई बहुत शास्त्र के ज्ञाताओ के पास स्वय का चरित्र गुण मे अधिक होने पर भी अपने ज्ञानादि गुणो की वृद्धि के लिये वन्दना आदि क्रियाओ मे वर्तन करे तो दोष नही है । परन्तु, यदि अपनी बडाई या पूजा के लिये उनके साथ वन्दनादि क्रिया करे तो मर्यादा उल्लघन से दोष है । यहाँ पर तात्पर्य यह है कि जिस जगह वन्दना

आदि क्रिया के तत्व विचार आदि के लिये वर्तन करे परन्तु राग-द्वेष की उत्पत्ति हो जावे उस जगह सर्वत्र दोष ही है । यहाँ कोई कल्पना करे कि यह तो तुम्हारी कल्पना है - आगम मे यह बात नही है । समाधान ऐसा नही है, कयोकि सर्व ही आगम राग-द्वेष के त्याग के लिये है । किन्तु जो कोई साधु उपसर्ग और अपवादरूप (निश्चय व्यवहाररूप) आगम मे कहे हुए नय विभाग को नही जानते है वे ही राग-द्वेष करते है अन्य राग-द्वेष नही करते ।"

"आगे लौकिक जनो की सगति को मना करते है अर्थात् (णिग्गथ पव्वइदो) निर्ग्रंथ पद की दीक्षा को धारता हुआ (जदि) यदि (ऐ हि ग्रेही कम्मेहि) लौकिक व्यापारो मे (वट्ठदि) वर्तता है । (सौ) वह साधु (सजम तव सपजुत्तापि) सयम और तप रहित है तो भी लोगो की दृष्टि मे (लोग्गित्ति भणिदो) लौकिक है - ऐसा कहा गया है" ।

**टीकार्थ :** "जिसने वस्त्रादि परिग्रह को त्याग कर मुनि पद की दीक्षा लेकर यति पद धारण कर लिया है ऐसा साधु यदि निश्चय और व्यवहार रत्नत्रय के नाश करनेवाले पापी जो अपनी बढाई, प्रसिद्धि व लाभ के बढाने के कारण ज्योतिष कर्म, मत्र-यत्र, वैद्यक आदि लौकिक गृहस्थी के जीवन के उपाय रूप व्यापारो के द्वारा वर्तन करता है तो द्रव्य सयम व द्रव्य तप को साधता हुआ भी लौकिक अथवा व्यावहारिक कहा जाता है" ।।२९६।।

**उत्थनिका** · लौकिक जनो की सगति को मना करते है ।

**गाथा** (णिच्छिद सुत्तत्थपदो) जिसने सूत्र के अर्थ और पदो को निश्चयपूर्वक जान लिया है, (समिद कसायो) कषायो को शान्त कर दिया है । (तवोधिको चावि) तथा तप करने मे भी अधिक है ऐसा साधु यदि (लोगिगजण ससग्गा) लौकिक जनो का अर्थात् असयमियो का या भ्रष्ट चारित्र साधुओ का सगम (ण जहदि) नही त्यागता है (सजदो न हवदि) तो वह सयमी नही रह सकता है ।

**टीकार्थ** - " जिसने अनेक धर्म मय अपने शुद्धात्मा आदि पदार्थो को बताने वाले सूत्र के अर्थ और पदो को अच्छी तरह निर्णय करके जान लिया है, अन्य जीवो मे व पदार्थो मे क्रोधादि कषाय को त्याग करने से तथा भीतर शात भाव मे परिणमन करते हुए अपनी शुद्धात्मा की भावना के बल से कषायो को शात कर दिया है तथा अनशन आदि छह बाहरी तपो के बल से व अतरग मे शुद्ध आत्मा की भावना के सम्बन्ध से औरो पर विजय प्राप्त किया है, ऐसा तप करना ही श्रेष्ठ है । इन तीन विशेषणो से युक्त होने पर भी साधु यदि स्वच्छाचारी लौकिक जनो का ससर्ग न छोड़े तो वह स्वय सयम से छूट जाता है । भाव यह है की स्वय आत्मा की भावना करनेवाला होने पर भी यदि अनर्गल व स्वेच्छाचारी मनुष्यो की सगति को नही छोडे तो अति परिचय होने से जैसे अग्नि की सगति से जल उष्णपने को प्राप्त हो जाता है ऐसे ही वह साधु विकारी हो जाता है ।।२६८।।

**श्रमणाभास**

**गाथा** "(सजम तव सुत्त सपजुत्तो वि) सयम तप, शास्त्र, ज्ञान सहित होने पर भी (जदि) जो कोई (जिणक्खदि) जिनेन्द्र द्वारा कहे हुए (आदप धाणे अत्थे) आत्मा को मुख्य करके पदार्थो को (न सद्दहदि) श्रद्धान नही करता है (समणोत्ति ण हवदि मदो) वह साधु नही हो सकता है-ऐसा माना गया है" ।

**टीकार्थ** "यदि साधु सयम भी पालता हो, तप भी करता हो, शास्त्र ज्ञान सहित भी हो, परन्तु तीन मूढता आदि सम्यत्क्व के पच्चीस दोषो से रहित होकर वीतराग सर्वज्ञ द्वारा प्रकाशित तथा दिव्य ध्वनि अनुसार गणधर द्वारा ग्रथो मे गुँथित निर्दोष परमात्मा आदि पदार्थसमूह का श्रवण नही करता, रुचि नही रखता, मान्यता नही देता,- वह श्रमण नही है अर्थात् मिथ्यादृष्टि है" ।।२६४।।

**पुनस्तत्रैव मिथ्याभिमानेन ख्याति पूजा लाभार्थ दुराग्रह**

**करोति तथा भवति अथवा यदि, कालान्तरेऽप्यात्मनिन्दा करोति तथापि न भवतीति ।**

**अर्थ** : परतु जो मिथ्याभिमान से अपनी बढाई पुजा व लाभ के लिए दुराग्रह या हट धारण करे सो अवश्य अनत ससारी हो जावेगा ।।२६६।।

वैयावृत्य के समय कितना बोलना चाहिए " वैयावृत्य करता है उस समय उस वैयावृत्य के प्रयोजन से लौकिक जनो के साथ सभाषण भी करता है । शेष काल मे नही । यह भाव है ।

**प्रवचनसार मूल -**

**"पयागिनसयोगाज्वलस्य शातत्व गुण विनाशो भवति तथा व्यवहारिक जन ससर्गात्म यत्तस्य सयमगुण विनाशो भवतीति"।**

**अर्थ** जैसे अग्नि की सगति से जल के शीतल गुण का नाश हो जाता है वैसे ही लौकिक जन की सगति से सयमी का सयम गुण नाश हो जाता है ।

**टीका रागादिभ्यो भिन्नोऽय स्वात्मोत्थ सुख स्वभावः परमात्मेपि भेद ज्ञान तथा स एव सर्व प्रकारोपादेय इति रुचिरूप सम्यक्त्वमित्युल्लक्षण ज्ञानदर्शन स्वभावम् मठचैत्यालयादि लक्षण· व्यवहारा श्रमद्धि लक्षणम् भावाश्रमरूप प्रधानाश्रम प्रायः तत्पूर्व कर्मायातमपि सरागचारित्र महमाश्रयोमीति ।**

**अर्थ** "अर्थात् रागदिको से भिन्न यह अपनी आत्मा से स्वभाव का रखने वाला परात्मा, स्वभाव सब तरह से ग्रहण करने योग्य है ऐसा रुचिरूपी सम्यदर्शन है । इस तरह दर्शन, ज्ञान स्वभावमयी भावाश्रय है । इस भावाश्रयपूर्वक आचरण मे आता जो पुण्य वध का कारण सराग चारित्र है उसे हेय जानकर त्याग करके निश्चय शुद्धात्मा के अनुभ्व स्वरूप वीतराग चारित्र भाव को मैं ग्रहण करता हूँ ।

– प्रवचनसार ज्ञेय तत्वाधिकार गाथा न ६५

टीका · "विशिष्ट क्षयोपशम दशाविश्रान्त दर्शनचारित्र मोहनीय पुदग्लानुवृत्ति परत्वेन परिग्रहीत शोभनोपरागत्वात् परम भट्टारकमहादेवाधिदेव परमेश्वर अर्हत्सिद्ध साधु श्रद्धाने समस्त भूत ग्रामानुकम्पा चरणे च प्रवृत्त शुभ उपयोग·"

भावार्थ · जिस जीव के दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय कर्म की विशेषतारूप क्षयोपशम अवस्था तो हुई हो और शुभ राग का उदय हो, उस जीव के भक्तिपूर्वक पंचपरमेष्ठी के दर्शन जानने, श्रद्धा करने रूप परिणाम होवे तथा सब जीवों में दयाभाव हो यही शुभोपयोग का लक्षण जानना चाहिये। यही मुनि के लिये है।

प्रश्न  चारित्र के कितने भेद है ?

उत्तर  चारित्र के चार भेद है।

(१) सम्यक्त्वाचरण चारित्र (२) देश चारित्र (३) सकल चारित्र (४) यथाख्यात चारित्र।

प्रश्न  सम्यक्त्वाचरण चारित्र किसे कहते है ?

उत्तर  अनन्तानुबंधी कषाय को अपने उदय से नष्ट कर देता है तब शुभोपयोगी शुद्धात्मा की श्रद्धा रखता है। उसके उदय मे जो अनादिकाल के मिथ्यात्व रूपी धान्य का बीज उगा था वह शुष्क. (अर्थात् सुखा देता है), नष्ट हो जाता है - उसको सम्यक्त्वाचरण चारित्र कहते है।

प्रश्न  देश चारित्र किसे कहते है ?

उत्तर  पूजा, दान आदि छह क्रिया, बारह व्रतो का निरतिचार पालन, अप्रत्याख्यानावरण कषाय के सत्ता मे होते हुए कषाय के उदय काल मे क्षय (अभाव होने वाला चारित्र) को देश चारित्र कहते है।

प्रश्न  सकल चारित्र किसे कहते है ?

उत्तर  पच महाव्रतादिक २८ मूल गुण, प्रत्याखनावरण कषाय के सत्ता मे होते हुए उदय काल मे क्षय के होने पर निरतिचार पूर्वक पालन- करने को सकल चारित्र कहते है।

**प्रश्न** · यथाख्यात चारित्र किसे कहते है ?

**उत्तर** सज्वलन और ९ कषाय आदि के सर्वथा अभाव मे प्राप्त अवस्था, आत्मा की विशेष शुद्धिपूर्वक होनेवाले चारित्र को यथाख्यात चारित्र कहते है ।

**प्रश्न** स्वरूपाचरण चारित्र किसे कहते है ?

**उत्तर** दिगम्बर, द्रव्य लिग, भाव लिग सहित मुनि अवस्था मे तपन से तपते हुए तपस्वी बारह तपन को करते हुए अपने स्वरूप मे विचरते है, समाधिस्थ होते है, निर्विकल्प दशा होती है, समस्त रागद्वेष को त्याग हुए होते है उस अवस्था को स्वरूपाचरण चारित्र कहते है । प दौलतरामजी ने अपनी छहढाला मे स्पष्ट लिखा है -

**"तप तपे द्वादश धरे वृष दश, रतनत्रय सैवे सदा ।**
**मुनि साथ मे वा एक विचरे, चहै नहि भव सुख कदा ।।**
**यो है सकल संयम चरित, ,सुनिये स्वरूपाचरण अब ।**
**जिस होत प्रगटै आपनी निधि, मिटै पर की प्रवृत्ति सब" ।।७।।**

**अर्थ** वीतराग मुनि (साधु) हमेशा बारह तप तपते है, दश धर्म धारण करते हैं, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक चारित्र का सेवन करते है मुनियो के सघ मे अथवा अकेले विहार करते है और ससार के सुखो की कभी भी चाह नही करते । इस प्रकार सकल सयम चारित्र का वर्णन हुआ ।

जिन परम पैनी सुबुधि छैनी, डारि अतर भेदिया ।
वर्णादि अरु रागादितै निज भाव को न्यारा किया ।।

निज माहि निज के हेतु निजकर, आपको आपै गह्यो ।
गुण गुणी ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय, मझार कछु भेद न रह्यो"।।८।।

अर्थ . स्वरूपाचरण चारित्र के समय जो वीतराग मुनि जिस प्रकार कोई व्यक्ति तीक्ष्ण छैनी से पाषाणादि का भेद करता है उसी प्रकार अपने अतरग मे भेद विज्ञान रूपी छैनी को डालकर भेद-विज्ञान पैदा कर लेते है, और उससे आत्मा के स्वरूप को रूप, रस, गध और स्पर्श रूप द्रव्य कर्म से तथा राग द्वेष आदि रूप भाव कर्म से अलग कर अपनी आत्मा मे, आत्मा के लिये आत्मा के द्वारा आत्मा को अपने आप जान लेते है तब उसके गुण (ज्ञानादि) गुणी (गुणो का स्वामी आत्मा) ज्ञाता (जानने वाला), ज्ञान (जानना) और ज्ञेय (निज आत्मा) मे कुछ भी भेद नही होता । इस प्रकार अभेदपने का अलौकिक साम्राज्य स्थापित हो जाता है ।।८।।

स्वरूपाचरण चारित्र (निश्चय चारित्र)

"जहँ ध्यान ध्याता ध्येय को, न विकल्प वच भेद न जहाँ ।
चिद्भाव कर्म चिदेशकर्ता, चेतना किरिया तहाँ ।।
तीनो अभिन्न अखिन्न सुध, उपयोग की निश्चल दशा ।
प्रगटी जहाँ दृग, ज्ञान, व्रत ये, तीनधा एकै लसा" ।।

अर्थ वीतराग मुनिराज स्वरूपाचरण चारित्र के समय जब आत्मध्यान मे मग्न हो जाते है तब ध्यान (चितवन) ध्याता (ध्यान करनेवाला) और ध्येय (ध्यान करने योग्य निज आत्म पदार्थ) मे कुछ भी अन्तर (भेद) नही रहता । वचन का विकल्प भी नही होता वहाँ पर आत्मा ही कर्म (कर्ता के द्वारा खास इच्छित) कर्ता (कार्य करनेवाला) और आत्मा का भाव ही क्रिया (किया जान) होता है । अर्थात् कर्ता, कर्म और क्रिया ये तीनो बिल्कुल अभिन्न (एक) तथा परस्पर अविरोधी हो जाते है । शुद्धोपयोग की अटल हालत प्रगट हो जाती है । और सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र भी एक साथ एक रूप

होकर प्रकाशमान हो जाते है । यहि आत्मा का केवलज्ञान-दर्शन कहलाता है ।।९।।

**स्वरूपाचरण चारित्र का लक्षण और निर्विकल्प ध्यान**

> **"परमाण नय निक्षेप को, न उद्योत अनुभव मे दिखै ।**
> **दृग ज्ञान सुख बल मय सदा, नहिं आन भाव जु मो विखै ।।**
> **मैं साध्य साधक मैं अबाधक, कर्म अरु तसु फलनितै ।**
> **चितपिंड चड अखड सुगुण करड च्युत पुनि कलनितै "।।१०।।**

**अर्थ** "उस स्वरूपाचरण चारित्र के समय मुनियो के आत्मानुभव मे प्रमाण, नय, निक्षेप का प्रकाश (उदय) नही होता अर्थात् उनके ये अलग-अलग नही मालूम होते, किन्तु सदा ऐसा विचार होता है कि मैं अनन्त-दर्शन, अनन्त-ज्ञान, अनन्त-सुख और अनन्त-वीर्य स्वरूप हूँ मुझ मे और दूसरा रागादिक भाव नही हैं । मै ही साध्य, मै ही साधक, कर्म तथा उसके फल (ससार परिभ्रमण) से अलग ज्ञान-दर्शन चेतना का समूह, निर्मल एव ऐश्वर्यशाली, खण्ड (द्वितीय भेद) रहित, (अखड) समस्त गुणो का भण्डार और समस्त कर्मो तथा पापो से रहित हूँ । मतलब यह हैं कि सब प्रकार के विकल्पो से रहित (निर्विकल्प) आत्मा मे स्थिरता को स्वरूपाचरण चारित्र कहते है यह स्वरूपाचरण चारित्र मोहनीय कर्म के अभाव से ही होता है ।।१०।।

**स्वरूपाचरण चारित्र की महिमा और अरहत अवस्था**

> "यो चित्य निज मे थिर भये, तिन अकथ जो आनन्द लह्यो ।
> सो इन्द्र नाग नरेन्द्र वा, अहमिन्द्र के नाही कह्यो ।।
> तब ही शुक्ल ध्यानाग्नि करि, चउघाति विधि कानन दह्यो ।
> सब लख्यो केवल ज्ञान करि भवि लोक को शिवमग कह्यो ।।११।।

अहमेन्द्र (कल्पातीत देव) को भी नही मिलता है । उस स्वरूपाचरण चारित्र के प्रगट होने पर ही इसके प्रभाव से शुक्ल ध्यान (द्वितीय पाया) रूपी अग्नि के द्वारा चार घातिया कर्म नष्ट किए जाते है । जिससे उन्हे केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाती है । तब वे तीनो लोको और तीनो कालो की सब बातो को जानकर ससार के भव्य जीवो को उपदेश देते है । अर्थात् उन्हे अरिहंत अवस्था प्राप्त हो जाती है ।

**सम्यक दर्शन के दृष्टान्त**

सबसे पहिले भव्यजीव अनादि मिथ्या दृष्टि होते हुए लब्धि के सम्मुख प्राप्त अवस्था मे सम्यक्त्व प्राप्त करने के लिये अन्तरग मे देव गुरु-शास्त्र के दर्शन के लिये इच्छा होते ही हाथ मे सामग्री लेकर (नगे पैर से चलते हुये मन्दिर पहुँचता है । तब भगवान के दर्शन करता है । देखता है हजारो आखो की कल्पना से देखता है प्रत्यक्ष से दर्शन होता है । तब किसीने कहा ' मन्दिर मत जाओ ' (ऐसा कहते ही उस व्यक्ति को कितना ही मना किया तो भी वह मन्दिर आना-दर्शन करना कभी छोडता नही है और आने ही लगता है । उसी प्रकार 'सत्ता' अर्थात् निश्चय से सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिये चारित्र के साथ निर्विकल्प सहित समाधिस्थ होकर राग-द्वेष को बुद्धिपूर्वक त्याग कर समाधि मे लीन निर्विकल्प चारित्र के साथ सप्तम् गुणस्थान से आगे सम्यदर्शन प्राप्त होता है । वह जीव कभी भी ससार मे रचते-पचते नही है और भोग भोगते हुए भी निर्जरा ही करते रहते है । उन्हे कभी कर्मोका बन्ध नही होता है ।

**भाव पाहुड (अष्ट पाहुड)**

"भावेण होइ णग्गो मिच्छत्ताई य दोस चदु अण ।
पच्छा दव्वेण मुणी पयडदि लिंग जिणाणाए' ।।७३।।

**गाथार्थ** मुनि पहले मिथ्यात्व आदि दोषो को छोडकर भाव से नग्न होता है, पीछे, जिनेन्द्र देव की आज्ञानुसार द्रव्य से लिग प्रकट करता है, नग्नवेष धारण करता है ।

**विशेषार्थ** यहाँ भाव का अर्थ परम धर्मानुराग रूप जिन सम्यक्त्व है । मुनि पहले मिथ्यात्व, अविरति प्रमाद, कषाय तथा योग रूप आस्रव द्वारो को छोडकर भाव से नग्न होता है पीछे, जिनेन्द्र देव की आज्ञानुसार द्रव्य लिग को प्रगट करता है अर्थात् वस्त्र का त्याग होता है, दिगम्बर मुद्रा धारण करता है । यहाँ द्रव्य लिग को बीजाकुर-न्याय से परस्पर सलग्न जानना चाहिये । अर्थात् जिस प्रकार से भावलिग के बिना अकुर और अकुर के बिना बीज नही होता उसी प्रकार से भावलिग के बिना द्रव्यलिग और द्रव्यलिग के बिना भावलिग नही ही होता । एकान्त मत से सब सिद्धान्त नष्ट हो जाता है । इसलिये द्रव्यलिग और भावलिग दोनो को प्रमाण मानना चाहिये । इसमे पहले कौन होता है और पीछे कौन ? इसका दुराग्रह करना व्यर्थ है ।

## समयसार

"ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ ।
भुदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो" ।।१३।।

अर्थ व्यवहार नय अभूतार्थ है अर्थात् विशेषता का दृष्टि मे रखकर विषमता का पैदा करनेवाला है किन्तु शुद्धनय भूतार्थ है क्योंकि वह समता को अपनाकर ही सम्यग्दृष्टि अर्थात् समीचीनतया देखने वाला होता है ।

टीका - (ववहारो) व्यवहार नय (अभूदत्थो) अभूतार्थ अर्थात् असत्यार्थ है (भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ) किन्तु शुद्ध निश्चय नय भूतार्थ अर्थात् सत्यार्थ कहा गया है । इन दोनो नयो मे किसका आश्रय लेकर सम्यग्ददृष्टि होता है ? इसका समाधान करते है कि (भूदत्थ) अर्थात् सत्यार्थरूप (भूतार्थ) जो निश्चय नय है उसको (अस्सिदो) आश्रय लेकर उसमे पूर्ण रूप से स्थिर होकर (सम्मादिट्ठी हवदि जीवो) यह जीव सम्यग्दृष्टि होता है । इस प्रकार टीकाकार (अमृतचन्द्राचार्य) का एक व्याख्यान है ।

अब दूसरा व्याख्यान करते है (व्यवहारो अभूदत्थो भूदत्थो देसिदो) व्यवहार नय अभूतार्थ भी है और भूतार्थ भी है ऐसे दो प्रकार का कहा गया है । अब केवल व्यवहार नय ही दो प्रकार का नही किन्तु (सुद्धणओ) निश्चय नय भी शुद्ध निश्चय नय के भेद से दो प्रकार का है ऐसा गाथा मे आये हुए शब्द से प्रकट होता है ।

यहाँ यह तात्पर्य है कि जैसे कोई ग्रामीण पुरुष हो तो कीचड़ सहित तालाब आदि का जल पी लेता है किन्तु नागरिक विवेकी पुरुष तो उसमे कतक फल निर्मली डालकर उसे निर्मल बनाकर पीता है । उसी प्रकार स्व-सवेदन ज्ञानरूप भेदभावना से रहित जो मनुष्य है वह तो मिथ्यात्व ओर रागादिरूप विभाव परिणाम सहित ही आत्मा का अनुभव करता है किन्तु जो सम्यगदृष्टि (सयत) मनुष्य होता है वह तो अभेद

रत्नत्रय लक्षण निर्विकल्प समाधि के बल से कनक स्थानीय निश्चय नय का आश्रय लेकर शुद्धात्मा का अनुभव करता है ।।१३।।

**"सुद्धो सुद्धादेसो णादव्वो परमभाव दरिसीहिं ।**
**ववहार देसिदो पुण जे दु अपरमेट्ठिदा भावे" ।।१४।।**

**अर्थ** शुद्ध निश्चय नय शुद्ध द्रव्य का कथन करनेवाला है [illegible] परम शुद्धात्मा की भावना मे लगे हुए पुरुषों के द्वारा [illegible] करने योग्य है। परन्तु जो पुरुष अशुद्ध व नीच की अवस्था मे स्थित [illegible] लिये व्यवहार नय ही कार्यकारी है ।।१४।।

**टीका** (सुद्धो सुद्धा देसो) शुद्ध निश्चय नय [illegible] कथन करने वाला है (णादव्वो परमभाव दरसीहि) [illegible] हुए आत्मदर्शियो के द्वारा जानने-भावने अर्थात् अनुभव करने [illegible] है। क्योकि वह सोलह वानी स्वर्ण के समान [illegible] समाधि काल मे प्रयोजनवान होता है। (ववहार देसिदो) किन्तु व्यवहार अर्थात् विकल्प भेद अथवा पर्याय के द्वारा कहा [illegible] व्यवहार नय

समाधि मे स्थिर है तब तक वह शुद्धोपयोगी है । किन्तु इतर काल मे वह शुभोपयोगी होता है । पर संयतासंयत और असंयत सम्यग्दृष्टि तो शुभोपयोगी ही होते है, क्योकि उनकी तो शुद्धोपयोग तक पहुच ही नही है ।

"जो पस्सदि अप्पाण अबद्धपुट्ठ अणण्णमविसेस ।
अपदेस सतमज्झ पस्सदि जिण सासण सव्व ।।१७।।

**अर्थ** - जो आत्मा को अबद्ध, स्पष्ट अनन्य अविशेष आदि रूप से अनुभव करता है वह द्रव्यश्रुत भावश्रुत मय द्वादशाग रूप सब जिन शासन का जानकर होता है ।

**टीका** (जो पस्सदि अप्पाण) जो शुद्धात्मा को जानता है अनुभव करता है कि (अबद्धपुट्ठ) आत्मा अबद्ध स्पष्ट है । यहाँ बध शब्द से सश्लेष रूप बन्ध और स्पष्ट शब्द से सयोग मात्र का ग्रहण है । जो आत्मा द्रव्य कर्म और नो कर्मो से जल मे रहनेवाले कमल के समान अस्पष्ट है (अणण्ण) घटादिक म मिट्टी के समान अपनी पर्यायो मे अनन्य होकर रहता है (अविसेस) कुण्डलादिक मे स्वर्ण के समान अभिन्न है, समुद्र के समान नियत है अवस्थित है, निश्चय नय से पर द्रव्य के सयोग से रहित है जैसे कि शीतल जल अग्नि के सयोग से रहित है । यहॉ पर गाथा मे नियत और असयुक्त शब्द यद्यपि नही है तो भी सामर्थ्य से ले लिये गये हैं । क्योकि सूत्रार्थ श्रुत और प्रकृत सामर्थ्य से युक्त होता है । अर्थात् सूत्र मे नही कही हुई बात भी प्रसग से स्वीकार करली जाती है । ऐसी कहावत है । वह (पस्सदि जिण सासण सव्व) द्वादशाग रूप सम्पूर्ण अर्थात्मक जिन शासन को जानता है । कैसे जानता है ? (अपदेश सुत्तमज्झ) "अप दिश्यते अर्थो येन - जिसके द्वारा यथार्थ कहा जाय वह अपदेश है - इस प्रकार अपदेश का अर्थ शब्द होता है । जिससे कि यहॉ पर द्रव्य श्रुत को ग्रहण करना और सूत्र से परिच्छित्तिरूप श्रुत जोकि ज्ञानात्मक है - उसे ग्रहण करना। इस प्रकार द्रव्य श्रुत के द्वारा वाच्य और भावश्रुत के द्वारा परिच्छेद हो

वह अपदेश सूत्र मध्य कहा जाता है । इसका भाव यह है कि जिस प्रकार लवण की डली एक खारे रसवाली होती है फिर भी वह अज्ञानियो को फल, शाग और पत्र शाग आदि पर द्रव्य के सयोग से भिन्न-भिन्न स्वाद वाली जान पडती है । पर ज्ञानियो को तो वह एकखारी रसवाली प्रतीत होती है । उसी प्रकार आत्मा भी जोकि एक अखण्ड ज्ञान-स्वभाव वाली है वह निर्विकल्प समाधि से भ्रष्ट होने वाले अज्ञानियो को तो स्पर्श, रस, शब्द, गध और नील, पीतादि वर्णमय ज्ञेय पदार्थ के भेद से खण्ड-खण्ड रूप ज्ञानरूप जान पडती है । किन्तु जो ज्ञानी (निर्विकल्प समाधि मे स्थित) है उनको वही आत्मा एक अखण्ड ज्ञान स्वरूप प्रतीत होती है । इस प्रकार अखण्ड ज्ञान स्वरूप शुद्ध आत्मा के जान लेने पर समस्त जिन शासन जान लिया जाता है । ऐसा समझ कर समस्त मिथ्यात्व और रागादि विभाव भावो को दूर करके उस शुद्धात्मा की ही भावना करनी चाहिये । यहॉ मिथ्यात्व शब्द से दर्शन मोह और रागादि शब्द से चारित्र मोह लिया गया है । आगे ऐसा जहॉ भी ये शब्द आवे तो उनका यही अर्थ लेना ।

**विशेषार्थ** - लूण की डली जब शाग इत्यादि से मिलाकर खाते है तो अकेले लवण का स्वाद न आकर शाकादि मिश्रित स्वाद आता है किन्तु अकेले लवण की डली खाने वाले को केवल लवण का ही स्वाद आता है उसी प्रकार जो बाहरी विषय कषायो मे फॅसे है । रागादिरूप परिणित है । उनके केवल शुद्धात्मा का अनुभव कभी भी न होकर रागादि मिश्रित अनुभव ही होता है । किन्तु जो बाहरी पदार्थो से दूर हटकर निर्विकल्प समाधि मे तल्लीन रहते है उन्ही को शुद्धात्मा का अनुभव होता है । यहॉपर अज्ञानी शब्द का अर्थ निर्विकल्प समाधि से भ्रष्ट और ज्ञानी शब्द का अर्थ निर्विकल्प समाधि मे स्थित लिया गया है । ऐसा ही अन्य स्थान मे भी समझना चाहिये ।।१७।।

" यदि शुद्ध पारिणामिक परमभाव के ग्रहण करनेवाले शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से सोचा जाय तो नय के विकल्प स्वरूप जो समस्त

प्रकार के पक्षपात उनसे रहित ही समयसार होता है । ऐसा नीचे की गाथा मे कहते है ।

**"सम्मद्दसोणाण एण लहदि त्तिणवरि ववदेस ।**
**सव्वणयपक्ख रहिदो भणिदो जो सो समयसारो ।।१५२।।**

**अर्थ** जो समयसार है वह तो सभी प्रकार के नयो के पक्षपात से रहित होता है. उस समयसार को यदि किसी दूसरे शब्द से कहा जा सकता है तो वास्तव मे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान शब्द द्वारा कहा जा सकता है ।

**टीका** (सव्वणय पक्ख रहिदो भणिदो जो समयसारो) जबकि आत्मा निर्विकल्प समाधिस्थ पुरुषो के द्वारा इन्द्रियानिद्रियजनित बाह्य विषयक समस्त मतिज्ञान के विकल्पोसे रहित ही देखा और जाना जाता है । तथा वही आत्मा बद्धाबद्धादिक विकल्प रूप नय के पक्षपात से रहित ऐसे समयसार का अनुभव करता हुआ देखा और जाना जाता है । इसलिये (सम्मद्दसण णाण एसो लहदि जिणवरि ववदेस) केवल मात्र सकल विमल केवल ज्ञान और केवल दर्शन रूप व्यपदेश को वह स्वीकार करता है न कि बद्धबद्धादि रूप व्यपदेशो को ।

**विशेषार्थ** आत्मा को पहले आगम ज्ञान से ज्ञानस्वरूप निश्चय कर पीछे इन्द्रिय रूप मतिज्ञान को भी ज्ञान मात्र मे ही मिलाकर श्रुत ज्ञान रूप नयो के विकल्पो को दूर कर एव श्रुत ज्ञान को भी निर्विकल्प बनाकर एक ज्ञान मात्र अखड प्रतिभास का अनुभव करना ही समयसार है और वही योगियो के द्वारा सम्यग्दर्शन और सम्पक ज्ञान नाम पाता है । यहॉ पर समीचीन श्रद्धान मात्र को ही सम्यग्दर्शन न बताकर सत्य श्रद्धानी जीव की आत्मानुभव रूप अवस्था विशेष को - परम समाधि काल मे होती है उसीको सम्यग्दर्शन स्वीकार किया गया है ।

**"जह णाम को वि पुरिसो कुच्छियसील जण वियाणित्ता ।**
**वज्जेदि तेण समय संसग्गिं राग करण च" ।।१५६।।**

"एमेव कम्मपयडी सील सहाव हि कुच्छिदमणादुं ।
वज्जंति परिहरति य तस्स संसग्गि सहावरदा ।।१५७।।

**अर्थ** - जैसे कोई पुरुष किसी को खराब स्वभाव वाला जान लेता है तो न तो उसके साथ कोई प्रेम करता है और न ही कोई सम्बन्ध रखता है ।

वैसे ही सहज भाव का धारक ज्ञानी जीव भी सभी कर्म प्रकृतियो के शील स्वभाव को बुरा जानकर उनके साथ राग करना और सम्बन्ध रखना छोड देते है एव निज स्वभाव मे लीन रहते है ।

**टीका** (जहणाम को वि पुरसो कुच्छिय सील जण वियाणित्ता) जबकि कोई पुरुष किसी को बुरे स्वभाव वाला अच्छी तरह समझ लेता है तो (वज्जेदि तेण समय ससग्गि राग करण च) उसके साथ शरीर से ससर्ग छोड देता है साथ ही बोलना भी छोड देता है तथा उसके साथ किसी भी प्रकार का मानसिक प्रेम भी नही रखता । (एवमेव कम्म पयडी सील सहाव हि कुच्छिद मणा दु) उसी प्रकार कर्म प्रकृतियो के शील स्वभाव को निदनीय जानकर (वज्जति परिहरति य त ससग्गि सहावरदा) उसके साथ वचन और काय भी ससर्ग छोड देते है कौन छोड़ देते है ? इसका उत्तर देते हुए कहते है कि समस्त प्रकार के द्रव्य और भागवत पुण्य पाप के परिणाम का परिहार करन मे परिणत ऐसे अभेद रत्नत्रय लक्षणवाले निर्विकल्प समाधि मे जो लोग तत्पर रहते है वे साधु छोड देते है ।

**विशेषार्थ** आचार्य देव ने यह ग्रथ ऋषि, मुनि, योगी लोग जोकि एकान्त से निराकुलता के ग्राहक होते है उन्ही को लक्ष्य मे लेकर लिखा है कि हे साधो ! तुम लोगो के लिए जिस प्रकार चोरी करना पाप है और झूठ बोलना आदि कर्म हेय है उसी प्रकार दान, पूजा आदि कर्म भी तुम्हारे लिये कर्तव्य नही है क्योकि उनको करते रहनेपर भी निराकुलता प्राप्त नही हो सकती है ।

निराकुलता के लिये तो केवल आत्मनिर्भर होना पड़ता है। इसमें यदि कोई गृहस्थ भी अपने लिये ऐसा ही समझ ले तो या तो उसे गृहस्थाश्रम को छोड़ देना होगा ही, नहीं तो वह मनमानी करके कुगति का पात्र बनेगा। अतः उसे तो चोरी-जारी आदि कुकर्म से दूर रहकर परिश्रमशीलता, परोपकार, दान, पूजा आदि सत्कर्म करते हुए अपने गृहस्थ जीवन को निभाना चाहिये।

---

# आचार सार आहार विधि

"उदयास्तोभयं त्यक्त्वा त्रिनाडीर्भोजन सकृत ।
एक द्वि मुहूर्त स्यादेक भक्त दिने मुने ।।४९।।

**अर्थ** - सूर्य उदय होने के तीन घडी बाद और सूर्य अस्त होने के तीन घडी पहले तक दिन मे एक बार उत्तम, एक मूहूर्त तक मध्यम और दो मूहूर्त तक जघन्य और तीन मुहूर्त तक भोजन करना एक भुक्ति कहलाती है ।

**भावार्थ** - मुनिराज या तो सूर्य उदय होने के तीन घडी बाद लेकर सामायिक के समय के पहले तक भोजन कर लेते है । अथवा सामायिक के बाद से लेकर सूर्य अस्त होने के तीन घडी पहले तक भोजन करते है जो श्रावको के भोजन का समय है वही मुनियो के भोजन का समय है । परन्तु यह नियम है कि मुनि लोग को दिन मे एक ही बार भोजन का समय है अर्थात् एक ही बार भोजन करते है ।

"पूर्वात्तानशना ताप योगोपकरणादिषु ।
सेच्छा वृत्तिर्गणीच्छानु वृत्तिर्या विनयास्पदा" ।।९।।

**अर्थ** पहले ग्रहण किये हुए अनशन उपवास आतापन योग्य अथवा उपकरणादिको विनयपूर्वक आचार्य की इच्छानुसार अपनी प्रवृत्ति रखना इच्छावृत्ति कहलाती है ।

**भावार्थ** यहाँ इच्छा शब्द से आचार्य की इच्छा समझनी चाहिये । आचार्य की इच्छा पूर्वक अपनी प्रवृत्ति रखना और उसको भी विनयपूर्वक पालन करना इच्छावृत्ति नाम की समाचार नीति है ।

" वीक्ष्याऽऽगन्तु कमायात यतिमुत्थाय संभ्रमात् ।
पदानि सप्त गत्वा च कृत्वा तद्योगय वन्दनम् ।।१७।।
" मार्गश्रान्तिमपोध्यासन प्रदानादि यत्नत ।
त्रिरत्न सुस्थितादीना प्रश्नो विनय संश्रय" ।।१८।।

**अर्थ** यदि कोई नये मुनि अपनी ओर आते हुए दिखाई पडे तो

वड़ी शीघ्रता और प्रसन्नता के साथ उठ खड़ा होना चाहिये तथा सात पड (पत्र) आगे उनकी ओर चलकर उनकी योग्यता के अनुसार उनकी वदना करनी चाहिये। फिर उनकी मार्ग चलने से उत्पन्न हुई थकावट दूर करनी चाहिये अर्थात् उनके पाव दबाना चाहिये हाथ दबाना शरीर दाबना, शरीर पोछना आदि करना चाहिये। और फिर उनको आसन देकर तथा और भी समयोचित कार्य कर रत्नत्रय की स्थिरता, आदि पूछना चाहिये। इस प्रकार आये हुए मुनियो की विनय करना, विनय सश्रय नाम की समाचार नीति कहलाती है।

"श्रुत संतान विच्छित्तिरनवस्था यम क्षयः।
आज्ञा भगश्च दुष्किर्तिस्तीर्थस्य स्याद गुरोरपि ।।२९।।
"अग्नि तोय गरा जीर्ण, सर्प क्रूरादिभि क्षय·।
स्व स्वाम्यार्तादिकेदेक विहारे नुचिते यत" ।।३०।।

अर्थ आचार्य ने मुनियो का अकेले विहार करने का निषेध लिखा है। उसका कारण यह है साधारण मुनियो को अकेले विहार करने से शास्त्रज्ञान की परम्परा का नाश हो जाता है। मुनि अवस्था का नाश होता है, व्रतो का नाश होता है। शास्त्र की आज्ञा का भग होता है, धर्म की अपकीर्ति होती है तथा गुरु की अपकीर्ति होती है। इसके सिवाय अग्नि, जल, रोग, अजीर्ण, सर्प और दुष्ट लोगो से तथा और भी ऐसे अनेक कारणो से अपना नाश होता है। इस प्रकार अनुचित अकेले विहार करने मे इतने दोष उत्पन्न होते है। अतएव मुनियो को अकेले विहार कभी नही करना चाहिये। सघ मे ही रहना चाहिये। अथवा एक, दो व अनेक मुनियो के साथ ही विहार करना चाहिये।

" शिलाभिन्न घटाजाविडाल मुच्चालिनी शुकै ।
मशका चाहिमर्हिषैरपि श्रोतृन् समान् त्यजेत् "।।४३।।

अर्थ यदि उन मुनियो मे से शिला, फूटा घडा, बकरा, बिल्ली, मिट्टी, चालनी, तोता, मच्छर, सर्प और भैसा समान श्रोता हो तो उनका त्याग कर देना चाहिये।

(१) जिनके परिणाम सदा कठोर रहते है उनके हृदय मे जिनवाणी कभी प्रवेश नही कर सकती वे श्रोता शिला के समान है ।

(२) जिनके हृदय मे कोई उपदेश न ठहरे वे फूटे घडे के समान है।

(३) जो अतिशय कामी है वे बकरे के समान है ।

(४) जिनके परिणाम शास्त्र श्रवण करते समय कोमल हो जाये परन्तु फिर सदा कठिन ही रहे वे मिट्टी के समान हैं ।

(५) जो गुणो को सर्वथा छोडकर अवगुण ग्रहण करे वे चालनी के समान है ।

(६) जो स्वय अज्ञानी हैं केवल दूसरे के कहे अनुसार चलते है वे तोते के समान है ।

(७) जिनको अमृत पिलाया जाय और विष हो जाय अर्थात् सार को असार और सीधे को उल्टा समझे वे सर्प के समान है ।

(८) जो व्याख्यान मे उपद्रव करे वे श्रोता भैंसा के समान है ।

(९) जो दुष्ट और घातक हैं वे श्रोता बिल्ली के समान है ।

(१०) जो सभा को व्याकुल कर दे वे मच्छर के समान हैं ।

**"मोहादिना निषिद्धस्य श्रोतुर्मन्द मतेरपि ।**
**सति प्राज्ञैविनीतेऽस्मिन् यो व्याख्याति नराधमः" ।।४४।।**
**"भिन्न रत्नत्रयी यान पात्रौऽसौ भूरिगौरवात् ।**
**विधूत बोधिः ससार वारि राशौ निमज्जति" ।।४५।।**

**अर्थ :** ससार मे अनेक विद्वान श्रोता उपस्थित हैं उनके रहते हुए भी जो अधम मनुष्य किसी मोह आदि के कारण निषिद्ध और मद बुद्धिवाले शिष्य को व्याख्यान देते हैं उनका रत्नत्रयमयी जहाज टूटा हुआ ही समझो । ऐसे निषिद्ध पुरुषो को व्याख्यान देने वाले वक्ताओं का रत्नत्रय नष्ट हो जाता हे और वे अपने भारी अभिमान के कारण अर्थात् रसगारव, बल गौरव वा ऋद्धि गारव के कारण ससाररूपी समुद्र मे डूबते है ।

भावार्थ जिस प्रकार समुद्र मे भार से जहाज टूट जाता है और डूब जाता है उसी प्रकार जो वक्ता निर्ग्रन्थ गुरुओ का व्याख्यान देते है उनका रत्नत्रयरूपी जहाज भी रस गौरव, बल गौरव, व ऋद्धि गौरव के बोझ से टूट जाता है वह वक्ता रत्नत्रयादिरूपी जहाज के टूट जाने से ससाररूपी समुद्र मे डूब जाता है। गौरव शब्द का अर्थ अभिमान है। रस, बल, व ऋद्धियो का अभिमान करना गौरव कहलाता है।

"य शिष्यत्वमकृत्वैव सूरिता कर्तुमहिते।
स स्यादुन्मार्ग त्रस्तीक्ष्णो वाऽशिक्षित तुरगम ।।५६।।

अर्थ जो तीक्ष्ण मुनि बिना सीखे घोडे के समान अपने को शिष्य किये बिना ही अर्थात् धर्मशास्त्र और प्रायश्चित्तादिक ग्रथो को पढे बिना ही आचार्य पद लेना चाहता है वह जिस प्रकार बिना सिखाया घोडा कुमार्ग मे ले जाता है उसी प्रकार अपने शिष्य को अवश्य ही कुमार्ग मे ले जायेगा अतएव आचार्य को निपुणशिष्य को सब बाते सिखाकर ही आचार्य पद देना चाहिये।

"विगौरवादि दोषेण, सपिच्छा जुक्ति शालिना।
सदब्ज सूर्याऽऽचार्येण कर्तव्य प्रतिवदनम्" ।।६२।।

अर्थ इस प्रकार मुनिराज के वन्दना करने पर आचार्य को भी उन मुनियो के लिये प्रतिवन्दना करनी चाहिए। उनकी विधि इस प्रकार है कि आचार्य रस गौरव से रहित है और सज्जन भव्य जीवरूपी कमलो को प्रफुल्लित करने के लिये जो सूर्य के समान है। ऐसे आचार्य को अपने हाथ मे पीछी लेकर उन नमस्कार करने वाले मुनियो के लिये प्रतिवन्दना करनी चाहिये। जो मुनि दूसरो के दोषो को ही ढूंढने वाले है तथा उत्तम गुणो का अवर्णवाद करनेवाले है ऐसे जो पार्श्वस्थ अर्थात् भ्रष्ट मुनि है उनकी वन्दना मुनियो को नही करना चाहिये।

भावार्थ भ्रष्ट मुनियो के लिये न तो वदना करनी चाहिये और न प्रतिवदना करना चाहिये।

"नमोऽस्त्विति नति शास्त्रा समस्त मत समता ।
कर्म क्षय समाधिस्तु स्थित्यार्थाय जने न ते ।।६६।।

**अर्थ** आचार्य आदि के लिये मुनियो का नमस्कार करना [illegible] "नमोस्तु इस प्रकार कहकर नमस्कार करना चाहिये । समस्त मत [illegible] ऐसे ही नमस्कार को प्रशसनीय मानते है । प्रतिवदना मे नमोस्तु [illegible] जाता है तथा अर्जिका आकर नमस्कार करे व कोई [illegible] श्रावक नगस्कार करे तो उसके लिये "कर्म क्षयोस्तु [illegible] क्षय हो अथवा ' ते समाधिस्तु' अर्थात तुम्हारे आत्म [illegible] समाधि की प्राप्ति हो-इस प्रकार कहना चाहिये ।

"आज्ञा भगादि दोषार्ह करोति यदि सूरिताम् ।
मदो ध्याद गुण वृत्तिनै तेन रहितो यति ' ।।८७।।

**अर्थ** जो मुनि इन ऊपर लिखे गुणो से रहित होकर [illegible] अभिमान के उदय से आचार्य पना करता है वह [illegible] करता है इसलिए वह आज्ञा भग आदि अनेक दोषो [illegible]

" नमन्ति सूयुपाध्याय साधुनाथा यथाक्रमम् ।
पच षट सप्त हस्तान्तरालस्था पशुशाय्यया " ।।८५।।

चारित्र अथवा महाव्रत नही हो सकते । अतएव स्त्रियो को मोक्ष प्राप्त होने की बात कहना सर्वथा व्यर्थ है । बिना उत्तम सहनन के और बिना महाव्रत के मोक्ष की प्राप्ति होती ही नही है । स्त्रियो के न तो महाव्रत होते है क्योकि वह एक ही साडी ग्रहण करती है और न उनके उत्तम सहनन होते हैं । इसलिए स्त्रियो को मोक्ष की प्राप्ति किसी भी प्रकार नही हो सकती है ।

"यदि त्रिरत्नमात्रेण सा पुँसा नग्नता वृथा ।
तिरश्चामपि दुर्वारा निर्वाणाप्तिर्लिगिता ।।८७।।

**अर्थ** कदाचित् यहाँ पर कोई यह कहे कि मोक्ष की प्राप्ति तो रत्नत्रय से होती है, उत्तम सहननो के न होने से अथवा साडी के पहन लेने से उसमे कोई बाधा नही आती ? तो इसका उत्तर यह है कि यदि रत्नत्रय से ही मोक्ष की प्राप्ति होती हो उसके लिये निर्ग्रंथ लिग वा नग्न अवस्था धारण करने की आवश्यकता न हो तो आचार्यो ने जो पुरुषो को नग्न अवस्था धारण करने का उपदेश दिया है वह व्यर्थ होता है । यदि केवल नग्न अवस्था से ही मोक्ष की प्राप्ति मानी जाय, उत्तम सहनन वा रत्नत्रय की आवश्यकता न मानी जाय तो नग्न रहने के कारण तिर्यचो को भी मोक्ष की प्राप्ति किसी से भी रोकी नही जा सकती । मोक्ष की प्राप्ति मे रत्नत्रय भी कारण है और उत्तम सहनन तथा नग्न अवस्था का धारण करना भी कारण है । इसके बिना मोक्ष की प्राप्ति कभी नही हो सकती ।

"देशव्रतानि तैस्तासामारोप्यन्ते बुधैस्तत ।
महाव्रतानि सज्जातिज्ञप्त्यर्थ मुपचारत. ।।८९।।

**अर्थ** अरहत देव के व्रतो का धारण करने वाले अत्यन्त विद्वान गणधर देवो ने उन अर्जिकाओ की सज्जाति आदि को सूचित करनेके लिये उनमे उपचार से महाव्रत का आरोपण करना बतलाया है ।

**भावार्थ** साडी धारण करने के कारण उन अर्जिकाओ मे देशव्रत

ही होते है, महाव्रत नही होते । परन्तु जिन्होने अर्जिकाओ के व्रत धारण किये है उनमे महाव्रत की कारणभूत सज्जातिपना विद्यमान है उनमे सज्जातिपने का अभाव नही है । इसी बात को सूचित करने के लिये गणधरादि देवो ने उनके देशव्रतो मे भी महाव्रतो का आरोपण किया है । और वह भी उपचार से किया है ।।८९।।

**"गाना क्रन्दन सन्माजेनापवद्य क्रियोज्झिता ।**
**जाति कीर्त्यश्चिता चाराश्चार्वीक्षान्त्यार्ज वान्विता·" ।।९१।।**

**अर्थ** · अर्जिकाओ को गाना नही चाहिये, रोना नही चाहिये, बुहारी नही देना चाहिये तथा और भी ऐसे पापरूप क्रिया नही करना चाहिये । अर्जिकाओ को अपनी जाति और कीर्ति के अनुसार योग्य आचरण धारण करना चाहिये । क्षमा, आर्जव वा सरलता गुण को धारण करना चाहिये और अपनी सब क्रियाओ मे प्रवीण होना चाहिये ।

**तृतीयाधिकार**

**"हेतुद्वयोत्थ कार्यायुमे येवं भवितव्यता**
**दुर्लङ्घ्येति भयाऽभावो नि शंकत्व भयोदये ।।५२।।**

**अर्थ** जो होनहार होती है वह यद्यपि अतरग और बहिरग कारणो से उत्पन्न होने वाले कार्यो से अनुमान के द्वारा जानी जा सकती है, तथापि वह दुर्लक्ष्य है । किसी से रोकी नही जा सकती है । इस प्रकार विचार कर भय को उदय आने पर भी भय नही करना - सदा निर्भय रहना नि शकित अग कहलाता है ।।५२।।

**पॉचवॉ अधिकार**

**"मनोवचन कायाना पाप रूप क्रियात्यजात् ।**
**पच प्रकार चारित्र स्वस्वरूप मुपैत्यलम्" ।।५२।।**

**अर्थ** · मन, वचन, काय से उत्पन्न होनेवाली पापरूप क्रियाओ का त्याग कर देने से पॉच प्रकार का चारित्र अपने आत्मस्वरूप को प्राप्त होता है ।।२।।

भावार्थ पापो का त्याग कर देना चाहिये । वह आत्मस्वरूप है और उसके पांच भेद है -

(१) दर्शनाचार, (२) ज्ञानाचार, (३) चारित्राचार, (४) तपाचार और (५) वीर्याचार ।

"जैनानापद्गतास्तस्मादुपकुर्वन्तु सर्वथा
य· समर्थोऽप्युपेक्षेत स कथ समयी भवेत्" ।।६५।।

अर्थ · यदि किसी जैनी भाई पर किसी प्रकार की आपत्ति आवे तो सब तरह से उस आपत्ति को दूर कर उन भाइयो को उपकार करना चाहिये । क्योकि जो आपत्तियो के दूर करने मे समर्थ होकर भी उन आपत्तियो को दूर नही करता, उन धर्मात्माओं की आपत्तियो को दूर करने मे उपेक्षा वा उदासीनता धारण कर लेता है वह सम्यग्दृष्टि किस प्रकार हो सकता है ? अर्थात् कभी नही ।।७५।।

"काय वाड्मनसा कर्मयोग स्वेन कृत कृत्तम् ।
स्त प्रयुक्तान्य निष्पन्न हिंसन कारित मतम्" ।।१४।।
"अनुमत मनुज्ञान कषाय· कषतीत्यसौ ।
क्रोधो मानश्च माया स्यालोभ सयम दर्शने" ।।१५।।

अर्थ काय, वचन और मन की क्रियाओ को योग कहते हैं अपने आप करने को कृत कहते है, स्वय प्रेरणा कर किसी दूसरे से हिसा कराने को कारित कहते है । जो हिसा न तो स्वय की है और न प्रेरणा पूर्वक किसी से कराई है ऐसी हिसा मे भला मानना अनुमत कहलाता है । जो सम्यकदर्शन और सम्यकचारित्र को कसे, कम करे उसको कषाय कहते है । उसके चार भेद है (१) क्रोध (२) मान, (३) माया, (४) लोभ ।।१४-१५।।

"परोपघातकृच्चेतो युक्तायुक्ते क्षण क्षयम् ।
क्रोधोऽग कम्प दाहाक्षिराग वैवर्ण्य लक्षण " ।।१६।।

अर्थ जिसमे योग्य और अयोग्य का विचार नष्ट हो जाता है ऐसे जो दूसरे के घात करने के परिणाम है उनको क्रोध कहते है । शरीर मे

कपा उत्पन्न हो जाना, शरीर मे जलन वा दाह होना, नेत्रो का लाल हो जाना तथा नेत्र, मुख आदि मे विकार उत्पन्न हो जाना आदि क्रोध के लक्षण है ।।१६।।

**"आमंत्रणमाज्ञापन याञ्चावाक् पृच्छना वच**
**प्रज्ञापना वच· प्रत्याख्यान संशय भाषणम्" ।।८३।।**
**"इच्छाऽनुलोम वचन मनक्षर मय वच ।**
**इत्येव मादय सत्यमोपभेदा सहस्रश·"।।८४।।**

**अर्थ** : आमत्रण अर्थात् बुलाने के लिये सबोधन रूप वचन, आज्ञापन, अर्थात् आज्ञारूप वचन, याचनारूप (मॉगने के) वचन, पृच्छना अर्थात् पूछने के वचन, प्रज्ञापन अर्थात् निवेदन करने रूप वचन, प्रत्याख्यान अर्थात् त्याग करने रूप वचन, सदेह रूप वचन, इच्छानुलोम अर्थात् इच्छाओ को पूर्ण करनेवाले वचन और अनक्षर रूप वचन आदि के भेद से अनुभय वचन के हजारो भेद होते है ।।८३-८४।।

**प्रतिक्रमण का स्वरूप**

**"मिथ्या मदाऽऽगोऽस्त्वि त्याद्यैर्यद्दोषेभ्यो निवर्तनम् ।**
**प्रतिक्रमण मल्पापराधस्यै काकिनो मुने" ।।४१।।**

**अर्थ** जो कोई मुनिराज अकेले हो और उनके चारित्र मे कोई थोडासा दोष लग जाय तो वे मुनिराज "यह मेरा पाप मिथ्या हो" मुझ से ऐसा अपराध अब आगे नही होगा" इस प्रकार लगे हुए दोषो के लिये पश्चातापकर उन दोषो से हट जाना वा दोषो को दूर कर देना सो प्रतिक्रमण नाम का प्रायश्चित है ।।४१।।

**"स्यात्तदुभयमालोचना प्रतिक्रमण द्वय ।**
**दु स्वप्न दुष्ट चिन्तादि महादोष समाश्रयम्" ।।४२।।**

**अर्थ** · जब कभी किसी मुनि के दुष्ट स्वप्न हो जात है वा किसी प्रकार की दुष्ट चिन्ता उत्पन्न हो जाती है अथवा और भी ऐसे ही ऐसे महादोष लग जाते हे तब वे मुनिराज आलोचना भी करते हे । अर्थात् उन

अपराधो को आचार्य से निवेदन कर उनका प्रायश्चित भी लेते है और स्वय भी पश्चात्ताप कर प्रतिक्रमण करते है । इस प्रकार आलोचना और प्रतिक्रमण दोनो का करना तदुभय नाम का प्रायश्चित कहलाता है ।

" परिहर्त्तुमशक्तस्य दोष द्रव्यादि सश्रयम् ।
तद् द्रव्यादि परित्यागो विवेक कथितोऽथवा ।।४३।।
" अप्रासुकस्य सेवाया त्यक्तस्य प्रासुकस्य च ।
प्रमादेन पुन· स्मृत्वा स तदा तद्विसर्जनम् ।।४४।।

अर्थ · जो मुनिराज जिस किसी द्रव्य, क्षेत्र वा काल आदि के सबध से लगे हुए दोषो को दूर करने म असमर्थ होते है, उस द्रव्य वा क्षेत्र के सम्बन्ध से वा किसी काल के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाले दोष को दूर नही कर सकते उस समय आचार्य उनके द्रव्य का त्याग करा देते हैं, उस क्षेत्र का त्याग करा देते हैं तथा उस काल का त्याग करा देते हैं । इस प्रकार द्रव्यादिक का त्याग करा देना विवेक नामक प्रायश्चित कहा जाता है । अथवा जो मुनिराज किसी प्रमाद से किसी अप्रासुक पदार्थ का सेवन करले अथवा त्याग किये हुए किसी प्रासुक पदार्थ का सेवन करले और फिर उसका स्मरण हो आने पर उसका त्याग कर दे तो वह भी विवेक नाम का प्रायश्चित कहलता है ।

" आचार्यदिप्वसत्स्वेव स्थविरस्य मुनेर्गणे ।
प्रति रूप काल योग्या क्रिया चान्येषु साधुषु" ।।८०।।

अर्थ यदि आचार्य न हो तो मुनियो को चाहिये कि वे अपने गण मे जो वृद्ध मुनि हो, उनको ही आचार्य मानकर अपने समय पर समस्त आवश्यक व योग्य क्रियाये कर ले ।।८०।।

# पंच परमेष्ठियों के लिये विनय

" कार्यर्हत्सिद्धोपाध्याय सूरि साध्वादि केष्वसौ ।
समीक्षय क्षेत्र कालाऽवस्था सभादि यथागमम् " ।।७०।।

**अर्थ** क्षेत्र, काल, अवस्था और सभा आ
शास्त्रो मे कहे अनुसार अरहंत, सिद्ध, आचार्य उप
साधुओ को यथायोग्य विनय करना चाहिये । इस
कहते है ।

गुरु से किस प्रकार पूछना चाहिये

" नाऽत्यासन्नो न दुरस्थो न पार्श्वस्थो न पृष्ठग ।
नोच्चस्थो वा गुरु प्रच्छेत्प्रच्छेदभिमुखो नत ।।७१।।
स्थिते स्थित्वोपविष्टि सत्युपविश्य गुरौ स्फुटम् ।
श्रद्धामार्दव भक्त्याऽऽर्जवादि यक्त कृताञ्जलि " ।।७२।।

करनी चाहिये । जो मन मे आया सो ही कहना नहीं चाहिये तथा अपनी इच्छानुसार पैर फैलाना आदि प्रवृत्तियो का भी त्याग कर देना चाहिये ।।७३।।

विनय शुद्धि के पालन के लिये शिष्य का कर्तव्य

"सस्तरोत्क्षेप निक्षेप प्रमुखै· परिकर्मभि· ।
शर्म सपादयेत्सूरे· शर्मैषी विनयान्वित" ।।७४।।

**अर्थ** अपनी आत्मा का कल्याण चाहने वाले और विनय करने वाले शिष्य को उचित है कि वह आचार्य का सस्तर कर, आचार्य को उठाना, बिठाना आदि अनेक प्रकार से उनकी सेवा कर उनको सुखी बनावे । यह सब विनयाचार कहलाता है ।।७४।।

"गुरुत्वेक्ति स्खलित नैव हसेत्कस्यादपि नो वदेत् ।
अप्रिय हर्षामर्षाभ्या न कुर्यात्परपीडनम् ।।

**अर्थ** यदि आचार्य कहते कहते कही स्खलित हो जाये, भूल जाये व कुछ का कुछ कह जाये तो शिष्य को हँसना नही चाहिये । किसी के भी लिये अप्रिय वचन नही कहने चाहिये या किसी को बुरा लगे ऐसा कार्य नही करना चाहिये । तथा हर्ष और क्रोध करके किसी को पीडा भी नही पहुँचानी चाहिये ।

विनय शुद्धि की महिमा

" इय विनय शुद्धिर्नु भूषाऽशेष गुण श्रिय· ।।
कारण सुखद नान्यदिहाऽमुत्र च देहिनाम्" ।।७६।।

**अर्थ** यह विनय शुद्धि समस्त गुणरूपी लक्ष्मी का आभूषण है, तथा इसके समान जीवो को इस लोक मे और परलोक मे सुख देनवाला अन्य कोई नही है । और न इसके समान अन्य कोई गुणरूपा लक्ष्मी के प्राप्त होने का कारण है ।

**भावार्थ** इस विनय शुद्धि से समस्त गुणो की प्राप्ति होती है और दोनो लोको मे सब प्रकार के सुख प्राप्त होते है । इस प्रकार विनय शुद्धि का स्वरूप कहा ।।७६।।

# अध्याय दसवॉ

अनियत विहार से क्या लाभ ?

"प्रेक्ष्यन्ते बहुदेश संश्रय वशात्संवेगिताद्याप्तय ।
स्तीर्थाधीश्वर केवलो द्वयमही निर्वाण भूम्यादयः ।
स्थैर्य धैर्य विरागतादिषु गुणेष्वाचार्यवर्ये ।
क्षणाद्विद्या वित्तसमागमाधिगमो नूनार्थ सार्थस्य च" ।।६।।

**अर्थ** अनियत विहार करने मे अनेक देशो का आश्रय लेना पडता है जिससे सवेग वैराग्य आदि अनेक गुणो को धारण करने वाले अनेक आप्तजनो के पूज्य पुरुषो के दर्शन होते है, तीर्थकरो को जहॅा-जहॅा केवल ज्ञान प्रगट हुआ है अथवा जहॉ-जहॉ निर्वाण प्राप्त हुआ है उन समस्त तीर्थक्षेत्रो के दर्शन प्राप्त होते है । अनेक उत्तमोत्तम आचार्यो के दर्शन से धीरता वैराग्य आदि तथा उत्तम गुणो मे स्थिरता प्राप्त है । और विद्यारूपी धन की प्रप्ति होती है तथा विद्यारूपी धन की प्राप्ति होने से निश्चित अर्थो के समूह का ज्ञान होता है । ये सव लाभ अनियत बिहार करने से होते है ।

" सद्रूप बहुसूरि भक्तिकयुत क्षमादि दोषोज्झित ।
श्रेत्र पात्रमपीक्ष्यते तनुपरित्यागस्य नि·सगता ।।
सर्वस्मिन्नपि चेतनेतर बहि. संगे स्वशिष्यादिके ।
गर्वस्यापचय परीषहजय सल्लेखना चोत्तमा " ।।७।।

**अर्थ** तदनन्तर उन मुनिराज को सल्लेखना धारण करने के लिये ऐसे क्षेत्र देखना चाहिये जहॉ पर राजा उत्तम धार्मिक हो, जहॉ के लोग सब आचार्यदिको की बहुत भक्ति करने वाले हो तथा जहॉ के लोग सब आचार्यदिको की बहुत भक्ति कहनवाले हो तथा जहॉ पर निर्धन और दरिद्र प्रजा न हो । इसी प्रकार पात्र ऐसे देखने चाहिये जिनके शरीर के त्याग करने मे भी निर्मोहपना हो तथा अपने शिष्यादिको मे भी अभिमान न हो और जो परीषहो को अच्छी तरह जीतनेवाले हो ऐसा क्षेत्र और पात्रो को अच्छी तरह देखकर सल्लेखना धारण करनी चाहिये ।।८।।

" सम्यक्काय कषाय कार्श्य करण सल्लेखनाद्या वरै ।
योगैर्वर्ण चतुष्टय रस परित्यागैस्तथा द्वयम् ।
सोवीरान्नरसोज्झ नैरभिषवान्नेनाद्धमेतद्दलम् ।
वार्धैर्मन्दतपोभिरुग्र नियमभैरब्दार्थ मगार्दनम् ।।८।।

अर्थ अच्छी तरह काय और क्लेश कषाय का कृश करना-घटाना सल्लेखना है । इसको वाह्य सल्लेखना कहते हैं । इसके धारण करने का उपाय यह है कि चार वर्ष तो श्रेष्ठ योग धारणकर अर्थात् उग्रोग्र तप और नियम धारण करते हुए व्यतीत करना चाहिये । चार वर्ष रसो का त्याग करते हुए पूर्ण करना चाहिये । दो वर्ष सौवरि अन्न अर्थात् कॉजी आदि अन्न मात्र का त्याग व्यतीत करना चाहिये । एक वर्ष दूध छाछ आदि पतला पौष्टिक पदार्थो को ग्रहण करते हुए व्यतीत करना चाहिये । फिर छह महिने मद मद रीति से उपवास आदि वाह्य तपश्चरण कर पूर्ण करने चाहिये । और फिर शेष के छह महिने (मरण समय के छह महिने) कठिन नियमो को धारण कर व्यतीत करना चाहिये ।।८।।

" काल कायबल च देशमशनं पान प्रकृत्यादिक ।
ज्ञात्वा पित्त कफानिलैर्निजगतेर्न स्याद्यथा विक्रिया ।।
कर्तव्या विदुषा तथोक्त विधिभिर्बहियैस्तप प्रकृमै ।
राचार्याऽनुमतै समाधि फलदैरेषाग सल्लेखना " ।।९।।

अर्थ तदनन्तर वर्षाऋतु, ग्रीष्मऋतु, व शीतऋतु आदि काल को अच्छी तरह देखकर, अपने शरीर के बल को अच्छी तरह देखकर, भोजनपान आदि की सामग्री को देखकर, अपनी वात, पित्त, कफजनित प्रकृति को देखकर तथा वित्त, कफ आदि के दोषो से अपनी बुद्धि का किसी प्रकार का विकार प्राप्त न हो, इस रीति से शास्त्रो मे लिखी हुई विधि के अनुसार ध्यानरूपी उत्तम फलो को देनेवाले और आचायो को मान्य ऐसे वाह्य तपश्चरणो को धारण कर उन विद्वान मुनियो को सल्लेखना धारण करनी चाहिये । इस सल्लेखना को अग सल्लेखना अथवा शरीर को कृश करना कहते है ।

---

# गोम्मटसार जीवकाण्ड

नित्यनिगोद का लक्षण

" अत्थि अणता जीवा जेहि ण पत्तो तसाण परिणामो ।
भावं कलंक सु पउरा निगोद वासे ण मुञ्चन्ति ।।१९७।।
सन्ति अनता जीवायैर्न प्राप्त· त्रसाना परिणाम·।
भाव कलक सु प्रचुरा निरोग वास न मुञ्चति "।।१९७।।

**अर्थ** : ऐसे अनन्तानन्त जीव है कि जिन्होने त्रसो की पर्याय अभी तक नही पाई है और जो निगोद अवस्था मे होने वाला दुर्लेश्या रूप परिणामो से अत्यन्त अभिभूत रहने के कारण निगोद स्थान को कभी नही छोडते, उसे नित्य निगोद कहते है । अनत निगोद को निगोद कहते है क्योकि नित्य शब्द के दो अर्थ होते है (१) अनादि (२) अनादि अनन्त, और (३) सादि निगोद (ऐसे तीन प्रकार के है)।

" ओरालिय उत्तत्थं बिजाण मिस्स तु अपरि पुण्णं तं ।
जो तेण सपजोगो ओरालिय मिस्स जोगो सो ।।२३१।।
औरालिक मुक्तार्थ बिजानीहि मिश्र तु अपरिपूर्ण तत् ।
यस्तेन सम्प्रोग औरालिक मिश्रयोग स "।।२३०।।

**अर्थ** : जिस औदारिक शरीर का स्वरूप पहले बता चुके है यही शरीर जब तक पूर्ण नही होता तब तक मिश्र कहा जाता है । और उसके द्वारा होने वाले योग को औदारिक मिश्र योग कहते है । शरीर पर्याप्ति से पूर्व कार्मण शरीर की सहायता से होने वाले औदारिक काय योग को औदरिक मिश्र काय योग कहते है ।

" पुरु गुण भोग से दे करेदि लोयम्मि पुरुगुण कम्म ।
पुरु उत्तमो य जम्हा तम्हा सो वण्णिओ पुरिसो "।।२७१।।

वेक्रियक मिश्र काय योग

"वे गुविय मुत्तत्थ विजाण मिस्स तु अपरिपुण्ण त ।
जो तेण संपजोगो वे गुविय मिस्स जोगो सो" ।।२३३।।

"वे गुर्विक मुक्तार्थं विजातीहि मिश्र तु अपरिपूर्णवत् ।
यस्तेन सप्रयोगो वे गुर्विक मिश्र योग स" ।।२३३।।

अर्थ · उक्त वैक्रियक शरीर जब तक पूर्ण नही होता तब तक उसको वैक्रियक मिश्र कहते है और उसके द्वारा होने वाले योग को वैक्रियिक मिश्र काय योग कहते है ।

उक्त आहारक शरीर जब तक पर्याप्त नही होता तब तक उसको आहारक मिश्र कहते है और उसके द्वारा होने वाले योग को आहारक मिश्र योग कहते है ।

"वेदस्योदीरणायं परिणामस्य च भवेत समोह ।
समोहेन न जानादि जीवोहिं गुण व दोषं वा" ।।२७२।।

अर्थ · वेद, नो कषाय के उदय अथवा उदीरणा होने से जीव के परिणामो मे बड़ा भारी मोह उत्पन्न होता है और इस मोह के उत्पन्न होने से यह जीव गुण अथवा दोष का विचार नही कर सकता है ।

" छादयदि सय दोसे णयदो छाददि पर विदोसेण ।
छादण सीला जम्हा तम्हा सा वण्णिया इत्थी" ।।२७३।।

" छायदति स्वक दोषै नयत छायदति परमपि दोषेण ।
छादन शीला यस्मात् तस्मात् सा वर्ण्णिता स्त्री" ।।२७३।।

अर्थ · जो मिथ्या दर्शन, अज्ञान, असयम आदि दोषो से अपने को आच्छादित करे और मृदु भाषण, तिरछी चितवन आदि व्यापार से दूसरे पुरुष को भी हिसा, अब्रह्म आदि दोषो से आच्छदित करे उसको आच्छादन-स्वभावयुक्त होने से स्त्री कहते है ।

भावार्थ यद्यपि बहुत-सी स्त्रियॉ अपने को तथा दूसरो को दोषो से आच्छादित नही भी करती है तब भी बहुलता की अपेक्षा से यह निरुक्ति सहित लक्षण किया है ।

" सम्मत्त देस सयल चारीत्त जहक्खाद चरण परिणामे ।
घादति वा कषाया चउसोल असख लोग भिदा " ।।२८२।।

**" सम्यक्त देश सकल चारित्र यथाख्यात चरण परिणामान्।**
**घातयन्ति वा कषायाः चतु· षोड्शासंख्य लोकमिवा " ।।२८२।।**

**अर्थ** सम्यक्त, देश-चारित्र, सकल चारित्र, यथाख्यात चारित्ररूपी परिणामो को जो कषे, घाते, न होने दे, उसको कषाय कहते है । इसके (१) अनतानुबधी, (२) अप्रत्याख्यानावरण, (३) प्रत्याख्यानावरण और (४) सज्वलन । इस प्रकार चार भेद है । अनतानुबधी आदि चारो के क्रोध, मान, माया लोभ इस तरह चार-चार भेद होने से कषाय के सोलह उत्तर भेद होते है । किन्तु कषाय के उदय स्थानो की अपेक्षा से असख्यात लोक प्रमाण भेद है । जो सम्यक्त्व को रोके उसको अनन्तानुबधी कहते है इसी प्रकार समझना ।

**कषाय रहित जीव**

**" अप्पपरो भय बॉधण बधा सजमणिमित्त कोहादि ।**
**जे सिं णत्थी कसाया अमला अकसाइणो जीवा" ।।२८८।।**
**'' आत्म परोभय बाधन बंधा संयम निमित्त क्रोधादय· ।**
**येषा न सन्ति कषाया अमला अकसायिणो जीवा " ।।२८८।।**

**अर्थ** जिनके खुद को, दूसरे को तथा दोनो को ही बाधा देने और बन्धन करने तथा असयम करने के निमित्तभूत क्रोधादिक कषाय नही है तथा जो बाह्य और अभ्यतर मल से रहित है - ऐसे जीवो को अकषाय कहते है ।

**" देसोहिस्स य अवरं णरतिरिये होदि सजदम्हिवर ।**
**परमोही सव्वोही, चरम सरीरस्य विरदस्स " ।।३७३।।**
**" देशावधेश्च अवर नर तिरश्चो भवति सयत परम् ।**
**परमावधि सर्वावधि चरम शरीरस्य विरदस्स " ।।३७३।।**

**अर्थ** जघन्य देशावधि ज्ञान सयत तथा असयत दोनो ही प्रकार के मनुष्य तथा तिर्यचो के होता है । उत्कृष्ट देशावधि ज्ञान सयत जीवो के ही होता है किन्तु परमावधि और सर्वावधि चरम शरीरी और महाव्रती के ही होता है ।

" पडिवादी देसो ही अप्पडिवादी हवति सेसाओ ।
मिच्छत अविरमण ण य पडिवज्झति चरम दुगे ।।३७४।।
प्रतिप्राप्ती देशावधि अप्रतिपातिनो भवत शेषो अहो ।
मिथ्यात्व विरमण न च प्रतिपद्येते चरमद्विके" ।।३७४।।

अर्थ देशावधि ज्ञान प्रतिपाती होता है और परमावधि तथा सर्वावधि अप्रतिपाती होते है तथा परमावधि और सर्वावधि वाले जीव नियम से मिथ्यात्व और अव्रत अवस्था को प्राप्त नही होते ।

भावार्थ - सम्यक्त्व और चारित्र से च्युत होकर मिथ्यात्व और असयम की प्राप्ति को प्रतिपात कहते है । यह प्रतिपात देशावधि वालो को ही प्राप्त होता है । परमावधि और सर्वावधि वालो को नही होता ।

लेश्या की परिभाषा

" लिंपई अप्पी कीरइ एदि एणिय अपुण्ण पुण्ण च ।
जीवोत्ति होदि लेस्सा लेस्सा गुण जाण यक्खादा " ।।४८९।।
" लिम्पत्यात्मी करोति एतया निजा पुण्य पुण्य च ।
जीव इति भवति लेश्या लेश्या गुण ज्ञायका ख्याता" ।।४८९।।

अर्थ - लेश्या के गुण को, स्वरूप को जानने वाले गणधरादि देवो ने लेश्या का स्वरूप ऐसा कहा है कि जिसके द्वारा जीव अपने को पुण्य और पाप से लिप्त करे, पुण्य और पाप के आधीन करे उसको लेश्या कहते है ।

" जोग पउत्ति लेस्सा कसाय उदयानुरजिया होई ।
तत्तो दोण्ण कज्ज बध चयुक्कं समुद्दिट्ठं" ।।४८९।।
" योग प्रवृत्ति लेंश्या कषायोदयानुरञ्जिता भवति ।
तत द्वयो कर्मबंध चतुष्क समुद्दिष्टम" ।।४८९।।

अर्थ कषायोदय से अनुरक्त योग प्रवृति को लेश्या कहते है । इस लिये दोनो का बन्ध चतुष्करूप कार्य परमागम मे कहा है ।

**भावार्थ** : कषाय और योग इन दोनो के जोड को लेश्या कहते है । इसलिये लेश्या का कार्य बध चतुष्क है क्योकि बध चतुष्क मे से प्रकृति और प्रदेश बन्ध योग के द्वारा होते है, और स्थिति अनुभाग बन्ध कषाय के द्वारा होता है । जहॉ पर कषायोदय नही होता वहॉ पर योग को केवल उपचार से लेश्या कहते है । अतएव वहॉ पर उपचरित लेश्या का कार्य भी केवल प्रकृति-प्रदेश बन्ध ही होता है, स्थिति अनुभाग बन्ध नही होता ।

---

# गोम्मटसार कर्मकाण्ड

१. "कषयन्ति-हिंसन्तीति कषाय"

२ अनन्त ससार का कारण है। जो अनन्त मिथ्यात्व को साथ-साथ बान्धे, उक्त कषाय को अनतानुबधी कहते है।

३ जिस कर्म के उदय से मरण के पीछे और जन्म के पहले अर्थात् विग्रह गति (बीच की अवस्था) मे मरण के पहले के शरीर के आकार का नाश तो हो, उसे अनुपूर्व्य नाम कर्म कहते है।

**४ अनतानुबधी आदि चार कषायो के कार्य**

**" पढ़मादिया कसाया सम्मत देससयल चारित्तं ।**
**जहखाद घादन्ति य गुणणामा होति सेसा वि " ।।४५।।**

**अर्थ** पहली अनन्तानुबधी आदिक अर्थात अनतानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याखान और सज्वलन ये चार कषाय क्रम से सम्यक्त्व को देशचारित्र को, सकल चारित्र को और यथाख्यात चारित्र को घातती है। अर्थात् सम्यक्त्व वगैरह को प्रगट नही होने देती। इस प्रकार इनके नाम भी वैसे ही है जैसे कि इनमे गुण है। इनके सिवाय दूसरी जो प्रकृतियाँ है वे सार्थक (नाम के अनुसार अर्थ वाली) ही है। इन सब का शब्दार्थ पहले कहा जा चुका है ।।४५।।

५ भव विपाकी, क्षेत्र विपाकी और जीव विपाकी प्रकृतियोको कहते है।

**" आउणि भवविवाई खेत्वा विपाई या अणुपुवीओ ।**
**अट्ठतरि अवसेसा जीव विवाई मुणेयत्वा " ।।४८।।**

**अर्थ** नरकादिक चार आयु भवविपाकी है क्योकि नरकादि है। पर्यायो के होने मे ही इन प्रकृतियो का फल होता है। चार आनुपूर्वी प्रकृतियाँ क्षेत्र विपाकी है। क्योकि परलोक को गमन करते हुए जीव के मार्ग मे ही उनका उदय होता है और बाकी ७८ अठत्तर प्रकृतियाँ है वे सब जीव विपाकी जानना। क्योकि नारक आदि जीव की पर्यायो मे ही उनका फल होता है ।।४८।।

६ प्रथमोपशम सम्यक्त्व मे अथवा बाकी के तीनो द्वितीयोपशम सम्यक्त्व, क्षयोपशम सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्व की अवस्था मे असयत से लेकर अप्रमत्त गुणस्थान तक चार गुणस्थान वाले मनुष्य ही केवली-तीन जगत को प्रत्यक्ष देखने वाले तीर्थकर (हितोपदेशी सर्वज्ञ) तथा श्रुतकेवली (द्वादशॉग के पारगामी) के निकट ही तीर्थकर प्रकृति के बध का आरम्भ करते है ।

**" चरित्त अपुण्ण भवत्थो ति विग्गहे पढम विग्गणम्हिठिओ ।**
**सुहमणि गोदो बंधदि सेसाण अवर बधं तु " ।।२१७।।**

**अर्थ** छह हजार बारह अपर्याप्त (क्षुद्र) भवो मे से अन्त के भव मे स्थित (मौजूद) और विग्रह गतिके तीन मोडाओ मे से पहली विग्रह गति मे ठहरा हुवा क्षुद्र निगोदिया जीव है । यह ११७ मे से शेष रही १०९ प्रकृतियो का जघन्य प्रदेश बध करता है ।

**७ कर्मों का उदय**

**" आहारं तु पमत्वे तित्थ केवलिणि मिस्सय मिस्ते ।**
**सम्म वेदमसम्मे मिच्छ दुगय देव आणु दओ " ।।२९२।।**

**अर्थ** आहारक शरीर व उसके अगोपाग इन दोनो कर्मो का उदय छठे प्रमत्त गुणस्थान मे ही होता है । तीर्थकर प्रकति का उदय सयोगी तथा अयोगी केवली के ही होता है । मिश्र दर्शनमोहनीय का उदय तीसरे मिश्रगुणस्थान मे, तथा सम्यक्त्वप्रकृतिका उदय क्षयोपशमसम्यग्दृष्टि के चार गुणस्थानो मे होता है । और आनुपूर्वीकर्म का उदय मिथ्यात्व, सासादन ये दो तथा चौथा असयतगुणस्थान इन तीनो मे ही होता है ।।२९२।।

**" धीणति धी पूरि सूणा घादी णिर या उणीच वेयाणिय ।**
**णामे समण चिगण णिरयाणू णारये सुदया " ।।२९०।।**

**अर्थ** स्त्यानगृद्धि आदिक तीन स्त्री वेद और पुरुष वेद इन पॉच के सिवाय घाति कर्मो की ४२ प्रकृतियॉ, नरकायु, नीच गोत्र और साता

आसाता वेदनीय तथा नाम कर्म म से नारकिया के भाषा पर्याप्ति के स्थान म होने वाली २९ प्रकृतिया और नरक गत्यानुपूर्वी य सब ७९ प्रकृतियां नरकगति म उदय होने योग्य है ।।२३०।।

" मिस्साहारस्य यथा खवणा चउभाषा पढम सव्वायवै ।
पढमुव समयात्तमत्तम गुण पडिवण्णा मसावि ।।१।।
" अण सजोगे मिच्छे मुहुत्र अतोत्तिण्णत्थी मरणं तु ।
कदकर णिज्ज जावदु सव्व परहाण अट्ठपदा " ।।२।।

**अर्थ** निवृत्य पर्याप्तक अवस्था का धारक (१) आहारक, मिश्रयोग का धारण करने वाला (२) क्षपक श्रेणी वाला (३) उपशम श्रेणी वाला, चढने मे अपूर्व करण नामा आठवे गुणस्थान के पहले भाग वाला (४) और तमस्तमक नाम की सातवी नरक भूमि के सम्यक्त्व गुण सहित (५) प्रथमोपशम सम्यकत्व वाला (६) इन अवस्थावाले जीव मरते नही और अनतानुवधी कषाय को विसयोजन (जुदा) करके कषाय रूप परिणाम वाले जो द्वितीयोपशम सम्यक्दृष्टिजन्य वह यदि मिथ्यात्वगुस्थानको प्राप्त हुआ हो तो उसका अतर्मुहूर्ततक मरण नही होता और दर्शनमोहके क्षय करनेवाले जीवके जबतक कृतकृत्यवेदक सम्याग्दृष्टिपना है तब तक मरण नही होता है । इस प्रकार सब पर स्थान आठ हुए इनमे मरण नही होता ।

१० " ओघ वा णेरइये वा सुराऊत्तित्थ मत्थित दियोत्ति ।
छट्ठित्ति मणुस्साऊ तिरिए ओघ ण तित्थयर" ।।३४६।।

**अर्थ** नरक गति मे गुणस्थान वत् सत्ता जानना । परन्तु, देवायु का सत्व नही है । इस कारण १४७ प्रकृतियॉ सत्व योग्य है । और तीसरे नरक तक ही तीर्थकर प्रकृति का सत्व है । तथा मनुष्यायु का सत्व छठी नरक पृथ्वी तक ही है। तिर्यच गति मे भी गुणस्थान वत् जानना । लेकिन तीर्थकर प्रकृति का सत्व नही है । इस प्रकार सत्व योग्य १४७ प्रकृतियॉ है ।।३४६।।

**११ " मिच्छं मिस्सं स गुणे वेदगसम्मेव होदि सम्मत्व ।**
**एक्का कसायजादी वेदहुजुग लाण मेक्कच ।।४७६।।**

**अर्थ** - मोहनीय की उदय प्रकृतियो मे से मिथ्यात्व और मिश्र मोहनीय का उदय वेदक सम्यक्त्वी जीव के चौथे से लेकर सप्तम गुण स्थान तक है । इस प्रकार गुणस्थानो मे उदय का नियम दिखाकर उदय के स्थानो को कहते है । अनतानुबधी आदि चार कषायो की क्रोध, मान, माया, लोभ, रूप चार जाति उसमे से एक कषाय जाति तीन वेदो मे से एक वेद का उदय हास्य शोक का युगल और रति-अरति का जोडा इन दो युगलो मे से एक एक प्रकृतियो का उदय पाया जाता है ।

**१२ " अण सजोजिद सम्मे मिच्छ पत्तेण आवालिति अण ।। ४७६।।**
**उवसम खइये सम्मं ण हि तत्थ विचारि ठाणाणि ।।४७८।।**

**अर्थ** · अनन्तानुबधी कषाय के विसयोजन (अन्य प्रवृत्ति रूप) करने वाले क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व कर्मोदय से मिथ्यात्व गुणस्थान मे प्राप्त होने पर आवलि मात्र काल तक अनन्तानुबधी कषाय का उदय नही होता क्योकि विसयोजन करने के पीछे प्रथम गुणस्थान मे प्राप्त होने पर पहले समय मे ही बॉधे हुवे अनन्तानुबधी को आवलि प्रमाण कालतक अपकर्षण द्वारा उदयावमलि मे लाने की सामर्थ्य नही है । इस अपेक्षा मिथ्यादृष्टि गुणस्थान मे अनन्तानुबधी रहित चार कषाय स्थान और भी जानना तथा उपशम सम्यक्त्व मे और क्षायिक सम्यक्त्व मे मोहनीय का उदय नही है सो वहॉ पर भी उपशम और क्षायिक की अपेक्षा असयतादि चार-चार गुणस्थानो मे पहिले जो चार स्थान सम्यक्त्व मोहनीय सहित बताये है सो वेदक सम्यक्त्व की अपेक्षा से है ।

---

# ज्ञानार्णव

" रूद्धे प्राण प्रचारे नधुवि नियमिते सवतेऽक्ष प्रपञ्चे ।
नेत्र स्पन्दे निरस्ते प्रलय युगपतेऽन्तर्विकल्पेन्द्र जाले ।।
भिन्न मोहान्धकारे प्रसरति महसिक्वापी विश्वप्रदीपे ।
धन्यो ध्यानावलम्वी फलयति परमानंद सिन्ध प्रवेश "।।

अर्थ - श्वासोच्छवास के रुकते हुवे शरीर के निश्चल होते हुवे भी इन्द्रियो के प्रचार का सवरण होते हुवे, नेत्रो की चलन क्रिया के रहित होते हुवे, समस्त इन्द्रिय जाल (विकल्प रूप) का प्रलय होते हुवे मोहान्ध करके दूर होते हुवे और समस्त वस्तुओ के प्रकाश करने वाले तेज पुज को अपने हृदय मे विस्तारते हुवे जो धन्य मुनि ध्यानावलम्बी होते हुए है- वे ही परमान्द रूपी समुद्र मे प्रवेश करने का अभ्यास करते है ।

" भव्याभव्य विकल्पो य जीवराशि निसर्गज- ।
मत पूर्वोऽपवर्गाय जन्ममकाय चेतर " ।।१९।।

अर्थ यह जीवराशि स्वभाव से भव्य अभव्य भेद स्वरूप है । पहिला अपवर्ग अर्थात् मोक्ष के लिये और इतर अर्थात् दूसरा अभव्य ससार के लिये माना गया है । अर्थात् भव्य मोक्षगामी होता है और अभव्य को मोक्ष नही होता है ।

" यधत्स्वस्यानिष्ट तत्तद्वा काचित कर्म्मभि कार्यम् ।
स्वप्नेऽपि नो परेषामिति धर्मस्याग्रिम लिङ्गम" ।।२१।।

अर्थ : धर्म का मुख्य (प्रधान) चिन्ह यह है कि जो क्रियाये अपने को अनिष्ट (बुरी) लगती हो सो अन्य के लिये मन, वचन, काय से भी नही किया करते । (स्वप्न मे भी नही) ।

## पापाभिचार कर्म

" वश्याकर्षण विद्वेष मारणोच्चाटन तथा ।
जलानन विषस्तम्भो रस कर्म रसायनम्" ।।५२।।

**अर्थ** बशीकरण, आकर्षण, विद्वेषण, मारण, उच्चाटन तथा जल, अग्नि, विषक, स्तम्भन, रसकर्म, रसायन ।।५२।।

**" पुरक्षोभेन्द्रजालं च बलस्तम्भो जयाजयौ ।**
**विद्याच्छेदस्तथा वेधं ज्योतिज्ञान चिकित्सितम्" ।।५३।।**

**अर्थ** · नगर मे क्षोभ उत्पन्न करना, इन्द्रजाल साधना, सेना का स्तभन करना, वैद्यक, ज्योतिष का ज्ञान जीतहार का विधान बताना, विद्या के छेदने का विधान साधना, वैद्यक विद्या साधन ।।५३।।

**" पुर क्षोभेन्द्र जालं च बलस्तम्भो जयाजयौ ।**
**पादुकाञ्जन निशस्त्रं भूत भोगीन्द्र साधनं" ।।५४।।**

**अर्थ** · यक्षिणी मत्र, पाताल सिद्धि के विधान का अभ्यास करना, काल वचना (मृत्यु जीतने का मत्र साधना), पादुका सघन खडाऊ पहनकर आकाश व जल मे विहार करने की विद्या का साधना करना, अदृश्य होने तथा गडे हुए धन देखने के अञ्जन का साधना, शस्त्रादिक का साधना, सर्प साधन ।।५४।।

**" इत्यादि विक्रियाकर्म रञ्चितैर्दुष्ट चैष्टितै· ।**
**आत्मानमपि न ज्ञातु नष्ट लोकद्वय च्युतै ।।५५।।**

**अर्थ** · इत्यादि विक्रियारूप कार्यो मे अनुरक्त होकर दुष्ट चेष्टा करने वाले जो है उन्होने आत्मज्ञान से भी हाथ धोया और अपना लोक कार्य भी नष्ट किया । ऐसे पुरुषो के ध्यान की सिद्धि होनी कठिन है ।।५५।।

" यतित्व जीवनोपाय कुर्वत कि न लज्जिता ।
मातु पण्यमिवालम्ब्य यथाकेचिद्गत घृणा " ।।५६।।
" निस्पृहा कर्म कुर्वन्ति यतित्वेऽप्यति निन्दितम् ।
ततो विराध्य सन्मार्ग विशति नरकोदरे" ।।५७।।

**अर्थ** कई निर्दय, निर्लज्ज साधुपन मे भी अतिशय निन्दा करने योग्य कार्य करते है वे समीचीन हितरूप मार्ग का विराध कर नरक मे

प्रवेश करते है । जैसे कोई अपनी माता को वेश्या बनाकर उससे धनोपार्जन करते है वैसे ही जो मुनि होकर उस मुनि दीक्षा को जीवन का उपाय बनाते हैं - वे अतिशय निर्दय तथा निर्लज्ज है ।

" दु षमत्वादर्य काल· सिद्धिर्न साधकम् ।
इत्युक्त्वा स्वस्य चान्येषा कैश्चिद्ध्यान निषिध्यते" ।।३७।।

अर्थ · कोई-कोई साधु ऐसा कहकर अपने तथा पर के ध्यान का निषेध करते है कि यह काल दु खमा (पचम) है । इस काल मे ध्यान की योग्यता किसी को भी नही है । इस प्रकार कहने वालो को ध्यान किस प्रकार हो ? कैसे हो ?

" सदिह्यते मतिस्तत्वे यस्य कामार्थ लालसा ।
विप्रलब्धाऽव्यसिद्धान्तै स कथ ध्यातुर्महति ।।३८।।

अर्थ · जिसकी बुद्धि अन्य मत के शास्त्रो से ठगी गई है तथा जो काम और अर्थ मे लुब्ध होकर वस्तु के यथार्थ स्वरूप मे सदिग्ध रूप (सदेह सहित) है, वह ध्यान करने का पात्र कैसे हो ? क्योकि जब तक तत्वो मे वस्तु स्वरूप से सन्देह होता है तब तक मन निश्चल नही हो सकता और जब मन ही निश्चल नही तब ध्यान कैसे हो ?

निसर्ग चपल चेतो नास्तिकै विप्रतारितम् ।
स्यादृश्य स कथ ध्यान परीक्षायॉ क्षमो भवेत् ।।३९।।

अर्थ एक तो मन स्वभाव से ही चचल है, जिस पर भी जिसका मन नास्तिके वादियो द्वारा वचित किया गया हो, वह मुनि ध्यान की परीक्षा मे कैसे समर्थ हो सकता है ? अर्थात् नही सकता । क्योकि नास्तिक मति खोटी-खोटी युक्तियो से आत्मा का ही नाश सिद्ध करते है । उनकी कुयुक्तियो मे जिनका मन फस जाता है, उसके ध्यान की योग्यता कहॉ हो सकती है ?

" कान्दर्पी प्रमुखा पञ्च भावना राग रञ्जिता ।
येषा हृदि पद चक्रु क्व तेषा वस्तुनिश्चय ।।४०।।

अर्थ · जिसके मन मे कान्दर्पी आदि पॉच भावनाओ ने (राग से रजित) निवास किया है, उनके वस्तु निश्चय (तत्वार्थ ज्ञान) कैसे हो ?

" कान्दर्पो कौल्विषी चैव भावना चाभियोगिकी ।
दानवी चापि सम्मोही त्याज्या पञ्चतयी च सा" ।।४१।।

**अर्थ** : १ कान्दर्पी (कामचेष्टा) २ किल्विषी (क्लेशकारिणी) ३ अभियोगिकी (युद्ध भावना) ४ आसुरी (सर्व भक्षणी) और ५ सम्मोहिनी (कुटुम्ब मोहिनी) इस प्रकार ये पॉच भानाये पापरूप है, सो पॉचो ही त्यागने योग्य है ।

" नर्म कौतुक कौटिल्य पाप सूप्रोपदेशका ।
अज्ञानज्वर शीर्णाड्गवा मोह निद्रास्तचेतना·" ।।४८।।

" अनुर्धुक्तास्तपः कर्तु विषय ग्रास लालसा ।
ससगव· शाकता भीता मन्येऽमी दैव वाञ्चता" ।।४९।।

" एते तृणी कृत स्वार्था मुक्तिश्री सड्ग निःस्पृहाः
प्रभन्ति न सद्धयान मन्वेपि तुमपि क्षणं" ।।५०।।

" अविद्या श्रवण युक्तं प्राग्गृहावस्थि तैर्वरम् ।
मुक्त्यड्ग लिंगमादाय न श्लाघ्यं लोक दम्भन ।।५८।।

**अर्थ** · जो गृह अवस्था मे है, उनके तो ऐसी अविद्या का आश्रय करना कदाचित युक्त भी कहा जाता है। परन्तु मुक्ति के अग स्वरूप मुनि के वेष को धारण करके कुक्रिया करने से तो पहिली गृहस्थावस्था ही अच्छी है । क्योकि ऐसी गृहस्थ अवस्था मे उक्त कार्य करने वालो की कोई विशेष निदा नही करते. किन्तु यति का वेष धारण करके निदनीय नही करना चाहिये-ध्यान तो दूर रहा ।

" विन्ध्याद्रिर्नगर गुहा वसतिका· शय्याशिला पार्वती ।
दीपाश्चन्द्रकरा मृगा सहचरा मैत्री कुलीनाड्गना ।।
विज्ञान सलिल तप सदर्शन येषा प्रशान्तात्मना ।
धन्यस्ते भवपक निर्गमपथ प्रोद्देशका· सन्तु व "।।२१।।

**अर्थ** जिन प्रशान्तात्मा मुनि महाराजो के विन्ध्याचल पर्वत नगर है । पर्वत की गुफाये वसतिका (गृह) है, पर्वत शिला शय्या समान है ।

चन्द्रमा की किरणे दीपकवत् है। मृग सहचारी है। सर्वभूत मैत्री (दया) कुलीन स्त्री है। पीने का जल-विज्ञान और तप उत्तम भोजन है। वे ही धन्य हैं। ऐसे मुनिराज हमको संसार रूप कर्दम से निकाल कर मोक्ष मार्ग का उपदेश देने वाले हो।

सम्यक्ज्ञानाचार के आठ भेद

१ **कालाचार** - काल देखकर स्वाध्याय करना।

२ **विनयाचार** - शास्त्रो (आगम) का आदर पूर्वक विनय करना।

३. **उपधानाचार** - शास्त्रो या ज्ञानोपकरणो का शुद्धि पूर्वक आदान प्रदान करना।

४ **बहुमानाचार** - देव-शास्त्र-गुरु का आदर सहित बहुमान करना।

५ **अनिन्हवाचार** - अपने दोषो की आलोचना सहित साधर्मी जनो के गुणो की प्रशसा करना।

६ **व्यंजनाचार** - शास्त्रो का स्वर-व्यजन की शुद्धता सहित स्वाध्याय करना।

७ **अर्थाचार** - आगम (शास्त्रो) के अर्थ (भाव) को ग्रहण करना।

८ **उभयाचार** - निश्चय-व्यवहार पूर्वक (आगमोक्त) आचरण करना।

ध्यान की योग्यता

"अत करण शुद्धयर्थ मिथ्यात्व निद्धतम्।
निष्प्यत यैर्न नि शेष न तैस्तत्व प्रमीयते" ।।३६।।

अर्थ जिन मुनियो ने अपने अतकरण की शुद्धता के लिये उत्कट मिथ्यात्व रूपी समस्त विष नही वमन किया (नही उगला) वे तत्वो को प्रमाण रूप नही जान सकते है, क्योकि मिथ्यात्व रूपी विष ऐसा प्रबल है इसका लेशमात्र भी हृदय मे रहे तो तत्वार्थ का ज्ञान, श्रद्धान प्रमाण रूप नही होता। तब ऐसी अवस्थाओ मे ध्यान की योग्यता कहाँ?

**स्त्री पर्याय से मुक्ति नही**

> **"प्रमादमय मूर्तीना प्रमादोऽतो यत सदा ।**
> **प्रमदास्तास्तत· प्रोक्ता · प्रमाद बहुलत्वत " ।।४५।।**
> **"विषाद प्रमदो मूर्च्छा जुगुप्सा मत्सरो भयम् ।**
> **चित्ते चित्रायते माया ततस्तांसा न निर्षृति ।।४६।।**

**अर्थ** · यहॉ स्त्री जनो की स्त्री पर्याय से मुक्ति की प्राप्ति क्यो नही होती है ? इन स्त्रियो मे स्वभाव से अथवा प्राय बहुलता से निम्न दोष पाये जाते है उनमे प्रमाद को सब से पहले लिया गया है जिसकी बहुलता के कारण स्त्रियो को प्रमाद्य कहा जाता है और उन्हे प्रमाद मय मूर्ति के नाम से भी उल्लेखित किया गया है 'प्रमाद' शब्द मात्र आलस्य तथा असावधानी वाचक नही बल्कि उसमे क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय, स्त्री, राज, भोजन, चोर ये चार प्रकार की विकथाये, राग, निद्रा और पॉचो इन्द्रियो के पॉचो विषय ये पन्द्रह बाते शामिल है । आम तौर से स्त्रियो मे इनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति अथवा बहुलता पायी जाती है, इस प्रमाद को गिनाया गया है । अनन्तर विषाद, ममता, ग्लानि, ईर्ष्या, भय और उस मायाचार दोष को गिनाया गया है जो प्रयत्न पूर्वक न होकर स्वाभाविक होता है । ये सब दोष मुक्ति की प्राप्ति मे बाधक है । अत स्त्रियो को अपनी उस पर्याय से मुक्ति की प्राप्ति नही होती ।

> **"शैथिल्यमतित्व चेतश्चलन श्रा (स्त्रा) वण तथा ।**
> **तासां सूक्ष्म-मनुष्याणामुत्पादोऽपि बहुस्तनौ ।।४८।।**
> **"कक्षा श्रोणिस्तनोद्येषु देह देशे तु जायते ।**
> **उत्पत्ति सूक्ष्म जीवाना यतो, नो सयमस्तत·" ।।४९।।**

**अर्थ** यहॉ स्त्रियो मे पाये जाने वाले दूसरे कुछ ऐसे दोषो को उल्लेखित किया है जो प्राय शरीर से सम्बन्ध रखते हे ओर जिनके कारण स्त्रियो के पूर्णत सयम का पालन नही बनता । पूर्णत सयम का न पालन भी मुक्ति प्राप्ति मे बाधक हे । जब स्त्रियो के स्वभावत कुछ

शारीरिक तथा मानसिक दोषो के कारण पूर्णतः सयम नही बनता और इसलिये मुक्ति की प्राप्ति नही होती तब उनके शरीर को बिल्कुल नग्न दिगम्बर रूप मे रखने की आवश्यकता नही है और इसलिये वस्त्र से उनकेआच्छादन की व्यवस्था की गयी है ।

"प्रचण्ड पवनै प्रायश्चाल्यन्ति यत्र भूभृत ।
तत्राङ्गनादिभि स्वान्त निर्सग तरल न किम् ।।१६।।

अर्थ स्त्रियां प्रचण्ड पवन के समान है । प्रचण्ड पवन बड़े-बडे भूभृतो (पर्वतो) को उड़ा देता है और स्त्री बड़े भूभृतो (राजाओ) को चला देती है । ऐसी स्त्रियां जो स्वभाव से ही चचल है - उनमे मन क्या चलायमान नही होगा ?

भावार्थ स्त्रियो के ससर्ग मे ध्यान की योग्यता कहाँ ? कभी नही होती ।

"खपुष्पमथवा शृङ्ग खरस्यापि प्रतीयते ।
न पुनर्देश कालेऽपि ध्यान सिद्धि गृहाश्रमे" ।।१७।।

अर्थ आकाश के पुष्प और गधे के सीग नही होते हैं । कदाचित् किसी देश वा काल मे इनके होने की प्रतीति हो सकती है, परन्तु गृहस्थाश्रम मे ध्यान की सिद्धि होनी तो किसी देश व काल मे, सम्भव नही है ।

मूल परिणमाना गृहस्थानामात्मश्रित निश्चय धर्मस्थावकाशोनास्ति।

अर्थ गृहस्थ परिणाम वाले गृहस्थो को आत्माधीन निश्चय धर्म के पालने का अवकाश नही है ।

स्त्री ससर्ग निषेध

मैथुनाचरणे मूढ म्रियन्ते जन्तुकारण ।
योनिरध्रसमुत्पन्ना लिग सघ प्रपीडिता ।।२१।।
कुथित कुणपगध योषिता योनिरन्ध्र ।
कृमिकुलशतपूर्ण निर्झरत्थारवारि ।

**व्यजति मुनि निकाय क्षीण जन्म प्रबन्धो ।**
**भजति मदन वीर प्रेरितोऽङ्गी वराक· ।।२५।।**

**अर्थ :** स्त्रियो का योनिरध्र बिगडे हुए व सडे मुर्दे की - सी दुर्गंध वाला है । कीडो के सैकडो समूहो से भरा हुआ है । और क्षारजल (मूत्र) झरता है । और जिनके ससार का अन्त आ गया है ऐसे मुनिगण तो इसे छोडते है और जो रक कामरूपी सुभट करके प्रेरित है वे सेवन करते है।

**"यासां सकल्प लेशोऽपि तनोति मदन ज्वरम् ।**
**तस्याः किम् न कथालापै भृङ्गैश्चारू विभ्रमै : ।।१३।।**

**अर्थ** जिस स्त्री के ससर्ग मात्र से ही मुनिपन कलकित होता है, उनके साथ वार्तालाप करने, टेढी भौहो के सुन्दर विभ्रम विलासो के देखने से क्या यतिपन नष्ट नही होता अर्थात् होता ही है ।

**"यासा सकल्प लेशोऽपि तनोति मदन ज्वरम् ।**
**प्रत्यासक्तिर्न तासा रूपाद्विचरणाश्रियम्" ।।२२।।**

**अर्थ :** जिन स्त्रियो के सकल्प की लेशमात्र भी भावना मन मे हो तो वह मदन ज्वर को बढा देती है तो उनकी निकटता क्या चारित्ररूपी लक्ष्मी को नष्ट-भ्रष्ट नही करेगी ? आचार्य महाराज कहते है कि हमने बहुत काल बडो की सगति मे रहकर भली प्रकार निर्णय कर लिया है तथा यह सिद्धान्त प्राप्त किया है कि स्त्री के मुखावलोकन करने से जीवो का सयमरूपी रत्न अवश्य ही नष्ट हो जाता है । स्त्रियो के शरीर की आकृति पुस्त (मिट्टी आदि से) व पाषाण से रची हुई तथा काष्ठ चित्रादि से रची हुई को देखकर भी प्राणी मोह को प्राप्त होता है इसमे कुछ सन्देह नही है । फिर साक्षात स्त्री को देखने से क्यो नही मोहित होगा ? अर्थात् अवश्य ही होगा ।।२५।।

यहाँ स्त्री का ससर्ग होने पर क्या अवस्था होती है - प्रथम तो स्त्री पर दृष्टि पडती है तत्पश्चात् चित्त मोहित होता है, तत्पश्चात् उस स्त्री की कथा और गुण कीर्तन मे मन लगता है ।

तत्पश्चात नि शंक सगम का लोलुप मन (दोनो का) परस्पर एक हो जाता है, तत्पश्चात प्रेम के वेग से पीड़ित होकर लज्जा नष्ट हो जाती है तब बड़ो के निकट रहने पर भी परस्पर वार्तालाप, दृष्टि साम्यतादि निर्लज्जता के कार्य होने लगते है ।

"श्रुत सत्य तप शील विज्ञान व्रतमुत्तमम् ।
इन्धनी कुरूते मूढः प्रविश्य वनितानले" ।।२२।।

अर्थ इस प्रकार वह मूढ़, प्राणी स्त्रीरूपी अग्नि मे प्रवेश करके शास्त्राध्यन, सत्यव्रत,तप, शील, (ब्रम्हचर्य) विज्ञान और उत्तम चारित्र इनको इन्धन के समान जला देता है । अर्थात स्त्री के संसर्ग से समस्त धर्म नष्ट कर देता है।

"पुण्यानुष्ठान सम्भूत महत्व क्षीयते नृणाम् ।
सद्य कलक्यते व्रत साध्वर्येण योषिताम् ।।२५।।

अर्थ - स्त्रियो के साथ ससर्ग रहने से मनुष्यो का अनेक पुण्य कार्यो से प्राप्त हुआ महत्व (बड़प्पन) तत्काल नष्ट हो जाता है और जो भी व्रत-चारित्र है वे कलकित हो जाते है । अब आचार्य महाराज कहते है कि हे भाई ! ब्रम्हचर्य की रक्षा के लिये केवल स्त्रियो के ससर्ग का ही निषेध नही किया है किन्तु विट-विद्यावलम्बी व्यभिचारी स्त्री-पुरुषो का सग भी त्यागने योग्य कहा है ।

**नारी-मनुष्य के नैतिक विकास की प्रेरणा**

"यत्र नार्यस्तु पूज्यते रमते तत्र देवता"

अर्थात् जहॉ नारियो को सम्मान दिया जाता है वहॉ देवताओ का वास होता है ।

प्राचीन समय से जीवन को चार आश्रमो मे बॉट दिया है - जिसे वर्णाश्रम कहते है -

१ ब्रम्हचर्याश्रम, २ गृहस्थाश्रम, ३ वानप्रस्थाश्रम, ४, सन्यासाश्राम ।

इन चारो आश्रमो मे गृहस्थाश्राम को ही श्रेष्ठ समझते है क्योकि गृहस्थ से ही शेष तीनो की पूर्ति होती है । गृहस्थ आश्रम की केन्द्र बिन्दु

नारी है । मनुष्य जीवन की प्रथम शिक्षिका नारी ही है । वह गर्भस्थ शिशु को अपने सस्कारो द्वारा सस्कारित करती है । कहा भी है, "मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्य देवो भव" माता-पिता-गुरु इन तीनो गुरुओ मे माता का स्थान सर्वोपरि है क्योकि बच्चो की प्रारम्भिक शिक्षा माता पर ही निर्भर है । गृहस्थ मे दूसरा रूप पत्नी का है, वह वस्त्र, भोजन आदि से लेकर आतिथ्य का गहन भार सम्हालती है इसलिये उसे अर्धागिनी कहा है ।

**"नारी तो तन, मन, जीवन दे,**
**करती अपना सर्वस्व दान ।**
**निष्काम समर्पण अरे कहो ।**
**नर हो सकता इतना महान" ?**

नारी की जिन्दगी और उसकी प्रकृति सदा से ही आदर्श के सॉचे मे ढली है । जो त्याग, सहिष्णुता, शील सौजन्य और ममता नारी मे है उसके द्वारा वह मनुष्य को प्रेरणा देती है, मनुष्य के ऊपर जब कोई अत्याचार, दु ख आता है तो नारी ही अपने सौजन्य से मनुष्य को धैर्य बन्धाती है ।

नारी के कारण ही 'रामचरित-मानस' की रचना हुई । यदि कैकयी युद्ध मे राजा दशरथ को न सम्हालती तो न राजा दशरथ वर देने की कहते, न राम वनवास जाते, न रामायण बनती । नारी मनुष्य से कभी पीछे नही रही। सदा पुरुष के कधे से कधा मिलाकर सहयोग देती आ रही है । सती सीता के जीवन मे भी हम इसी रूप को पाते है, गर्भिणी सीता राम के द्वारा परित्यकत होकर वनो मे विचरण करती है लेकिन उसका व्यक्तित्व लुप्त नही होता-चमक उठता है । सच तो यह कि राम की प्रसिद्धि मे सीता की सहिष्णुता ही कारण हे । आधुनिक युग विज्ञान का युग है, नारी जागरण का युग है । अब उसका दायरा भी बढ गया है - अब वह स्वय शिक्षित है व आर्थिक भार भी वहन करती हे । क्या खेत-खलिहान, क्या दफ्तर, शिक्षा क्षेत्र सभी मोर्चा सम्हालती हुई गृहस्थ

धर्म का पालन करती है। इस प्रकार नारी ही मनुष्य के नैतिक विकास की प्रेरणा है और हम उसके मातृरूप को वंदना करते हैं।

" या देवि सर्व भूतेषु मातृ रूपेण सस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नम "।।

अर्थ दाम्पत्य जीवन एक रथ है और इस रथ के दोनो पहियो के रूप मे है "नारी और पुरुष" इस रथ की गति कभी नही रुके इसके लिये आवश्यक है कि पति-पत्नी एक दूसरे की मनोभावना समझे। पत्नी घर की निर्मात्री है। वह घरको स्वर्ग बनाने मे मनुष्य का साथ देती है। दिनभर काम करके श्रम-पीड़ित पुरुष जब घर पत्नी की मधुर मुस्कान तथा बच्चो की किलकारियो मे खोकर अपनी सारी थकान भूल जाता है। जैन इतिहास मे ऐसे नारियो के द्वारा मनुष्यो को प्रेरणा देनेवाले अनेक उदाहरण मिलते हैं। रानी चेलना के धर्म विश्वास को देखिये जिसने कट्टर बौद्ध धर्मावलम्बी राजा श्रेणिक को सच्चा श्रावक बना दिया। राजा ने रानी को हमेशा नीचा दिखाने की कोशिश की थी पर रानी सदा विजयी हुई। अततोगत्वा जैन मुनियो की दृढता देख श्रेणिक ने एकदम पलटा खाया। सम्यक्त्वी होकर तीर्थकर प्रकृति का बध कर लिया। अनेक नारियो ने अपने कल्याण के साथ साथ पुरुषो को सत्पथगामी बनाया है। सोमा सती भी उनमे से एक है जिन्होने कट्टर रात्रि भोजन के पक्षपाती अपने पति व सास को पक्का जैन धर्मानुयायी बना दिया। नारी मे अनन्त शक्ति है। वह तीन लोक के नाथ तीर्थकर भगवान को भी अपने गर्भ मे धारण कर सकती है नारी की जिन्दगी और उसकी प्रकृति सदा से आदर्श के साचे मे ढलती रही है। यही कारण है कि जो त्याग, सहिष्णुता, शील, सौजन्य और ममता नारी मे देखने को मिलती है - पुरुषो मे ये चीजे नही मिलती। अपना सब कुछ त्यागकर, दु खकर सहकर भी नारी चुप रहती है लेकिन पुरुष के ऊपर जब कोई अत्याचार या दुख आता है तो वह चुप नही रह सकती बल्कि उसके विरोध मे बुलन्द आवाज उठा देती है।

यह पुरुष सरासर जल्दी से जल्दी स्त्री-रत्न को नीचा दिखाने की कोशिश करता है। इतना ही नही शब्दो के साथ हाथो का प्रहार करने से भी नही चूकता। उस नारी की क्या हालत होगी, क्या कोई सोच सकता है ? क्या वैवाहिक जीवन का यही रहस्य है ? क्या नारी सिर्फ पुरुषो का ताडन सहने के लिये ही जन्म लेती है ? कितनी ही मा-बहने बचपन से सुख की गोद मे पलती आ रही है, वे ऐसे घर मे आकर और ऐसे पुरुष की जीवन सगिनी बनकर सदा आसुओ का दामन थामे रहती है। नारी विवशता की जजीरो मे जकडी वह सितार है जिसके स्वरो मे सिर्फ बेबसी का राग है और कुछ नही। आज हमारे समाज मे ऐसी भी स्त्रिया है जो पति के अनुचित व्यवहार सहन करके भी उनसे उपेक्षित होकर निकाल दी गयी है ? और तब भी वह चुप है। आखिर क्यो ? इसलिये कि खुद अपने पति के विरोध मे समाज मे आवाज उठाने की चेष्टा करने पर उसकी नम्रता की परिचायिका 'शीशे की चूडियॉ' उसे ऐसा करने से रोक देती है। और वह बेचारी कितने कष्ट सहकर समाज मे अपना उपेक्षित जीवन बिताती है और उसका पति चूॅकि वह पुरुष है इसलिये उसके जीवन मे आसानी से किसी अन्य स्त्री का पत्निरूप मे आगमन हो जाता है मुझे अब धर्म करने को समय मिल गया। ऐसा समझकर सयमी बन जाती है।

नारी के विशाल हृदयसागर मे ममता की हिलोरे सदैव ही डूबती उतराती रहती है। नारी ही है जो त्रैलोक्यनाथ को जन्म देती है। वह नारी ही है जो जगत को ममता का अक्षय भण्डार अखिल विश्व को अबाध गति से लुटा सकती है। कोई भी शक्तिमय कायरता उसे अपने स्वभाव से तब तक विचलित नही कर सकती जब तक वह स्वय ही अपने को न रोक ले। नारी की वाणी मधुर हे। वह कमजोर हृदय को शक्तिशाली बना सकती है।

समाज व धर्म की सस्कृति नारी पर ही आधारित हे। सृजनशील

नारी का विश्व कल्याण मे अनूठा आत्म सहयोग है वह पुनीत प्रेम के कारण अपने को कठोर अनुशासन मे ढाल सकती है और अनुशासन का दूसरा नाम आत्म सयम है। आत्म सयमी नारी मे स्वभावत कर्तव्यपालन, आज्ञा पालन, कारुण्य, विनयशीलता, सहिष्णुता, सहनशीलता आदि सभी गुणो का समावेश हो जाता है।

यही स्त्री जब अपना स्त्री लिंग छेदकर पुल्लिंग प्राप्त कर, दीक्षा धारण कर, उग्र तप तपते हुए समाधि प्राप्त कर केवलज्ञानमय हो जाती है।

वही और यही मोक्षलक्ष्मी सदैव और सर्वत्र वदनीय है।

---

### सम्यग्दृष्टि मुनि के ध्यान में रखने योग्य

# रत्नकरंड श्रावकाचार

" गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान् ।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोही मोहिनो मुनेः " ॥३३॥

का विधान करते हुए भी अभिषेक का वर्णन नही किया है (देखो भाग १ पृ न १४ श्लोक न १०९, १२०)।

२ कार्तिकेयानुप्रेक्षा मे प्रोषध उपवास की समाप्ति पर पात्र को दान देने के पूर्व पूजन करने का उल्लेख मात्र किया है। अभिषेक का कोई सकेत नही है (भाग १ पृ न २८, गाथा १७५)

३ महापुराण मे पूजन के नित्य मह आदि चारो भेदो का स्वरूप वर्णन करते हुए और एक स्थान पर बलि-स्नपनादि का उल्लेख करते हुए (भाग १, पृ न ३१ श्लोक न ३३) भी पचामृत अभिषेक का कही कोई निषेध नही किया है। जबकि गर्भाधानादि क्रियाओ का वर्णन करते हुए अपने कथन की पुष्टि मे श्रुतोपासक सूत्र (पृ न ३० भाग १, श्लोक न २५०), (पृष्ठ न ९३ श्लोक न १७४)। श्रावकाध्याय सग्रह (भाग १, पृ न ३३, श्लोक न ५०)। मूलोपासक सूत्र (पृ न ३५, श्लोक न ८६), (पृष्ठ न ६१, श्लोक न ५७), (पृ न ६४, श्लोक न ९५)। क्रियाकल्प (पृ न ३४, श्लोक न ६९, पृ न ६१, श्लोक न ५३)। औपासिक सूत्र (पृ न ३८, श्लोक न ११८)। उपासकाध्यन (पृ न ९२, श्लोक न १६१), (पृ न ९२, श्लोक न १६५) आदि विभिन्न नामो से विभिन्न स्थलो पर उपासकाचार सूत्र का उल्लेख किया है।

४ पुरुषार्थ सिद्धयुपाय ग्रथ मे प्रभावना अग का वर्णन करते हुए 'दान तपो जिन पूजा' वाक्य मे केवल जिन पूजा का नामोल्लेख है (भाग १, पृ न १०१, श्लोक न ३०) तथा प्रोषधोपवास के दिन प्रासुक द्रव्यो से जिन पूजा करने का विधान किया है (पृ न ११५, श्लोक न १५५) जलाभिषेक या पचामृताभिषेक का कोई निर्देश नही है।

५ सोमदेव ने यशस्तिलक गत उपासकाध्ययन मे पूजन का विस्तृत वर्णन किया है और अभिषेक का वर्णन करते हुए लिखा है (ये वे ही जिनेन्द्रदेव है, यह सिहासन ही सुमेरु पर्वत है और कलशो मे भरा हुआ यह ही साक्षात क्षीरसागर का जल है) ऐसा कहकर (भाग १ पृ

न १८२ श्लोक न ५०३) जल से अभिषेक कराया है। पश्चात् दाख, खजूर, नारियल, ईख, ऑवला, केला, आम, तथा सुपारी के रसो से अभिषेक कराया है (भाग १, पृ न १८२, श्लोक ५०७) तत्पश्चात् घी, दूध, दही, इलायची और लोग आदि के चूर्ण से जिन बिब की उपासना करने का विधान किया है (भाग १, पृ न १८२, श्लोक ५०८ से ५११) इस प्रकार सोमदेव ने सर्वप्रथम पचामृत अभिषेक का विधान किया है। उनका यह विधान अन्यत्र दर्शित आचमन आदिक विधान के समान ही हिन्दुओ मे प्रचलित पूजन अभिषेक का अनुकरण है।

६ चामुण्डराय ने अपने चारित्रसार मे श्रावक व्रतो का वर्णन कर अन्त मे इज्जा, वार्ता आदि छह आर्य कर्मो के वर्णन मे पूजन के महापुराणो की चारो प्रकारो की स्वरूप स्वपन अभिषेक करने का निर्देश मात्र किया है (भाग १, पृ न २५८, अनु २)

७ अमितगति ने अपने श्रावकाचार मे पूजन के दो भेद करके द्रव्य-पूजा और भाव-पूजा का स्वरूप वर्णन किया है। (भाग १, पृ न ३७३ श्लोक न ११ से १५) इससे आगे उन्होने जिन पूजा का माहात्म्य और फल वर्णन करके लिखा है कि जिन स्नान और जिनोत्सव करनेवाले पुरुष भी लक्ष्मी को प्राप्त होते है। (पृष्ठ न ३७५, श्लोक न ४०) इसके सिवाय और कही पर भी अभिषेक का कोई निर्देश नही किया है।

८ वसुनदी ने अपने श्रावकाचार मे प्रोषभ प्रतिभा का वर्णन करते हुए द्रव्य और भाव-पूजन करने का विधान किया है। (भाग १, पृ न ४५२, गाथा न २०७) पुन श्रावक के अन्य कर्तव्यो का वर्णन करते हुए पूजन का विस्तृत वर्णन किया है। वहॉ पर नाम स्थापनादि पूजन के छह भेद बताकर स्थापना पूजन मे नवीन प्रतिमा का निर्माण कराके उनकी प्रतिष्ठा विधि का वर्णन कर अन्त मे शास्त्र मार्ग से स्वपना करने का विधान किया है (पृ न ४६८, गाथा न ४२४) तदनन्तर काल पूजा का वर्णन करते हुए तीर्थकरो के गर्भ-जन्मादि कल्याणको के दिन इक्षुरस,

घी, दही, दूध, गन्ध और जल से भरे कलशो से जिनाभिषेक का वर्णन किया है। (भाग १ पृ न ३०१, गाथा न ४५३-४५५)

९ सावय धम्म दोहा मे जिन पूजन का वर्णन करते हुए लिखा है कि जो जिनदेव को घी दूध से नहलाता है वह देवो द्वारा नहलाया जाता है। (भाग १ पृ ४५३, दोहा १८९)

१० सागरधर्मामृत के दूसरे अध्याय मे महापुराण का अनुसरण कर पूजा के नित्यमह आदि भेदो का कथन करके और तदनुसार बलिस्तवन आदि का भी निर्देश करके इस स्थल पर पचामृताभिषेक का कोई वर्णन नही किया है - (देखो श्रावकधर्म सग्रह भाग २ पृ ९-१०, श्लोक २४-३०)।

इससे आगे श्रावक के १२ व्रतो का विस्तार से तीन अध्यायो मे वर्णन करके छठे अध्याय मे श्रावक को प्रात काल जागने से लेकर रात्रि मे सोने तक की दिनचर्या का वर्णन किया गया है। वहाँ पर प्रात काल जिनालय मे जाकर पौर्वाह्निक पूजन का विधान किया है। तत्पश्चात् अपने व्यापारदि के उचित स्थान दुकान आदि पर जाकर न्यायपूर्वक जीविकोपार्जन का निदेश किया है (भाग २, पृ ६४, श्लोक १५१)। पुन भोजन का समय होने पर घर आकर, स्नान कर, शुद्ध वस्त्र पहिन कर माध्यमिक करने का विधान किया है। (भाग २, पृष्ठ ६४) उसकी विधि मे आशाधरजी ने वही श्लोक दिया है जिसे उन्होने प्रतिष्ठासारोद्धार नामक अपने प्रतिष्ठा पाठ के शास्त्र मे दिया है। उसका भाव यह है।

अभिषेक की प्रतिज्ञा करके भूमि का शोधन करे, उस पर सिहासन रखे, उसके चारो कोनो पर जल से कलशे भरे चार कलश स्थापित करे। सिहासन पर चदन से श्री और ही लिखकर पुष्प क्षेपण करे। पुन उस पर जिन बिब स्थापन करे और इष्ट दिशा मे खडे होकर आरती करे। तदनन्तर जल, रस, घी, दूध और दही से अभिषेक करे। पुन लवग आदि के चूर्ण से उद्धर्तन कर चारो कोणो पर रख। कलशो के जल

से अभिपेक कर जल गन्धादि द्रव्यो से पूजन करे और अन्त मे जिनदेव को नमस्कार कर उनके नाम का स्मरण करे (भाग २, पृ ६५ श्लोक २२)

इस स्थल पर सवसे विचारणीय वात यह है कि आशाधर ने प्रात कालीन पूजन के समय जिनालय मे आकर पूजन के समय उक्त अभिपेक का विधान क्यो नही किया ? और मध्याह्न के पूजन के समय अपने पर ही भूमिशोधक का उपयुक्त प्रकार से जिन विव के अभिषेक का दूध-दही आदि से करने का वर्णन क्यो किया ? इस प्रश्न क अन्तस्तल मे ही यह जानेपर सहज स्पष्ट हो जाता है कि आशाधर के समय तक सार्वजनिक जिन मन्दिर मे पचामृताभिषेक का प्रचलन नहीं था । किन्तु आशाघर मूर्ति प्रतिष्ठा शास्त्र के ज्ञाता और निर्माता थे तथा प्रतिष्ठा के समय नवीन मूर्ति का पचामृताभिषेक किया जाता था । अत उन्होंने उसी पद्धति के प्रचारार्थ मध्याह्न पूजा के समय घर पर सहज सुलभ दूध दही आदि से भी अभिषेक करने का विधान कर दिया । यदि ऐसा न होता तो वे दूसरे अध्याय मे नित्यमह आदि चारो भेदो का वर्णन करते हुए पचामृताभिषेक पूर्वक ही नित्य पूजन करने का विधान करते । किन्तु यत महापुराणकार जिनसेन ने चारो प्रकार की पूजाओ का वर्णन करते हुए भी उसके पूर्व या पश्चात् पचामृताभिषेक का कोई वर्णन नही किया है । और न गर्भाधान आदि क्रियाओ का वर्णन करते हुए पचामृताभिषेक का कोई निर्देश किया है । अत उक्त स्थल पर आशाधर ने पचामृताभिषेक का वर्णन करना उचित नही समझा

मे जिन पूजन का विस्तृत वर्णन करते हुए भी पचामृताभिषेक का कोई वर्णन नही किया है। अभिषेक के विषय मे केवल इतना ही लिखा है।

जिनाग स्वच्छ नीरेण क्षालयन्ति सुभावतः ।
चेऽात पापमल तेषा क्षयं गच्छति धर्मत. ।।

(भाग २ पृ ३७६, श्लोक १९६)

अर्थात् जो उत्तम भाव से स्वच्छ जल के द्वारा जिनदेव के अग का प्रक्षालन करते है, उस धर्म से उनका महापाप मल क्षय हो जाता है।

इससे सिद्ध है कि आचार्य सकलकीर्ति पचामृताभिषेक के पक्ष मे नही थे जबकि वे स्वय प्रतिष्ठाये कराते थे।

१३ गुणभूषण श्रावकाचार मे तीसरे उपदेश मे नामादि छह प्रकार के पूजन का विस्तार से वर्णन करते हुए भी जल अभिषेक या पचामृताभिषेक का कोई वर्णन नहीं किया है। (भाग २, पृ न ४५६-४५९)

१४ धर्मोपदेश पीयूषवर्षी श्रावकाचार मे श्री नेमिदत्त ने चौथे अध्याय मे पचामृताभिषेक करने का केवल एक ही श्लोक मे विधान किया है। (भाग २, पृ ४९२, श्लोक २०६)

१५ लाटी सहिता मे राजमल्लजी ने दो स्थानो पर पूजन करने का विधान किया है। प्रथम तो दूसरे सर्ग के १६३-१६४ वे श्लोको द्वारा और दूसरे सामायिक शिक्षाव्रत का वर्णन करते हुए पचम सर्ग मे श्लोक १७० से १७७ तक आठ श्लोको द्वारा। इन दोनो ही स्थलो पर न जल अभिषेक का निर्देश किया है और न पचामृताभिषेक का ही।

१६ उमास्वामी श्रावकाचार मे उसके रचयिता ने प्रात कालीन पूजन के समय जिनालयो मे पचामृताभिषेक करने का स्पष्ट विधान किया है और यहॉ तक लिखा है कि दूध के लिये गाय को रखने वाला जल के लिये कूप को बनवाने वाले और पुष्प के लिये बगीचा बनाने वाला अधिक दोष का भागी नही है। (भाग ३ पृ १६३, श्लोक १३३-१३४)

१७ पूज्यपाद श्रावकाचार मे उसके रचयिता ने स्वर्ण, चन्दन और

पाषाण से जिन बिब निर्माण करा के प्रतिदिन पूजन करने का विधान किया है पर अभिषेक का कोई निर्देश नही किया है ।

(भाग ३, पृष्ठ १९७, श्लोक ७४)

१८ व्रतसार श्रावकाचार मे पचामृताभिषेक का कोई निर्देश नही है केवल एक श्लोक मे त्रिकाल प्रतिमार्चन सयुक्त वदन करने का निर्देश मात्र है । (भाग ३, पृ २०५, श्लोक १५)

१९ व्रतोद्योतन श्रावकाचार मे श्री अभ्रदेव ने पचामृताभिषेक का कोई वर्णन नही किया है । केवल इतना ही कहा है कि जो भाव पूर्वक जिनेन्द्रदेव का स्तवन करता है वह सिद्धालय के परम सुख को प्राप्त करता है । (भाग ३, पृ २२८, श्लोक १९८)

२० श्रावकचार सारोद्धार मे पद्‌मनदी ने जिन पूजन का विधान प्रोषधोपवास के दिन केवल आधे श्लोक मे किया है जबकि यह ११५९ न श्लोक मे प्रमाण है । (भाग ३, पृ ३६२, श्लोक ३१३)

२१ भव्य धर्मोपदेश उपासकाध्ययन मे जिनदेव ने सोमदेव और वसुनन्दि के समान पचामृताभिषेक का विधान किया है - ( भाग ३, पृ ३९६, श्लोक ३४९-३५३) तत्पश्चात् पूर्व आहूत देवो के विसर्जन का विधान किया है (श्लोक ३५६) यहॉ यह ज्ञातव्य है कि उक्त विधान चौथी प्रतिमा के अन्तर्गत किया गया है । और सबसे अधिक विचारणीय बात तो यह है कि इस श्रावकाचार के रचयिता ने उक्त सर्व कथन श्रेणिक को सम्बोधित करते हुए इन्द्रभूति गणधर के मुख से कराया है ।

(देखो भाग ३, पृ ३७३, श्लोक ५३)

२२ उपासक सस्कार मे आचार्य पद्‌मनदी ने श्रावक के देवपूजादि षट आवश्यको का विस्तृत वर्णन करते हुए भी पचामृताभिषेक का कोई उल्लेख नही किया हैं । (भाग ३, पृ ४२८, श्लोक ३४-३६)

२३ देश व्रतोद्योतन आचार्य पद्‌मनदी ने जिन विव और जिनालय बनवा करके श्रावक को नित्य ही स्तवन, पूजन आदि करके पुण्योपार्जन का विधान किया है । (भाग ३, पृ ४३८, श्लोक २२-२३)

२४ प्राकृत भाव सग्रह मे आचार्य देवसेन ने देव पूजन की महत्ता वताकर जिनदेव के समीप पद्मआसन से बैठकर पिण्डस्थ, पदस्थादि रूप से धर्म ध्यान करने का विधान किया है। पुन अपने को इन्द्र मानकर सिंहासन को सुमेरु और जिन बिंब को साक्षात जिनेन्द्रदेव मानकर, जल, घी, दूध और दही से भरे कलशो से स्नान कर पूजन करने का विधान किया है। (भाग ३, पृ ४८८, गा ७-९३)

२५ संस्कृत भाव सग्रह मे प वामदेव ने प्राभृत भाव सग्रह का अनुसरण करते हुए अधिक विस्तार से पचामृताभिषेक का वर्णन किया है। (भा ३, पृ ४३७-४५८, श्लोक २८ से ५८) यहा इतनी विशेषता है कि जहाँ देवसेन ने अभिषेक पूजन आदि करके स्थान का स्पष्ट निर्देश नही किया है वहाँ वामदेव ने उक्त पचामृताभिषेक और पूजन घर पर करके पीछे जिन चैत्यालय जाकर पूजन करने का भी विधान किया है।

(भाग ३, पृ ४६९, श्लोक ६०-६१)

२६ रयणसार मे दान और पूजा को गृहस्थो का मुख्य कर्तव्य वतलाने पर भी पचामृताभिषेक या पूजन का कोई वर्णन नही है।

(भाग ३, पृ ४८०, गाथा ९-९३)

२७ पुरुषार्थानुशासनगत श्रावकाचार मे सामायिक प्रतिमा के अन्तर्गत नित्य पूजन करने का निदेश करके भी अभिषेक का कोई निदेश नही है। हॉ, जिन-सहिता आदि ग्रथो से स्पष्ट अर्चाविधि जानने की सूचना अवश्य की गई है। (भाग ३, पृ ५२३, श्लोक ९७)

२८ श्रावकाचार सग्रह के तीसरे भाग के अन्त मे दिये गये परिशिष्ट के अन्तर्गत कुन्दकुन्द के चारित्र पाहुड मे, उमास्वामी के तत्वार्थसूत्र मे, रविषेण के पद्म चरितगत, जयसिह नन्दी के वराङ्ग चरित्रगत और जिनसेन के हरिवशगत श्रावक धर्म के वर्णन मे पूजन और अभिषेक का कोई वर्णन नही है।

## निष्कर्ष

उपयुक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पचामृताभिषेक का विधान सोमदेव के पूर्व किसी भी श्रावकाचार कर्ता ने नही किया है। परवर्ती श्रावकाचार रचयिताओ मे से भी अनेको ने उसका कोई विधान नही किया है। जिन्होने पचामृताभिषेक का वर्णन किया भी है उन पर सोमदेव के वर्णन का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

इस सदर्भ मे सबसे विचारणीय बात यह है कि आचार्य रविषेण के पद्मपुराण नाम से प्रसिद्ध अपने पद्मचरित के चौदहवे पर्व के भीतर श्रावक धर्म के वर्णन मे बारह व्रतो का स्वरूप कहते हुए और अन्य आवश्यक कर्तव्यो को बताते हुए पूजन और अभिषेक का कोई वर्णन नही किया है। जबकि उन्होने आगे जाकर राम-लक्ष्मन के वन-गमन कर जाने से शोक सतप्त भरत को सबोधित करते हुए मुनिराज के मुख से सागार धर्म का उपदेश दिलाकर जिनपूजन और पचामृतभिषेक करने का विधान कराया है।

पद्मचरित, सोमदेव के यशस्तिलक चम्पू से लगलग तीन सौ वर्ष पूर्व रचा गया है। इससे पूर्व रचित किसी भी दि जैन चरित-पुराण आदि मे पचामृताभिषेक का कोई वर्णन नही हैं। अन्वेषण करने पर भी नही मिलता है किन्तु श्वेताबर जैन माने जाने वाले विमलसूरि द्वारा प्राकृत भाषा मे रचित 'पउमचरिय' मे उक्त पचामृताभिषेक का वर्णन स्पष्ट रुप से किया गया मिलता है। विमल सूरि के समय इतिहासकारो ने वहुत छानबीन के पश्चात् विक्रम की पॉचवी शति निश्चित किया है। अत वे रविषेण से दो शताब्दो पूर्व के सिद्ध होते हैं।

विमलसूरि के 'पउम चरिय' और रविषेण के 'पद्मचरित' को सामने रखकर दोनो का मिलान करने पर स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि रविषेण का पद्मचरित प्राकृत पउम चरिय का पल्लवित सस्कृत रूपान्तर

है । यह बात नीचे उद्धृत दोनो के पचामृतभिषेक क वर्णन से ही पाठक जान लेगे ।

१ पउमचरिय (उद्देश ३२)

काऊण जिन वराण अभिसेय सुरहिं गध सालकेन ।
सो पावइ अभिसेय उप्पज्जइ अत्थ जत्थ परो ।।७८।।

पद्म चरित (पर्व ३२)

अभिषेक जिनेन्द्राणा कृत्वा सुरभिवरिणा ।
अभिषेकअवाप्नोति यत्र यत्रो वा जयते ।।१६५।।

२ पउम चरिय (उद्देश ३२)

खारेण जोऽभिसेय कुणइ जिणिंद्दस्स भविराण्ण ।
सो खीर विमल धवले रमइ विमाणे सु चिरकाले ।।७९।।

पद्म चरित (पर्व ३२)

अभिषेक जिनेन्द्राणा विधाय क्षीर धारया ।
विमाने क्षीर धवले जायते परम धुति ।।१६६।।

३ पउम चरिय (उद्देश ३२)

दाह कुभेसु जिण जोण्हपेइ वइकोइ मे सुरविमाणे ।
उप्पज्जइ लच्छिधरो देवो दिव्वेण रूवेण ।।८०।।

पद्म चरित (पर्व ३२)

दाघ कुम्भै र्जिनेन्द्राणा य करोत्यभिषेचनम् ।
वहण भकाक्ष्मे स्वर्गे जायते स सुरोत्तमः ।।१६७।।

४ पउम चरिय (उद्देश ३२)

एतोधियाभिसेय जो कुणइ जिणेसरस्स पज्जयमणो ।
सो होइ सुसदि देहो सुर पवरो वराविमाणम्मि ।।८१।।

पद्म चरित (पर्व ३२)

सर्पिण जिननाथाना कुरुते योऽभिसेचनम् ।
कान्ति धृति प्रभावाख्यो विमानेश स जायते ।।१६८।।

५ पउम चरिय (उद्देश ३२)

**अभिसेय प्रभावेण बहवे सुव्वांतऽणतं तिरियाई ।**
**लद्धाहिसेय रिद्धि सुर-वर सोक्खं अणुव्हवति ।।८२।।**

पद्म चरित (पर्व ३२)

**अभिषेकं प्रभावेण श्रूयन्ते बहवो बुधा।**
**पुराणेऽनन्त वीर्याद्या द्युभूलब्धाभिषेचना· ।।१६९।।**

**भावार्थ** : जो सुगन्धित जल से जिनेन्द्रदेव का अभिषेक करता है वह जहॉ भी उत्पन्न होता है वहॉ पर अभिषेक को प्राप्त होता है । जो दूध की धारा से जिन देवो का अभिषेक करता है वह दूध के समान धवल आभा वाले देव विमान मे उत्पन्न होता है । जो दही भरे कलशो से जिनेश्वरो का अभिषेक करता है वह दही के समान आभा के धारक कुइम (फर्श) वाले स्वर्ग मे उत्तम देव होता है । जो जिननाथ का घी से अभिषेक करता है वह कान्ति, द्युति से युक्त सुगन्धित देह का धारक विमान का स्वामी देव होता है । पुराण मे ऐसा सुना जाता है कि अभिषेक के प्रभाव से अनन्तवीर्य आदि अनेक बुधजन स्वर्ग और भूतल पर अभिषेक वैभव पाकर देवो के उत्तम सुख को प्राप्त हुए है ।

इस सम्बन्ध मे सबसे बडी बात तो समानता की यह है कि पउम चरिय के उद्देश्य की सख्या और पद्म चरित की पर्व सख्या एक ही है । गाथाओ की सख्या और श्लोक की सख्या भी एक ही है । अनुक्रमाक मे जो अन्तर है । वह इसके पूर्व वर्णित कथा भाग के पल्लवित करने के कारण है । वराडग चरित और हरिवश पुराणगत श्रावक धर्म के वर्णन मे पचामृताभिषेक का कोई वर्णन नही है । किन्तु आगे जाकर एक कथा के प्रसग मे उन्होने भी पचामृताभिषेक का वर्णन किया है । जयसिह, नन्दि और जिनसेन जहॉ रविषेण से लगभग एक शताब्दी पीछे हुए है अत सभव है कि उन्होने रविषेण का अनुकरण किया हो ।

वस्तुस्थिति जो भी हो परन्तु वर्तमान मे उपलव्ध दिगम्वर-श्वेताम्वर

स्वयम्भू रमणान्त समुद्रो से, गगादि नदियो से और पद्म सरोवरो से लाये गये जलो से भी सुमेरु गिरि पर तीर्थकरो का जन्माभिषेक करते है ।

गुणभद्र के उक्त कथन की पुष्ठि अरहाचार्य रचित अभिषेक के निम्न पद्य से भी होती है ।

श्रीमत पुष्पनन्दी

" नदाब्धा-सरस ऋचादि तीर्थाहतेर्हसता हस्ति
कथा चतुर्विध सुरानी कैरीवार्या चितै।
रत्नालकृत हेमकुभ निकराना तैर्जग गत्भावनै·
कुवे मज्जनमम्बुभिजनिचतेस्तृषणा चहै शान्तये "।

अर्थात् पवित्र नदियो से, समुद्रो से, सरोवरो से और कूप, तीर्थो से मानो चारो प्रकार के देवो द्वारा हाथो हाथ लाकर समर्पित किये गये जगत्पावन, रत्नालकृत तृष्णा-छेदक इन सुवर्ण कुम्भो के जलो से मै शान्ति के लिये जिन पति का मज्जन करता हूँ ।

(अभिषेक पाठ सग्रह पृ ३०४ श्लोक ५१)

अष्टा पदार्थ के इस पद्य से भी पवित्र समुद्रादिक जलो से तीर्थकरो का अभिषेक किया गया प्रमाणित होता है । यद्यपि गुणभद्राचार्य आदि बहुत अर्वाचीन है तो भी ऐसा सम्भव है कि उनके सामने भी कोई आधार रहा और उसी आधार पर से भक्तो ने घृत सागर आदि के स्थान पर घी, दही आदि से अभिषेक करना, प्रारम्भ कर लिया हो, तथा उसी परम्परा का अनुसरण विमल सूरि, रविषेण और जयसिह नन्दी ने किया हो ।

उपर्युक्त सभी आधारो से तीर्थकरो के अभिषेक की पुष्टि होती है और क्षीर सागर से लेकर भले ही आगे-आगे घृत सागर आदि के जलो से अभिषेक किया गया हो पर उन समुद्रो का जल जल ही था न कि दूध घी आदि । दूसरे किसी भी शास्त्राधार से समवशरणस्थ अरहत के अभिषेक करने की पुष्टि नही होती है कही पर भी कोई ऐसा उल्लेख देखने मे नही आया है जिसमे कि दीक्षा लेने के पश्चात् मोक्ष जाने तक

की अवस्था मे किसी तीर्थकरादि का पचामृताभिषेक की तो बात ही क्या ? जल से भी अभिषेक करने का वर्णन हो ।

प आशाधर ने मध्यान्ह पूजन के समय जिस 'आश्रुत्य स्नपन' इत्यादि श्लोको के द्वारा जिन प्रतिमा के दही-दूध आदि से अभिषेक करने का विधान किया है वही श्लोक उन्होने प्रतिष्ठा सारोद्धार मे भी दिया है, यह पहले बता आये है । किन्तु प्रतिष्ठा सारोद्धार मे अचल प्रतिमा की प्रतिष्ठा विधि को समाप्त करने के पश्चात् 'अथ चल जिनेन्द्र पति विम्ब प्रतिष्ठा चतुर्थ दिन स्नपन क्रिया' इस उत्थानिका के साथ उत्तम श्लोक दिया है अर्थात अविचल जिन प्रतिमा की प्रतिष्ठा के चौथे दिन की जाने वाली स्नपन क्रिया कही जाती है । उनकी इस उत्थानिका से सिद्ध है कि दही-दूध आदि से अभिशषेक का विधान चल प्रतिमा की प्रतिष्ठा के समय था । उनके ही शब्दो से इतना स्पष्ट विधान होते हुए भी उन्होने प्रतिदिन की जानेवाली माध्यातिक पूजन के समय उक्त विधान कैसे कर दिया ? यह एक आश्चर्यकारक विचारणीय प्रश्न है ।

गहराई से विचार करने पर यही प्रतीत होता है कि नव निर्मित जिन प्रतिमा की प्रतिष्ठा के समय उसका दूध, दही, घी, आदि से अभिषेक किया जाना उचित है अर्थात् जिस धातु या पाषाणदि से उस प्रतिमा का निर्माण हुवा है उसकी द्रव्य शुद्धि के लिये पचामृताभिषेक करना योग्य है । किन्तु जिस प्रतिमा की पच कल्याणको के साथ प्रतिष्ठा की जा चुकी है और जिसे अरहत और सिद्ध पद को प्राप्त हुई मान लिया गया है उस प्रतिमा का प्रति दिन जन्म मानकर सुमेरुगिरि और पाण्डुक शिला की कल्पना करते हुए जन्माभिषेक करना कहॉ तक उचित है ? इन सब कथन का फलितार्थ यही है कि **प्रतिष्ठित प्रतिमाका पचामृतामिषेक करना उचित नही है** । यही तर्क जन्म से अमिषेक नही करने के लिये भी दिया जा सकता है । परन्तु उसका उत्तर यह है कि जन्माभिषेक की कल्पना करके जलसे भी अभिषेक करना अनुचित है । किन्तु वायु से

स्वयम्भू रमणान्त समुद्रो से, गगादि नदियो से और पदम सरोवरो से लाये गये जलो से भी सुमेरु गिरि पर तीर्थकरो का जन्माभिषक करते है ।

गुणभद्र के उक्त कथन की पुष्ठि अरहाचार्य रचित अभिषेक के निम्न पद्य से भी होती है ।

श्रीमत पुष्पनन्दी

" नदाब्धा-सरस ऋचादि तीर्थाहतेर्हसता हस्ति
कथा चतुर्विध सुरानी कैरीवार्या चितै ।
रत्नालकृत हेमकुभ निकराना तैर्जग गत्थावनै·
कुवे मज्जनमम्बुभिजनिचतेस्तृषणा चहै शान्तये "।

अर्थात् पवित्र नदियो से, समुद्रो से, सरोवरो से और कूप, तीर्थो से मानो चारो प्रकार के देवो द्वारा हाथो हाथ लाकर समर्पित किये गये जगत्पावन, रत्नालकृत तृष्णा-छेदक इन सुवर्ण कुम्भो के जलो से मै शान्ति के लिये जिन पति का मज्जन करता हूँ ।

(अभिषेक पाठ सग्रह पृ ३०४ श्लोक ५१)

अष्टा पदार्थ के इस पद्य से भी पवित्र समुद्रादिक जलो से तीर्थकरो का अभिषेक किया गया प्रमाणित होता है । यद्यपि गुणभद्राचार्य आदि बहुत अर्वाचीन है तो भी ऐसा सम्भव है कि उनके सामने भी कोई आधार रहा और उसी आधार पर से भक्तो ने घृत सागर ादि के स्थान पर घी, दही आदि से अभिषेक करना, प्रारम्भ कर लिया हो, तथा उसी परम्परा का अनुसरण विमल सूरि, रविषेण और जयसिह नन्दी ने किया हो ।

उपर्युक्त सभी आधारो से तीर्थकरो के अभिषेक की पुष्टि होती है और क्षीर सागर से लेकर भले ही आगे-आगे घृत सागर आदि के जलो से अभिषेक किया गया हो पर उन समुद्रो का जल जल ही था न कि दूध घी आदि । दूसरे किसी भी शास्त्राधार से समवशरणस्थ अरहत के अभिषेक करने की पुष्टि नही होती है कही पर भी कोई ऐसा उल्लेख देखने मे नही आया है जिसमे कि दीक्षा लेने के पश्चात् मोक्ष जाने तक

उडकर प्रतिमापर लगे हुए राज कणो के प्रक्षालनार्थ जलसे अभिषेक करना उचित है ।

जीव हिसा की दृष्टि से दूध आदि से अभिपेक करना उचित नही है क्योकि श्रावकाचार मे वतायी गई विधि से शुद्ध दूध, दही और घी का मिलना सर्वत्र सुलभ नही है । और अमर्यादित दूध आदि मे सम्मूर्छन असख्य त्रस जीव उत्पन्न हो जाते है । दूसरे, अभिपेक के पश्चात् यह सब जहॉ फेका जाता है, वहॉ पर भी असख्य त्रस जीव पैदा होते और मरते है । तीसरे, असावधानी वश यदि मूर्ति की चरणपाद आदि की सधियो मे कही दूध, दही आदि लगा रह जाता है तो वहॉ पर असख्य चीटी आदि चढी, चिपटी और मरी हुई देखी गयी है । इस भारी त्रस हिसा से बचने के लिये दूध दही आदि से अभिषेक का नही करना श्रेयस्कर है ।

---

# षट् प्राभृत

स धर्म कीदृशो भवति तद्यथा तमेव निरूपयन्ति श्री कुन्दकुन्दाचार्य

**"पूयादिसु वय सहिय पुण्णं हि जिणेहि सासणे भणिय ।**
**मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो" ।।८१।।**

**अर्थ** आगे वह धर्म कैसा है ? इसी का श्री कुन्दकुन्दाचार्य निरूपण करते है ।

**गाथार्थ** पूजा आदि शुभ कार्यो मे व्रत सहित प्रवृत्ति करना पुण्य है । ऐसा जिन मत मे जिनेन्द्र देव ने कहा है । और मोह तथा क्षोभ से रहित आत्मा का जो परिणाम है वह धर्म है ।

**"पूजादिषु व्रतसहित पुण्य हि जिनै शासने भणितम् ।**
**मोह क्षोभ विहीन परिणामः आत्मनो धर्मः" ।।८३।।**

**विशेषार्थ** वीतराग जिनेन्द्र देव की पूजा करना, निर्ग्रन्थ गुरु आदि सत्पात्रो के लिये दान देना तथा श्रावको के व्रत पालन करना आदि शुभ कार्य पुण्य कहलाते है तथा स्वर्ग सुख के देने वाले है । ऐसा तीर्थकर परमदेव और अन्य केवलियो ने भी कहा है । जिन शासन के उपासकाध्ययन नामक अग मे इस पुण्य को करना चाहिये ऐसा आदेश दिया है जैसाकि जिनसेन स्वामी ने कहा है –

**"पुण्यं जिनेन्द्रचरणार्चन सारमाद्य पुण्यसुपात्रगतदान समृद्धमेतत् ।**
**पुण्य व्रतानुचरणादुपवास योगात् पुण्यार्थिनामिति चतुष्टयमर्जनीयम् ।।**

**अर्थ** जिनेन्द्र भगवान के चरणो की पूजा से प्राप्त होने वाला पहला पुण्य है । सत्पात्र के लिये दिये हुवे दान से उत्पन्न होने वाला दूसरा पुण्य है, व्रतो का पालन करने से उत्पन्न होने वाला तीसरा पुण्य है । पुण्य के अभिलाषी मनुष्यो को चौथा उपवास करने का पुण्य है । इस प्रकार उक्त चार प्रकार के पुण्य का उपार्जन करना चाहिये ।

*तथा समन्तभद्रस्वाम्याचार्योरप्यभिहित –*

**देवाधि देवचरणे परिचरण सर्व दु ख निर्हरण ।**
**काम दुहि कामदाहिनि परचिनुयादाद्यतो नित्य ।।१।।**

इसी प्रकार आचार्य समन्तभद्र स्वामीने भी कहा है

**देवाधिदेव** सभी मनोरथो को पूर्ण करने वाले एव काम को भस्म करने वाले देवाधिदेव जिनेन्द्र भगवान के चरणो की उपासना-पूजा आदि समस्त दुखो को दूर करने वाली है । इसलिये श्रावक को बडे आदर के साथ नित्य प्रति करना चाहिये ।।१।।

**"अर्हच्चरण सपर्या महानुभाव महात्मनामवदत् ।**
**भेक· प्रमोदमत्त कुसुमेनैकेन राजगृहे" ।।२।।**

**अर्हच्चरण** : राजगृह नामक नगर मे हर्ष से मत्त हुए मेण्डक ने महात्माओ के आगे अर्हत भगवान के चरणो की पूजा का महान फल प्रकट किया था ।

यदि तीर्थकर नाम कर्म के बन्ध का कारण एव निदान रहित यह सर्वज्ञ वीतराम देव की पूजा रूप सातिशय पुण्य गृहस्थो के परम्परा से मोक्ष का कारण है तो साक्षात् मोक्ष का कारण भूत धर्म क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए गाथा के उत्तरार्ध मे कहते है कि मोह और क्षोभ से रहित आत्मा का परिणाम धर्म है । पुत्री, स्त्री, मित्र तथा धन आदि मे 'यह मेरा है' इस प्रकार जो भाव है । वह मोह कहलाता है । परिषह तथा उपसर्ग के आने पर चित्त का विचलित होना क्षोभ है । उन दोनो से रहित शुद्ध, बुद्धेक स्वभाव, निर्विकल्प स्वरूप स्वसवेदन रूप निज शुद्ध आत्मा का जो चिद्‌चमत्कार अथवा चिदानन्द रूप परिणाम है वह धर्म कहलाता है । ऐसा परिणाम गृहस्थो के नही होता है क्योकि वे पच सूनाओ से सहित रहते है ।

*जैसाकि कहा गया है*

**"खण्डनी पेषणी चुल्ली उदकुभः प्रमार्जनी ।**
**पच सूना गृहस्थस्य तेन मोक्ष न गच्छित" ।।८१।।**

**खण्डनी** कूटना, पीसना, चूला सिलगाना, पानी भरना, और बुहारी देना ये पॉच हिसा के कार्य गृहस्थ के होते है अत वह मोक्ष नही जाता है। यद्यपि गृहस्थ साक्षात मोक्ष नही जाता है तो भी जिन सम्यक्त्व

पूर्वक दान पूजादि रूप विशिष्ट पुण्य का उपार्जन करता हुआ स्वर्ग जाता है और परम्परा से जिनलिग धारण कर मोक्ष को भी प्राप्त होता है ।।८१।।

इस गाथा मे श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने पुण्य और धर्म की परिभाषाएँ स्पष्ट करते हुए दोनो का पार्थक्य सिद्ध किया है । पूजा, दान, व्रताचरण आदि को पुण्य बताया है तथा उन्हे साक्षात् स्वर्ग की प्राप्ति का कारण कहा है । पुण्य शुभोपयोग का कार्य है और मोह अर्थात् मिथ्यात्व और क्षोभ अर्थात् राग-द्वेष से रहित आत्मा की निर्मल परिणति को धर्म कहा है । यह निर्मल परिणति शुद्धोपयोग मे होती है । और साक्षात् मोक्ष का कारण है । गृहस्थ अपने पद के अनुरूप पुण्यरूप आचरण करता है । और धर्म के वास्तविक स्वरूप की श्रद्धा रखता है । शुद्धोपयोग रूप परिणति के होने पर शुभोपयोग परिणति स्वय छूट जाती है शुभोपयोग का कार्य होने से यद्यपि पुण्य बन्ध का कारण है तथापि गृहस्थ की उसमे प्रवृत्ति होती है । शुद्धोपयोग की उपेक्षा शुभोपयोग हेय है और अशुभपयोग की अपेक्षा उपादेय है । गृहस्थ के शुद्धोपयोग की प्राप्ति हो नही सकती इसलिये अशुभोपयोग से बचकर शुभोपयोग मे प्रवृत्ति करने की आचार्यो ने उसे प्रेरणा दी है । जिन आचार्यो ने पुण्य को धर्म मानकर उसके करने के लिये आदेश दिया है वह पात्र की योग्यता को लक्ष्य कर दिया है ।

**प्रोषधोपवास व्रत का स्वरूप**

**"सर्वेन्द्रियाणॉ सुखद हि धर्मध्यान यथावद् गृहीणॉ च न स्यात्"।**
**तत्पर्व वारेषु चतुर्विधाञ्चाहार कषाय ।**
**विषय विचार्यत्यक्त्वो पवसं क्रियते स्वधर्मे ।**
**सदास्थितै मे सुगतिच्च तेषा ।।**
**श्रेष्ठेपवासो भवतीह लोके पूर्वोक्त वाक्यो ये न च शंकनीयम्।।**

**अर्थ** : गृही गृह की अनेक झझटो के कारण सम्पूर्ण सुख का निधान जो आत्म ध्यान या धर्मध्यान है, उसे सदा नही कर सकता है ।

अत जिस प्रकार प्रात सायंकाल या मध्यान्ह काल म कुछ नियमित समय के लिये वह सर्व पापारम्भ का त्याग कर अपनी साम्य अवस्था को अपने समीपस्थ करने के प्रयत्न स्वरूप सामायिक को स्वीकार करता है उसी प्रकार सप्ताह मे १ वार और अष्टमी और चतुर्दशी के पुण्य पर्व मे भी वह उस साम्य अवस्था को रात्रि दिन समीपस्थ करने का प्रयत्न करता है इसी क्रिया का नाम प्रोषधोपवास है ।

इस व्रत के पालन करने के लिये उसे सर्व प्रथम विचार करना चाहिये कि मुझे आज जव तक उक्त व्रत का समय है किसी भी प्रकार का कषाय भाव चाहे वह क्रोध हो, मान हो, मायाचारी हो, लोभ हो, अथवा हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा हो अथवा स्त्री पुरुष या अनुभय रूप विकृत परिणाम है, उनसे अपने को वचाने के लिये सर्वथा बचाना है । इनमे से कोई भी कषाय या नो कषाय मुझ पर अपना प्रभाव न ला सके, उनके लिये अपने को सव्रत रखता है ।

कषायो पर विजय प्राप्त करने के लिये ही वह पचेन्द्रियो के विषयो को उस दिन अगीकार नही करता । ब्रम्हचर्य पूर्वक अपना समय व्यतीत करता है । नाना रसो के स्वादरूप रसनेन्द्रियो के विषयो से बचने के लिये या तो आहार मात्र का त्याग करता है अथवा नीरस आहार ग्रहण करता है । घ्राणेन्द्रिय के विषय त्याग के लिये सुगन्धित पुष्प, तेल, अत्तर (इत्र) अथवा चन्दन केशर आदि पदार्थो का उपयोग नही करता । चक्षुरिन्द्रिय के विषय को जीतने के लिये देशाटन करने, नाटक, सिनेमा या अन्य दृश्य को देखने से अपने को दूर रखता है । मधुर सगीत वाद्य आदिक इन्द्रियो के विषयोसे अपने को बचाता है । अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियो को इस प्रकार वश मे रखता है, जिस प्रकार कछुआ किसी भी विपत्ति की आशका आने पर अपने हाथ-पैर-मुँह आदि सम्पूर्ण अवयवो को सकोच कर छुपा लेता है और एक पृष्ठ बल पर आने वाले सम्पूर्ण आघातो को सह लेता है पर अपने अन्य किसी भी अग पर चोट नही आने देता ।

उक्त उद्देश्य को पूरा करने के लिये, शारीरिक उन्मत्तता पर विजय प्राप्त करने के लिये, इन्द्रियो का मान भक्षण करने के लिये, विषयो को जीतने के लिये, मन को वश मे रखने के लिये पापारभ की सम्पूर्ण क्रियाओ से बचने के लिये वह उदासीन जब तक व्रत का समय है तब तक आहार का भी त्याग करता है ।

इस प्रकार कषाय, विषय और आहार का त्याग करता है । निद्रा पर विजय प्राप्त कर अपने सयम का धर्म ध्यान द्वारा सदुपयोग करनेवाला व्रती प्रोषधोपवासी कहलाता है । प्रोषधोपवास के उक्त चिन्ह है या स्वरुप है-यह नि सदेह सुगति का कारण है । प्रोषधोपवास मे प्रोषध और उपवास दो शब्द मिश्रित है । उसका अर्थ है कि प्रोषध अर्थात् पर्व के दिन करना । उपवास शब्द का अर्थ है- 'उप-समीपे' वसतीति उपवास ' । अर्थात् सर्वारम्भ को छोडकर जो अपने समीप आजाय अर्थात् अपनी आत्मा का अवलबन करके रहे । सारॉश यह कि आहार, व्यापार, परिग्रह, पचेद्रिय विषय, तथा कषाय भावो के वश न होकर आत्मा की सच्ची साम्यावस्था, स्वाधीनावस्था को प्राप्त करने का प्रयत्न ही उपवास है । प्रोषध का अर्थ है - सकृदभुक्ति अर्थात् एक बार भोजन करना है । ऐसा कई ग्रथकारो ने लिखा है । इस व्रत के उत्तम, मध्यम, जघन्य ऐसे तीन भेद भी किये गये है । उत्तम प्रोषधोपवास वह है जो अष्टमी चतुर्दशी के पूर्व के दिन मे एकासन पूर्वक प्रारभ होता है तथा पर्व के दूसरे दिन एकाशन के बाद समाप्त होता है । अर्थात् अष्टमी का प्रोषधोपवास सप्तमी और नवमी के एकाशन और अष्टमी का उपवास (निराहार) करने से होता है । इसी प्रकार त्रयोदशी और पूर्णिमा या अमावस्या को एकाशन पूर्वक चतुर्दशी को उपवास (निराहार) करना चतुर्दशी का प्रोषधोपवास कहलाता है । धारणा के दिन से यह पारणा के दिन तक यह १६ प्रहर का उपवास होता है । मध्यम प्रोषधोपवास की रिति यह है कि केवल अष्टमी को या चतुर्दशी को उपवास करना यह व्रत सप्तमी या त्रयोदशी के सध्याकाल से प्रारम्भ होता है । और नवमी, पूर्णिमा अथवा अमावस्या के प्रभात काल

मे समाप्त होता है । अत यह १२ प्रहर का उपवास मध्यम व्रत कहलाता है । पारणा के दिन २ प्रहर के वाद भोजन ग्रहण करन के कारण यह १४ प्रहर का भी कहलाता है । जघन्य प्रोषघोपवास वह कहलाता है जो १६ या १२ प्रहार निराहार नही रह सकता उसे आहार के बिना आकुलता हो जाती हैं । अत वह पर्व के दिन रस, रहित, स्वाद रहित, सादा भोजन अल्प मात्रा मे (अवमोदर्य) ग्रहण कर अगले दिन उसी समय तक निराहार रहता है । अत उसके ८ प्रहर पर्यत आहार का त्याग रहने से वह जघन्य व्रती कहलाता है । किसी भी प्रकार का व्रती हो उसे व्रत मात्र से विशुद्ध परिणाम ओर धर्म ध्यान करना चाहिये. तभी उसका व्रत सज्ञा को प्राप्त होगा अन्यथा नही ।

आचार्य श्री १०८ कुथसागर महाराज विरचित इति । पुरुषार्थ सिद्धयुपाय (आचार्य अमृत चन्द्र विरचित)

**प्रोषधोपवास का वर्णन**

**"सामायिक संस्कार प्रतिदिनमारोपित स्थिरीकर्तुं "**
**पक्षार्द्धयोर्द्वयोरपि कर्तव्योवश्यमुपवासः" ।।१५१।।**

**अन्वयार्थ** : (प्रतिदिन आरोपित) प्रति दिन किये जाने वाले (सामायिक सस्कार) सामायिक रूप सस्कार का (स्थिरीकर्तु) स्थिर रखने के लिये (द्वयो अपि पक्षार्द्धयो) दोनो ही पक्षो के आधे आधे समय मे अर्थात् प्रत्येक अष्टमी और प्रत्येक चतुर्दशी मे (उपवास अवश्य कर्तव्य ) उपवास अवश्य करना चाहिये ।

**विशेषार्थ** · प्रोषधोपवास एक मास मे चार बार किया जाता है । एक महिने मे दो पक्ष होते है । प्रत्येक पक्ष के अर्ध-अर्ध भाग मे अष्टमी-चतुर्दशी तिथियॉ आती है । इन चारो दिनो मे प्रोषधोपवास अवश्य करना चाहिये । इसके करने से आरभ जनित हिसा का त्याग एव परिणामो मे निराकुलता तथा विशुद्धि विशेष उत्पन्न होती है । उससे प्रतिदिन किये जानेवाले सामायिक के सस्कार दृढ होते है । इसलिये जो सामयिक

शिक्षा धारण करने वाले गृहस्थ है उन्हे उसकी दृढता के लिये प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत भी अवश्य ग्रहण करना चाहिये ।

**प्रोषधोपवास करने की विधि**

**" मुक्त समस्तारंभः प्रोषध दिन पूर्व वासरस्यार्द्धे ।**
**उपवासं ग्रहणीयान्ममत्वमपहाय देहादौ ।।१५२।।**

**अन्वयार्थ :** (प्रोषध दिन पूर्व वासरस्य अर्द्धे) जो उपवास करने का दिन उसके पहले दिन के उत्तरार्ध मे (मुक्त समस्तारभ) समस्त आरम्भो का त्याग करते हुए (देहादौ ममत्वे अपहाय) अपने शरीर आदि बाह्य पदार्थो के ममत्व भाव छोडकर (उपवास ग्रहणीयात्) उपवास धारण करे।

**विशेषार्थ** · प्रोषधोपवास उसे कहते है कि जो पर्व के दिनो मे धारण किया जाता है । प्रोषध नाम पर्व का है । उसमे जो धारण किया जाय वह प्रोषधोपवास कहलाता है । अथवा दूसरी तरह से यह भी व्युत्पत्ति सिद्ध शब्दार्थ है कि चारो प्रकार के आहार का त्याग करने का नाम उपवास है । प्रोषध नाम एक बार भोजन करने का है । और जो एक बार भोजन करके उपवास धारण करे, वह प्रोषधोपवास कहलाता है । यहाँ पर यह अर्थ होता है कि प्रोषधपूर्वक उपवास है, वह प्रोषधोपवास है । जब अष्टमी चतुर्दशी को उपवास धारण किया जाता है तो सप्तमी एवम् त्रयोदशी को एक बार भोजन किया जाता है । इसलिये प्रोषधपूर्वक उपवास होने से प्रोषधोपवास कहा जाता है । अथवा प्रोषधोपवास धारण करके दूसरे दिन दोपहर पश्चात् आरम्भ किया जाता है, वह प्रोषधोपवास कहा जाता है । किसी प्रकारसे विवेचन क्यो न किया जाय फलितार्थ सभी का एक है । उसी विधान क्रम को ग्रन्थकार बतलाते है कि उपवास करने के प्रथम दिन सप्तमी और त्रयोदशी को एक बार भोजन करके सब प्रकार सासारिक आरभ छोड देना चाहिये । साथ ही शरीर, कुटुम्बीजन, और भोगोपभोग योग्य समस्त पदार्थो से ममत्व छोडकर उसी समय से उपवास धारण कर लेना चाहिये । उपवास का अर्थ यही है कि खाद्य,

स्वाद्य, लेह्य, पेय इन चारो प्रकार के आहार का परित्याग कर देना अर्थात् जल, औषध आदि कुछ भी ग्रहण नही करना चाहिये ।

**उपवास मे कर्तव्य विधि**

**" श्रित्वा विविक्त वसतिं समस्त सावद्य योगमपनीयं ।**
**सर्वेन्द्रियार्थ विरत कायमनोवचन गुप्तिभिस्तिष्ठेत" ।।१५३।।**

**अन्वयार्थ** एकान्त स्थान का (श्रित्वा) आश्रय करके (समस्त सावद्य योग अपनीय) समस्त पाप पच हिसादि पाप योगो को दूर करके (सर्वेन्द्रियार्थ विरत) सर्व इन्द्रियो के विषयो से विरक्त होता हुआ (कायमनोवचन गुप्तिभि) कायगुप्ति, मनोगुप्ति और वचन गुप्तियो को धारण करके (तिष्ठेत्) ठहरे ।

**विशेषार्थ** · सप्तमी और त्रयोदशी के दोपहर पीछे किसी एकान्त स्थान मे या चैत्यालय मे प्रोषधोपवास करने वाला बैठकर और सम्पूर्ण पापो का त्याग कर दे तथा समस्त इन्द्रियो के विषयो को छोड दे । और मन को, वचन को, काय को वश मे कर ले तीनो मे से किसी प्रकार चलायमान नही होने दे ।

**और क्या करे ?**

**" धर्मध्यानासक्तो वासरमति बाह्य विहित साध्य विधिं ।**
**शुचि सस्तरे त्रियामागमयेत्स्वाध्याय जितनिद्र·" ।।१५४।।**

**अन्वयार्थ** · (धर्म ध्यानासक्त ) धर्म ध्यान मे तल्लीन हो (वासर-अति बाह्य) उस दिन को बिताबे (विहित साध्यविधि ) पीछे, सध्या काल को जो कुछ विधि है उसे पूरा करे पश्चात् (स्वाध्यायजितनिद्रा ) स्वाध्याय से निद्रा पर विजय पाकर (शुचिसस्तरे) पवित्र आसन पर (त्रियामागमयेत्) रात्रि बितावे ।

**विशेषार्थ** सप्तमी और त्रयोदशी का आधा दिन धर्म ध्यान मे ही बिताबे और किसी सॉसारिक बात का प्रसग भी नही आने दे, क्योकि उस प्रकार के प्रसग से अशुभास्रव होगा । परिणामो मे मलीनता एवम्

कषाय भावो की उत्पत्ति होगी । इसलिये केवल धर्म ध्यान ही करता रहे । धर्म का स्वरूप विचार करे, आत्मा अथवा अरहत का स्वरूप विचार करे, कर्मो के विपाक का विचार करे, कि ये कर्म किस प्रकार आत्मा को दुखी एव भ्रमणशील बना रहे है । इनका छुटकारा किस प्रकार जल्दी होगा । इन कर्मो से किस प्रकार अपाय, अनर्थ हो रहा है । लोक की रचना किस प्रकार है, जीव कहाँ-कहाँ रहते है । इस ससार मे जीव के उद्धार का कारण एक जिनेन्द्र की आज्ञा ही है । यदि जिनेन्द्र की आज्ञा पर जीव चलने लग जाय तो उसके कल्याण मे कोई भी बाधा कभी नही आ सकती । इत्यादि रूप से धर्म स्वरूप, वस्तु-स्वरूप आदि धर्म ध्यान करने मे ही दिन बिताना चाहिये । पश्चात् सायकाल होने पर सध्या की विधि करना चाहिये उस समय प्रतिक्रमण, सामायिक, वन्दना आदि कार्य करना चाहिए । किये हुवे दुष्कर्मो की आलोचना करना चाहिये । पश्चात् रात्रि को कुशासन, चटाई आदि पवित्र आसन पर बैठकर स्वाध्याय से निद्रा को वश करते हुवे बिताना चाहिये । भूमि को अच्छी तरह देखकर जीव जन्तु आदि कुछ भी हो तो उन्हे कोमल वस्त्र से हटाकर निर्जीव स्थान पर शीतल पट्टी, चटाई, कुशासन आदि तृण के बने हुवे बिछाना चाहिये । उस रात्रि को सोने मे बिताना ठीक नही है [illegible]

क्रिया कॉड को करके (यथोक्त) शास्त्रोक्त विधि के अनुसार (प्रासुक र्भाव द्रव्ये ) प्रासुक भाव द्रव्यो से (जिन पूजॉ निवर्त येत्) जिनेन्द्र भगवान की पूजा करे ।

**विशेषार्थ** इस प्रकार रात्रि बिताकर प्रात काल सामायिक, प्रतिक्रमण, वदना आदि उस समय की सध्या विधि क्रियाकाड करे । पीछे शास्त्र विहित मार्ग के अनुसार प्रासुक भाव-द्रव्यो से जिन पूजन करे ।

इस प्रकार उपर्युक्त रीति के अनुसार प्रोषधोपवास करने वाला पर्व के दिन अष्टमी और चतुर्दशी के दिन जिनेन्द्र भाव पूजा करे ।

उपवास के दिन त्याज्य कार्य

" पंञ्चानॉ पापानमलडक्रियारम्भ गंध पुष्पाणाम् ।
स्नानाञ्जन नस्यानामुपवासो परिह्वतिं कुर्यात" ।।१०७।।

**अन्वयार्थ** . (उपवासे) उपवास के दिन (पञ्चानॉ) पॉचो (पापाना) पापो के (च) और (स्नानाञ्जन नस्यानाम्) स्नान, अजन और सूघनी के (परिहृति) त्याग को (कुर्यात) करना चाहिये ।

**भावार्थ** उपवास के दिन हिसादि पॉचो पाप, श्रृगार आदि का त्याग कर देना चाहिये । क्योकि विषयानुराग घटाना ही वास्तविक उपवास है ।

**अर्थ** उपवास के दिन हिसादि पॉचो पापो का त्याग करना चाहिये । अलकार वस्त्रादिक, अजन सजना, गृहकार्यारम्भ, उपजीविकारभ, सुगधित केशर, सुगधित पावडर (इत्र, सेट) गुलाब का बास लेना, फूल का बास लेना, स्नान करना, ऑखो मे सुरमा, काजल लगाना, बॉग वगैरह वाद्य बजाना, गाना सुनना, नाटक देखना आदि कथा वगैरह त्याग करना चाहिये । इस प्रकार से अन्य भी पचेन्द्रिय भोगो का त्याग करना चाहिये क्योकि उपवास ही इन्द्रियो की आसक्ति कम करने के लिये और विषयो की तरफ जाने से रोकने को, कामो की इच्छा कम करने को, प्रमाद, आलस्य, निद्रा न आवे इसलिये आरम्भ आदिको से विरक्त होने

के लिये, परिषहो को सहन करने के लिये तैयार हो जाता है । धर्म मार्ग से विचलित नही होता है । इन्द्रियो को दबाने कि लिये भी प्रयत्न करता है । उपवास से ऐसी कोई इच्छा नही है कि अपनी कोई प्रशसा करे या लाभ हो या राज पदादि सुख की प्राप्ति हो । सिर्फ विषय वासना को कम करने हेतु से उपवास किया है । उपोषन करने से खाना-पीना और अनेक प्रकार के रस-स्वाद लेने की इच्छा कम होती है । नीद के ऊपर विजय होती है । काम वासना कम होती है ऐसा उपोषन का प्रभाव जानकर उपोषन करना चाहिये ।

**फिर कितने समय क्या करे**

**" उक्तेन ततो विधिना नीत्वा दिवसं द्वितीय रात्रिं च ।**
**अति वाहयेत् प्रयत्नादर्ध च तृतीय दिवसस्य" ।।१५६।।**

**अन्वयार्थ :** (तत ) दोपहर तक अर्थात् सामायिक से पहले पहले तक जिन पूजन करने के पश्चात् (उक्तेन विधिना) ऊपर कही हुई विधि के अनुसार (दिवस नीत्वा) दिन को बिताकर (च द्वितीय रात्रि) और द्वितीय रात्रि को बिताकर (प्रयत्नात्) प्रमाण पूर्वक सावधानी से (तृतीय दिवसस्य अर्द्ध च) तीसरे दिन के पूर्वार्द्ध भाग को भी (अति वाहयेत्) बितावे ।

**विशेषार्थ :** प्रोषधोपवास करने वाला अष्टमी चतुर्दशी के दिन प्रात काल से सामायिक के पीछे से लेकर मध्यान्ह के सामायिक के पहले भाव पूजन करे । पूजन जल्दी समाप्त करले तो स्वाध्याय करे । पश्चात् मध्यान्ह का सामायिक करे । पीछे स्वाध्याय अथवा धर्म चर्चा सुनने-सुनाने मे समय बितावे । सायकाल होने पर फिर सामायिक प्रतिक्रमण आदि सध्याविधि करे । पश्चात् देखभाल कर जीवो की वाधा बचाकर पवित्र आसन पर बैठकर रात्रि को शास्त्र पठन, जिनेन्द्र-गुण चिन्तन आदि द्वारा निद्रा पर विजय करे । उसके बाद नवमी या पन्द्रस से प्रात काल उठकर वही सध्याविधि सामायिक, प्रतिक्रमण वदना आदि नित्य

कर्तव्य करे । पश्चात जिनेन्द्रपूजन और स्वाध्याय करक उस दिनका पूर्वार्द्ध वितावे । पश्चात् भोजन आदि आरम्भ कर ।

**प्रोषधोपवासी पूर्ण अहिंसाव्रती**

" इति य षोडश यामान् गमयति परिमुक्त सकल सावद्य ।
तस्य तदानी नियतं पूर्णमहिंसा व्रतम् भवति" ।।१५७।।

जेसी विधि ऊपर वताई गई हे उसी के अनुसार जो समस्त पापो को छोडकर तीनो योगो को वश मे रखकर ध्यान, भावपूजा स्वाध्याय धर्मचर्चा आदि धर्म क्रियाओ मे सोलह प्रहर किसी प्रकार के सॉसारिक आरभ के किये वगैर रहता हे वही प्रोषधोपवास करने वाला पूर्ण अहिसा व्रती कहलाता हं । सोलह प्रहर इस प्रकार हो जाता हं कि सप्तमी को एकासन (एक बार भोजन) करके दोपहर के पश्चात प्रोषधोपवास आरम्भ किया जाता हे । इसिलिए सप्तमी के आधे दिन को २ प्रहर, सप्तमी की रात्रि के ४ प्रहर, अष्टमी के पूरे दिन के ४ प्रहर अष्टमी की पूरी रात्रि ४ प्रहर और नवमी के पहले आधा दिन (पूर्वाध) को दोपहर तक प्रोषधोपवास की विधि पूण होती हे । इसलिये १६ प्रहर धर्म ध्यान मे बिताया जाता हे । सोलह प्रहर का ही उत्तम (उत्कृष्ट) प्रोषधोपवास कहा जाता हे । मध्यम १२ प्रहर का होता हे । तथा ८ प्रहर का जघन्य प्रोषधोपवास होता हे । अष्टमी के पूरे दिन के ४ प्रहर तथा अष्टमी की रात्रि के ४ प्रहर का होता हं । ८ प्रहर जघन्य प्रोषधोपवास पाला जाता है । पर्व के दिन प्रोषधोपवास करने मे असमर्थ है उसे अनुपवास धारण करना चाहिये । जल ग्रहण करने के सिवाय बाकी सब प्रकार के भोजन का त्याग कर देने का नाम अनुपवास है ।

अर्थात् पूर्व के दिन केवल जल लेना ही अनुपवास है । जो अनुपवास करने मे भी असमर्थ है उसे विकार रहित सात्विक रूखा-सूखा हल्का भोजन कर लेना चाहिये । विकारी भोजन चार प्रकार का है ।

१ गोरस, दूध, दही, घी, इक्षु रस ।

२ खाण्ड, गुड आदि मिष्ट पदार्थ ।

३ फल रस, दाख, आम्र आदि से निकाला रस ।

४ धान्य रस, तेल, माण्ड आदि पदार्थ ।

ये चार विकारी कहलाते है अर्थात् इनका भोजन इन्द्रिय और मन मे स्वाद तृष्णा पैदा करती है । इसलिये इनको छोडकर हलका भात वगैरह का भोजन कर लेना चाहिये । इस प्रकार उपवास, अनुपवास, एकाशन निर्विकार भोजन आदि शक्ति के अनुसार जितना व्रत रूप से ग्रहण किया जायेगा उतना ही पुण्य बध एव आत्मशुद्धि का कारण होगा।

परन्तु जितना कुछ भी व्रत विधान किया जाता है वह केवल धर्म बुद्धि से ही किया जाता है तभी व्रत कहलाता है । जहॉ धर्म बुद्धि नही है वहॉ उसे व्रत नही कहते । जैसे बहुत से पुरुष आज कल पेट मे गडबड होने से दो-चार दिन के लिये भोजन छोड देते है । उपवास चिकित्सा विधि से अपने शरीर को निरोग रखना चाहते है वे कइ उपवास कर डालते है परन्तु वे सब उपवास मान्य नही है । किन्तु लघन मे धर्म बुद्धि नही है किन्तु शरीर रक्षा और शरीर शुद्धि ही प्रधान है । इसलिये ऐसे भोजन छोडने वाले व्रती नही किन्तु अविरति एव आरम्भी है क्योकि जहॉ पर शास्त्रोक्त रीति से, धर्म बुद्धि से भोजनादि आरम्भो का त्याग किया जाता है वही धर्म व्रत है अन्यथा नही ।

प्रोषधोपवासी पूर्ण अहिसा व्रती क्यो ?

" भोगोपभोग हेतो स्थावर हिसा भवेत्किलामीषा ।
भोगोपभोग विरहाद्भवति न लेशोऽपि हिसाया " ।।१५८।।

**विशेषार्थ** अहिंसादि अणुव्रत पालनेवाले सकल्पी त्रसहिसा के त्यागी होते ही है । स्थावर हिंसा का उनके त्याग नही होता । इसका कारण यह है कि वे भोग-उपभोग सामग्री का सेवन करते हैं । इसलिये अनिवार्य स्थावर हिसा उनसे होती है । हिंसा का कारण आरम्भ है । इसीलिये हिसा है । परन्तु भोग-उपभोग वस्तुओ का परिमाण करने से स्थावर हिसा भी छूट जाती है वैसी अवस्था मे त्रस हिंसा और स्थावर हिसा दोनो प्रकार की हिसा का त्याग होने से हिसा का लेश मात्र भी नही होना प्रोशधोपवास धारण करनेवाला पुरुष भोग-उपभोग आदि सब प्रकार का आरभ सेवन छोड़ देता है । केवल धर्मारम्भ ही करता है वैसी अवस्था मे भोग उपभोग सेवन मूलक स्थावर हिसा भी उसके नही होती, त्रस हिसा का तो वह अणुव्रती होने से स्वय त्यागी होता ही है ।

**प्रोषधोपवास करने वाले के और पाप भी नहीं**

"वाग्गुप्तेर्नास्त्यनृत न समस्तादान विरहत· स्तेय ।
ना ब्रह्म मैथुन मुच· संगोनाङ्गप्यमूर्च्छस्य" ।।१५१।।

**अन्वयार्थ** · वचन गुप्ति पालने के कारण (अनृत नास्ति) झूठ वचन नही है । (समस्तादान विरहत) समस्त द्रव्य लेने का त्याग करने से (न स्तेय) चोरी नही है । (मंथुन मुच) मेथुन छोड़ देने के कारण (न अब्रह्म) ब्रह्मचर्य भग नही है । (अगअम्पी अमूर्च्छस्य) शरीर मे भी ममत्व भाव छोड देने से (सगोन) परिग्रह नही है ।

**विशेषार्थ** प्रोषधोपवास पालने वाले के शास्त्र स्वाध्याय आदि मे वचनो की प्रवृत्ति होने से मिथ्या वचन नही निकलते, सब प्रकार के आदान (अर्थात् पर पदार्थ ग्रहण) का त्याग होने से चोरी तो सम्भव ही नही है । वह स्वस्त्री सघ का भी त्याग कर देता है इसलिये पूर्ण ब्रह्मचर्य पल जाता है और अपने शरीर मे भी ममताभाव नही रखता । इसीलिये उसके पर पदार्थो मे ममत्व परिणाम न होने से परिग्रह भी नही रहता । इसी प्रकार यथाविधि प्रोषधोपवास पालनेवाले को ५ पापो मे से एक भी पाप नही लगता ।

प्रोषधोपवासी उपचरित महाव्रती

" इत्थमशेषितहिंसः प्रयाति स महाव्रतित्व मुपचारात् ।
उदयति चारित्र मोहे लभते तु न संयम स्थान" ।।१६०।।

**अन्वनार्थ** (इत्थ) इस प्रकार (अशेषितहिस ) समस्त हिसा को छोडने वाला (स ) वह प्रोषधोपवास करने वाला (उपचारात् महाव्रतित्व प्रयाति) उपचार से महाव्रतीपने को प्राप्त होता है (तु) परन्तु (चारित्र मोहे उदयति) चारित्र मोहनीय कर्म के उदय होने से (सयम स्थान न लभते) सयम को नही पाता है ।

**विशेषार्थ** : जब प्रोषधोपवास करनेवाला पुरुष भोगोपभोग का त्याग करने से स्थावर हिसा से बच जाता है, त्रस हिसा का वह त्यागी होता ही है । वचन गुप्ति आदि पालने से अन्य चार पापो का त्यागी भी है । इस प्रकार समस्त प्रकार की हिसा का त्यागी होने से वह महाव्रती तुल्य है अर्थात् वास्तव मे जो महाव्रती नही कहा जा सकता किन्तु उपचार से वह महाव्रती कहा जाता है, मुख्यत से वह महाव्रती क्यो नही कहा जाता ? उसका उत्तर यह है कि उसके प्रत्याख्यानावरणी कषाय का उदय हो रहा है वह सकल सयम महाव्रत का घातक है इसलिये वह मुख्यत से सकल सयमी नही कहा जा सकता, परन्तु त्रस-स्थावर हिसा का त्यागी होने से उपचारित महाव्रती कहा जाता है ।

## रत्नकरंड श्रावकाचार मे प्रोषधोपवास

शिक्षाव्रत का लक्षण

" पर्वण्यष्टम्या च ज्ञातव्य· प्रोषधोपवासस्तु ।
चतुरभ्यवहार्य्याणा प्रत्याख्यान तदेच्छाभि " ।।१०६।।

**अर्थ** सदा प्रत्येक चतुर्दशी और अष्टमी के दिन व्रत धारण करने की आतरिक इच्छा से खाद्य (रोटी-दाल-भात), स्वाद्य (लाडू-पेडा-बरफी), लेह्य (रबडी, चटनी, आमरस आदि), पेय (दूध, छाछ, पानी आदि) इन चार प्रकार के आहारो (भोजनो) का त्याग करना प्रोषधोपवास नामक शिक्षाव्रत कहलाता है ।

उपवास के दिन कर्तव्य

" धर्मामृत सतृष्ण श्रवणाभ्या पिवतु पाययेद्वान्यान ।
ज्ञान ध्यान परो वा भवतूपवसन्न तन्द्रालु ।।१०७।।

अर्थ - उपवास करनेवाला व्यक्ति आलस्यरहित और उत्कंठित होता हुआ धर्मरूपी अमृत का स्वय पान करे तथा दूसरे को पान करावे और ध्यान तथा पठन-पाठन मे लवलीन रहे ।

प्रोषध, उपवास और प्रोषधोपवास का लक्षण

" चतुराहार विसर्जनमुपवास प्रोषधः सकृद्भुक्ति ।
स· प्रोषधोपवासो यद्युपोष्यारभ माचरति" ।।१०९।।

अर्थ अशन, खाद्य, लेह्य, पेय, इन चार प्रकार क आहारो का १२ प्रहर सर्वथा त्याग करना उपवास कहलाता है । दिन मे एक बार भोजन करना प्रोषध या एकाशन कहलाता है तथा आदि और अत मे एकाशन और बीच मे उपवास करना अर्थात् १६ प्रहर के लिये चारो आहारो का सर्वथा त्याग करना प्रोषधोपवास कहलाता है ।

प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत के अतिचार

ग्रहण विसर्गास्तर णान्यन्यदृष्ट पृष्टान्यनादरास्मरणे ।
यत्प्रोषधोपवास व्यतिलघन पञ्चकं तदिदम्" ।।११०।।

अर्थ · बिना देखे और सोधे हूए (१) पूजा के उपकरणो को ग्रहण करना, (२) मल-मूत्र आदि का त्याग करना, (३) बिना देखे बिस्तर बिछाना, (४) आवश्यक आदि मे अनादर करना और (५) योग्य क्रियाओ का भूल जाना । ये पॉच प्रोषधोपवास शिक्षावत के अतिचार हैं ।

---

# पुरुषार्थ सिद्धि-उपाय

**" बहुश· समस्त विरतिं प्रदर्शिता यो न जातु गृह्णाति**
**तस्तैक देशविरतिः कथनीयानेन बीजेन " ।।१७।।**

**अन्वयार्थ** · (य) जो जीव (बहुश ) बार-बार (प्रदर्शिता) बताने पर भी (समस्त विरति) सकल पाप रहित मुनिवृत्ति को (जातु) कदाचित् (न गह्णाति) ग्रहण न करे तो (तस्य) उसको (एकदेशविरति ) एक देश पाप क्रिया रहित गृहस्थाचार (अनेन बीजेन) इस हेतु से (कथनीया) कथन करना अर्थात् समझाना चाहिये ।

**" यो यतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्प मति·।**
**तस्य भगवत् प्रवचने प्रदर्शित निग्रह स्थानम्" ।।१८।।**

**टीका** : य अल्पमति यतिधर्म अकथयन् गृहस्थधर्म उपदिशति तस्य भगवत्प्रवचने निग्रह स्थानम् प्रदर्शित - जो तुच्छ बुद्धिमान उपदेशक मुनि धर्म का उपदेश न देकर गृहस्थ धर्म का उपदेश देता है उसे भगवान के सिद्धान्त मे दण्ड का स्थान बताया है ।

**उसको दण्ड देने का कारण**

**" अक्रम कथनेत यतः प्रोत्सहमानोऽति दूरमपि शिष्य ।**
**अपदेऽपि सम्प्रतृप्त प्रतारितो भवति तेन दुर्मतिना" ।।१९।।**

**टीका** · यत तेन दुर्मतिना अक्रम कथनेन शिष्य प्रतारितो भवति।

जिस कारण से उस मन्द बुद्धि वाले उपदेशक द्वारा अनुक्रम को छोडकर कथन करने से सुनने वाला शिष्य ठगा जाता है । पहिले ही श्रावक धर्म के उपदेश से शिष्य क्यो ठगा जाता है ? उसका कारण कहते है । कैसा है शिष्य ? 'अतिदूर प्रोत्साहमानो अपि अपदेऽपि सप्रतृप्त' अत्यन्त दूर तक जाने के लिये उत्साहित हुआ था तो अपद जो तुच्छ स्थान उसमे ही सतुष्ट हुआ है । इस शिष्य के अतरग मे इतना अधिक उत्साह उत्पन्न हुआ था कि यदि प्रथम ही मुनि धर्म सुना होता तो मुनि पदवी ही अगीकार करता । परन्तु उपदेशदाता ने उसको प्रथम ही श्रावक धर्म का

आदेश दिया अत उसने उसी को अंगीकार कर लिया । फलत मुनि धर्म वंचित ही रह गया इसलिये उस उपदेश दाता को निग्रह के लिये दण्ड देना योग्य है ।

दान शासन
(आचार्य महर्षि वासुपूज्य का चतुर्विध दान निरूपण)

' पूजामीक्षितुमेत यूयमिति चाह्वाने शयानो वदे ।
धाम्भोद्योति चिर प्रसुप्य पुनरुत्थायैव भूत्वा शुचि· ।।
स्थितर्वाचा कुरुमेति दूत वसतावुक्त्वा त्वामागच्छ भो ।
लक्ष्मी लक्ष्म ना कस्य लक्षणमिद पापस्य गर्वस्य वा ।।५१।।

अर्थ यदि किसी को किसी ने पूजा देखने के लिये निमन्त्रण दिया हो कि 'आप आज पूजा देखने के लिए मंदिर मे अवश्य आवे तब यह लेटे लेटे ही उत्तर देता है कि आयेगे' फिर निशक होकर निद्रा लेता है । उठकर मलमूत्रादि से निवृत्त होकर दूत को बुलाकर कहता है कि अरे देवदत्त मन्दिर मे जाकर कहो, जब तक मै नही आऊँ तब तक पूजा मत करो मै पूजा देखने के लिये आने वाला हूँ । आचार्य कहते है कि यह वृत्ति श्रीमतो की है । अथवा पाप की है, या गर्व की है ? ऐसे प्रमाद आचरण से अवश्य पाप बध होता है ।।५१।।

"तात स्वामिनमुत्तमार्य मनुज जामातरं मातर ।
मातार बुधमिष्ट सेवक कुल ज्येष्ठ गुण वल्लभा ।
मित्र स्वामि बल स्वबाधवजन जैन जन धार्मिक ।
य स्यान्निन्दति तस्य चायुरयश श्री स्थान वशक्षय" ।।१०३।।

अर्थ जो मनुष्य अपने पिता, गुरु, स्वामी, उत्तम सज्जन, जमाई, माता, विद्वान, इष्टसेवक, कुलगुरु भाई, अपनी स्त्री, मित्र, सेना, अपने बधुजन, धार्मिक इत्यादि की निंदा करता है, उसकी आयु, यश, सम्पत्ति स्थान इतना ही नही वश का भी नाश होता है ।।१०३।।

"सर्वज्ञ परमागम जिनमुनि दोषव्यपेत व्रत ।
यद्वोक्त च गुरु च निंदयति यो द्रव्य च देवस्य य ।।

**आदत्ते द्विज बालगोत्र जहतिं योऽसौ कुतर्क करो ।**
**त्यल्पायुर्नरकादि दुर्गतिरभाग्य तस्य सत्यं भवेत् ।।१०४।।**

**अर्थ** : सर्वज्ञ तीर्थकर, परमागम शास्त्र, तीर्थकरो के प्रतिकृति ऐसे जिन मुनीश्वर दोष रहित, चारित्र एव सद्गोत्र गुरु इत्यादि की निदा करते है एव जिन मदिर आदि के उपयोग मे आने वाले देवद्रव्य को जो अहपरण करता है, ब्रह्महत्या, बाल हत्या व अपनी बधु हत्या जो करता है एव समीचीन विषय मे कुतर्क कर विसवाद उपस्थित करता है वह अल्पायुष्य वाला होता है एव पराभव मे नरकादि दुर्गति मे जाकर के दु ख भोगता है एव पुण्यहीन होता है । इसमे कोई भी सन्देह नही है ।।१०४।।

**"भूत्वा हिंसातुरश्चेतसि बक इव यो मानवो जैनदीक्षां ।**
**धृत्वा भंगानि कृत्वा यद्विकल तपास्तं हि निंदतशपन्सः ।।**
**दासी भर्तुर्द्विजस्योत्तर जनिपसुतोऽशेष विधा प्रवीण ।**
**स्तद्देशाधीश कुष्ठ प्रशमन करणाल्लब्ध धस्त्र श्रैयश्यः" ।।१३१।।**

**अर्थ** कोई मनुष्य वक के समान हिसा करने मे तत्पर जैन दीक्षा ग्रहण करके उसको दोष लगाता है तथा जो निर्दोष दीक्षा को पालनेवाले साधुगण की निदा करके गालियॉ देता है । दासी का पति-ऐसे द्विज से उत्पन्न हुआ वह अपने राजा का कुष्ट रोग नष्ट करके जो उसके द्वारा थोडा सा ऐश्वर्य मिला है उसको भोग लेता है अर्थात कपट से दीक्षा लेने वाले पुरुष हीनाचरण करते हुए मुनि धर्म से भ्रष्ट होते है ।।१३१।।

**"गुरुक्रमोल्लघन तत्परा ये जिन क्रमोल्लघन तत्परास्ते**
**तेषा न दृष्टिर्न गुरुर्न पुण्य व्रत न बधुर्न त एव मूढा" ।।१३८।।**

**अर्थ** जो मनुष्य गुरुओ की परम्परा को उल्लघन करना चाहते है अर्थात् गुरुओ की आज्ञाओ को नही मानते हैं, वे जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा का ही उल्लघन करने मे तत्पर है, ऐसा समझना चाहिये । उन लोगो मे सम्यक्त्व नही हैं । उनका कोई गुरु नही, उन्हे पुण्य का वध नही, चारित्र की प्राप्ति नही, उनका कोई बधु नही, विशेष क्या ? वे अपना अहित कर लेने वाले मूढजन है ।।१३८।।

"निजधर्मवश पारपर्यागत सत्क्रम व्यतिक्रम्य ।
यो वर्तते स उत्सक इह तेन च धर्मवंशहानि· स्यात् ।।१३९।।

अर्थ · सर्वज्ञ परम्परा से आये हुए सन्मार्ग को उल्लघन कर जो आचरण करता है वह धार्मिक मनुष्यों मे उत्सक कहलाता है अर्थात् उसका यह विचार रहता है कि मै जो कुछ वोलता हूँ वही आगम है, मैं जो कुछ भी करता हूँ वही आचार है । इस प्रकार के उच्छृखल विचार से उस व्यक्ति द्वारा धर्म का ही नाश होता है।

"बाधते नृपसेवकानपि वचोगात्रैश्च ये सागस ।
स्ते काराग्रह बाध्य दण्डय सकलच्छेद्या भवेयुर्यथा ।।
ये रत्नत्रय धारिणनस्त्रि करणैस्ते सागसो दुर्गतो ।
ते बाध्या बहुदण्डय खण्डयसकलच्छेद्याश्च वध्यास्तथा ।।१४०।।

अर्थ जिस प्रकार इस लोक मे राजा के सेवको को भी कोई वचन व उसके शरीर द्वारा वाधा पहुँचावे तो वह राजा के अपराधी कहलाते है । उनको कारागृह का दण्ड मिलता है । वहाँ पर उन्हे अनेक प्रकार की बाधा दी जाती है, दण्ड दिया जाता है । समय आने पर उनका सर्वनाश किया जाता है ।

इसी प्रकार जो रत्नत्रयधारी साधुओ को मन, वचन, काय से कष्ट पहुँचाते है - वे अपराधी है । वे भी उस पाप के कारण नरकादि दुर्गति मे जाकर जन्म लेते है । और वहाँ पर अन्य नारकी जीवो के द्वारा उनको अनेक प्रकार से बाधा दी जाती है । दण्ड मिलता है, वध किया जाता है एव उनका सर्वनाश किया जाता है । इसलिये वीतरागी साधुओ को कभी कष्ट नही पहुँचाना चाहिये । ।।१०४

"शैलूषोऽप्य नयोऽगुणोऽयमशम क्रोधी जडो धीलघु ।
निर्भाग्योऽयमिति ब्रुवति सुधियो दृष्टवा शप त नर ।।
स श्रीमानुदयो गुणी स सुकृती शात सशिक्षोऽनघ ।
सदृष्टि सुद्यगग्रणीस्स बिबुध श्री जैन भक्तो भवेत् "।।१५१।।

अर्थ गुण दोष को जाननेवाले विद्वान लोग, योग्यायोग्य पात्र-भेद

को न जानकर गालियॉ देनेवाले मनुष्य को डोबारी कहते है। यह निर्गुण है, अशात है, गुस्सेबाज है, मूर्ख है, पापी है, नीच है, दरिद्री है इत्यादि अनेक प्रकार से कहते है। परन्तु जो जिन भक्त है उनको यह श्रीमत है, पुण्यात्मा है, शात है, शिक्षित है, निष्पाप है, सम्यग्दृष्टि है, सम्यग्दृष्टियो के अग्रणी है, विद्वान है इत्यादि प्रकार से प्रशसा करते है ।।१५१।।

**"देवस्वाम्यर्थहृज्जीवे तृष्णा तृडिव सन्निजा ।**
**स्यात्स्ववर्गेषु सा नित्या दरिद्रो जन्म जन्मनि" ।।१७३।।**

**अर्थ :** जो जीव देव द्रव्य को अपहरण कर जीता है उसकी तृष्णा सन्निपात रोग से पीडित रोगी की तृष्णा के समान बढती ही जाती है एव परिग्रहो मे उसकी लालसा स्थिर होती जाती है। इतना ही नही वह जन्म-जन्म मे दरिद्री ही होता जाता है ।।१७३।।

**"वाग्धारा दत्त भू कन्या देश ग्राम धनादिक ।**
**आदत्ते यो बलात्तस्य बहुहानिर्भवेभवे" ।।१७४।।**

**अर्थ ·** जो मनुष्य दूसरो से वचन से, अथवा जलधारा छोडकर दी हुई, भूमि, कन्या, देश, ग्राम, धन आदि को जबर्दस्ती से छीन लेता है, उसको जन्म-जन्म मे हानि उठानी पडती है। इसलिये पर द्रव्य को कभी अपहरण करना उचित नही है ।।१७४।।

**"प्रसदृ चार्थानति पीड्य य सता ।**
**समाहरत्यौष्णयत एव तस्य ते ।।**
**अल्प क्रयान्निष्ठुर कोऽथवा सदा ।**
**कुर्वति रायस्त्रिविधस्य च क्षय" ।।१७५।।**

**अर्थ :** जो व्यक्ति अपने सामर्थ्य से, बलात्कार से अथवा बहुत कष्ट देकर सज्जनो का धन अपहरण करता हो एव अधिक कीमत के पदार्थो को कम कीमत मे खरीदता हो तथा दूसरो के प्रति सदा निष्ठुर व्यवहार करता हो, उस व्यक्ति के भूत, भविष्यत्, वर्तमान ऐसे तीनो प्रकार के धन नष्ट होते है (अर्थात् दानशीला लक्षण नही रहते) ।।१७५।।

" देव गुरू योग्य सेव्ये पीते पीइन्य दुग्ध दधितक्रे ।
वृत्ति कौकसि वत्सो गौर्नस्यिति न क्षरति दुग्ध चाग्रे ।।१।।

अर्थ - देव-गुरुओ की सेवा के योग्य दूध-दही आदि को जो स्वय खा लेता है उसके गाय-भैंस आदि मर जाते है। कदाचित् जीवे तो भी दूध नही देते। अर्थात् ऐसे द्रव्यो को हमे खाना उचित नही है ।।११।।

"अशुचित्व कुरूते यन्नीचकुले जन्म नीचमाहार ।
हिंसाद्यकृत्यं वृत्तिस्ततो भवे दुर्गति स्थितिर्भवति" ।।१२।।

अर्थ - जो मनुष्य गुरुओ के भोजन स्थान, देवो के पूजन स्थान को अशुद्ध रखता है वह आगामी भव मे जाकर नीच कुल मे जन्म लेता है। नीच आहार सेवन करने वाला होता है। हिंसादि पच पापो मे रत होता है। इसी प्रकार नरकादि दुर्गति मे भ्रमण करता है ।।१२।।

## दानशाला की पवित्रता

"मुनिर्भुक्ति गृहेऽन्येषां भोजने यदि तत्फलं ।
कुण्डवद्भाति तद्रक्षेद्ग्रह स्वगृह वत्सदा" ।।२८।।

अर्थ मुनियों को आहार देने योग्य भोजन शाला मे उनकी आहार बेला के पहिले किसी को भोजन नही कराना चाहिये। यदि करावे तो दान का फल धान्य के भूसा के समान व्यर्थ जाता है। इसलिये उस घर को अपने घर (स्त्री) के सामन रक्षण करना चाहिये।

"यत्यादिभुक्त्यगारेस्मिन् कृतान्यैर्मुक्तिरेव चेत् ।
यावद्दान कृत तावन्नष्ट भिन्नतटाकवत्" ।।२९।।

अर्थ मुनियो को आहार दान देने योग्य दानशाला मे यदि उनको आहार देने के पहिले किसी ने भोजन किया तो उस दातार ने जितना दान दिया हो वह सब व्यर्थ जाता है जिस प्रकार तालाब के फूटने पर पानी चला जाता हो ।।२९।।

"आनत्याद्यानुबधी प्रथितममृदु निस्सारमुधत्कलौघं ।
दृष्टिघ्नादभ्रपास्वस्त मित मुदक सयोगतो वृष्तितो वा ।।

**शुष्यत्सशोपयिष्यन्निज तल भव सस्यामि सर्वाणि नित्य ।**
**क्षेत्रं संस्कृत्य पात्र फलमिव लभते कार्षिको धार्मिकत्वं ।।२४।।**

**अर्थ** पात्र को आहार देने वाला दाता सम्यग्दर्शन के घातक ऐसे अनन्तानुबधी कषाय को अपने हृदय से नष्ट कर देता है तब उसके हृदय मे जो पूर्वकाल मे मिथ्यात्वरूपी धान्य उगा था वह शुष्क होकर नष्ट होता है। जैसे खेत मे जो तृण या अयोग्य धान्य उगा था वह नेत्र की दर्शन शक्ति को विघात करने वाली ऐसी ऑधी के चलने से, खूब धूल आकाश मे उड जाती है और उसके साथ तृणादिक भी टूट फूटकर उड जाते है अथवा जल वृष्टि न होने से तृणादिक शुष्क हो जाते है ।।२४।।

## (द्रव्य का लक्षण)

**निषिद्धाहार दत्त फल**

**"स्वेशपुत्रादि भुक्तान्नशेष दत्ते तपोभृते ।**
**अपुत्रा स्यात्सपुत्राचेत्ते स्युर्जीवन्मृता सुता" ।।१०।।**

**अर्थ** - मुनियो को आहार देने से पहिले अपने पति, पुत्र, भाई-वधु आदि को भोजन कराकर फिर बचा हुआ आहार यदि मुनियो को आहार दान मे देवे तो उस स्त्री को अत्याधिक पाप लगता है। जिसके फल से वह पुत्रहीन होती है। कदाचित पहिले से उसको पुत्र हो तो वे जीवन्मृत होते है। अर्थात् पागल, मूर्ख, वधिर, अधा, मूक वगैरह होते है ।।१०।।

अव्रतिक दत्ताहार फल

'अवृत्तिक दत्त भुक्ति । सव्रतभग च पुण्यभग च ।
दास्या दत्ता कुर्याद्यातु पुण्यस्य सद्गतेर्भग ' ।।११।।

"सद्गोत्र निंदा जिन योगि निंदा ।
करोति यस्तस्य च सर्वदा हि ।।
इहैव वक्त्रे क्रिमिगूढ दुर्व्रणा ।
भवति चाग्रे निरय प्रयाति" ।।१३०।।

अर्थ · जो मनुष्य उत्तम गोत्र व गोत्रजनो की निदा करते हैं एव जैन मुनिश्वरों की निदा करते है इस जन्म मे ही उनके मुख मे कीडे वगैरह पडते हैं । बहुत ज्यादा फोड़े वगैरह उठते है एव आगे के भव मे नियम से नरक जाते हैं ।

गुरु के प्रति कर्तव्य

"मार्गे तिष्ठ गुरोर्गुरोश्च चरमे गायन्त सन्मापठे ।
ग्रॅथ काम विकारिण त्वधकर मिथ्योपदिष्ट सदा ।।
राग द्वेष निमित्तमात्म विभवच्छेदो चित मा वद ।
ब्रूहि ब्रूहि हितं मित ! स्थितिकरं पूत सभापूजितम्" ।।१५।।

अर्थ हे शिष्य ! गुरु के आगे मत बैठो, और गुरु के पीछे बैठो । गुरु के सामने ग्रंथों को गाते हुए, हँसते हुए मत पढो । काम विकार को उत्पन्न करने वाले, आत्म कल्याण मे बाधक, पापकर मिथ्या उपदेशकारक, राग-द्वेष को उत्पन्न करने वाले ग्रथो का उपदेश नही देना । सर्व प्राणियो को हितकारक, परिमित, सभाजनो को उल्लसनीय, व आदरणीय वचनो को बोलो यही विनीत शिष्य का धर्म है ।।१५।।

"जीति स्वामि समार्यपावन वचो ब्रूहि त्वमाह्वनके ।
मा सतिष्ठ गुरोर्गुरोरुपरि भोस्तुल्यासनेऽग्रासने ।।
मा मा मातृमुखत्वमेव सतत नीचो यथा वर्तते ।
पत्यौ मास्य पुर· स्वप शुचिकरे पादद्वयाध· स्थले" ।।१६।।

अर्थ हे शिष्य ! गुरुजी के आवाहन करने पर जी, स्वामी, आर्य आदि पवित्र वचनो का उच्चारण करो । गुरु के ऊपर समान आसन पर या अग्रासन पर मत बैठो । जभाई वगैरह मत निकालो । नीच सेवक

जिस प्रकार स्वामी के सामने सोता है उस प्रकार गुरु के सामने सोओ मत । सोना हो तो शुद्ध चटाई पर उनके पैर के नीचे सोओ । यह शिष्य का धर्म है ।।१६।।

**"उच्चैरध्ययनं सगान पठनं मुंचेदबुधो हास्यतां ।**
**स्वावासस्थितिमंग वीक्षण सहालापाग संस्पर्शन ।**
**स्त्रीभिस्तत्सुतलालनं बहुपुरो जायापति प्रस्तुतिं ।**
**होरा मंत्र निमित्त भेषज चित द्रव्यांग संपोषणं" ।।१९।।**

**अर्थ** : गुरु के सामने चिल्लाकार पढना, गाकर पढना, यह उचित नही है एव स्त्रियो के आवास मे रहना, उनके सुन्दर अगो को देखना, उनके साथ सभाषण व अग स्पर्शन करना, उन स्त्रियो के पुत्रो को खिलाना, स्त्रियो की प्रशसा करना, ज्योतिष मत्र औषधि इत्यादि द्रव्य के साधनो से उनका पोषण करना यह सब बुद्धिमान मुनियो के द्वारा वर्ज्य है ।।१९।।

**"कृत पुण्योदयात्पूर्व दोषाः प्रादुर्भवत्यरं ।**
**उप्त बीजोदयात्सर्वा उद्भवत्याखिला· कला " ।।५०।।**

**अर्थ** · पुण्य के फल के आने के पहिले अनेक दोष प्रकट होते है जैसे कि बोये हुए बीज उगने के पहिले अन्य तृण सस्यादि उत्पन्न होते है ।।५०।।

**"वैद्यान्विद्विषता रुजामधिकता न स्याद्गुणो भेषजै· ।**
**स्वस्वामि द्विषतां न जीवितमधाधिक्य च साधुद्विषां ।।**
**स्वानीक द्विषता च धावति रमाराज्य च यद्यद्विषा ।**
**लाभस्तैर्न जलं बिना फलति नो भक्तिं बिना नो गुणः" ।।५३।।**

**अर्थ** जो वैद्यो के साथ वैर रखते है ऐसे रोगी पुरुषो के रोग बढेगे ही । चाहे जितनी औषध लेने पर भी गुण नही होगा अर्थात् उनके रोग नष्ट नही होगे । जो अपने मालिक के साथ द्वेष रखते है वे मूर्ख लोग अपनी उपजीविका का नाश करते है । उसी तरह जो दुष्ट लोग साधुओ

से द्वेष करते है उनको तीव्र पातको का नियम से वध होता है । जो अपने सैन्य से द्वेष करते है ऐसे राजाओ की लक्ष्मी और राज्य नष्ट होता है । अभिप्राय यह है कि जो जिस हितकर वस्तुओ से द्वेष करता है उससे उसका फायदा नही होगा, हानि ही होगी । जल के विना न वृक्ष बढ़ेगा न फल देगा । उसी प्रकार यदि हम साधुओ के गुणो मे भक्ति न करेगे तो हमारा कल्याण नही होगा । ऐसा समझकर उनकी उपासना हमेशा करनी चाहिये । ऐसा इस श्लोक का अभिप्राय है ।।५३।।

"मातुल्यभ्यस्त वध्व· प्रविमलचरिता स्तूयमानास्सतीभि ·।
स्वाचार्याभ्यस्त शिष्या· प्रविमलचरिता स्तूयमाना मुनीन्द्रै· ।।
स्यु· पित्रभ्यस्तपुत्राः प्रकटित मतयो धीर वीरा रमेशा ।
स्व स्वाम्यभ्यस्त भृत्या प्रकटित मतयो धीर वीरा रमेशा ।।५६।।

**अर्थ** सासू के उपदेश को ठीक ठीक मनन करने वाली सती निर्मल चारित्र वाली होती है । उसकी सर्व पतिव्रता स्त्रियॉ प्रशसा करती है । आचार्य के उपदेश का अभ्यास करने वाले शिष्य का भी आचार पवित्र हो जाता है । उसकी भी मुनिगण प्रशसा करते है । पिता के उपदेश का अभ्यास करने वाला पुत्र धीर-वीर, बुद्धिमान होकर लक्ष्मी सम्पन्न होता है एव अपने स्वामी के उपदेश का अभ्यास करने वाला सेवक भी बुद्धिमान होकर धीर-वीर व लक्ष्मी सम्पन्न होता है ।।५६।।

"प्रागत्रेकाकुरा पश्चात् तत्र स्युर्बहबोऽकुरा· ।
तथैका रुचिराद्या सा जानीयाद्बहुधा परा·" ।।६३।।

**अर्थ** जिस प्रकार केले का अकुर पहिले एक रहने पर भी उस से बाद मे अनेक वृक्ष होते है उसी प्रकार गुरुपदेश आदि निमित्त से श्रद्धान होता है । तदनन्तर चारित्रादिक होते है ।।६३।।

"रभा कदो जलाभावात् स्वयमेव विनश्यति ।
यथा तथैव केषा दृक् क्रोधादेव स्वय क्षयेत्" ।।६४।।

**अर्थ** जिस प्रकार गर्मी मे जल के अभाव होने से केले का कन्द

अपने आप नष्ट होता है। इसी प्रकार क्रोधादिक कषाय रूपी उष्णता से किसी का सम्यग्दर्शन अपने आप नष्ट होता है ।।६४।।

**"सर्व क्लेशकरो यथोद्भवति ये जैनास्तदिच्छा कृतिं ।**
**भीत्वा वाह स एतदुत्तमशमं कुर्वत्यलं ते पुरा" ।।७५।।**
**क्रुद्धे तस्य सहायिनोऽत्र सकलाः क्रूरा भवन्ति ध्रुवं ।**
**ग्रेष्मैयाग्निमवेक्ष्य कक्षमखिला· प्लोष्यंति शैले यथा" ।।७५।।**

**अर्थ** · पूर्व काल मे किसी को यदि वह दु खकर क्रोध उत्पन्न होता था तो बाकी के जैनी पाप के भय से उसी समय उस क्रोधी के हृदय मे सतोष हो और वह क्षमा धारण करे इस प्रकार के उपाय करते थे। किसी को भी एक दूसरे का अहित होने मे आनन्द नही होता था। परन्तु आज कल के जैनी यदि किसी को क्रोध आवे तो उसे और भी क्रूर बनाने के लिये सहायक बनते है जिस प्रकार कि ग्रीष्म काल मे यदि पर्वत मे कोई अग्नि लगे तो सब हिसातुर होकर उसमे जगल के जगल को जलाते है।

**पात्र लक्षण विधि**

**"वैद्यानृप्रकृतिर्यथानलविधिं ज्ञात्वैव रक्षन्ति तान् ।**
**सर्वेऽष्टादश धान्य लोभमतयः क्षेत्रं यथा कार्षिकाः ।**
**गॉ धारार्थजना अवति च यथा रक्षेर्यु स्र्वीश्वराः**
**नित्य स्वस्थलवर्तिनो वृषचितो धर्मंच धर्माश्रितान्" ।।४।।**

**अर्थ** : जिस प्रकार वैद्य रोगियो की प्रकृति व उदराग्नि को जानकर उनके योग्य औषधि वगैरह देकर उनकी रक्षा करते है, सम्पूर्ण अठारह प्रकार के धान्य के लाभ से जिस प्रकार किसान लोग खेत की रक्षा करते है, ग्वाले लोग दूध के लिये गाय की रक्षा करते है इसी प्रकार धर्मात्मा दाता धर्म व धर्मात्माओ की सदा रक्षा करते है। वे ही उत्तम दाता कहलाते है ।।४।।

पात्र सेवा फल

"य· श्राति शमयत्यसौ सुकृतवान्पात्रस्य मुक्तश्रम·
स्वस्थो स्वास्थ्यमिहामयान्गातरुजार्श्चितामचित क्षुधां ?
तृत्पो दोषमदोष वान्क्रुध मिमां तां तः प्रदृष्टोऽनिश
संक्लेश जड़ता मते· शुभमतिर्ज्ञानी भवेन्निर्मल" ।।१७।।

अर्थ · जो धर्मात्मा पुण्यवान दाता पात्रो के श्रम को पान द्रव्यादिको को देकर दूर करता हो वह जन्म भर श्रम रहित होता है। जो पात्र को स्वास्थ्य लाभ पहुँचाता है वह स्वय भी जन्म भर स्वास्थ्य युक्त हो जाता है। पात्रो के असाता से उत्पन्न रोगो को दूर करने वाला स्वय निरोगी शरीर को प्राप्त करता है। पात्रो की चिन्ता को दूर करने वाला स्वय चिन्तारहित, आहारदिक को देकर क्षुधा दूर करने वाला स्वय सुखादिक से तृप्त, पात्रो के दोष को दूर करने वाला स्वय निदोषी उनके क्रोधादिक को दूर करने वाला, स्वय सर्व प्रकार से शॉत, उनके सक्लेश परिणाम को दूर करने वाला, स्वय सर्व प्रकार से सतुष्ट एव उनके अज्ञान को दूर करने के लिये योग्य साधन को उपस्थित करने वाला ज्ञानी निर्मल होता है ।।१७।।

आहार के समय वर्ज्य मनुष्य

"मिथ्यादृग्वृषनाशको गुण हर क्षुद्रान्व्रणी दूषक
कुष्टी क्रूरमना विरोध करणः फलादान सामय
शिव त्री सूतकवान्मतच्युतजनो दोषी निषिद्धाबर·
स्निग्धागोऽक्षिविषश्च भुक्ति समये वर्ज्यो गुणज्ञैर्गुरो ।।" ।।५५।।

अर्थ गुणवान पुरुषो का कर्तव्य है कि वे साधुओ के आहार के समय मे मिथ्यादृष्टि, धर्म द्रोही, गुणापहारी, पतिव्रत्यादि गुणो से रहित स्त्री, भूखा, व्रणी, धर्मनिन्दक कोढी, क्रूर परिणामी, विरोधी, उच्छिष्ट खाने वाले, रोगी, श्वेत कुष्ठी, सूतकी, मतभ्रष्ट, समाज बहिष्कृत, मैंले कपड़े के धारक, तेल से लिप्त शरीर वाले, नैत्रदोषी आदि को वर्जन

करे । अर्थात् साधुओ को आहार के समय उपर्युक्त प्रकार के मनुष्य दृष्टिगोचर न हो इसका ध्यान रखे ।।५५।।

**"बिण्मूत्राद्यशुचौ जिनालय गते येनान्नदाने कृते ।**
**साधुभ्यश्च स सप्ता जन्मनि भवेच्छित्रादि कुष्ठी स च ।**
**जैनं गेह मृषिर्विशेन्न मलिनी भाण्डादिकं न स्पृशेत्**
**स्पृष्टे तत्र गृह गतेऽधिक रुजो गच्छेदसौ दुर्गतिम् ।।५६।।**

**अर्थ** मलमूत्र विसर्जन आदि से उत्पन्न अशुचि की अवस्था मे जिनालय मे प्रवेश नही करना चाहिये एव उस हालत मे साधुओ को आहारदान भी नही देना चाहिये । यदि उस अशोचावस्था मे जिनालय मे प्रवेश करे एव साधुओ को आहार दान देवे तो वह सात जन्म तक श्वेतकुष्ठ आदि भयकर रोग से पीडित होता है । कोढी को सूतकी के समान जिन मदिर व मुनिवास मे प्रवेश करने के लिये निषेध किया गया है एव वह जिन मदिर के उपकरणो को, बर्तन वगैरह को तथा मुनिदान के उपकरण व बर्तनो को स्पर्श नही कर सकता है यदि वह इस आदेश की अवेहलना कर जिन मन्दिर वा मुनिवास मे प्रवेश करे एव उन उपकरण व बर्तनो को स्पर्श करे तो वह कोड सर्वाग व्याप्त होता है । और बाद मे वह नरकादि दुर्गति को चला जाता है । इसलिये मुनिदान व पूजादि (जिन पूजा) कार्यो मे बहुत ही प्रवित्रता का व्यवहार करना चाहिये।।५६।।

**दान कार्य मे वर्ज्य**

**''क्षुधितो मुखवारि गिरन्नशुची रोगीजुगुप्सकोऽक्षिविष ।**
**मुनि हस्तक बल दाने लुब्धो नाभीष्ट वस्तु दानाज्ञै" ।।६२।।**

**अर्थ** मुनियो को आहार दान देते समय भूखे को, मुँह से पानी गिरने वाले को, अशुचि को, रोगी को, ग्लान को, नेत्र दोषी को, लोभी को निर्दोष व प्रकृति के अनुकूल पदार्थ देने के विषय मे मूर्ख को वर्ज्य करना चाहिये । अर्थात् ऐसे व्यक्तियो को आहारदान के कार्य मे नही लेना चाहिये ।।६२।।

"स्नाता चतुर्थ दिवसे पक्तु योग्या तु दानयोग्या न ।
दत्तेऽन्नै तु तया सो इतर जन्मनि च पुत्ररहिता स्यात्" ।।६४।।
"दत्तेऽन्न सूतकी या स्यादवीरा साग्रजन्मनि ।
न कुर्यात्सूतकी दान पूजॉ दुर्गति दुखकृत्" ।।६५।।

अर्थ · रजस्वला स्त्री चौथे दिन मे स्नान से शुद्ध होकर घर मे रसोई बना सकती है । वह रसोई घर वालो के ही काम मे आ सकती है । वह चौथे दिन मुनिदान नही दे सकती । यदि इस आज्ञा को उल्लघन कर वह दान देवे तो उत्तर भव म सतान विहीन होती है । अर्थात् वध्या होकर के उत्पन्न होती है । इसलिये सूतकी दान व देवगूरु पूजा को न करे । अन्यथा वह नरकादि दुर्गति को प्राप्त करती है ।।६४-६५।।

स्वहस्त कर्तव्य

"धर्मेषु स्वामि सेवायॉ पुत्रोत्पत्तौ श्रुतोद्यमे ।
भैषज्ये भोजने दाने प्रतिहस्तं न कारयेत् "।।६६।।

अर्थ  धर्म कार्य मे, स्वामी सेवा मे पुत्रोत्पत्ति मे, शास्त्र स्वाध्याय मे, औषध ग्रहण मे, भोजन मे, दान मे प्रतिहस्त व्यवहार नही करना चाहिये अर्थात् इन कार्यो मे अपने बदले दूसरो से कार्य चलाने का प्रयत्न नही करना चाहिये । ये कार्य स्वत ही करने योग्य है ।।६६।।

गुरु-भक्ति फल

"गुरुपदनतेस्सुगोत्र तदुपास्तेस्सर्वसेव्यता दानात् ।
भोगकरी श्री पूता कीर्तिर्भक्तिर्भवेद्गुरून् भजताम्" ।।८४।।

अर्थ  गुरुओ के चरण मे भक्ति से नमस्कार करने से उच्च गोत्र का बध होता है । उनकी उपासना करने से स्वत सब के द्वारा उपास्य होता है । दान से भागने योग्य अलोट सम्पत्ति मिलती है । गुरुओ की पूजा करने से पवित्र कीर्ति व यथार्थभक्ति प्राप्त होती है ।।८४ ।।

"सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रवद्भ्यो ।
योगिभ्यो यैर्दत्तमाहार दानम् ।।

**ते सद्दृष्टि ज्ञान चारित्रवन्त ।**
**स्तेषामात्मा स्यात् च्युताब्दो यथार्क ।।८५।।**

**अर्थ** : जो दाता सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र से अलकृत योगियो को आहार दान देते है वह स्वय सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्र को धारण करते है । उन दाताओ की आत्मा मेघ के आच्छादन से रहित सूर्य बिब के समान निर्मल होती है ।

**भक्ति विशेष**

**"या पथीत यापयिष्यति साधून्स्वयमेव य· पुमाननिश ।**
**पूर्णा क्षया कलका विघ्नाभयदानवान्स सुखीः" ।।९२।।**
**"स्तभयति सर्वविघ्नान् प्रजादिपीड़ाश्च यत् प्रसादेन ।**
**इह पर सुख युगमय मनुभूत्वा सुखमनन्तमपि लभते" ।।९३।।**

**अर्थ** जो श्रावक साधुओ को पात्र दान देकर स्वत उनको भेजता है या अनेक सज्जनो के साथ भक्ति से पहुॅचाता है वह पूर्ण, अक्षय, अकलक व विघ्न रहित अभय दान को प्राप्त करता है वा सुखी होता है । जो श्रावक साधुओ को मार्ग मे आये हुये सर्व विघ्नो को दूर करता है, प्रजा आदि से उत्पन्न पीडाओ को दूर करता है वह उस पुण्य के प्रसाद से इह-पर सुख को प्राप्त कर अनत सुखात्मक मोक्ष को भी प्राप्त करता है ।

**कुत्ते के समान कृतज्ञ रहो**

**"जीवासति स रात्रि जागर इव स्वस्वामि सद्माप्यवं ।**
**स्तस्मिन्कुप्यति मौन वानिह भवान् स्व स्वामिभक्तो यथा ।।**
**घाते तेन भषन्न तत्र न दशन् कुप्यन् कृतज्ञोयथा ।**
**भक्त स्वामिनि जागरोऽवतिमिरे भूत्वा कृतज्ञो वृषे" ।।१०७।।**

**अर्थ** हे सुखार्थी जीव ! तू कुत्ते के समान कृतज्ञ बनना सीख । जिस प्रकार वह कुत्ता अपने स्वामी के सुख से निद्रित होने के वाद स्वय जागरण करते हुए अपने ही नही अडोस-पडोस के घर को भी सरक्षण

करता है। स्वामी यदि उस पर क्रुद्ध हुवा तो वह मौन धारण कर लेता है। इतना ही नही, यदि स्वामी ने उसे मारा तो भी अपने स्वामी को काटता नही, भोकता भी नही, सदा स्वामी भक्त वना रहता है। इसी प्रकार पापाँधकार रूपी रात्रि के होते हुये धर्म व धर्मरूपी गुरु (स्वामी) के प्रति हे जीव। तूँ कृतज्ञ वनना सीख। तभी तुम्हारा कल्याण होगा ।।१०७।।

के कुप्यति शपति वैरमनिष कुर्वन्ति चास्यालयम् ।
प्लोषाम· प्रभुर्णापि मदिरमिद निर्णाशियाम· श्रियम् ।
केनोपाय शतेन के वयभिम मार्गे कषायमस्ततो ।
नोक्तवा मा वद् मा मनोगत धन मौनेन देय सदा" ।।१४७।।

**अर्थ** : दुनिया मे दान देने के वचन को देकर फिर उस वचन को भग करना यह महान कठिन कार्य है। उस व्यक्ति का कोई विश्वास नही करते हैं। कोई उसके प्रति क्रोधित होते हैं, कोई गाली देते हैं, कोई सदा उसके साथ बैर बाँधते हैं, कोई उसके घर को जलाने की बात करते है। इतना ही क्यो ? हजारो उपायो से उस व्यक्ति को कष्ट देने के लिये प्रयत्न करते है। इसलिये दान देने के धन को एक दम अविचारित होकर नही बोलना चाहिये। बोलने के बाद नकार नही करना चाहिये। बुद्धिमान दाता को उचित है कि वह जो कुछ भी दान देना चाहे-मौन से ही देवे ।।१४७।।

"पक्ति भेदे कृते येन ब्रह्यग्निर्भुक्ति वर्जित· ।
भस्मक व्याधिवान्स स्याद्वान्हिवत्सर्वभक्षक " ।।१६७।।

**अर्थ** · यदि दाता ने पात्रो मे अमुक मेरा उपकारी है, अमुक उपकारी नही है इत्यादि प्रकार के विचार से पक्ति भेद अर्थात् आहार द्रव्य के देने मे भेद किया तो उसके फल से वे दम्पत्ति भस्मक रोग से पीडित के समान तीव्र अग्नि के रहते हुए भोजन रहित होते है। अग्नि के समान भक्ष्याभक्ष्य सर्व पदार्थो का भक्षण करते है।

**"अशिक्षित कुदृगभ्यो ये दानानि ददते नराः**
**महारण्ये भवेयुस्ते मदोन्मत्ता मतंगजा" ।।१६९।।**

**अर्थ** - जो सज्जन अशिक्षित वा मिथ्यादृष्टियो को दान देते है वे उस दान के फल से बड़े भारी जगल मे मदोन्मत्त हाथी होकर उत्पन्न होते है ।।१६९।।

**"न पश्येन्न स्मरेदन्य कलत्रमिव न स्पृशेत् ।**
**जैनत्वमपि दत्तार्थ न स्मर स्पृश पश्य न" ।।२०४।।**

**अर्थ** - जिस प्रकार शीलवान पुरुषो का कर्तव्य है कि उनको अन्य स्त्रियो को काम विकार से नही देखना चाहिये । (गुणानुराग से देख सकते है) काम विकार से स्मरण नही करना चाहिये । (गुणानुराग से स्मरण कर सकते है) कामविकार से स्पर्श नही करना चाहिए । (वैद्य, पिता, पुत्र आदि जिस प्रकार से स्पर्श करते है, कर सकते है) इसी प्रकार हे जैन । तुमने जिस पदार्थ को दान मे दे दिया उसकी और देखो मत । उसका स्मरण मत करो और उसका स्पर्श भी मत करो । यही सज्जनो का लक्षण है ।।२०४।।

**देव-गुरु सेवा फल**

**" दत्तं निंबुफलं राज्ञामुत्पाद्य करुणां हृदि ।**
**दत्तं तैरधिकं वित्त देवगुर्वोस्तथाधिकम् ।।२१८।।**

**अर्थ** - राजा के पास जाकर प्रतिनित्य निबू फल को भेट मे देवे तो उसके द्वारा वह प्रसन्न होकर एव हृदय मे करुणा धारण कर उस नौकर को अनेक सम्पति प्रदान करता है । इसी प्रकार देव गुरुओ की सेवा करने पर उनके प्रसाद से अनेक सुख सम्पत्ति मिलती है ।।२१८।।

**"स्व स्व देवाय सकल्प्य स्वयमेव व्ययत्यदः ।**
**स्वानर्थाय भवेत्कन्यादान वत्सोऽनरि- स्मरेत्" ।।२१९।।**

**अर्थ** जो सज्जन अपने द्रव्य को देवता कार्य के लिये सकल्प करके उसे अपने लिये उपयोग करता है उससे उसका सर्वनाश होता

है । यदि कन्यादान करके भी उस कन्या को पतिगृह मे नही भेजे तो प्रिय दामाद भी शत्रु हो जाता है ।।२११।।

दाता के प्रति क्रोध नहीं करने का उपदेश

"पापाद्येदीति कष्ट यदि फलति वचोमुद्भवेन्निष्फलतं -
दु·ख मा मा च कोप कुरु दुरितफल जातभोतत्क्षमस्व ।
अक्षत्वा दातृलोक शपति शपति किं प्राक्कृतैनोवनोघ ।।
प्राबल्यायैव वृष्टि क्षरति बहुतरा विद्धिभो भावय त्व ।" ।।२३५।।

अर्थ : "देहि" इस प्रकार का वचन पाप कर्म के उदय से ही बोलना पड़ता है महान कष्ट है । यदि वह वचन सफल हुआ तो हर्ष होता है, निष्फल हुआ तो दु ख होता है । परन्तु हे भव्य । निष्फल होने पर भी दुख मत कर, क्रोध मत कर, यह पाप कर्म के उदय से हुवा इसलिये क्षमा कर । यदि क्षमा न कर दाताओ को गाली दे तो क्या होता है ? पूर्व जन्म मे किये हुए पाप के फल से ही ये सब कुछ होता है । इसलिये विचार करो । व्यर्थ ही किसी के प्रति क्रोधित मत होओ ।।२३५।।

देव-गुरू आदि के प्रति दुर्वचन निषेध

"योऽपथ्य सरुजो यथा समनुजोदुर्वाक्सम तुर्यथा ।
दुष्कर्माणि कृतानि येन स पुरा दु ख लभेताद्भुत ।।
दुष्टाष्टादशदोष वृत्ति रहिते जीवेऽपि देवे गुरौ ।
निर्दोषा स्युरिवात्र सव्रतयुतास्तिष्ठति सतस्सदा" ।।२४२।।

अर्थ रोगी ने यदि अपथ्य किया तो उसका रोग बढता है । उसको भयकर दुख भोगना पडता है । यदि अपराधी ने राजसेवको के साथ दुर्वचन का प्रयोग किया तो उससे उसको भयकर दुख भोगना पड़ता है । पूर्वजन्म मे जिसने दुष्कर्मो का आचरण किया । उनको यहॉ पर दु ख भोगना पड़ता है । दुष्ट रागादि अठारह दोष जिनके हृदय मे नही है ऐसे जीवो के प्रति-देव व गुरु निर्दोष है - उनके प्रति दुष्ट वचनो का प्रयोग नही करना चाहिये ।।२४२।।

*निकाचित कर्म का फल भोगना ही पडता है ।*

**देवगुरु के प्रति विघ्न न करने का उपदेश**

**"विघ्नो हत्यभवच्च रावण मृतिश्चेल्लक्ष्मणे नेव त ।**
**स्मृत्वा चेतसि सविचार्य विलयो येनास्य सप्रेरित ।।**
**विघ्नज्ञ· स्वरिपौ रिपु· सुकृतिनॉ चोरो यथार्थ हरे -**
**द्विघ्नो यत्र भवेदविघ्न सुजनस्तेनैव नश्चेत्स च" ।।२४७।।**

**अर्थ** · दूसरो के पुण्य कार्य मे विघ्न उपस्थित करना व परनिदा करना यह महान पाप बध के लिये कारण हुआ करता है । इसी विघ्न के कारण लक्ष्मण के द्वारा रावण का मरण हुवा । भवितव्य टल नही सकता है कहा रामचन्द्र ? कहॉ रावण ? कहॉ अयोध्या, और कहॉ लका ? दशरथ के कैकयी के साथ वचन-बद्ध होना, रामचन्द्र और सीता को वनवास के लिये भेजना, शभुकुमार की तपश्चर्या, लक्ष्मण को चन्द्रहास खड़ग की प्राप्ति, सूर्पनखा के द्वारा रावण का बहकाना, सीतापहरण, ऑजनेय के द्वारा सीता सदेश, लकाप्रयाण व लक्ष्मण के द्वारा रावण मरण यह सब बाते विधि के वैचित्र्य को सूचित करती है । रावण को विघ्न का फल भोगना ही पड़ा । इन बातो को विचारकर अपने शत्रु के प्रति कोई विघ्न व अन्तराय करने के लिए प्रयत्न न करे । पुण्य आत्माओ के लिए दुष्ट जन विघ्न उपस्थित करते है जिस प्रकार कि चोर दूसरो के द्रव्य को अपहण करता है परन्तु वह दुष्ट जन दूसरो को विघ्न करने मे स्वय नष्ट होता है । तात्पर्य यह है कि अपनी भलाई चाहने वाले देव-गुरु-धर्म के प्रति कोई विघ्न उपस्थित न करे ।

**धर्म कार्य मे विघ्न न करने का उपदेश**

स्वास्वार्थ स्व सुतं, स्वहं स्वपितर स्वा मातर स्वानुज ।
स्वादासी स्वपशु च हति दहति स्वाबालमेषागदान ।।
आस्तेऽर्थ हरान्नृपादिभिरलान्य न्यकारयत्यन्यहम् ।
स्वगेहं स्वपुर स्वदेशमखिल विघ्नो वृषागोर्जित " ।।२४९।।

अर्थ · धर्म कार्य के लिये उपस्थित किया हुवा विघ्न वहुत बुरे फल को अनुभव कराता है। अपने पुत्र, अपनी भार्या, अपने पिता, अपनी माता, अपने भाई, अपनी दासी, द्विपद चतुष्पपदादि पशु आदिको को वह मार डालता है। अपने आवासस्थान को जला डालता है। उसके घर पर अनेक भयकर रोगो को उत्पन्न करता है। चारो को प्रवेश कराता है, राजा के द्वारा अपमान कराता है। अपने घर पर, नगर मे, देश मे सर्वत्र उसे कष्ट उठाना पड़ता है। इसलिये देव, ऋषि, धर्म कार्य मे विघ्न उपस्थित नही करना चाहिये ।।२४९।।

गुरुओं के अविनय का फल

"शास्त्राना पठने श्रुतौ पटुतरा बुद्धिर्मुनीनॉ सतॉ ।
तान् दृष्ट्वा विनयोक्ति भक्तिविनतिर्द्रव्यौर्मुदे ये मुदा।
नो कुर्वन्ति न कारयति तनुवाक्चित्तैरलं वचका·।
षण्मासावधि भूरिवित्तलयन तेषां भवेदज्ञता" ।।३७।।

अर्थ शास्त्र स्वाध्याय जहॉ चला है वहॉ, जहॉ शास्त्र सुन रहे है वहॉ एव निर्मल बुद्धि के धारक साधुओ के पास मे जाने के बाद वहॉ जो उनको देखकर विनय पूर्ण वचन, भक्ति, विनय आदि नही करते है एव अपने द्रव्य से, व मन, वचन, काय की विशुद्धि से उनका सत्कार नही करते है और दूसरो से नही कराते है वे वचक है। उनको उनके पाप के फल के रूप मे छह महीने के अन्दर उनके धन का नाश होता है एव उनका ज्ञान मद होता है एव वे विवेक भ्रष्ट होते है ।।३७।।

साधुजनो की परोक्ष मे निंदा न करे

"ये शसंति नमति साध्विव पुरो भक्तया भवेयुर्जड़ा·।
पश्चाज्जैन जनास्त्रिरत्न सहितान्कुर्वंत्युपालभनम् ।
शून्य ग्राम निविष्ट काष्ठ निगल प्रक्षिप्त पादो यथा ।
श सन्नधनुवन्न मत्करशिरो दैन्य ब्रुवन्मूढधी·" ।।४२।।

अर्थ जो व्यक्ति सामने साधुजनो को देखकर प्रशसा करता है,

नमस्कार करता है एव पीछे से उन रत्नत्रय धारियो की निदा करता है वह अज्ञानी जीव है। उसकी दीनता, भक्ति आदि ठीक उसी प्रकार की है जैसे कोई सूने ग्राम मे बधन, काष्ठ मे किसी के पैर को फॅसाने पर रास्ते चलने वाले को देखकर वह दीनता को धारण करता है, स्तुति करता है, प्रशसा करता है हाथ जोड़ता है आदि अनेक मायाचार पूर्ण क्रिया करता है। इसी प्रकार साधुओ की प्रशसा सामनेकर पीछे से निदा करने वालो की दशा है ।।४२।।

**गुरु के प्रति क्रोध का निषेध**

**"सद्दृष्टि विबुधं दयालुममलम् चारित्रवतं गुरुं।**
**ये कुप्यन्ति शपति चेतसि सदा प्रद्वेषमकुर्वते ।।**
**तेषां संवर्धनं हरंति यदघं सज्ज्ञानमाहंति तद्ग्रस्तेऽर्के ।**
**तमसा यथा जगदिदं तद्वत्सचित्तो भवेत्" ।।४३।।**

**अर्थ** जो सम्यग्दृष्टि, विद्वान, दयालु, निर्मल व चारित्रधारी अपने गुरुओ के प्रति क्रोधित होते है, उनको गाली देते है एव चित्त मे सदा विद्वेष करते है उनके सर्व धन को चोर आदि अपहरण करते है। एव उनके ज्ञान को पाप चोर आदि अपहरण करते है। जिस प्रकार सूर्य के राहुग्रस्त होने पर यह लोक अधकार मे आवृत्त होता है उसी प्रकार उसके चित्त की दशा होती है। अर्थात् अज्ञानॉधकार से आवृत्त होता है।

**अन्य निंदा फल**

**"ज्ञान पुण्य मयं श्रिय शुभधियं तेजोभिमान गुणं ।**
**बधुत्वं शपनं निहति सुगतिं स्नेहं चरित्रं द्रशम् ।।**
**कुर्यान्नीचगतिं परिग्रहरुजो दैन्यं विषादं सता ।**
**मृर्यु बंधन वैरताऽनपि ह्येकद्वित्रि बधादिक" ।।४४।।**

**अर्थ** . दूसरो को एव साधुओ को गाली देने से ज्ञान व पुण्य का नाश होता है। पुण्यकारक परिणामो को नाश करता है। सम्पत्ति, शुभ बुद्धि, तेज, अभिमान, दानादिक गुण, बधुत्व आदि नष्ट होते है। प्रेम नही

रहता है। चारित्र व सम्यकृत्व का नाश होता है। उत्तम गति भी उसे नही हो सकती है। एव उसके व्यवहार से नरकादि नीच गति का बध होता है। परिग्रह व रोग की वृद्धि होती है, दीनता बढ़ती है। सज्जनो के हृदय मे विषाद बढता है। कदाचित मृत्यु ही उसकी होती है। बधन (कारागृह) वैर, ताड़न आदि मे से एक दो या तीन दु ख प्राप्त होता है। इसलिये विवेकी को उचित है कि वह दूसरो की निंदा न करे और गाली न देवे ।।४४।।

**मूर्खों का शाप कुछ नहीं कर सकता है**

"मूर्खाणा शपन शात मौनिन न च बाधते ।
शपत बाधते सक्य राबणोत्क्षिप्त चक्रवत" ।।४५।।

**अर्थ** · मूर्ख मनुष्य यदि किसी शॉत व मौनी को गाली देवे तो वह गाली उस मौनी को कुछ भी हानि नही पहुँचा सकती है, उल्टा उस गाली देने वाले को ही उससे हानि होती है। जिस प्रकार रावण के द्वारा छोडा गया चक्र उसी के मरण के लिये कारण हुवा। उसी प्रकार वह गाली उसी व्यक्ति के लिये बाधक है ।।४५।।

**गाली देने वालो के लिए प्रायश्चित नहीं है**

" प्रायश्चित न शपताम् शप्ताना नाघहानति ।
शोधन सर्वदा हेय श्रोतृणाम् योग भेदत " ।।४६।।

**अर्थ** गाली देने वालो के लिये कोई प्रायश्चित नही है क्योकि गाली देने वालो के पाप की निवृत्ति नही होती है। तथापि उनकी आत्मा को शोधन करने के लिये गाली सुननेवालो को योग के भेद को लक्ष्य मे रखकर प्रयत्न करना चाहिये ।।४६।।

**बिना शुद्धि के दान पूजा व्यर्थ**

"नष्टाग्ने प्रबलाहार भुक्त्या तीव्रागदा यथा ।
शुद्धि बिना दान पूजास्तस्य येन् कृता· क्षमा " ।।४७।।

**अर्थ** उदराग्नि के नष्ट होने पर, गरिष्ट आहार के सेवन करने

से तीव्र रोग की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार मन, वचन, काय की शुद्धि के बिना दानपूजा करना व्यर्थ है, उससे अनेक अनर्थ होते है ।।४७।।

**शास्त्रोपदेश के अभिप्राय का घात न करे ।**

**" शास्त्रोपदेष्टुराकूत घातनादहितानवान् ।**
**श्रोतृणा श्रुत शास्त्राणा पक्व बुद्धिश्च नश्यति" ।।५१।।**

**अर्थ** · शास्त्रोपदेश देने वाले के अभिप्राय को घात करने से उनको अत्यधिक दुख होकर श्रोता अनेक बार शास्त्र सुनकर जो बुद्धिमान हुए है, उनकी पक्व बुद्धि भी नष्ट होती है ।।५१।।

**उपदेशको के प्रति उदासीन नही होवे**

**"यावद्यादुदासीन मुपदेष्टरि कुर्वते ।**
**तावत्तावद्धि प्रकृष्ट निर्गच्छति सरस्वती" ।।५२।।**

**अर्थ** · यह मनुष्य शास्त्र के उपदेश के देने वाले उपदेशको के प्रति जितना जितना उदासीन होता जाता है उतना ही उससे सरस्वती दूर चली जाती है ।।५२।।

**उदासीन लक्षण**

**विघ्नातृटस्मृति धी भ्रशरुग्विद्वेषण वैकलम् ।**
**दुर्मेधा ज्ञत्व मित्यष्ट बाधोदासीन लक्षणम्" ।।५३।।**

**अर्थ** · १ शास्त्र सुनने मे अन्तराय उत्पन्न होना ।

२ निरतराय होने पर भी शास्त्र सुनने की इच्छा न होना ।

३ निरतराय और सुनने की इच्छा होने पर भी श्रुत विषय का स्मरणाभाव व बुद्धि भ्रश होना ।

४ निरतराय इच्छा, बुद्धि, स्मृति आदि के होने पर भी रोगयुक्त शरीर का होना ।

५ निरतराय, इच्छा बुद्धि, स्मृति व आरोग्य के होने पर भी गुरु शिष्यो मे आपस मे द्वेष होना ।

६ निरतराय, इच्छा वुद्धि, स्मृति, आरोग्य व गुरु शिष्यो मे प्रम होने पर भी गुरु शिष्यो मे विकलता का होना ।

७ उपर्युक्त सभी वाते होने पर भी दुर्वुद्धि उत्पन्न होना कदाचित उपर्युक्तबातो के साथ सुवुद्धि रही तो भी जड़ता अर्थात् मद बुद्धि का होना ये आठ वाते उदासीनता के लक्षण हैं । ये आठ वाते ससार मे सम्यग्दृष्टि व विद्वानोंके प्रति की गई उदासीनता से मनुष्य को प्राप्त होती है ।।५३।।

**विद्वानों के अनादर से होने वाली दस वातें**

"सद्बाणि क्रुद्धूर्तता क्षानुवृत्तिनिद्रातद्रा जृभण विस्मृतिश्च ।
पाठाशक्तिमूर्खता स्पष्ट वाक्सुरज्ञानोद्यद्भूतजाता विकारा·" ।।५४।।

**अर्थ** १ सम्यग्मार्ग के उपदेश देने वालो के प्रति क्रोधित होना । २ धूर्तता । ३ इन्द्रियो के आधीन होना । ४ शास्त्र श्रवण के समय निद्रा आना । ५ आलस्य आना । ६ जभाई आना । ७ विस्मरण होना । ८ कितनी ही बार पाठ करने पर भी पाठ न होना । ९ मूर्खता और । १० तोतली बोली । ये दस बाते अज्ञान भूत से उत्पन्न विकार है । ये दस बाते विद्वानो के अनादर से होती है ।

**कलिकाल मे शास्त्र स्वाध्याय की दशा**

"शास्त्र पठतो न च सन्ति ते चेत्सम्यग्दिशंतो न च संति तेऽत्र ।
अध्यापयतो न च सति तेऽज्ञास्तत्त च तान् सन्ति विनाशयन्त·" ।।५९।।

**अर्थ** इस पचम काल मे पहिले शास्त्र को पढने वाले ही नही है । पढने वाले कदाचित मिले तो उन शास्त्रो के गूढ रहस्य को अच्छी तरह समझाने वाले नही है । वे भी मिले तो उन पढने वाले व प्रवचन करने वालो की रक्षा कर उनसे पढवाने वाले नही है । कदाचित इन सब की प्राप्ति हो जाय तो उस शास्त्र को, शास्त्र पढने वाले, उपदेश देने वाले व उनके रक्षण करने वाले सज्जनो को कष्ट देकर नाश करने वाले मूढ जन बहुत है ।।५९।।

"यावद्यत्र सुवक्र बुद्धिरलया तावण्ण तस्याशये ।
किं विच्छुब्धमतिस्सुद्वक्सुचरित ज्ञान च भावः शुभः ।।
भक्तिर्वत्सलता विचार विनय पुण्यं च धर्म क्रिया ।
नासीन्नोद्भवतीह सर्वफल दोषाय पार्श्वे यथा ।।६०।।

**अर्थ** · जब तक इस मनुष्य के हृदय से मायाचार पूर्ण बुद्धि नष्ट नही होती । अर्थात् निर्व्याज धर्म सेवन की भावना नही आती है तब तक उसके चित्त मे शुद्ध निर्मल बुद्धि, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र, सम्यग्ज्ञान, शुभ भाव, भक्ति, वात्सल्य, विनय, पुण्य और धर्मक्रिया आदि कोई भी उत्पन्न नही होती है । होने पर भी व्यर्थ है व निष्फल है । पार्श्वमुनि के समान वक्र परिणाम से की गई उसकी सभी क्रियाये व्यर्थ व निष्फल है ।।६०।।

**भाव लक्षण विधानम्**

*"राजा के समान पुण्य परिकरो को मिलना चाहिये"*

"यत्कर्माजित मुञ्चयेन समुदा सत्सावधान सदा ।
त भाव च तमुद्यम तदुचित देशं सहाय च तम् ।।
तन्मित्र च तमीश्वर च तमृषिं तान्सेवकांस्तत्कुल ।
तं ग्रथ च नियोज्य तच्च कुरूतेऽरिष्टं च भूपालवत् ।।१।।

**अर्थ** जो मनुष्य यहॉ पर पुण्य क्रियाओ को करता है उसको बहुत आनन्द व सावधान होकर उन क्रियाओ को करनी चाहिये । उन क्रियाओ के योग्य भाव, उद्योग, उचित देश योग्य सहायता, अनुकूल मित्र, हितैषी स्वामी, निष्प्रह गुरु, अनुकूल सेवक, और तद्अनुकूल परिग्रह आदि को योग्यरूप से मिलाकर पुण्य कार्यो को करना चाहिये । तभी उसमे उफलता मिलती है । जैसा कि योग्य राजा कार्य मे सर्व परिकरो को मिलाया करता है ।।१।।

*दुष्टो के हृदय मे जिन मुनि आदि के प्रति दयाभाव नही*

"जैन पूत गुणाकरो विगुणिनो दुष्टा कुतर्कषिणोऽ
प्यानतादि कषायिण स शपता बंधुद्वया घातिन ।।

दाक्षिण्य दयया गुणेन च विना ये यत्र यत्रासते ।

सस्नेह सहवास वर्तन सहालापान्सदा तैस्त्यजेत् ।।२।।

अर्थ लोक मे ऐसे कितने ही लोग है जिनके हृदय मे जिन मुनि के प्रति व विद्वानो के प्रति कोई दाक्षिण्य नही है अर्थात् उनकी कोई परवाह ही उनको नही रहती है । इसी प्रकार उनके हृदय मे कोई भी प्राणियो के प्रति दयाभाव नही रहता है । इसलिये उनके हृदय मे विनयादिक गुण नही हुआ करते है । वे दूसरो को सदा दोष लगाते रहते है सज्जनो के साथ कुतर्क करते है । अनतानुबधी आदि कषायो से युक्त रहते है । साधुजनो को गाली देते है और अपने धर्म बाँधवो को कष्ट देते है। ऐसे दुष्ट जहाँ रहते है उनका सहवास पवित्र गुणो को धारण करनेवाले जिन भक्त कभी न करे ।।२।।

स्वामी द्रोही योऽर्हदर्थापहर्ता दातु

शक्ति योऽप्यविज्ञाय भोक्ता ।

भोज भोज योऽगृहस्यापकर्ता सोऽयम् ।

क्षिप्र याति पापम् दरिद्रम ।।६३।।

अर्थ जो व्यक्ति स्वामी द्रोही है, देव द्रव्य को अपहरण करनेवाला है । दाता की शक्ति को न जानकर ही उससे लाभ उठाना चाहता है । किसी घर का रोज रोज खाकर भी उसका अपकार करता है वह व्यक्ति शीघ्र ही तीव्र पाप को सचय करता है ।।६३।।

**गुरूओ की अनुमति के बिना चारित्र पालन निषेध**

"ग्रामजनपत्यनुज्ञा बिना नरा कुर्वतेऽत्र यत्कार्यम् ।

हानि स्यात्तेन यथा गुर्वनुमति मन्वरेण यद्व्रतम् ।।७४।।

अर्थ जिस प्रकार लोक मे ग्रामपति व जनपति की अनुमति के लिये बिना कोई कार्य करे तो उसकी हानि होती है । उसी प्रकार गुरूओ की अनुमति के बिना जो चारित्र को पालन करते है उनकी हानि होती है अर्थात् व्रत ग्रहणादिक गुरु साक्षीपूर्वक ही होना चाहिये ।।७१।।

"यद्यत्कार्यमिमे जना नृपजनानुज्ञां बिना कुर्वते ।
नाशं यान्ति फलं लभेत न यथा तत्तेन जीवा गुरो· ।।
सानुज्ञां च विना स्वय वृतमिता धर्मेत्तर वर्तन ।
सम्यग्धर्मफल प्रयान्ति न विना तीर्थे शमत्येन च ।।७२।।

**अर्थ** · लोक मे देखा जाता है कि मनुष्य जो कार्य राजकीय परवानगी के बिना ही करते है उससे उनकी हानि होती है एव उस कार्य से उनको भी फल नही मिलता है । इसी प्रकार हे जीव । जो व्यक्ति गुरुओ की अनुमति व उपदेश आदि के बिना स्वत ही व्रत ग्रहण करते है उनकी हानि होती है, वे धर्म बाह्य वर्तन भी कर सकते है एव उनको यथेष्ट फल नही मिल सकता है । क्योकि तीर्थकर परमेष्ठियो के द्वारा प्रतिपादित मार्ग पर बिना धर्म का समीचीन फल नहीं मिल सकता है ।

**व्यर्थ अर्थ**

"स्यात्स्वेशार्थो न धर्माय न भोगाय मनागपि ।
यस्य तज्जीवन व्यर्थ यथा बालेय जीवनम्" ।।७३।।

**अर्थ** · जिन पुरुषो का धन धर्म साधन मे और भोग मे तिल मात्र भी उपयुक्त नही होता है उनका जीवन गधे के जीवन के समान व्यर्थ है । ऐसा समझकर अपने धन का सत्कार्य मे उपयोग करो । अन्यथा गधे मे और तुममे कोई अन्तर ही नही रहेगा ।।७३।।

बद्धगाध्योऽन्यरघ्रेण पुॅलक्ष्मस्यान्न च क्वचित् ।
महादोषान्वितो जीव पुण्य लक्ष्म विमुञ्चति ।।८२।।

**अर्थ** · जो जीव-मनुष्य हमेशा दूसरो के दोष देखने मे तत्पर रहता है, उसको पुरुष का चिन्ह प्राप्त नही होगा अर्थात् वह प्रति जन्म मे स्त्री तथा नपूसक अवस्था को प्राप्त होगा । स्वय बहुत दोषी होने से पवित्र चिन्ह उसको छोड़ देते है ।।८२।।

**माता-पितादिको की निन्दा का फल**

"मातापित्रोरूद्यास्ते यो धर्मे सघे जिने गुरौ ।
सोऽरिभि स्वै· परैर्नित्य भवेद्वध्यो भवे भवे ।।१०२।।

अर्थ  जो माता-पिता, धर्म, सघ, जिनदव व गुरु आदि की अवहेलना या उपेक्षा करता है वह भव-भव म शत्रुओ के द्वारा मारा जाता है और सदा कष्ट का अनुभव करता है ।।१०२।।

जैन मुनियो की समाधि भग का फल

"जिन मुनि समाधि समये चित्त निरोध करोति यस्तस्य ।
गेह पुर देशनाश· स्वस्थानोच्चाटनं भवेन्नियमात् ।।९४।।

अर्थ  जैन मुनियो की समाधि के समय मे जो व्यक्ति उनके चित्त मे क्षोभ उत्पन्न करता है उसका घर, नगर, देश आदि का नाश होता है । इतना ही नही अपने स्थान का उच्चाटन होता है ।।९४।।

पाप भीरु, गुरुजनो के आसन पर नहीं बैठते

"आसने यत्र तिष्ठिन्ति राजानो गुरवो बुधाः ।
तत्र तत्रासने जैना न वसन्त्यध भीरव·" ।।९५।।

अर्थ  जिस आसन पर राजा, गुरु व विद्वान विराजमान होते हैं उस आसन पर पाप भीरु जैन कभी नही बैठते हैं ।।९५।।

विदुषा गुरुणा राज्ञा साकमेकासने बुधा· ।
तत्तुल्य धर्मरहिता न तिष्ठेयु कदाचन ।।९६।।

अर्थ : विद्वान गुरु व राजा के आसनपर उनके समान गुणो से विरहित सामान्य जनो को कभी न बैठना चाहिए ।।९६।।

सम्यक् दृष्टि श्रावक के ध्यान मे रखने योग्य
दानादि षट आवश्यक सहित होने का उपदेश

(रत्नकरण्ड श्रावकाचार)

"श्रीषेण वृषसेने कौण्डेश  शूकरश्च दृष्टान्ता· ।
वैयावृत्यस्यैते, चतुर्विकल्पस्य मन्तव्या " ।।११९।।

अर्थ  १ आहार दान मे प्रसिद्ध राजा श्रेयॉस हुए है । २ औषध दान मे प्रसिद्ध एक सेठ की पुत्री वृषभसेना । ३ शास्त्र दान मे कौण्डेश

कोतवाल प्रसिद्ध हुए है । ४ अभय दान (वैयावृत्य) मे एक शूकर विशेष रीति के साथ प्रसिद्ध हुआ है ।

शूकर ने अपने प्राणो की पर्वाह न करके बल्कि अपने प्राणो की आहुति देकर धर्मस्वरूप (मुनि) रत्नत्रयधारी (भावलिगी) समाधिस्थ के उपसर्ग को दूर करने के लिये अपने से अधिक शक्तिशाली गजराज (सिह) को उपसर्ग न होने देने के अर्थ युद्ध करते हुए प्राण विसर्जन करके स्वर्ग प्राप्त कर, मनुष्य भव धारण कर, मुनि पद सुभोभित कर मोक्ष प्राप्त करने वाले शूकर शास्त्रो मे अभयदानादि का अनुपम उदाहरण बनकर मनुष्यो (श्रावको और मुनियो) को मार्ग प्रशस्ति का उदाहरण बने हुए है । हम सीखना चाहे तो गृहस्थ की छह आवश्यक क्रियाओ को करते हुए गिरे हुए मुनि को देखकर श्रावक अपने पद से अह पद मे छह आवश्यक छोड़ दे तो क्या वह श्रावक रह सकेगा ? उससे तो शूकर बहुत ही श्रेष्ठ है ।

निशि भोजन करते नही पशु, पक्षी, अज्ञान ।
तूँ तो ज्ञानी जगत का क्यो करता विषपान ।।
मूरत ये जिनदेव की, सुखद शान्ति की ज्योत ।
एक बार दर्शन करे, बार बार सुख होत ।
पशु पक्षी सुन्दर लगे, तुम से कुछ ना लेय ।
फिर क्यो तुम मारो इन्हे ? तुमको दुख ना देय ।
जो मानता है स्वार्थ अपना, अन्य के उपकार मे ।
वह वीर-वर आदर्श नर है, धन्य है ससार मे ।
भाग्यवान हैं वे पुरुष, जिनके मन आधीन ।
आत्म ध्यान को प्राप्त कर, शीघ्र होत स्वाधीन ।।
तूँ कछु और विचारत चेतन, तेरो विचार धरो ही रहेगा ।
कोटि उपाय करो धन के हित, दान दियो उतनो ही मिलेगा ।
सम्यक् प्रकार आचरण ही, ससार मे एक सार है ।

जिनने किया आचरण, उनको नमन सौ सौ बार है ।।
क्षमा तुल्य कोई तप नहीं सुख नही सन्तोष समान ।
तृष्णा सम व्याधि नही, यह निश्चय कर मान ।।
तन पवित्र सेवा किये, धन पवित्र कर दान ।
मन पवित्र प्रभु भजन से, त्रिविध होत कल्याण ।
माया सगी न मन, सगो नही ससार ।
सत गुरु कहे या जीव को सगो है धर्म विचार ।
लेखक - कवि मैं हूँ नहीं, मुझमे नही कुछ ज्ञान ।
जो कुछ पाया गुरु चरण; कहा आत्महितजान ।
देवाधिदेव देवेश जिन, आदिनाथ भगवान ।
आय विराजो मम हृदय, करहु विघ्न, अघ हानि ।।
प्रदेश मध्य देवास का , नगर पीपल्या हाट ।
"भूतबलि मुनि स-सघ" हैं; लगा धर्म का ठाट ।।
सम्वत् सहस्त्र दो, पॉचसो; ग्यारह का कल्याण ।
चौदस दूजे मास की, श्रावण सुदी महान ।।
वर-गुरु-वर-वर-श्रेष्ठ हैं, ऋतु वर्षा का योग ।
सरस्वती-भण्डार से, किया सकलन शोध ।।
मुनिवर की वर चाह है, होय गगन-गति गध ।
और प्रयोजन है नही, कटे भवोदधि फद ।
कहते है "ना ज्ञान है", हूँ मति मद अज्ञान ।
सुधि । सुधार सुध लीजिये, करके क्षमा प्रदान।
'इन्द्र ध्वज' 'कल्याण हित कीना श्रेष्ठ विधान'
सकल सघ हर्षित हुआ धारा धर्म महान ।।
समयसार को सुन रहे नितप्रति श्रावक लोग ।
निज पद के अनुसार ही धारे सयम जोग ।
रोट तीज का दिन अहो ! ग्रथ पूर्ण का हेतु ।

रत्न-त्रय धारे सभी जीवन सुख का सेतु ।।
अब आगे दस लक्षणी शुरू हुए सुख खानि ।
अन्नहीन पालन करो नित सुख मोक्ष निदानि ।।
पालो निश्चय धर्म यह कर कर के व्यवहार ।
अलख जगा दो जगत मे अक्षय सुख भण्डार ।।
शेष रहे कुछ कर्म तो अन्त समाधि लेहु ।
अक्षय पद को प्राप्त कर शिव पद प्राप्त करेहु ।।

कर्म प्रकृतियाँ

जीव करम मिलि बध देय रस तास उदै भनि ।
उदीरना उपाय रहै जब लौ सत्ता भनि ।
उतकरसन स्थिति बढै घटै अपकरसन कहियत ।
सकरमन पर रूप उदीरन बिन उपसम भव
सक्रमण उदीरन बिन निघत, घट बड् उदरन संक्रमन ।
चहु बिना निकाचित बध दस, भिन्न आप पद जानि मन ।।३५।।

**अर्थ** १ जीव और कर्मो के मिलने को बध कहते है ।

२ अपनी स्थिति को पूरी करके कर्मो का फल देने को उदय कहते है ।

३ स्थिति के पूरी किए बिना ही कर्मो तप आदि निमित्तो से फल देने उदीरपणा कहते है ।

४ जब तक कर्म आत्मा के साथ सम्बन्ध रखते है तब तक उनकी सत्ता कहलाती है ।

५ जिस कर्म की जितनी स्थिति बॉधी हो उतनी से अधिक हो जाने को उत्कर्षण कहते है ।

६ और बॉधी हुई कर्म की स्थिति से घट जाने को अपकर्षण कहते है ।

७ किसी कर्म के सजातीय एक भेद स दूसर भेद रूप हो जाने को सक्रमण कहते है ।

८ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के निमित्त से कर्म की शक्ति के प्रगट न होने को उपशम कहते है । अर्थात् सव कर्मोकी उदीरणा नही होती है और उदय भी नही होता है तव उपशम होता है ।

९ सक्रमण और उदीरणा न होने को अर्थात् जो कर्म प्रकृति वॉधी हो वे न दूसरे रूप हो और न उनकी उदीरणा हो उसे निघत्त कहते हैं ।

१० और जिसमे स्थिति का घटना, बढ़ना, पर रूप होना और उदीर्ण होना ये चारो वाते न हो उसे निकाचित कहते है । ये वध के १० प्रकार है । हे मन ! तुझे आत्मा का पद इनसे सर्वथा भिन्न समझना चाहिये ।

## पंचास्तिकाय

अतो गत्थि सुदीण कालो थोओ वय च दुम्मेहा ।
तण्णवरि सिक्खियव्वं जं जरमरण खय कुणइ ।।१४६।।

**भावार्थ** "तु समास घोसतो सिवभूदी केवलीजादो" इत्यादि वचन कथ घटते ।

**टीका** एव स्तोक श्रुतेनापि ध्यान भवतीति ज्ञात्वा किमपि शुद्धात्म प्रतिपादक सवर निर्जरा करण जरमरणहर सारोपदेश ग्रहीत्वा ध्यान कर्तव्यमिति

गाथानुवाद - आर्या छन्द मे

पार नही है श्रुत का, अल्प समय है हम सबकी दुर्बुद्धि ।
अत उसीको सीखो जन्म का क्षय होता हो जिससे ।।१४६।।

**प्रश्न** ऋषभ और वीरनाथ के तीर्थ मे शिष्यो का स्वभाव कैसा था ?

**उत्तर** ऋषभनाथ के तीर्थ मे उत्पन्न हुए मनुष्य अर्थात् शिष्य ऋजु स्वभावी-सरल और जड थे । महावीर स्वामी के तीर्थ मे मनुष्य (शिष्य)

कपटयुक्त वक्र जड और अज्ञानी थे । उनको अभेद रूप सामायिक का स्वरूप नही समझाता था । अत आदि प्रभु ने और वीरनाथ ने छेदोपस्थापन रूप चारित्र अहिसादि पच महाव्रतात्मक चारित्र का उपेदश किया है । (अजितादि पार्श्वपर्यत तीर्थकरो ने अभेद रूप से सामायिक रूप से प्रतिपालन किया है क्योकि उनके शिष्य व्युत्पन्नतम थे और वक्रता रहित थे (सरल स्वभावी थे)

**भगवन् ! आपकी पूजा से आपको क्या प्रयोजन है ?**

**न पूजयार्थास्त्वयि वीतरागे ननिन्दया नाथ विवान्त वैरे ।**
**तथापि ते पुण्यगुण स्मृतिर्न· पुनातु चित्त दुरितान् जनेभ्य ।।२।।**

**अर्थ** रागी मनुष्य अपनी स्तुति को सुनकर प्रसन्न होता है और द्वेषी मनुष्य अपनी निदा सुनकर अप्रसन्न होता है, परन्तु भगवान वीतराग मुनिराज सम्यग्दृष्टि वे सब वीत राग और वीत द्वेष है । इसलिये उन्हे -

**"निन्दा करे, स्तुति करे, तरवार मारे, या आरती मणिमयी सहसा उतारे।**
**साधू तथापि मन मे समभाव धारे; वैरी सहोदर जिन्हे इकसार सारे"।।**

न स्तुति से प्रयोजन है, न निदा से प्रयोजन है, न स्तवन से प्रयोजन है, न पूजा से प्रयोजन है, न वैरी से प्रयोजन है, न मित्र भक्तजनो से प्रयोजन है । उन्हे सभी समानता ही है । तथापि समन्तभद्र स्वामी कहते है कि भगवान ! आपके पवित्र गुणो का स्मरण कर हमारे चित्त को पाप रूप कालिमा से बचावे ! अर्थात् दूर करे (रखे) इस जीव का अधिकाश काल पाप तथा उसकी साम्रगी जुटाने की चिता मे ही व्यतीत होता है और उससे पापास्रव होता रहता है । भगवान की पूजा या स्तुति करने से भगवान को कुछ प्रसन्नता नही होती तथापि उतने समय तक स्तुति करनेवाले का चित्त पाप के चिन्तन से बचकर भगवत गुण अथवा उनके माध्यम से आत्मस्वरूप के चिन्तन मे सलग्न रहता है । अत पापस्रव से उसकी रक्षा होती रहती है ।

पूज्य जिन त्वार्चयतो जनस्य सावद्यलेशो बहु पुण्यराशौ ।
दोषाय नाल कणिका विषस्य न दूषिका शीतशिवाम्बु राशौ ।।३।।

अर्थ पूजा मे होने वाली अल्प हिंसा दोष का कारण नही है । हे नाथ ! पूजा की सामग्री जुटाते समय आरम्भ आदि के कारण पूजा करनेवाले मनुष्य से जो अल्पतम द्रव्य हिंसा होती है तथा सराग परिणति के कारण अल्पतम भाव हिंसा होती है उससे पूजा करनेवाले का कुछ, अहित नही होता, क्योकि वीतराग जिनेन्द्र की पूजा करने से विशाल पुण्य उत्पन्न होता, है उसके समक्ष वह अल्पतम हिंसा नगण्य होती है । कारण-विवेक से । अर्थात् सावधान होकर प्रमादरहित पूजा करने से अपार पुण्य सचय होता है । ठीक उसी तरह जिस तरह कि शीतल और आनन्ददायी जन के समुद्र मे विष की एक कणिका के समान पाप है । इसलिये भव्य प्राणियो को आवश्यक है पूजा करना ।

यद्वस्तु बाह्य गुण दोष सूतेर्निमित्तमभ्यंतर मूल हेतोः ।
अध्यात्म वृत्तस्य तदङ्गभूतमभ्यतर केवलमप्यल ते ।।४।।

अर्थ : जो पुण्यादिक पदार्थ पुण्य और पाप की उत्पत्ति के बहिरग कारण है वह आत्मा मे प्रवर्तने वाले अतरग उपादान रूप कारण का सहकारी कारण है । हे भगवान ! आपके मत मे अतरग कारण बाह्य वस्तु से निरपेक्ष और सापेक्ष दोनो ही प्रकार के गुण-दोष की उत्पत्ति मे समर्थ है, लेकिन भक्तजनो के लिये इन बाहरी पदार्थो से पाप बध का कारण नही है ।

१ 'परि आसमन्तात आत्मान ग्रहणाति इति परिग्रह

२ 'देख, भाल, चलना' (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् - चारित्र सहित होना है ।

३ 'आना, जाना, लगा हुआ है ।' (उत्पाद, व्यय, ध्रौव्ययुक्त सत्)

४ 'पुनाति आत्मान पवित्री करोति इति पुन्य' ।

"अनेकान्तोऽप्यनेकांतः प्रमाण नय साधन ।
अनेकान्त· प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात्" ।।१८।।

**भावार्थ** : वस्तु के यथार्थ स्वभाव का प्रतिपादन करन के लिये भगवान ने जिस अनेकान्त को अगीकृत किया है वह एकान्त भी अनेकान्त स्वरूप माना है । क्योकि अन्य वस्तुओ के समान अनेकान्त का भी प्रतिपादन करने के लिये प्रमाण और नय ये दो ही साधन स्वीकृत किये गये है । 'सकलादेश प्रमाणाधीन' इस वाक्य के अनुसार जो पदार्थ के परस्पर विरोधी समस्त धर्मो को ग्रहण करते है उसे प्रमाण कहते हैं और "विकलादेशो नयाधीन" इस वाक्य के अनुसार जो परस्पर विरोधी धर्मो मे से एक को ग्रहण करता है उसे नय कहते है । जब प्रमाण के द्वारा अनेकान्त का ग्रहण करते है तब अनेकान्त दो स्वरूप रहता है और जब किसी विवक्षित नय के द्वारा उसका प्रतिपादन करते है तब अनेकान्त एकान्त स्वरूप रहता है । यहॉ अनेकान्त इस शब्द के साथ 'अपि' शब्द का पाठ किया गया है जिससे यह सिद्ध होता है कि न केवल सम्यक् एकान्त अनेकान्त स्वरूप है किन्तु, अनेकान्त भी अनेकान्त स्वरूप है ।

**भगवान महावीर का स्याद्वाद**

"अनवद्य· स्याद्वादस्तव दृष्टेष्टा विरोधत स्याद्वाद ।
इतरो न स्थाद्वादो सद्वितय विरोधान्मुनीश्वरा स्याद्वाद ।।

**अर्थ** · प्रमाण के दो भेद है (१) प्रत्यक्ष और (२) परोक्ष । इसमे प्रत्यक्ष को दृष्ट कहते है और अनुमान आदि को इष्ट कहते है । हे गणधरादि मुनियो के स्वामीवीर जिनेन्द्र । आपने जो स्याद्वाद अनेकान्त रूप उपदेश दिया है वह 'स्यात्' इस अव्यय से सहित है । तथा प्रत्यक्ष और प्रमाण का विरोध न होने से निर्दोष है - सबको मान्य हैं । इसके विपरीत 'स्यात्' इस अव्यय से रहित जो अन्य सुगत, कपिल, इश्वर आदि का उपदेश है वह प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण से विरुद्ध होने के कारण निर्दोष नही है । सबको मान्य नही है ।

---

# सम्राट् चन्द्रगुप्त के १६ स्वप्न दर्शन और उन स्वप्नों का फल
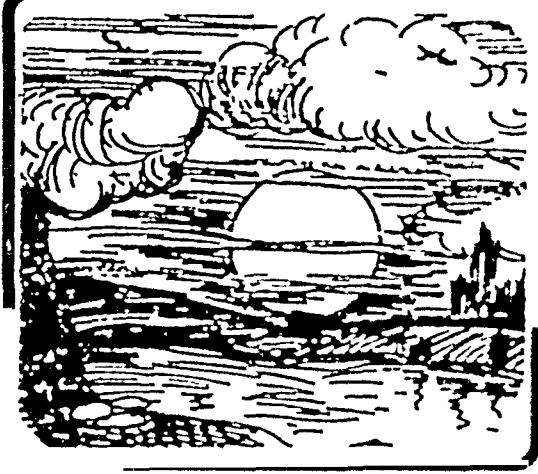
१ सूर्य मडल अस्त होते हुये देखा ।

१ पचम काल मे अग पूर्व के धारी मुनि कोई नही रहेगे ।

२ कल्पवृक्ष की शाखा टूटी हुई देखी ।

२ अभी से कोई क्षत्रिय राजा जिन दीक्षा नही धारण करेगे ।

३ सीमा उल्लघन किये हुये समुद्र ।

३ राजा लोग अन्यायी होगे, उनको परधन
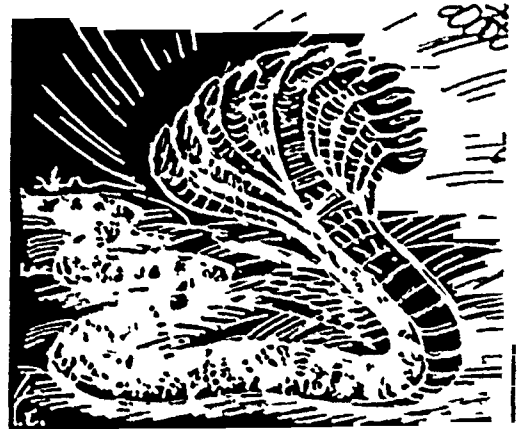
४ बारह फणो का सर्प देखा ।

४ बारह वर्षों तक अकाल (दुष्काल) पडेगा ।
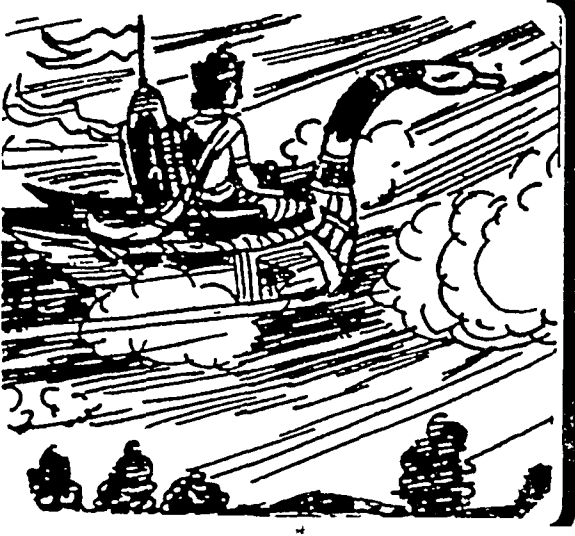
५ देव विमान वापिस लौटा जा रहा है ।

५ पचम काल मे यहा देव नही आवेगे । चारण मुनि और विद्याधर नीचे नही आवेगे ।

६ ऊट पर राजकुमार बैठा है ।

६ राजा लोग दया धर्म नही पालेगे, हिसा करेगे ।

७ महारथ को गोवत्स जुडे है ।

७ युवावस्था ही मे कदाचित् कोई दीक्षा धारणा करेगे, वृद्धावस्था मे दीक्षा नही पालेगे ।
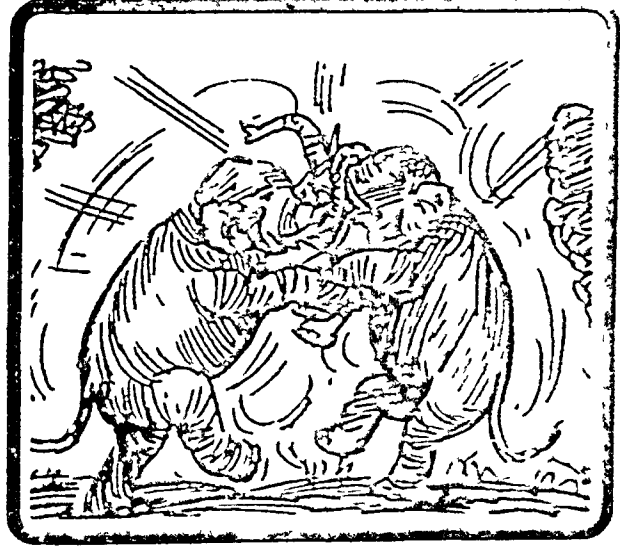
८ दो काले हाथी लड रहे हे ।

८ समय पर पानी नही बरसेगा व निग्रन्थ मुनि सग्रन्थ होगे ।

९ नग्न स्त्रिया नाच रही ह ।

९ दिगम्बर नग्न मुनि होवेगे परतु वे कपटी ओर पाखडी होवेगे । कुदेवो की विशेष पूजा होती रहेगी ।

१० सुवर्ण पात्र मे कुत्ता खा रहा है ।

१० उत्तम कुल वालो मे से अब लक्ष्मी पाखडी ओर मध्यम कुल वाले लोगो मे चली जायेगी ।

११ जुगनू चमकते देखा ।

११ जेन धर्म का विस्तार अब बहुत थोड़ा रहेगा, ओर अन्य धर्म का विस्तार ज्यादा होगा ।

१२ सूखा हुआ सरोवर मे दक्षिण दिशि थोडा सा जल दिखा ।

१२ जिन-जिन स्थानो मे पच कल्याणक हुये हे उन-उन स्थानो मे धर्म की हानि होगी । अब से जिन धर्म रहे तो उसी दक्षिण दिशा मे रहेगा ।
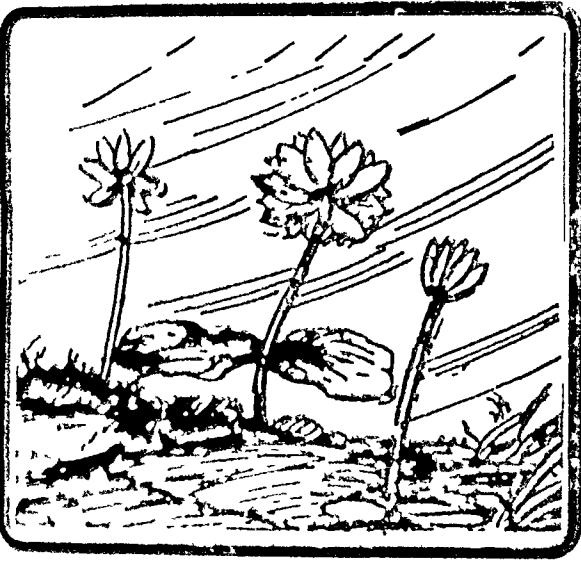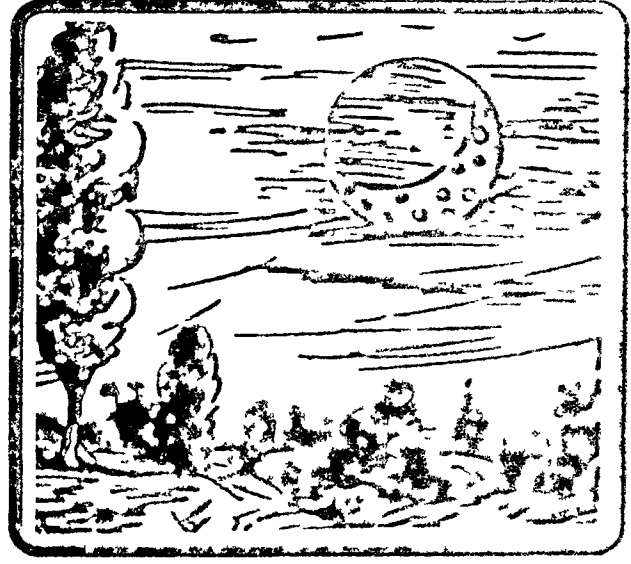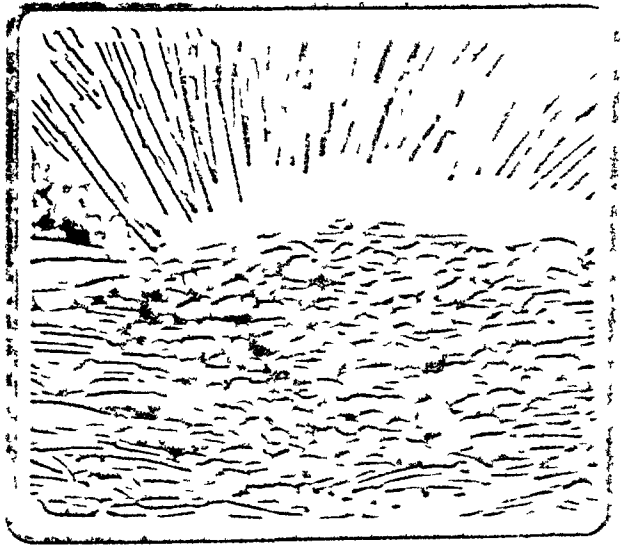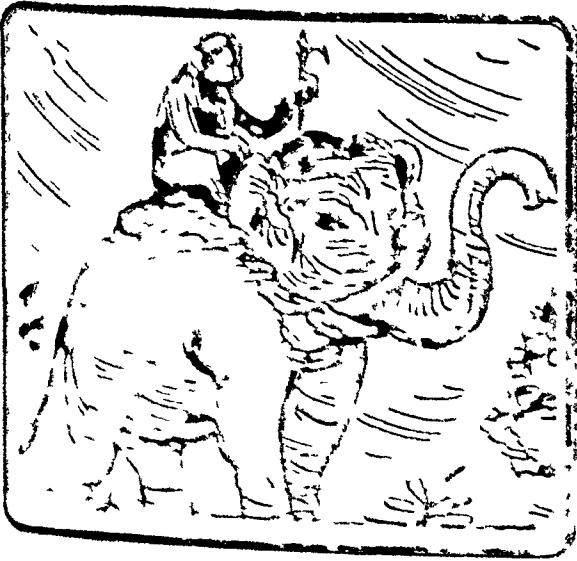
# १. अनित्य-भावना

प भूधरदासजी कृत बारह भावना

**राजा राणा छत्रपति हाथिनके असवार ।**
**मरना सबको एक दिन अपनी अपनी बार ।।१।।**

**अर्थ** स्त्री, पुत्र, धन-धान्य राजा और रक आदि ससारके सारे पदार्थ नष्ट होनेवाले है । जव देवी देवता और स्वर्गके इन्द्र तथा चक्रवर्ती सम्राट सदा नही रह सके तो मेरा शरीर कैसे रह सकता है ? कभी नही रह सकता ।

आचार्य श्री १०८ विद्यासागरजी महाराजकृत बारह भावना

जो बीच बीच बिजली पल आयु वाली,
ज्योतिर्मयी चमकती, मिटती प्रणाली ।
विस्तार है तिमिरका, वनमे तथापि,
आलोकको निरखते मुनि वे अपापी ।।

इन बारह भावनाओं का अर्थ पूज्य
१०८ मुनिश्री भूतवली सागर श्री महाराज ने किया है ।

मात्र केवल आत्मा ही सदा से है और सदा रहनेवाली है । इसके अलावा जितने है, वे सब अनित्य है- आत्मासे भिन्न है । एक दिन इनसे अवश्य अलग होना है । पुण्यके प्रतापसे ससारी पदार्थ स्वय मिल जाते है और अशुभ कर्म आनेपर स्वय नष्ट हो जाते है । तो फिर उनकी मोह ममता करके कर्मोके आस्रवद्वारा अपनी आत्माको मलिन करनेसे क्या लाभ ? जो कुछ भी उत्पन्न हुआ है, उसका विनाश नियमसे होता ही है । पर्यायरुपसे कुछ भी नित्य नही है । सब क्षणिक है । सभी आयु बिजलीके समान चमकते हुए चले जा रहे है, जैसे आत्मासे शरीर बिजलीके समान मिटती जा रही है ।

देखो ! नदी प्रथम है निजको मिटाती,
खोती तभी, अमित सागर रूप पाती ।

व्यक्तित्व को, अहमको, मदको मिटा दे,
तू भी स्वको सहजमे प्रभुमे मिला दे ।।
न सपदा न विपदा रहती सदा है,
दोनो अहो ! प्रवहमान, मृषा, मुधा है ।
स्थायी नही क्षणिक जो मिटता उषा है,
काली वही तदुपरान्त घनी निशा है ।।

देखिए नदियॉ अपने शरीरको प्रथमही मिटाती है, नाश कर देती है, खो जाती है । उसके उपरान्त अनत सागरके रूपको प्राप्त हो जाती है, ऐसे व्यक्तिके मान, मद, घमड, अहपना सभी मिट जाते है । इसलिये मेरी आत्माको प्रभू जिनेद्रमे समाहित करता हूॅ ।

सपत्ति, विपत्ति, आपत्ति, विपरति ये सभी विषके समान है । और मुर्दाके समान है । यह शरीर क्षणिक है, स्थायी नही, जिसप्रकार बादल विलीन हो जाता है । यह सभी घनिष्ठ अध कारके समान है । विषके समान भी है ।

## २. अशरण भावना

**दल-बल देवी-देवता मात पिता परिवार ।**
**मरती विरियॉ जीव को कोई न राखनहार ।।२।।**

रे मूढ ! तू जनमता, मरता अकेला,
कोई न साथ चलता, गुरु भी न चेला ।
है स्वार्थपूर्ण यह निश्चय एक मेला,
जाते सभी बिछुड के जब अत बेला ।।

**अर्थ** इस जीवको समस्त ससारमे कोई शरण देनेवाला नही है । जब पाप कर्मका उदय आता है तो शरीरके कपडे भी शत्रु बन जाते है ।

जब प्रथम तीर्थकर श्री ऋषभदेव को निरन्तर छ मास तक आहार नही (हुआ) मिला तो उनके जन्मोत्सवमे १५ मास तक साढे तीन

करोड रत्न प्रतिदिन वरसानेवाले देव कहाँ चले गये थे ? हजारो योद्धाओको नष्ट करके रावणके वधनसे सीताजीको छुडाकर लाने और वृक्षो तकसे उनका पता पूछनेवाले श्री रामचद्रजीका प्रम गर्भवती सीताजीको वनमे भेजते समय कहा भाग गया था ? देवी-देवता, यन्त्र-तन्त्र, माता-पिता, पुत्र-मित्र आदि किसी का भी सारे ससारमे कोई शरण नही है । यदि पुण्यका प्रभाव है तो शत्रु तक मित्र वन जाते हैं । पुण्यहीनको सगे और मित्र तक जबाव दे देते हैं ।

सारे ससारमे यदि कोई शरण है तो अर्हन्त भगवान ही हैं । क्योकि द्रव्य रूपसे जो आत्मा अर्हन्त भगवानकी है वही आत्मा हमारी आत्मा है । जो गुण अर्हन्त भगवानकी आत्मामे प्रकट हैं वे ही गुण हमारी आत्मामे छुपे हुए है । अर्हन्त की आत्मा भी हमारे समान कर्मो द्वारा मलिन और ससारी थी । और हम ससारी जीव भी यदि अपने आत्माके मैलको जलके समान सयमसे धोयेगे तो हमारी आत्माके गुण प्रकट होकर, हमारी द्रव्य की पर्याय भी शुद्ध होकर, अर्हन्त भगवानके समान सर्वज्ञ हो जायेगे । इसीलिए जो अर्हन्त भगवानको द्रव्यरूपसे गुण रूपसे और पर्याय रूपसे जानता है, वह अपनी आत्मा और उसके गुणोको अवश्य जानता है । और जो अपनी आत्मा को जानता है, वह निज-पर के भेदको जानता है । मेरा हित करनेमे समर्थ केवल मै ही हूँ, जब मै ज्ञान-ज्योति मे आऊँगा दूसरा अन्य कोई मेरा शरण नही है । और जो ज्ञानज्योतिर्मय है ऐसे सशरीर भगवान अथवा अशरीर भगवान इनका ध्यान हमारा शरण है । जैसा हम चित्तमे धन, वैभव, कुटुब-परिजन आदिको बसाये रहते है और जो इस भेद विज्ञानको जानता है, उसका मोह ससारी पदार्थोसे छूट जाता है । और जिनकी लालसा अथवा राग-द्वेष नष्ट हो जाते है उनका मिथ्यात्व दूर होकर सम्यग्-दर्शन प्राप्त हो जाता है । उसका ज्ञान-चरित्र सम्य्क हो जाता है । इन तीनो रत्नोकी एकताही मोक्षमार्ग है । जो अविनाशक सुखो

और सच्ची शान्ति का स्थान है । इसलिये सदा आनन्द ही आनन्द प्राप्त करने के हेतु सारे ससार मे व्यवहार रूपसे केवल अर्हन्त भगवानही शरण है । ससारी जीवोकी ये सव चेष्टाएँ व्यर्थ है । क्योकि इनमेसे कोई भी उन्हे मृत्युसे नही वचा सकता । यदि ऐसा होता तो सव मनुष्य अमर हो जाते, किसी न किसी के शरणमे जाकर सभी अपनी प्राणरक्षा कर लेते है । ससारमे कोई शरण नही है । एक दिन सभी को मृत्युके मुख मे जाना पडता है । इस विपत्तिसे उसे कोई भी नही बचा सकता है । हे मूढ आत्मन् ! तू क्या समझ रहा है ? शरीर रहनेवाला नही है । तुम कही भी रहो । गुरूके पास रहो, भगवान के पास रहो एक दिन नियमसे ही छूटनेवाला है । तू अकेलाही मरनेवाला है, कोई भी आपके साथ आनेवाला नही है । तू शरीरसे मोह छोड दे । इसलिए आत्म स्वार्थताको पूर्ण करिए । यह निश्चित है एक दिन यह मेलाके समान टूटनेवाला है । अतिम समयमे सारेके सारे यहीका यही छोडकर जानेवाले मेला के समान है ।

## ३. संसार-भावना

**दाम बिना निरधन दु:खी तृष्णा वश धनवान ।**
**कहूँ न सुख ससार मे सब जग देखो छान ।।३।।**

ससारमे सुख नही दुखका न पार,
पीडार्त हो, समय हैं जब बीत जाता ।
ससार बीच बहिरातम वो कहाता,
लक्ष्मी उसे न वरती अति कष्ट [illegible] ।
ससार-सागर असार अपार खार,
है दुख हो, सुख यहाँ न मिल [illegible]
है सौख्य तो सहजमें नहो जानने [illegible]
ससार के सतत [illegible] [illegible]

यह ससार दु खकी खान है । ससारी सुख खाड मे लिपटा हुआ जहर है, तलवारकी धारपर लगा हुआ मधु है । इनसे सच्च सुखकी प्राप्ति मानना ऐसा ही है जैसे विष भरे सर्पके मुखसे अमृत झडनेकी आशा नही की जा सकती । जिसप्रकार हिरन यह भूलकर कि कस्तूरी उसकी अपनी नाभिमे ही है, उसकी खोज मे मारा मारा फिरता है, उसी प्रकार जीव यह भूलकर की अविनाशक सुख तो उसकी अपनी निज आत्माका स्वाभाविक गुण है, सुख और शान्ति की खोज ससारी पदार्थोमे करता है । यदि ससारमे सुख होता तो छियानवे हजार स्त्रियोको भोगनेवाला तीस हजार मुकुटवद्ध राजाका सम्राट जिनकी रक्षा देव करते है, ऐसे नौ निधि प्रजापति चक्रवर्ती राजा सुखोको लात मारकर ससार को क्यो त्यागते ? जब ससारी पदार्थोमे सच्चा आनन्द नही है तो इनकी इच्छा और मोह ममता क्यो ? ससार मे तिल तुष भी सुख नही है । अपरपार दु ख ही है । पीडा के माध्यमसे ससारसे आत्माका समय सभी नष्ट हो जाता है । ससारके वीच मे बहिरात्मा सुख है, ऐसा मानता है, उस व्यक्ति को मोक्षरूपी लक्ष्मी कभी भी नही प्राप्त होती है । उस आत्मा को न वरती है, न प्राप्त होती है । ससाररूपी समुद्रमे स्वादरूपी अमृतका सार नही है । असाररूपी खारा भरा हुआ समुद्रमे सार नही है । ससाररूपी समुद्र मे अपरपार दु खरूपी विष भरा हुआ है । सुख तो किचित मात्र भी नही है । अपार कष्ट है । आत्म सुख को ससारमे सहजसे जान नही सकता । सौख्यको ससारमे सतत वृद्धि विभावसे हो इसीलिए ससारमे सुख नही है । इसीलिए ससारकी सतत हानि, स्वभावकी वृद्धि नष्ट हो सकता है । हे भव्य प्राणी ! यो इस ससारको त्यागकर आत्मसुखको प्राप्त करना चाहिए । इसीलिए ससारकी दिशा बहुत विचित्रतासे देखनेमे आती है । वह है विग्रह-अविग्रह चार गति से ससार मे चल रहे है । इसका विस्तार विश्लेशण इस सूत्र मे है ।

## सूत्र · विग्रहवतीच ससारिण·प्राक् चतुर्भ्य ।।

**भाष्यम्** जात्यन्तर सक्रान्तौससारिणो जीवस्य विग्रहवतीचा विग्रहाच गतिर्भवती,

उपपातक्षेत्रवशात् तिर्यगूर्ध्वमधश्च प्राक् चतुर्भ्य इति । येषा विग्रहवती तेषा विग्रहा प्राकचतुर्भ्यो भवन्ति । अविग्रहा एकविग्रहा द्विविग्रहा त्रिविग्रहा इत्येताश्चतु - समयपराश्चचतुर्विधा गतयो भवन्ति । परतो म सभवन्ति प्रतिघाताभावाद्विग्रहनिमीत्ता भावाच्च । विग्रहो वक्रित विग्रहोऽवग्रह श्रेयन्तरसक्रान्तिरित्यनर्थान्तरम् । पुदगलानामप्येवमेव ।। शरीरिणॉ च जीवाना विग्रहवती वा प्रयोगपरिणामवशात् । न तु तत्र विग्रहनियम इति ।

**अर्थ** : ससारी जीव जब अपने किसी भी एक शरीर को छोडकर अन्य शरीरको धारण करने के लिए अर्थात् भवान्तरके लिए गमन करता है, उस समय उसके विग्रहती अथवा अविग्रहाती हुवा करती है । किन्तु जैसा उपपात्र क्षेत्र जन्मक्षेत्र मिलता है वैसी गति होती है । यहि विग्रहवतीके योग्य क्षेत्र होता है तो विग्रहवतीगति होती है, और यदि अविग्रहाके योग्य जन्मक्षेत्र होता है तो अविग्रहा हुवा करती है । परतु यह गति तिर्यक उर्ध्व और अध ऐसे तीनो दिशाओको मिलाकर चार समयके पहले ही हुआ करती है । क्योकि जिन जीवोकी विग्रहवतीगति होती है, उनके विग्रह चार समयके पहले ही हुवा करते है । इन गतियोमे चार समयतक लगा करते है, अतएव कालभेदकी अपेक्षासे इन गतियोके चार भेद है-अविग्रहा एकविग्रहा द्विविग्रहा, त्रिविग्रहा । उससे अधिक भेद भी सभव है ।

( आगममे सात श्रेणी बताई है - ऋज्वग्यता, एकतोवक्रा, द्विधावक्रा, एकत रवा, द्विधारवा, चक्रवाला और अर्धचक्रवाला । इनमेसे आदिकी तीन क्रमसे एक दो तीन समयके द्वारा हुवा करती है । इनके सिवाय चतु समया और पचसमयागति भी सभव है । )

क्योकि इसके आगे जीव की गतिका प्रतिघात नही होता, और न विग्रहके लिए कोई निमित्त ही है । विग्रह नाम मोडा-टेढा का है । विग्रह अवग्रह और श्रेण्यतरसक्रान्ति ये सव शब्द एकही अर्थ के द्योतक है । जिस प्रकार यहॉ जीवकी गतिके विषयमे नियम वताया है, उसीप्रकार पुद्‌गलके विषयमे भी समझना चाहिये । जो शरीरको छोडकर गमन नही करते- शरीरके धारण करनेवाले है, उन जीवोके गतिके लिए जैसा भी प्रयोग परिणमन करनेवाला निमित्त मिल जाता है, उसीके अनुसार दोनोमे से कैसे भी विग्रहवती अथवा अविग्रहा गति हो जाती है । शरीरधारी जीवोकी गतिके लिये विग्रहका कोई भी नियम नही है । इस प्रकारसे इस विषयमे भङ्गप्ररुपणा लगा लेनी चाहिये ।

**सूत्र  एक द्वौ त्रीन्वानाहारक· ।।**

**अर्थ** · उपर्युक्त विग्रहगतिको अच्छी तरहसे प्राप्त हुवा जीव एक समय मात्रके लिये अथवा दो-तीन समयके लिए अनाहारक हुवा करता है । किन्तु शेष समयमे प्रतिक्षण आहारको ग्रहण किया करता है । वह एक समयतक अथवा दो-तीनही समयतक अनाहारक क्यो रहता है ? अधिक समयतक भी अनाहारक क्यो नही रहता ? इसके लिये प्रत्येक स्थानपर भङ्गप्ररुपणा कर लेना चाहिये ।

दो समयसे अधिक तक अनाहारक क्यो नही रहता, इसके लिए भङ्गप्ररुपणा बतानेका अभिप्राय यह है कि, जिस विग्रहगतिमे एक या दो-तीन समयतक अनाहारक रहना बताया है, उससे यहापर एकविग्रहा, द्विविग्रहा त्रिविग्रहा गति ही ली गई है । पहला समय च्युतदेशका और चौथा समय जन्मदेशका होनेसे इनमे जीव आहारक माना गया है । ( दिगबर सिद्धान्तके अनुसार तीन निष्कुट क्षेत्रोमे मोडा लेनेपर तीन समयतक भी आहारक रह सकता है । लोकनाडीमे ऐसे क्षेत्रमे भी उत्पत्ति हो सकती है जहॉपर पहुचनेमे तीन मोडाओके लिए तीन समयतक रुकना पडता है । ) वहॉ भी कर्म के निमित्तसे योग विशेष के द्वारा यह

जीव स्वक्षेत्र और परक्षेत्र से अर्थात् कर्म शरीर और आत्म प्रदेश मे कर्म के निमित्त से योग विशेष के द्वारा यह जीव जिनका ग्रहण किया करता है। ऐसे अनन्तानत सूक्ष्म कर्म पुद्‌गल आत्माके प्रदेशोमे एक क्षेत्रावगाह करके स्थित है। नो कर्माहार औदारिकादिक शरीरोसे नही हो सकते। इसिलिए इसको निरुपभोग कहा है। अन्यथा विग्रहगतिमे कर्मयोग और उसके द्वारा कर्मबन्धका होना भी माना ही है। ( किन्तु कर्मबधको उपभोग नही कहते। इन्द्रियोके द्वारा विषयोके अनुभव करनेको ही उपभोग माना है। **यथा-इंद्रियनिमित्ताही शब्दाद्युपलब्धिरूपभोग** ।। श्री विद्यानन्दि श्लोकवार्तिक मे है। )

कर्मके फल अनुभवन एव तपस्या आदिके द्वारा जिस प्रकार कर्मोकी निर्जरा औदारिकही शरीरोसे हुआ करती है, उस प्रकारके ये कोई भी कार्य कार्मणशरीरसे नही हो सकते। इसीलिए इसको निरुपभोग कहा है। अन्यथा विग्रहगतिमे कर्मयोग और उसके द्वारा कर्मबन्धका होना भी माना है। तात्पर्य इतना ही है कि, कार्मण शरीरको निरुपभोग कहनेका अभिप्राय उपभोग सामान्य के निषेध करनेका नही, उपभोग विशेषका निषेध करनेका ही है।

यह उपयुक्त कार्मणशरीर सभी शरीरोका बीज और आधार है। क्योकि यह सम्पूर्ण शक्तियोको धारण करनेवाला है। समस्त ससारके प्रपचको यदि अकुरके समान समझा जाय, तो इस शरीर को उसकी मूल जड और बीजरूप समझना चाहिये, क्योकि इसके आमूल नष्ट हो जानेपर निजको मुक्त अवस्था प्राप्त हो जाती है उनके पुन ससारका अकुर उत्पन्न नही होता। यह शरीर सभी जीवोको रहा करता है। इसकी उत्पत्ती कर्मसे ही हुआ करती है, जिसप्रकार बीजसे वृक्ष उत्पन्न होता है, परतु उस वीजकी उत्पत्ती पूर्व वृक्षसे ही हुआ करती है, उसी प्रकार प्रकृतमे भी समझना चाहिये।

नाम शब्दसे सपूर्ण कर्मप्रकृतियोका ग्रहण होता है। क्योकि

प्रदेश बन्धमे कर्मकारण है । कर्मरहित जीवोके उसका वन्ध नही हुआ करता । तथा ये पुद्गल, तिर्यक, उर्ध्व और अध सभी तरफसे बधते है, न कि किसी भी एक ही नियत दिशासे । और बन्ध का कारण योगविशेष है । मन वचन और काय के निमित्त से जो कर्म आत्मप्रदेशोका परिस्पन्दन होता है, उसको योग कहते है । इस योग की विशेषता तरतमताके अनुसारही प्रदेशवध होता है । योगरहित जीवो के वह नही होता । तथा ये बधनेवाले सभी पुद्गल् सूक्ष्म हुआ करते हैं, न कि बादर है ।

दिगबर सप्रदायमे छह प्रकारका आहार माना है । नोकर्म आहार, कर्म आहार, कवलाहार, लेपाहार, ओजा आहार और मानसिक आहार ।

**गाथा : णोकम्म कम्महारो, कवलाहारो य लेपम्माहारो ।**
**ओजमणोविय कमसो, आहारोछव्विहोणे ओ ।।**

( सभाष्यतत्वार्थाधिगम सूत्र (रायचद्र जैन शास्त्रमाला ) इसमे यह विषय आया है । )

# ४. एकत्व-भावना

**आप अकेला अवतरे, मरे अकेला होय ।**
**यो कबहूँ इस जीवको साथी सगा न कोय ।।४।।**

मातापिता सुत सुता वनिता व भ्राता,
मेरे न ये न मम हो इन सग नाता ।
मै एक हूँ पृथक हूँ सबसे सदासे,
मै शुद्ध हूँ भरित बोधमयी सुधासे ।।

**अर्थ** · मेरी आत्मा अकेली है, अकेलेही कर्म करती है, अकेलीही कर्मका फल भोगती है । स्त्री, पुत्र, मित्र हमारे दु खोको

देखकर चाहे जितना खेद करे, परतु जो दु ख हमको हों रहा है, उसमे कदाचित कम नही कर सकते । जब सातावेदनीय कर्मका प्रभाव होगा तभी दु खोमे कमी होगी । चारो घातियॉ कर्मोके सवर तथा निर्जरा भी आत्मा अकेलीही करके अर्हन्त अथवा अघातियॉ कर्मोको भी काटकर सिद्ध होकर अविनाशी सुखोका अकेलीही आनन्द लूटती है । जब आत्मा का दूसरा साथी सगी नही है तो ससारी पदार्थो, कषायो और परिग्रहोको अपनाकर अपनी आत्माको मलीन करके ससारी बन्ध दृढ करनेसे क्या लाभ ? अकेलाही रोगी होता है अकेलाही शोक करता है, अकेलाही मानसिक दु खसे सताप पाता है, अकेलाही मरता है और बेचारा अकेलाही नरकके असह्य दु खको सहता है । अकेलाही पुण्य का सचय करता है । अकेलाही देवगतिके अनेक सुखोको भोगता है । अकेलाही कर्मका क्षय करता है और अकेला ही मुक्तिको प्राप्त करता है ।

## ५. अन्यत्वानुप्रेक्षा

**जहॉ देह अपनी नही, तहॉ न अपना कोय ।**
**घर संपत्ति पर प्रगट ये, पर हैं परिजन लोय ।।५।।**

ना सपदा न विपदा रहती सदा है ।
दोनो अहो । प्रवहमान मृषा मुधा है ।।
स्थायी नही क्षणिक जो मिटती उषा है ।
काली वही तदुपरान्त घनी निशा है ।

**अर्थ** : जिसप्रकार म्यानमे रहनेवाली तलवार म्यानसे अलग है । उसीप्रकार शरीरमे रहनेवाली आत्मा शरीरसे भिन्न है । आत्मा चेतन ज्ञानरूप है, शरीर जड ज्ञानशून्य है । आत्मा अमूर्तिक है, शरीर मूर्तिमान है । आत्मा जीव (जाननेवाला) किन्तु शरीर अजीव (जड

बेजानदार) है। आत्मा स्वाधीन है और शरीर इन्द्रियो द्वारा पराधीन है। आत्मा निज है, शरीर भिन्न है। आत्मा राग-द्वेष, क्रोध-मान दु,खोसे रहित है। शरीर को सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास आदि हजारो दु ख लगे है। इस जन्मसे पहले भी यही आत्मा थी और इस जन्मके बाद नरक, स्वर्ग, अर्हन्त अथवा मोक्ष प्राप्त करनेपर भी यही आत्मा रहेगी। आत्मा नित्य है, शरीर नष्ट होनेवाला है। आत्माके बोली है। आत्माके बोली बदलनेपर यह शरीर यही पडा रह जाता ह। आत्माके जब प्रत्यक्षमे अपना दिखाई पडनेवाला यह शरीर ही अपना नही तो स्पष्ट अलग दिखनेवाले स्त्री-पुत्र, धन-सपत्ति आदि कैसे अपने हो सकते है ? जब उनका सयोग सदा नही रहता, इनकी मोह-ममता क्यो ? जिसप्रकार किरायेदार मकानसे मोह न रखकर किरायेके मकानमे रहता है, उसीप्रकार जीव का दास न बनकर शरीरसे जप-तप करके अपनी आत्माकी मलीनता दूर कर शुद्ध-चित्त-रूप होनाही उचित है। जो आत्मा स्वरूपसे शरीरको यथार्थमे भिन्न जानकर अपनी आत्माका ही ध्यान करता है उसीकी अन्यत्वानुप्रेक्षा कार्यकारी है। शरीराधिक से आत्मा के भिन्न चितन करने को अन्यत्वानुप्रेक्षा कहते है। और राग-द्वेष, मोह-शरीर ये दोनो विष समान है, और स्थायी नही, क्षणिक है। ये सभी शराबके जैसे नशा करके ससाररूपी अधकारमे गिरानेवाले है। इसलिए इनसे दूर रहकर अपनेमे रहना चाहिए। रागादिकोसे भिन्न यह अपने आत्मासे स्वभावका रखनेवाला परमात्मा है। सो ही निश्चयसे मै हूँ ऐसा भेद ज्ञान तथा वही परमात्म स्वभाव सब तरहसे ग्रहण करने योग्य है। ऐसी रुचिरूपी सम्यकदर्शन है। इसतरह दर्शन-ज्ञान स्वभावमयी भावाश्रव है, इस भावाश्रव पूर्वक आचरणमे आता है। जो पुण्यबधका कारण सरागचारित्र है, उसे जानकर मै त्याग करके निश्चल शुद्धात्माके अनुभव वीतराग चारित्र भावको करता हूँ।

# ६. अशुचित्वानुप्रेक्षा

**दिपे चाम चादर मढ़ी हाड़ पीजरा देह ।**
**भीतर या सम जगतमे और नही घिनगेह ।।६।।**

मै शुद्ध चेतन अचेतन से निराला,
ऐसा सदैव कहता सम दृष्टिवाला ।
रे ! देह नेह करना अति दु:ख पाना,
छोडो उसे तुम, यही गुरुका बताना ।।

**अर्थ** : आत्मा निर्मल है । इसका स्वरूप स्वभाव परमपवित्र है । क्रोध, मान, माया और लोभ, राग, द्वेष, चिन्ता, भय, खेद आदि १४ अतरग तथा स्त्री-पुत्र, दास-दासी, धन-सपत्ति आदि इस प्रकारके बहिरग परिग्रहोसे शुद्ध है । शरीर महा-मलिन है । इसका स्वभावही अपवित्र है । इसके ९ (नौ) द्वारोसे हर समय मल-मूत्र, खून-पीप आदि टपकते है । अनादिकालसे अनेक बार इस शरीरको खूब धोया ।

खाना खिला, जल पिला, तनको सुलाता,
तू देहकी मलीनता जलसे धुलाता
चिता नही पर तुझे निजकी अभी भी,
कैसे तुझे सुख मिले, न मिले कभी भी ।।

परतु कोयलेको धोनेसे क्या उसकी कालिमा नष्ट हो जाती है ? कभी नही । शरीरको धोनेसे, खिलानेसे कभी स्वच्छ नही होगा । सयमरूपी जलसे धोनेसे साफ हो जाएगा । परतु हमने अपनी आत्माको कषायो और परिग्रहोसे एक बार भी शुद्ध कर लिया होता तो कर्मरूपी मलको दूर करके हमेशा के लिए शुद्ध चित्तरूप हो जाता । जिन्होने अपनी आत्माको सासारिक पदार्थोकी मोह ममतासे शुद्ध कर लिया वे अजर-अमर हो गये । मोक्ष प्राप्त कर लिया, वे आवागमन के

फन्दे से मुक्त हो गये । यदि मै भी पर पदार्थाकी लालसा छोड़ दू तो आठो कर्म नष्ट करके सहजमे अविनाशक सुखोका स्थान, मोक्षको अवश्य प्राप्त कर सकता हूँ ।

इस शरीरको अपवित्र द्रव्योसे बना हुआ जानो । शरीरकी उत्पत्ती वगैरह इसप्रकार बतलाई है-

गर्भमे दस दिनतक वीर्य कलल अवस्था मे रहता हैं । अर्थात् गले हुए ताम्बे और चादीको परस्परमे मिलनेसे उन दोनोकी जो अवस्था होती है, वैसेही अवस्था माताके रज और पिताके वीर्यके मिलनेसे होती हैं । उसेही कलल अवस्था कहते हैं । उसके पश्चात् दस दिनतक वह काला रहता है । उसके पश्चात् दस दिनतक स्थिर रहता है । इस प्रकार प्रथम मास मे रज और वीर्यके मिलनेसे ये तीन अवस्थाएँ होती हैं । दूसरे मासमे बुलबुलेकी तरह रहता है । तीसरे मास मे कडा हो जाता है । चौथे मासमे मासका पिण्ड हो जाता है । पाचवे मास मे हाथ, पैर और सिरके स्थानमे पॉच अकुर फूटते है । छठे मासमे अड्ग, और उपाड्ग, बन जाते है । सातवे मासमे चमडा, रोम और नाखून बन जाते है । आठवे मासमे बच्चा पेटमे घूमने लगता है । नौवे अथवा दसवे मासमे बाहर आ जाता है । शरीरके अवयव इस प्रकार है इस शरीरमे ३०० हड्डियॉ है वे सभी मज्जा नामकी धातूसे भरी हुई हैं । तीनसौ ही सन्धियॉ है । नौ सौ स्नायु है । सातसौ शिराएँ है ।

पॉचसौ मासपेशियॉ है । शिराओके चार समूह है । रक्त से भरी १६ महाशिराएँ है । शिराओके छ मूल है । पीठ और उदरकी और दो मासरज्जु है । चर्मके सात परत (पदर) है । सात कालेयक अर्थात् मासखण्ड है । अस्सी लाख करोड़ो रोम है । आमाशय मे सोलह ऑते है । सात दुर्गन्धके आश्रय है । तीन स्थूणा है, वात-पीत्त और कफ । एकसौ सात मर्मस्थान है । नौ मलद्वार है । एक अन्जलि प्रमाण वीर्य है । ये अन्जलियॉ अपनी ही लेनी चाहिए । तीन अन्जलिप्रमाण

वात है । तीन अन्जलिप्रमाण पित्त है । भगवती आराधना मे पित्त और कफको ६-६ अन्जलिप्रमाण बतलाया है । देखो गा १०३४ । अनु ।) आठ सेर रुधिर है । १६ सेर मूत्र है । २४ सेर विष्ठा है । ३२ दॉत है । यह शरीर कृमि, लट तथा निगोदियॉ जीवोसे भरा हुआ है, तथा रस, रुधिर मॉस, मेद, हड्डी, मज्जा और वीर्य ये सात धातुओसे बना हुआ है । अत यह शरीर गन्दगीका घर है ।

## ७. आस्रव-अनुप्रेक्षा

**मोह नीदके जोर जगवासी घूमे सदा ।**
**कर्म चोर चहुँ ओर, सरबस लूटै सुध नही ।।७।।**

मोही सदैव । पर मे सुख ढूढता है,
जो झूलता विषयमे नित फूलता है ।
पाता अत नियमसे मृगभॉति क्लाति,
स्वामी ! नही दुख टले, मिलती न शाति ।।

**अर्थ** : सारे ससार मे मेरा कोई भला या बुरा नही कर सकता और न मै ही किसी दूसरेका बुरा भला कर सकता हूँ । दूसरोका बुरा तब होगा जब उसके पापकर्म उदय आवेगे तो केवल मेरे चाहनेसे उसका बुरा नही हो सकता है । हॉ किसीका बुरा चाहनेसे मेरे कर्मोका आस्रव होकर मेरी आत्मा मलीन हो, मै स्वय अपना बुरा कर रहा हूँ मेरा बुरा न चाहने पर भी मुझे हानि होगी । कितु शुभ कर्मोके समय दूसरोका बुरा करनेपर भी मुझे लाभ होगा । जब कोई मेरी आत्मा का बुरा नही कर सकता तो शत्रु कौन ? और जब किसी दूसरेसे मेरी आत्माका कल्याण नही हो सकता तो मित्र कौन ? मै स्वय पॉच प्रकारके मिथ्यात्व, बारह प्रकारके अव्रत, पच्चीस प्रकारके कषाय और पन्द्रह प्रकारके योग करके सत्तावन द्वारोसे स्वय कर्मोका आस्रव करके अपनी

आत्माके स्वाभाविक गुण, अविनाशक सुख व शान्तिकी प्राप्तिमे राडा अटकानेके कारण स्वय अपना शत्रु वन जाता हूं ।

मोही प्राणी कर्मरूपी शत्रुके वशमे फसकर परमे सुख ढूढता हे । जेसे मरे हुए जीवके मुर्दाको स्मशानमे जलानेक वाद राखमे जीवको ढूढ रहा हे । ऐसे महामूर्खोको सुख मिलेगा क्या ? कभी नही मिलेगा, और यह ससारी प्राणि इन्द्रिय विषयमे सुख हे ऐसे समझकर निरन्तर आनन्द मानता हे, फूलता ऐसे महामानवको सुख नही मिलेगा जेसे हिरण अरण्यमे मृगजलको जल समझ लेता हे । यह भ्राति हे क्लाति है ऐसा गुरूने कहा हे । दु ख नही मिटेगा, सुख नही मिलेगा ।

**कावि अउव्वा दीसदि पुग्गल-दव्वस एरिसी सत्ती ।**
**केवल-णाण-सहावो विणासिदो जावि जीवस्स ।।**

**अर्थ** पुद्गल द्रव्यकी कोई ऐसी अपूर्व शक्ति हे जिससे जीवका जो केवलज्ञान स्वभाव हे वह भी नष्ट हो जाता हे । यह जीव उसके लिए जो वस्तु अच्छी लगती हे उससे यह राग करता हे ओर जो वस्तु इसे बुरी लगती है उससे द्वेप करता हे । इन रागरूप ओर द्वेषरूप परिणामोसे नये कर्मोका बन्ध होता हे । ये कर्म पोद्गलिक होते हे । इन कर्मोका निमित्त पाकर जीवको नया जन्म लेना पडता हे । नया जन्म लेने से नया शरीर मिलता हे । शरीर मे इन्द्रियॉ होती हे । इद्रियोके द्वारा विषयो को ग्रहण कर इष्ट विषयोसे राग और अनिष्ट विषयोसे द्वेष होता है । इस तरह राग-द्वेष से कर्मबन्ध ओर कर्मबन्धसे राग द्वेषकी परम्परा चलती है । उसके कारण जीवके स्वाभाविक गुण विकृत हो जाते हे, इतना ही नही किन्तु ज्ञानादिक गुण कर्मोसे आवृत्त हो जाते है । कर्मोसे ज्ञानादिक गुणोके आवृत्त हो जानेके कारण एकसाथ समस्त द्रव्यपर्यायोको जाननेकी शक्ति रखनेवाला जीव अल्पज्ञानी हो जाता है । **मिथ्या-दर्शनाविरति प्रमाद कषाय योगा बध हेतव ।)** (कार्तिक अनुप्रेक्षा मे यह है ।)

और यहॅा योग को लिया है अन्त मे, और सर्वप्रथम रखा है मिथ्यात्व । मिथ्यात्व बध का कारण माना है, पर यह कुछ समझमे नही आ रहा है । चिता नही करे, आपको आ जायेगा समझमे ।

मिथ्यात्व न कषायमे आता है, न योग मे आता है, तथा योग और कषायके माध्यमसे आस्रव मार्ग और बध मार्ग चलता है सवर और निर्जरा के माध्यमसे मुक्ति का मार्ग चलता है । अपने को कषाय और योगोको सभालनेकी बडी आवश्यकता है । आस्रव को यदि रोकना चाहते हो, आस्रवसे यदि बचना चाहते हो तो मिथ्यात्व की ओर देखोही मत । किन्तु मिथ्यात्व है, भला उसको कैसे काटे ? वह अपने आप चला जायेगा । वह कुछ भी काम नही कर रहा है, वह अकिचित्कर है, आस्रव और बध के मार्गमे ध्यान रखना । कुछ भी काम नही कर रहा है ? तो आप चौक कर एकदम उठकर खडे हो जायेगे । इसलिए तो मुझे बोलना पडा की, वह आस्रव और बध के मार्ग कुछ भी नही कर रहा है ।

हमे आश्रव और बध मार्ग को हटाना है, मिथ्यात्व अपने आप हट जायेगा । हाथ जोडकर असलाम्आलेकुम कह के चला जायेगा, ध्यान रक्खो लेकिन उसको भेजनेका ढग अलग है । सुनो, जानो और पहचानो, उसको हटाना है तो यह ध्यान रक्खो उसका काम भी अद्वितीय है, लेकिन आस्रव और बध के मार्ग मे कुछ भी नही हैं । आस्रव और बध के मार्ग मे मिथ्यात्व प्रकृति को अकिचित्कर कह दिया जाय तो अतिशयोक्ति नही । यह चितन के माध्यमसे मिला है । और जब भावना मे आप डूबोगे तो मालूम पडेगा लेकिन इस प्रकार श्रद्धान बनाओगे तोही आगे बढोगे यह ध्यान रखना, इसे आगम से सिद्ध किया जा रहा हे । एक एक मौलिक है सुनेगे आप, श्रवण करेगे और यदि उसको आगम के विरुद्ध सिद्ध करना चाहोगे तो बडी खुशी की बात है मैं जानने के लिये तैय्यार हूॅ । पर एक चितन आप के सामन रख रहा हूॅ ।

मिथ्यात्व कुछ काम नही करता यह मैं नही कह रहा हूँ, किन्तु आस्रव और बन्ध के क्षेत्र मे कुछ नही कर रहा है, परतु आस्रव और बन्ध के क्षेत्र मे कुछ नही करता यह कह रहा हूँ। यह शब्द देख लो आप यदि भूल भी जायेगे तो यह टेप पास है ही आपके। वह प्रतिनिधित्व करेगा, बिल्कुल शब्द पकड रहा है। मिथ्यात्व को बध का हेतु माना है और मिथ्यात्व प्रकृति के माध्यम से सोलह प्रकृतियो का आस्रव होता है, ऐसा आगम का भी उल्लेख है तो मिथ्यात्व के साथ ही होगा इसिलिए मिथ्यात्वने ही किया है सोलह प्रकृतियोका आस्रव ऐसा आप कह सकते हैं। आपकी तरफ से यह प्रश्न सामने रखा है, पर अब ध्यान रखो कि आसव का माध्यम क्या है योग ? योग मिथ्यात्व से अलग है। मिथ्यात्व के साथ योग रहता है यह नियम नही, क्योंकि यदि मिथ्यात्व के साथ योग रहेगा तो फिर चतुर्थ गुणस्थान द्वितीय गुणस्थान आदिमे योग का अभाव हो जायेगा, और योग जो है तेरहवे गुणस्थान के अन्तिम समय तक बना रहता है, इसीलिए योग के साथ मिथ्यात्वका कोई गठबधन, अन्वय या व्याप्ति नही है, अत मिथ्यात्व के आस्रव के लिए भी मिथ्यात्व का उदय कारण नही है, यह ध्यान रखो। इसका भी समाधान अभी कुछ समय उपरान्त कर देगे कि मिथ्यात्वका उदय भी मिथ्यात्वका आसव नही करा सकता उसके पास शक्ति नही है। उसका आस्रव करनेवाली एक शक्ति अलग है। आत्मा की एक शक्ति है अनन्यभूत वैभाविक शक्ति जो कि उपयोग का एक विपरीत परिणमन है और वह कषाय का नाम पाता है।

**'अनन्तं मिथ्यात्वं बंधनाति इति अनन्तानुबन्धी'।**

मिथ्यात्व अनत है बिलकुल ठीक है लेकिन मिथ्यात्वरूपी अनत को बाधनेवाला कौन है ? वह है अनतानुबधी, जो इसका सार्थक नाम है। जो व्यक्ति इसको कषाय की कोटि मे चारित्र मोहनीय की कोटि मे रखकर और मिथ्यात्व को हटानेका चितन करता है तो वह दरवाजा

तो बद कर रहा है, सामने का किन्तु पीछेवाले दरवाजे को खुला रक्खा है और चोर आ रहे है । और वह बताता है कि मै तो दरवाजा बद करके ही सोया हूँ, दरवाजा कहाँ बद किया है भैय्या ?

अनतानुबधी-अनुरजित योग, यह मिथ्यात्व के लिए कारण है इसिलिए अंनतानुबधी का उदय समाप्त होते ही तत्व चितन की धारा मिथ्यात्व के ऊपर घन पटकने की शक्ति, आत्मामे जागृत होती है और यह अनतानुबधी के अभाव मे ही सभव है । जिस समय दर्शन मोहनीय कर्मके तीन खड करते है उस समय खड करने की जो शक्ति अद्भुत होती है वह अनतानुबधी के उदय के अभाव मे होती है । अनतानुबधी का उदय जब तक चलता है तब तक शक्ति होते हुए भी वह मिथ्यात्व को चूर-चूर नही कर रहा है । क्यो नही कर रहा है ? क्योकि अनन्तानुबधी कहता है कि मै अभी जीवित हूँ तो तू कैसे कर सकता है ? मेरे साथ लड, पहले मुझे हरा दे, फिर आगे अपना काम करना । मिथ्यात्व तो कुछ भी नही करता, जैसे ही अनतानुबधी समाप्त होता है, मिथ्यात्व कहता है मुझे मारो मत, मुझे मारो मत मै जा रहा हूँ । इतना कमजोर है मिथ्यात्व की कुछ कहो ही मत । मिथ्यात्व के उदय मे भी तत्व चितन की धारा चल रही है । कोई बाधा नही है और मिथ्यात्व के उदय मे भी आस्रव ज्यो-का-त्यो-रुक गया, इकतालीस प्रकृतियोका आस्रव रुक गया और मिथ्यात्व का उदय है । यह किसकी देन है ? यह मिथ्यात्व को हटाने क़ी देन नही है । सवर तत्व का प्रसग आयेगा उस समय बता दूगा । यह मात्र आत्म पुरुषार्थ की बात है, उपयोग को केन्द्रीभूत करने की बात है । योग को शुभ के ढॉचे मे ढालने की एक प्रतिक्रिया है और कुछ नही है । यह मात्र पुरुषार्थ आत्मायत है, कर्मायत् नही है, इसिलिए धवला मे उन्होंने कह दिया कि अर्ध पुद्गल परिवर्तन काल हम अपने आत्म-पुरुषार्थ के बल पर रख सकते है । कथचित् अर्ध पुद्गल परिवर्तन काल को रखकर सम्यग्दर्शन

को प्राप्त करने की उपलब्धि वताई गयी है– आचार्य वीरसेन स्वामी द्वारा ।

तो इकतालीस प्रकृतियोका आस्रवदाता अनतानुबधी, वह ज्यो ही चला जाता है त्यो ही सम्यग्दर्शन क्यो नही आयेगा ? अवश्य आयेगा, नाचता हुआ आयेगा । 'बाधक् कारण अभावत् साधक कारण सद्भावात क्यो नही आयेगा ? अवश्य आयेगा, आयेगा, आयेगा ।'

**सूत्र · मिथ्यादर्शना विरति-प्रमाद कषाय योगा बन्धहेतव· ।।१।।**

**अर्थ** मिथ्यात्वको वन्ध करानेवाले चार हेतु हैं । अविरति, प्रमाद कषाय और योग ये स्थिति, अनुभाग और प्रकृति प्रदेश हुआ करती है । कषाय आर्दपणा, मिथ्यात्व रुखापणा रेणुवत है ।

कर्मोकी जघन्य और उत्कृष्ट जो स्थिति बताई है, उसमेसे जिसके जितनी सभव हो उतनीही स्थिति कषायाध्यवसाय स्थानके अनुसार पड जाती है । जैसे कि आर्द्र चर्म आदि किसीभी गीली वस्तुपर पडी हुई धूलि उससे चिपक जाती है । **(कर्म मिथ्या दृगादीनामार्द्रचर्मणि रेणुवत् । कषायपिच्छिले जीवे स्थितिमाप्नुवदुच्यते ।)** किन्तु जो अकषाय जीव है, उनका योग भी कषाय रहित हुआ करता है, अतएव वह स्थितिबधका कारण नही हुआ, उनके द्वारा जो कर्म आते है, उनमे एक समयसे अधिक स्थिति नही पडती । जैसे की किसी शुष्क दीवारपर पत्थर आदि फेका जाय, तो वह उससे चिपकता नही, किन्तु उसी समय गिर पडता है । **(२-ईर्या योगगति सैवयथा वस्य तदुच्यते । कर्मोर्य्यापथमस्यास्तु शुष्ककुडयेऽश्मवच्चिरम् ।।)** इस प्रकार जो जीव कषायरहित होते है, उनके योग के निमित्तसे कर्म आते अवश्य है, परतु उनके स्थिति नही पडती । वे आत्म-लाभको प्राप्त करते है, निर्जीर्ण हो जाते है । इस स्वामी भेदके कारण फलमेभी भेद करनेवाले आस्रवोके आस्रवको इर्यापथ आसव कहते है ।

सम्यग्दर्शन जो तत्वार्थके श्रद्धानरूप है, उसका यदि प्रतिपक्षी कर्मका अन्तरगमे उदय होनेपर अशत भग हो जाय तो उसको अतिचार समझना चाहिये। चार अनन्तानुबन्धी कषाय और दर्शन मोहकी एक मिथ्यात्व अथवा मिथ्यात्वमिश्र और सम्यक्त्व इस तरह तीन मिलाकर कुल पॉच अथवा सात प्रकृति सम्यक्त्वकी द्योतक है। इनका उपशम क्षयोपशम होनेपर क्रमसे औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन प्रकट हुआ करता है।

**भाष्यम् (टीका) · अनन्तानुबन्धी सम्यग्दर्शनोपघाती। तस्योदयाद्धि सम्यगदर्शनं नोत्पद्यते पूर्वोत्पन्नमाषिच प्रतिपताति। अप्रत्याख्यान कषायोदयाद्विरतिर्न भवति। प्रत्याख्यानावरण कषायोदयाद्विरताविरतिर्भवत्युत्तम। चरित्रला भस्तु न भवति। संज्वलन कषायोदयाधख्यात चारित्र लाभो न भवति।**

**अर्थ** उपर्युक्त कषायोमेसे अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यग्दर्शनका घात करनेवाली है। जिस जीवके सम्यग्दर्शन उत्पन्न नही हुआ करता। यदि पहले सम्यदर्शन उत्पन्न हो गया हो, और पीछेसे अनन्तानुबन्धी कषायका उदय हो जाय, तो वह उत्पन्न हुआभी सम्यग्दर्शन छूट जाता है - नष्ट हो जाता है। अप्रत्याख्यान कषायके उदयसे किसी भी तरहकी एकदेश या सर्व देश विरती नही हुआ करती। इस कषायके उदयसे सयुक्त जीव महाव्रत या श्रावकके व्रत जो पहले बताये है उनको धारण नही कर सकता। प्रत्याख्यानावरण कषायके उदयसे विरताबिरति-श्रावकके व्रत एकदेशसयमरूप तो होते है, परतु उत्तम चारित्र्य-महाव्रतका लाभ नही हुआ करता है। तथा सज्वलन कषायके उदयसे यथाख्यात चारित्रका लाभ नही हुआ करता है। (सभाष्यतत्वार्थाधिगनसूत्र-रायचद्र जैनशास्त्रमाला इसमे यह विषय आया हे।)

## सम्यग्दर्शनके उत्पत्तिकी प्रक्रिया -

अब सम्यक्त्वको प्राप्त करनेका क्रम यह है । अनन्तानुबधी-क्रोध, मान, माया और लोभ मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति यह सात प्रकृतिया नष्ट करनेका क्रम है । वेदक सम्यक्दृष्टि जीव असॅयत, देशसॅयत, प्रमत्त अथवा अप्रमत् इन चार मे से एक गुणस्थान मे रहना चाहिये । उसके फलसे अनतानुबधी क्रोध, मान माया और लोभ इनके उदय में रहनेवाले निषेकोंको नष्ट होना चाहिए, यो उदयमे आनेवाले सीमा बाहर रहनेवाले सर्व निषेकोका विसयोजन होना चाहिये, इसके अलावा अनिवृत्ती करणसे अन्त समयमे सभी अन्तानुबधी द्रव्यसे बाहर कषाय और नोकषाय रूपमे परिणमन होनी चाहिये । (यह अनन्तानुबधी विसयोजन हुआ है । इसमे गुण श्रेणि, स्थितिकाण्ड आदि अनेक विधि है) इस तरह विसयोजन होनेके बाद अन्तर मुहूर्तकाल पर्यन्त विश्राम लेकर अनन्तर दूसरी क्रिया करनी चाहिये । तीन अध करण योगसे अनिवृत्तिकरण के काल मे मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति नष्ट करनी चाहिये । इस प्रकार करनेसे ही सम्यग्दर्शन हो जाता है ।

### ( रत्नकरडक श्रावकाचार (कन्नड) से )

**अनन्त मिथ्यात्व बधनाति इति अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया, लोभ ।**

**अर्थ** अनन्त मिथ्यात्वरूपी वर्गणाओका आत्म प्रदेशमे एकमेक करनेवाले और आत्माके स्वरूप को विक्रत कराकर बधनमे रखनेवाले, जो अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया और लोभ है, नीच गोत्रको बध करानेवाले है । नीच गोत्रका प्रथम और द्वितीय गुणस्थानमेही बध होता है और उसको नीच गोत्र कहो, मिथ्यात्व कहो अनन्तानुबधीके सदभावमे ही होता है । और उच्च गोत्रका तो सम्यक्त्व के सदभावमे होता है ।

क्षायिक सम्यक्त्व की उत्कृष्ट स्थिति चार भव का है । [illegible] मनुष्यगति है, दूसरी यहाँसे भोग-भूमि जाता है, तीसरी वहाँसे स्वर्ग जाता है, चौथा मनुष्यभवमे आकर सीधा मोक्ष जाता है ।

# ८. संवरानुप्रेक्षा

**सतगुरु देय जगाय, मोहनीद जब उपशमे**
**तब कछु बने उपाय कर्मचोर आवत रुके ।।८।।**

ज्यो ज्यो त्रियोग रुकते-रुकते चलेंगे,
त्यो-त्यो नितात विधि आस्रव भी रुकेगे ।
सपूर्ण योग रुक जाय न कर्म आता,
क्या पोतमे विवर के बिन नीर जाता ? ।।

**अर्थ :** सम्यक्त्व, देशव्रत, महाव्रत कषायोका जीतना [illegible] अभाव ये सब सवरके नाम है । आस्रवको रोकनेको सवर [illegible] आस्रवानुप्रेक्षामे मिथ्यात्व, अविरती, प्रमाद, कषाय और योग [illegible] आस्रव और बध करानेवाले चार कारण हैं । सो चौथे [illegible] सम्यक्त्व का निरोध हो जाता है । पॉचवे गुणस्थानमे [illegible] गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इसप्रकार बारह व्रतरूप [illegible] अविरतिका एकदेश अभाव हो जाता हैं । छठे [illegible] पाच महाव्रतोके होने पर अविरतिका पूर्ण अभाव [illegible]

है । इसिलिए उन्हे सवर कहा है । गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा परीषहजय और उत्कृष्ट चारित्र्य ये विशेषरूपसे सवरके कारण हैं । अत्यत भयानक वेदनाको ज्ञानी मुनि जो शान्त भावसे सहन करते हैं उसे परिषहजय कहते है । वह भी सवररूप ही है ।

**पच महाव्रत सचरण समिति पच प्रकार ।**
**प्रबल पचइद्रिय विजय धार निर्जरा सार ।।**

**अर्थ** पॉच समिती, पॉच महाव्रत, दस धर्म, बारह भावनाये, तीन गुप्ती, बाईस परिषहजय रूपी, सत्तावन हाटोसे मैं स्वय आस्रव (कर्मोका आना) का सवर (रोकना) मैं कर सकता हू और इस प्रकार अपनी आत्मा को कर्म रूपी मलसे मलीन होनेसे बचा सकता हूॅ । दूसरा मेरी आत्मा का भला बुरा करनेवाला सारे ससारमे कोई शत्रु या मित्र नही । परतु इस लोकमे शत्रु हैं, तो कषाय हैं, सच्चा शत्रु अपने आत्माका जो सम्यक गुण है, उसको नष्ट करनेवाला है । वह यह है–

**अनतानुबधो सम्यग्दर्शनोपघाती ।**
**तस्योदयाद्धि सम्यग्दर्शन नोत्पद्यते ।**
**पूर्वोत्पन्नमपिच प्रतिपतति ।**

**अर्थ** उपर्युक्त कषायोमेसे अनन्तानुबधी कषाय सम्यग्दर्शनका घात करनेवाली है । जिस जीवके अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया या लोभमेसे किसीका भी उदय होता है, उससे सम्यग्दर्शन उत्पन्न नही हुवा करता । यदि पहले सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो गया है, और पीछेसे अनन्तानुबधी कषाय का उदय हो जाय, (अर्थात छह महिनेसे जादा वैर रहनेसे) तो वह उत्पन्न हुवा भी सम्यग्दर्शन छूट जाता है ।इसीलिए मिथ्यात्वका बन्ध करानेवाला कषायी ही है । इसीलिए भव्य प्राणियो कषायसे डरो, मिथ्यात्वसे मत डरो कषाय बहुत खतरनाक है ।

# ९. निर्जरानुप्रेक्षा

**ज्ञान दीप तप तेल भर, घर शोधे भ्रम छोर ।**
**या विधि बिन निकसे नही बैठे पूरव चोर ।।९।।**

धारा विराग दृग जो मुनिधर्म पाके,
होते उन्हे विषय कारण निर्जराके ।
भोगोपभोग करते सब इन्द्रियोसे,
साधू सुधी न बॅधते बिधि बॅधनोसे ।।

**अर्थ** जिस प्रकार एक चतुर पोत सचालक छेद हो जानेसे जहाज मे पानी घुस आने पर पहले छेदोको बद करता है, और उसके बाद जहाजमे भरे हुए पानी बाहर फेककर जहाजको हलका करता है, जिससे उसका जहाज बिना किसी भय के सागर से पार हो सके । उसी प्रकार शातिरूप जीव पहले आस्रवरूपी छेदोको सवर रूपी डॉटोसे बद करके कर्म रूपी जलको आनेसे रोक देता है । फिर आत्मरूपी पोतमे पहलेसे इकठ्ठा हुए कर्म रूपी जल को तप रूपी आग्निसे सुखाकर निर्जरा नष्ट कर देता है, जिससे आत्मरूपी जहाज ससाररूपी सागर को बिना किसी भयके पार कर सके । निरभिमानी ज्ञानी पुरुषके वैराग्यकी भावनासे अथवा वैराग्य और भावनासे बारह प्रकारके तप के द्वारा कर्मोकी निर्जरा होती है । किन्तु ज्ञानी पुरुषकाही तप निर्जराका कारण है, अज्ञानीका तप तो उलटे कर्मबन्धकाहि कारण होता है । तथा तप कर के यदि कोई उसका मद करता है, कि मै बडा तपस्वी हूॅ तो बन्धकाहि कारण होता है । अत निरभिमानी ज्ञानी का ही तप निर्जरा का कारण होता है । तथा यदि इस लोकमे ख्याति पूजा वगैरहके लोभसे और परलोकमे इन्द्रासन वगैरहकी प्राप्तिके लोभसे कोई तपस्या करता है । अत निदानरहित तप ही निर्जराका कारण है ।

जीव के साथ दूसरे लोग जो कुछ दुर्व्यवहार करते हैं वह उसकेही पूर्व कृत कर्मोका फल है । ऐसा समझकर जो मुनि दूसरोपर क्रोध नही करता और दुर्वचन, निरादर तथा उपसर्गको धीरतासे सहता है, उसके कर्मोकी निर्जरा होती है । जो मुनि अपने स्वरूपमे तत्पर होकर मग्न और इन्द्रियोको वश मे करता है, अपनी निन्दा करता है और गुणवानोकी सम्यकत्व व्रत और ज्ञानसे युक्त मुनियो और श्रावकोकी प्रशसा करता है, उससे वहुत निर्जरा होती है । यह प्रत्याख्याता पुरुष अपना सकल्प कर रहा है कि, जो कुछ भी मुझसे दुश्चरित्र हुआ है, उसका मै मनसे त्याग करता हूँ, वचनसे त्याग करता हूँ, और कायसे त्याग करता हूँ । ऐसे दुश्चरित्रको न मनसे, वचनसे कायसे करूगा । अब इन वाह्य वृत्तियोको न मनसे, न वचनसे न कायसे करूगा । इन क्षोभमयी कषाययुक्त वृत्तियोको न मनसे, न वचनसे, न कायसे अनुमोदन दूगा । पाप किया जानेकी विधियॉ १०८ प्रकारकी होती हैं । पापकार्य करना, पाप कार्य करानेके साधना जुटाना पाप कार्य का सकल्प करना ये तीन पापमय वृत्तियॉ हे । प्राय ऐसा होता हे की जब कोई मनुष्य पापकार्य करता है तो प्रथम पापकार्य करनेका सकल्प आता है, फिर उन कार्योके साधन जुटाता है, और पापकार्य करता है । इन तीन पापोका नाम है- सरम्भ, समारम्भ और आरम्भ । ये तीन प्रकारके पापको क्रोध, मान, माया और लोभ के साथ वश होकर किये जाते है । अत ये पाप दो प्रकारके हो गए । क्रोधसे, मानसे, मायासे और लोभसे किया सरम्भ इस तरह ४ समारभ और ४ आरम्भ ये १२ प्रकारके पाप मनसे, वचनसे और कायसे भी किये जा सकते है, तब ये १२ x ३ = ३६ हुए । ये ३६ प्रकारके पाप किये हुए कराये हुए और अनुमोदे हुए तब कुल ३६ x ३ = १०८ प्रकारके पाप हुए । यह प्रत्याख्यान पुरुष १०८ प्रकारके पापोके भविष्य मे न किए जानेका सकल्प कर रहा है । इससे कर्मोकी निर्जरा होती है ।

# १०. लोकानुप्रेक्षा

**चौदह राजु उत्तंग नभ लोक पुरुष संठन ।**
**तामे जीव अनादितैं भरमत है बिन ज्ञान ।।१०।।**

लोक अलोक आकाश माहि थिर निराधार जानो,
पुरुष रूप कर कटी भये षट् द्रव्यन सो मानो ।
इसका कोई न करता हरता, अमिट अनादि है,
जीवरु पुदगल नाचै यामे, कर्म उपाधी है ।
पाप पुण्य सो जीव जगतमे, नित सुख दु ख भरता,
अपनी करनी आप बरे, सिर औरनके धरता ।
मोह कर्मको नाश मेटकर सब जगकी आशा,
निज पदमे थिर होय लोकके, शीश करो बासा ।।१०।।

**अर्थ** यह ससार जीव-पुद्गल-धर्म-अधर्म-आकाश-कालसे छ द्रव्योका समुदाय है । ये सब द्रव्य सत् रूप नित्य है । इसीलिए जगत् भी सत् रूप नित्य अनादि और निधन अकृत्रिम है । ये जीव देव-मनुष्य, पशु-नारक चारो गतियोमे कर्मानुसार भ्रमण करता हुआ अनादिकालसे आवागमनके चक्करमे फँसकर जन्म मरणके दु ख भोग रहा हैं । जिसप्रकार धान्यसे छिलका उतर जानेपर उसमे उगनेकी शक्ति नही रहती, उसी प्रकार जीवात्मासे कर्मरूपी छिलका उतर जानेपर आत्मा चावलके समान शुद्ध हो जाती है । उसमे जन्म ही नही तो मरण और आगमन कहॉ ? पुरुषाकार लोकके अतमे जाकर विराजमान होते है । अपने पदमे स्थिर होकर रहते है । मै उन्हीको अपने भाषामे नमस्कार करता हूॅ ।

यह जीव अनादि कालसे कर्मोका फल भोगने के लिए ही तो ससारमे चल रहा है । जब शुभ अशुभ योनी प्रकारके कर्मोकी निर्जरा हो गयी तो फल किसका भोगेगा ? शुभाशुभ कर्मोका ही भोगेगा ।

इसलिए ससारके भ्रमणसे मुक्त होन के लिए निर्जरास भिन्न और कोई उपाय नही है ।

पुरुषाकार लोक हे । इस लोकमे तीन भाग हे - वह अधो, मध्य उर्ध्व लोक हे । यह नीचेसे ऊपरतक चोदह राजु हैं । ४००० (चारहजार) मीलका एक योजन है । ऐसे असख्यात योजनोका एक रज्जु होता हे । ऐसे लोकमे हम लोग मध्य लोकमे है । मध्य लोकमे भरत खण्ड हे ।

ढाई द्वीपमे म्लेच्छखण्ड हे । और उनकी सख्या १७० x ५ = ८५० हे । ढाई द्वीपमेही हे । और २० करोड़ मील यहाँसे विदेह क्षेत्र है । ५०,००० योजन और तीस भोगभूमियाँ हैं-जिनमे ५ हेमवत् और ५ हेरण्यवत् ये दस जघन्य भोगभूमिया हैं । ५ हरिवर्ष और ५ रम्यक् वर्ष ये दस मध्यम भोगभूमियाँ हैं । और ५ देवकुरु, ५ उत्तरकुरु ये दस उत्कृष्ठ भोगभूमियाँ हे । इस तरह कुल तीस भोगभूमियाँ हे । सब कुल मिलाकर १७० आर्यखड हे । ५ भरत, ५ ऐरावत ३२ विदेह हे । ५ + ५ = १० । ३२ x २ = ६४ + ६४ = १२८ + ३२ = १६० + १० = १७० मे सम्मुर्छन मनुष्य नियमसे ही होते हैं । तथा लवण समुद्र और कालोदधि समुद्रमे जो ९६ अन्तर्द्वीप हे उसमेही ९६ कुभोगभूमियाँ है । एक अन्तमुहूर्त कालमे क्षुद्र अर्थात् लब्धपर्याय से जीवका ६६३३६ बार मरण होता है और ६६३३६ बार जन्म लेता है ।

उन छियासठ हजार तीनसो छत्तीस क्षुद्र ६६१३२ बार तो लब्धपर्याप्त एकेद्रियोमे जन्म लेता है । इसी तरह दो इद्रिय लब्धपर्याप्कामे ७० बार त्रेन्द्रिय लब्ध्य ३० बार, चौइद्रिय लब्ध्य ४० बार, पचेद्रिय लब्ध्य २४ बार उसमे भी मनुष्य लब्धपर्याप्तक आठ बार और सज्ञी-असज्ञी ८ = ८ बार जन्म मरण होता है । प्रत्येक स्थावर जीवके एक अन्तमुहूर्त कालमे ६०१२ बार निरन्तर क्षुद्र भव होते है । अनन्तके तीन भेद है । १ परितानन्त २ युक्तानन्त ३ अनन्तानन्त है ।

# ११. बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा

**धन कन कंचन राज सुख, सबहि सुलभकर जान ।**
**दुर्लभ है संसारमे, एक यथारथ ज्ञान ।।११।।**

दुर्लभ है निगोद से स्थावर, अरु त्रस गति पानी,
नरकाया को सुरपति तरसै सो दुर्लभ प्राणी ।
उत्तम देश सुसगति दुर्लभ, श्रावक कुल पाना,
दुर्लभ सम्यक दुर्लभ सयम, पचम गुण ठाणा ।
दुर्लभ रत्नत्रय आराधन, दीक्षाकाधरना,
दुर्लभ मुनिवरको व्रत पालन, शुद्ध भाव करना ।
दुर्लभ से दुर्लभ है चेतन बोधि ज्ञान पावै,
पाकर केवल ज्ञान नही फिर इस भवमे आवै ।

**अर्थ** : इस जीवको स्त्री, पुत्र, धन, शक्ति आदि तो अनादि कालसे न मालूम कितनी बार प्राप्त हुए, राजसुख, चक्रवर्ती पद, स्वर्गोकी उत्तम भोगभूमि भी प्राप्त हुई । परतु सच्चा सम्यकज्ञान न मिलनेके कारण आजतक ससारमे रुल रहा है । आत्माने पर पदार्थोको तो खूब जाना परन्तु अपनी निज आत्माको न समझा की यह कौन है ? बार बार जन्म मरण करके ससारमे क्यो भ्रमण कर रहा है । इससे मुक्त होनेका और सच्चे सुख प्राप्त करनेका क्या उपाय है ? जब ससारी पदार्थोका कभी विचार नही किया तो फिर मुक्ति कैसे प्राप्त हो ? इसलिए ससारी दु खो से छूटने के लिए और सच्ची सुख शान्ति प्राप्त करने के लिए निज-पर के भेद-विज्ञान को विश्वासपूर्वक जाननेकी आवश्यकता है ।

सनिगोदके दो भेद है- नित्यनिगोद और चतुर्गतिनिगोद । जो जीव अनादिकालसे निगोदिमे पडे हुए हैं वे नित्य निगोदिया कहे जाते

है । और जो त्रस पर्याय प्राप्त करके निगोदमे जाते है उन्हे चतुर्गति निगोदिया कहते है । निगोदसे स्थावरमे आना बहुत दुर्लभ है । त्रसमे दो इंद्रियसे लेकर पचेंद्रिय मनुष्य गतिमे आना बहुत दुर्लभ है । देवसे मनुष्य होना भी दुर्लभ है । मनुष्यमे सम्यक्त्वकी प्राप्ति करना दुर्लभ है । सयम लेना भी दुर्लभ है ।

**विरला णिसुणहि तच्च विरला जाणति तच्चदो तच्च ।**
**विरला भावहि तच्च विरलाण धारणा होदि ।।**

(कार्तिकेयानुप्रेक्षा)

**अर्थ** ससारमे राग और काम भोगकी बाते सुननेवाले बहुत है । किन्तु तत्वकी जात सुननेवाले बहुत कम है । राग रगकी बातो सुननेके लिए मनुष्य पैसा खर्च करता है किन्तु तत्व की बात मुफ्त भी सुनना पसद नही करता । यदि कुछ लोग भूले भटके पुराने या पुराने सस्कारवश तत्वचर्चा सुनने आ भी जाते है तो उनमेसे अधिकाशको नींद आने लगती है । कुछ समझते नही है । अत सुननेवालेमेसे भी कुछ ही लोग तत्वको समझ पाते है वे भी अपनी गृहस्थी के मोहजालके कारण दिनभर दुनियादारीमे फॅसे हुए है । अत उनमेसे भी कुछही लोग तत्वचर्चासे उठकर उसका चितन मनन करते है । चितन मनन करनेवालोमे से भी तत्वकी धारणा कुछकोही होती है । अत तत्वको सुननेवाले, सुनकर समझनेवाले, समझकर अभ्यास करनेवाले और अभ्यास करके भी उसे स्मरण रखनेवाले मनुष्य उत्तरोत्तर दुर्लभ होते है । कहा भी है - आत्मज्ञानसे विमुख और सन्देहमे पडे हुए प्राणी बहुत हैं । जिनको आत्माके विषयमे जिज्ञासा है ऐसे प्राणी क्वचित कदाचित ही मिलते है, किन्तु जो आत्मिक प्रमोदसे सुखी है तथा जिनकी अतर्दृष्टि खुली है ऐसे आत्मज्ञानी पुरुष दो तीन अथवा बहुत हुए तो तीन चार ही होते है । किन्तु पॉचका होना दुर्लभ है ।

६) स्यात् नास्ति अवक्तव्य ७) स्यात् अस्ति-नास्ति अवक्तव्य । इसका आत्मामे घटित करते है । मेरी आत्मा कथचित पर अचेतन आदि परस्वरूप से नास्तिरूप है । मेरी आत्मा कथचित् अपने स्वरूपसे 'अस्तिरुप' हैं । मेरी आत्मा कथचित् स्वपर स्वरूपादिके क्रमसे कहनेसे अस्तिनास्तिरुप है । मेरी आत्मा कथचित स्वपर स्वरूपादिसे एक साथ न कही जा सकनेसे अवक्तव्य है । मेरी आत्मा कथचित् पर अचेतन आदि परस्वरूपसे 'नास्तिरूप' है । मेरी आत्मा कथचिन् स्वरपसे अस्तिरुप और एकसाथ दोनो धर्मोको नही कह सकनेसे 'अस्ति-अवक्तव्य' है । मेरी आत्मा स्वपर स्वरूपसे क्रमसे कही जानसे आर दोनो धर्मोको एक साथ नही कहे जा सकनेसे अस्ति नास्ति 'अवक्तव्य' हैं । प्रत्येक वस्तुके प्रत्येक धर्मोमे ये सात भग घटित होते हैं ।

**अनेकान्त** : प्रत्येक वस्तुमे अस्तित्व नास्तित्व, एक, अनेक, भेद, अभेद, आदि अनत धर्म पाये जाते हैं । उन अनेक अन्त (धर्म) को कहनेवाला अनेकात है । जंसे जिनदत्त सेठ किसीका पिता है, किसीका पुत्र है, किसीका चाचा है, किसीका भतीजा है । आदि अनेक धर्म उसमे मोजूद है । जिसका पिता है उसीका पुत्र नही है, किन्तु पुत्रका पिता है और अपने पिताका पुत्र है । वैसेही प्रत्येक वस्तु जिसरूपमे अस्तिरूप है उस रूपसे नास्तिरूप नही है । कितु अपने स्वरूपसे अस्तिरूप और पररूप से नास्तिरुप है । यह अनेकात सशयरुप या छल रूप नही है । अपनी अपनी अपेक्षासे वस्तुके यथार्थ धर्मोको कहनेवाला है । यह अनेकात जैन धर्मका प्राण है ।

वनस्पतिकायिकी उत्कृष्ट आयु दस हजार वर्षकी हैं । नारियल, इमली नीम आदि अनेक पेड है ।

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| पृथ्वीकाय | उत्कृष्ट | आयु | २,२०,००० | वर्ष है । |
| अपकायिक | " | " | ७,००० | " " |
| अग्निकायिक | " | " | ३ | दिन |

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| वायुकायिक | " | " | ३,००० | वर्ष " |
| दो इन्द्रिय | " | " | १२,००० | " " |
| तीन " | " | " | ३९ | दिन " |
| चार , | " | " | ६ महीना | " |
| पचेद्रिय | " | " | ३ | पल्य " |

इसमेसे दो इद्रिय शख, सीप, जोक आदि दो इद्रिय जीवोकी उत्कृष्ठ आयु १२ वर्ष है ।

तीन इद्रिय कुथु, दीमक, चीटी, जू, खटमल, विच्छू, गिर्जाई उत्कृष्ट आयु ४६ दिवस है ।

चार इद्रिय डास, मच्छर, मक्खी, भौरा, मधुमक्खी आदि उत्कृष्ट आयु ६ मासतक है ।

पचेद्रिय मनुष्य, भोगभूमियॉ तिर्यचो, देव, नारकी आदि उत्कृष्ठ आयुष्य ३ पल्य ३३ सागर ।

जीव तीन प्रकारके है - बहिरात्मा, अतरात्मा और परमात्मा के दो भेद है । अरहन्त और सिद्ध । बहीरात्माके तीन भेद है - उत्कृष्ट एक गुण स्थान, मध्यम दूसरा गुणस्थान, जघन्य तीसरा गुणस्थान । अन्तरात्माके तीन भेद है । उत्कृष्ट ११-१२, मध्यम ७,८,९,१० जघन्य ४-५-६ गुणस्थान है । परमात्माके भी दो भेद है - १३-१४ ।

१) प्रकृति नाम स्वभावका है ।

२) प्रदेशबन्ध   प्रदेशोकी सख्याका परिणाम प्रदेशबन्ध है ।

३) स्थिति   कालकी मर्यादाको स्थिति कहते है ।

४) अनुभाग   फल देनेकी शक्ति को अनुभाग कहते है ।

# ब्रम्हचर्य धर्मका वर्णन

गाथा . जो परिहरेदि सग महिलाण णेव पस्सदे रूव ।
काम-कहादि-णिरीहो णव-विह-वभ हवे तस्स ।।४०३।। का.प्रे

**अर्थ** : जो मुनि स्त्रियोके सगसे वचता है, उनके रूपको नही देखता, काम की कथा आदि नही करता, उसका नवधा ब्रम्हचर्य होता है ।

**भावार्थ** . ब्रम्ह अर्थात शुद्ध वुद्ध आनन्दमय परमात्माने लीन होनेको ब्रम्हचर्य कहते हैं । अर्थात् परमानद मय आत्माके रसका आस्वादन करना ही ब्रम्हचर्य है । आत्माको भूलकर जिन परवस्तुओमे यह जीव लीन होता है, उनमे स्त्री प्रधान है । अत स्त्री मात्रका चाहे वह देवागना हो या मनुषीनी हो अथवा पशुयुनि हो ससर्ग जो छोड़ता है, उनके बीचमे उठता बैठता नही है । उनके जघन्य, स्तन, मुख, नयन आदि मनोहर अगोको देखता नही है तथा उनकी कथा नही करता उसीके मन, वचन, काय और कृत कारित अनुमोदनाके भेदसे नौ प्रकारका ब्रम्हचर्य होता है । जिन शासनमे शीलके अठारह हजार भेद कहे है, जो इसप्रकार है- स्त्री दो प्रकारकी होती है, अचेतन और चेतन । अचेतन स्त्री के तीनप्रकार है - लकडीकी, पत्थरकी और मिट्टीके रग वगैरह से बनाई गयी । इन तीन भेदोको मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना इन जेसे गुणा करनेपर १८ भेद होते है। उनको पाच इद्रियोसे गुणा करनेपर १८ x ५ = ९० भेद होते है । द्रव्य और भावसे गुणा करनेपर ९० x २ = १८० भेद होते हैं । उनको क्रोध, मान, माया और लोभसे गुणा करनेपर १८० x ४ = ७२० भेद होते है । चेतन स्त्रीके भी तीन प्रकार है । देवागना, मनुषीनी और तिर्यचिनि । इनको कृत कारित अनुमोदनासे गुणा करनेपर ३ x ३ = ९ भेद होते है । इन्हे मन, वचन कायसे गुणा करनेपर ९ x ३ = २७ भेद होते है । उन्हे पाच इद्रियोसे गुणा करनेपर २७ x ५ = १३५ भेद

होते है । इन्हे द्रव्य और भावसे गुणा करनेसे १३५ x २ = २७० भेद होते है । इनको आहार, भय, मैथून और परिग्रह इन चार सज्ञाओसे गुणा करनेसे २७० x ४ = १०८० भेद होते है । इनको अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, सज्वलन, क्रोध, मान, माया लोभ इन सोलह कषायोसे गुणा करनेसे १०८० x १६ = १७२८० भेद होते है । इनमे अचेतन स्त्री के सातसो बीस भेद जोड देनेसे अठारह हजार भेद होते है । ये सब विकारके भेद है । इन विचारोको त्यागनेसे शीलके अठारह हजार भेद होते है । इन भेदोको दूसरे प्रकारसे भी गिनाया गया है । मन, वचन और काय योगको शुभ मन, शुभ वचन और शुभ कायसे गुणा करनेपर ९ भेद है । उन्हे चार सज्ञाओसे गुणा करनेपर ९ x ४ = ३६ भेद होते है । उन्हे पाच इद्रिओसे गुणा करनेपर ३६ x ५ = १८० भेद होते है । उन्हे पृथ्वीकायिक, जलकायिक, वायुकायिक, प्रत्येक वनस्पति, साधारण वनस्पति, दो, ती चौ, पचेद्रिय जीवोकी रक्षा रूप दससे गुणा करनेपर १८०० भेद होते है । और उन्हे उत्तम क्षमा आदि धर्मोसे गुणा करनेपर अठारह हजार भेद होते है । १८०० x १० = १८००० । शील सहीत मरनाही श्रेयस्कर है –

**शीलेनापि मर्तव्यं निःशीलेनाप्यवश्यंमर्तव्यम् ।**
**यदि द्वाभ्यामपि मर्तव्यं वरं ही शीलत्वेनमर्तव्यम् ।**

व्रतोको निरतीचार पालन करना यह शीलका अर्थ है । जो शीलयुक्त है तथा जो शीलरहीत है ऐसे दोनोको यद्यपि मरण प्राप्त होता है तो भी शीलसहित मरण सद्गतिदाता है और शीलविरहीत मरण ससारका हेतु है ऐसा समझकर क्षपकको व्रतोको रक्षण करते हुए प्राणत्याग करना चाहिए अर्थात् सशील मरण ही श्रेयस्कर है ।

हिसादिक पापकार्यको त्यागता है उसके ८,४०,०० यह गुण कैसे है सो कहते है । - २१ x ४ x १०० x १० x १० x १० = ८,४०,००० १) प्राणियोकी हिसा करना, २) झूठ ३) चोरी ४) मैथुन ५) परिग्रह रखना और कषाय, १० भय, अरति, जुगुप्सा, मनकी

चचलता, कायकी चचलता, मिथ्यादर्शन, प्रमादपैशून्य, अज्ञान ओर पचेद्रिओका निग्रह न करना वे समस्त दोषोको उत्पन्न करनवाले प्राणी हिंसादिक इक्कीस दोष हे । प्रतिक्रमण, व्यतिक्रमण, अतिचार ओर अनाचार ये चार अतिक्रम आदिदोष कहलाते हैं । जो जितेद्रिय पुरुष इन दोषोका त्याग कर देते हे उनके व्रतादि धर्मकी वृद्धि करनेवाले वे गुण हो जाते हे । पहले जो हिसाका त्याग आदि इक्कीस गुण बतलाए हैं उनके साथ इन चार अतिक्रमादि के त्यागसे गुणा कर देनेसे गुणोके चोरासी हो जाते हैं । २१ x ४ = ८४ । पृथ्वीकायिक आदि दस भेद हो जाते है । इनका परस्पर गुणा कर देनेसे दसप्रकारके प्राणी ओर उनकी दस प्रकारकी विराधना इन दोनोको परस्पर गुणा कर देनेसे सा भेद हो जाते हैं । १० x १० = १०० । पहले उत्तर गुणोमे चोरासी गुण बतला चुके है । उनको इन सोसे गुणा कर देनेसे चोरासी सो भेद हो जाते हैं । ८४ x १०० = ८४०० । स्त्रीयोकी सगति आदि दस दोष ब्रम्हचर्यकी विराधना करनेवाले दोष हे । चोरासी सो भेद बतलाए हे उनसे इन दस को गुणाकर देनेसे गुणोको चोरासी हजार भेद हो जाते हे । ८४०० x १० = ८४००० । आकपित, अनुमानित, अदृष्ट, बादर, सूक्ष्म, प्रच्छन्न, शब्दोकुलित, बहुजन, अव्यक्त, तत्सेवी ये दस पाप उत्पन्न करनेवाले आलोचनाके दस दोष है । ऊपर चौरासी हजार गुण बतला चुके है । इनके साथ इन दशका गुणा देनेसे आठ लाख चालीस हजार गुण हो जाते है । ८४००० x १० = ८४०००० । मन वचन कायकी शुद्धतापूर्वक आलोचना करना, प्रतिक्रमण करना दोनो करना, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, स्वदीक्षाका छेद, मूल परिहार और श्रद्धान ये दश समस्त व्रतोको शुद्ध करनेवाले प्रायश्चितके भेद होते है । ऊपर जो आठ लाख चालीस हजार गुणोके भेद बतलाए है, उनके साथ इन दससे गुणा करनेपर चौरासी लाख गुण हो जाते है । ये सब गुण मुनियोके समस्त दोषरूपी शत्रुओको नाश करनेवाले है । और मुक्तिके कारण है ।

(८,४०,००० x १० = ८४,००,००० ।) यदि कोई नग्न साधु वा एक कौपीनमात्र रखनेवाले ऐकल वा क्षुल्लक कहीपर क्रोध करता है तो भगवान जिनेद्रदेव उस पापीको चाडालसे भी नीच समझते है । इस ससारमे क्रोधके समान मनुष्योका (मुनि) अन्य कोई शत्रु नही है । क्योकि यह क्रोध इस लोकमे भी समस्त अनर्थोको करनेवाला और अशुभ वा पाप उत्पन्न करनेवाला है और परलोकमे भी सातवे नरकतक पहुँचानेवाले है । इसप्रकार अनेक दोष उत्पन्न करनेवाले और अत्यत दुर्जय ऐसे क्रोधरूप शत्रुको तपस्वी लोग मोक्ष प्राप्त करनेके लिए अपनी शक्तिसे क्षमादिरूप तलवारके द्वारा नाश कर डालते है ।

**ब्रम्हचर्य महाव्रतके दोष**

स्त्रियोकी योनिमेसे सदा रुधिर, मूत्र रहता है । इसलिए वह दुर्गंधमय, अत्यत घृणित और नरकके घरके समान असार समझी जाती है । उसमे भला सज्जन लोग कैसे अनुराग कर सकते हैं ? अर्थात् कभी नही ।

कर्मभूमिकी समस्त स्त्रीयोकी योनिमे, नाभीमे और दोनो स्तनोके मध्यभागमे सूक्ष्म और अलब्ध पर्याप्तक मनुष्य सदा उत्पन्न होते रहते है । उन समस्त प्रदेशोमे लिग वा हाथका स्पर्श होता है । उस स्पर्शसे वह सब जीवोकी राशी मर जाती है, ऐसा भगवान जिनेद्रदेवने अपने आगम मे बतलाया है । इसलिए इसको नही करना चाहिए क्योकि यह मैथुनकर्म मुनिश्वरोके द्वारा निदनीय है । नरकके दु खोका कारण है, समस्त पापोकी खान हैं और कुमार्गमे ले जानेवाला है ।

जो लोग केवल कामके सतापको शात करनेके लिए मैथुन सेवन करते है उन्हे बैल समझना चाहिए । वे लोग जलती हुई अग्निका तेलसे बुझाना चाहते हैं ।

**प्रतिक्रमण** . व्यवहार मे प्रतिक्रमण गत दोषो के दूर करने के लिये उनका मनन रूप तथा अपनी निंदा रूप है । निश्चय से निज

स्वभाव मे तन्मय रूप है । जो कोई वचनोकी रचना को छोड़ तथा राग द्वेष भावोको निवारण कर अपनाही शुद्ध आत्माको ध्याता है उसके प्रतिक्रमण होता है । जो ज्ञानी पुरुष सर्व पर द्रव्योंके आलबन से रहित होकर, सर्व प्रकारकी इच्छाओको रोककर व्यवहार रत्नयत्र मे सावधान होता हुवा, निश्चय रत्नत्रय जो की वास्तव मे शुद्धात्माका श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र रूप है और साक्षात् आत्मानुभव स्वरूप है, उसमे निश्चलता पूर्वक तिष्टता हुआ अपने शुद्धात्माको ध्याता है, वह वास्तव मे प्रतिक्रनण रूप है । क्योकि वह पूर्व मे वॉधे हुये समस्त कर्मोसे रागद्वेष वुद्धि का त्याग कर देता है । ये ही निश्चय प्रतिक्रमण है ।

**प्रत्याख्यान** : प्रत्याख्यान नाम त्याग का है । व्यवहार मे भोजन त्याग, विषय सेवन त्याग, कषाय त्याग आदिको प्रत्याख्यान कहते हैं । निश्चय से जब यह आत्मा अपने शुद्ध आत्म स्वरूप मे आरूढ होता है, और उसके रस मे भीग जाता है तब ही प्रत्याख्यान होता है । क्योकि उस समय आपसे ही सब रागद्वेषादि विभाव भाव छूट जाते है । इसप्रकार निश्चय प्रत्याख्यान शुद्ध स्वरूप का अनुभव ही है. वह चितन करता है जैसे अपने शरीरसे वस्त्र भिन्न है, वैसेही यह सर्व उपाधिजनित कर्म सबधसे उत्पन्न होनेवाले रागादि भाव भी मेरे शुद्धात्म स्वभाव से सर्वथा भिन्न है । यद्यपि व्यवहारनय से आगामी दोषोके न करने की प्रतिज्ञा ही, तथा दृढ सकल्प ही प्रत्याख्यान है । परन्तु निश्चय से अपने शुद्धात्म स्वरूप के श्रद्धान ज्ञान तथा अनुभव जो अभेद रत्नत्रय स्वरूप है, वही प्रत्याख्यान है । तथा जो पुरुष आगामी काल सबधी सर्व ही शुभाशुभ भावोको और कर्मोंको दूर कर अपने शुद्ध आत्माका ही ध्यान करता है उसको ही निश्चय प्रत्याख्यान कहा जाता है ।

**आलोचना** · प्रमादवश लगे हुए दोषोको गुरु के पास जाकर निष्कपट रीतिसे कहना आलोचना है । जो मुनि अपने आत्मा को नोकर्म, द्रव्य कर्म तथा विभाव भावकर्म और पर्याय रहित ध्याता है,

उसके निश्चय आलोचना कही जाती है। जो मुनि वर्तमान मे उदय आये हुए कर्मोको अपने शुद्ध आत्मस्वरुप से भिन्न अनुभव करता है तथा अपने अभेद रत्नत्रय मे तन्मय होता है उसीके निश्चय आलोचना होती है तथा भाव और भाववान प्रदेशोकी अपेक्षा एक ही है, इसप्रकार वह आलोचना करनेवाला मुनि स्वय आलोचना स्वरूपही है। शुद्ध आत्म स्वरूप का श्रद्धान ज्ञान करके जो अपने शुद्ध स्वरूप मे लीन होता है, उसके निश्चयसे प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना वह चरित्र सब है।

**समाधि** : जो कोई अपने वीतराग भाव द्वारा वचनोच्चारण को त्याग कर अपनी आत्माको ही ध्याता है, उसको समाधि परम समाधि कही जाती है। जब उस एक मुनि शुद्धात्माके ही सम्यक श्रद्धान और ज्ञान के साथ शुभ और अशुभ समस्त आत्माके बारह भावना और छह द्रव्योका आलबन त्याग कर वीतराग धर्म-ध्यान और शुल्क-ध्यान मे निश्चलतापूर्वक तिष्टता है तो उसका निर्विकल्प समाधि भाव उत्पन्न होता है। यह समाधि भाव बहुत ही दुर्लभ है।

**सामायिक** : जो कोई राग द्वेष तथा अन्य विकार परिणामोको न करके अपने ही निज शुद्ध चिदानद रूप आत्मा मे रमण करता है, उसके सामयिक होती है। वास्तवमे प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना समाधि और समायिक यह सब ही आत्मा के निज शुद्ध आत्म स्वरूप मे रमण करनेका ही नाम है। ये सब प्रतिक्रमण आदि इन बारह भावनाओके चिन्त्वनसे ही होते है। इनसे कर्मो की निर्जरा होती है। जो मुमुक्षु हैं उन्हे चाहिये कि वे सब सकल्प को छोड अपने शुद्धात्म स्वरूप मे लीन होवे। जो भी महात्मा अनादि कालसे लेकर आज तक मोक्ष गये हे, वे सब इन ही बारह भावनाओका चित्वन करके सिद्ध पदको प्राप्त हुवे है। इन भावनाओ का चित्वन करे बिना स्वात्म तल्लीनता नही होती है। उन्हे मोक्ष नही मिलेगी, इसीलिये जादा कहने का क्या प्रयोजन ?

यह सव इन्ही अनुप्रेक्षाओ का फल और महात्म्य जानो-एसी विचित्र महिमा इन भावनाओके चिन्तवन की है। जो भव्य जीव शुद्ध मन से शुद्ध करके इनका चित्वन और मनन करता है वह परम निर्वाण पदको प्राप्त होता है।

वे वैराग्य भावको उत्पन्न करके रागादिक विकल्पोके समूह को छोडकर आत्मा के शुद्ध स्वरूप को ध्यावे और विकारोपर दृष्टि न रक्खे। जब यह ज्ञानी सम्यकदृष्टि सव कल्पनाओको त्याग कर निर्विकल्प दशा मे लीन रहता है, तो उसी समय शुद्ध पारिणामिक भावको भाता हुआ उपादान वीर्य की प्रगटता से कार्य समयसार हो जाता है ये ही उसका ध्येय है।

## सारांश

ये द्वादश अनुप्रेक्षा अर्थात वारह भावनाये ही प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण आलोचना तथा समाधि रूप है, इसलिये निरतर इन अनुप्रेक्षाओका भावना भावनी चाहिये। यदि अपने मे आत्मशक्ति होवे तो रात्र-दिन प्रत्याख्यान आदि की आलोचना करो। अनादि कालसे लेकर आज तक जितने महान पुरुष मोक्ष गये है, वे इन बारह भावनाओकी बार-बार भलेप्रकार भावना करके गये है, इसलिये इन बारह भावनाओको सम्यक् प्रकार बार-बार नमस्कार करता हूँ।

इस विषयमे बहुत प्रलाप करने से क्या लाभ ? जितने भी महान पुरुष भूतकाल मे सिद्ध हुये हे और भविष्य मे जितने भी भव्य जीव सिद्ध पदको प्राप्त होगे वह सब इन भावनाओका ही महात्म्य जानो। इस प्रकार निश्चय तथा व्यवहारनय पूर्वक इन बारह भावनाओका स्वरूप मुनियोके नाथ श्री कुन्द कुन्द आचार्य देवने कहा है, जो प्राप्त होता है। अब मै इन भावनाओ के, स्वरूप के कथन को समाप्त करते हुए बताता हूँ कि, जो इन बारह भावनाओके स्वरूप को व्यवहार तथा निश्चय दोनो दृष्टिसे चिन्तवन करता है, वह पाप बुद्धि को त्याग देता

है, ससार और देह के भोगोसे विरक्त हो जाता है । यह बारह अनुप्रेक्षा वैराग्य की जननी ही है । इन भावनाओके चितवन से ससार शरीर तथा निज आत्मा का शुद्ध चिदानन्द स्वरूप ऑखो के सामने साक्षात् झलकने लगता है । आत्मोन्नति के लिए इन भावनाओ का चितन आवश्यक है । तीर्थकर भगवान भी इन का चिन्तवन किया करते है । प्रत्येक सम्यक् दृष्टी को इनका चितन सम्यक् प्रकार करना चाहिये । एक मुमुक्ष को मोक्ष मार्ग मे दृढता पूर्वक आरूढ करने मे ये एक प्रबल कारण है । जो इन बारह भावनाओको भाते है, उनकी समाधि हुआ करती है । अनादि कालसे आज तक जो भी मोक्ष गये है, वे इन्ही बारह भावनाओ के चितन का महात्म्य और फल है । जिनके हृदय मे अपने आत्म कल्याण की सच्ची लगन है वे रात्रि-दिन इनका मनन किया करे । इनके चिन्तन से समता भाव जागृत होगा, निज, पर का विवेक होगा, भेदविज्ञान की प्राप्ति होगी, मोहान्धकार का नाश होगा, ज्ञान की प्राप्ति होगी, कर्मोकी सवर और निर्जरा होगी, स्वात्मानुभव के साथ स्वात्मताकी तल्लीनता भी होगी, परपराय से परमात्म पद की प्राप्ति होगी ।

जो पुरुष गुरु आदि के वचनोको भले प्रकार श्रवणकर और शास्त्रोका भले प्रकार अभ्यास कर शुद्धात्माका चितवन करता है, उसे क्रमसे शुद्धात्म स्वरूप का चितवन-ध्यान कहा जाता है । किन्तु जो पुरुष भगवान जिनेन्द्र के शास्त्रो के तात्पर्य मात्र को बतलानेवाला गुरु वचनो को श्रवणकर अभ्यास नही करता, बार-बार शास्त्रोका मनन, चितवन नही करता और अर्थ नही समझता है, उसको तो शुद्धात्मस्वरूप की प्राप्ति कभी नही होती ।

अतमे ग्रथकार ग्रथ के निर्माण का कारण बतलाते हे कि, 'यह जो मैंने ग्रन्थ बनाया है वह किसी प्रकार के लाभ, मान, कीर्ति, पूजा, यश बढाई आदि की इच्छा से नही बनाया हे, किचित मात्र भी ऐसी

इच्छा नही है, नहीं है, नही है । प्रेमसे, ग्रन्थोके आधार से इस ग्रन्थ को निर्माण किया है, जो धर्मक प्रेमसे रहनेवाले भव्य प्राणी बारह भावनाओका मेरा चिंतवन के जेन मुक्ति भारती के समुद्र म प्रवेश कर उत्तम क्रीडा को अवश्यही अवगाहन (ग्रहन) करेगे । वे स्वर्ग आदिके सुखो को भोगकर मोक्ष सुखको प्राप्त होगे । स्वर्ग सुख भागने के बाद उन्हे मोक्ष सुखकी प्राप्ति अवश्य ही होगी । मरी कामना यह है की, इस ग्रन्थ को आत्म प्राप्ति के लिये निर्माण किया हूँ ।"

---

# बंध के नियम

| | | |
|---|---|---|
| १) मिथ्यात्व प्रधानतासे | - १६ | प्रकृतियो का बध होता है। |
| २) अनन्तानुबन्धी कषाय उदय जनित अविरति से | - २५ | " " " " " |
| ३) अप्रत्याख्यानावरण कषाय उदय जनित अविरति से | - १० | " " " " " |
| ४) प्रत्याख्यानावरण कषाय उदय जनित अविरति से | - ४ | " " " " " |
| ५) सजलन के तीव्र उदय जनित प्रसाद से | - ६ | " " " " " |
| ६) सजलन और नो कषाय के मन्द उदय से | - ५८ | " " " " " |
| ७) योग से मात्र एक साता वेदनीय का बन्ध है। | - १ | " " " " " |
| इस प्रकार मिथ्यात्व अविरति प्रमाद कषाय योग की प्रधानता से कुल | -१२० | " " " " " |

— ● —

आहारक शरीर और आहारक अगोपाग का बध मात्र ७ वे गुण स्थान मे होता हे। ३ रे गुणस्थान मे किसी भी आयु का बध नही होता हे। ना ही मरण होता हे।

— ◆ —

## १४८ कर्म प्रकृतियो में मात्र १२० कर्म प्रकृतियॉ किस प्रकार से वन्ध योग्य कही हे ।

नाम कर्म की ५ सघात आर ५ वधन प्रकृति का ५ शरीर के साथ अविनाभाव सम्वन्ध होता हे । अत ५ शरीर नाम कर्म मे ही ५ सघात ओर ५ वधन को गिन लिया जाता ह । इसप्रकार
(५ सघात + ५ वधन + ५ शरीर = १५ प्रकृति) १५ प्रकृति को न लेकर ५ शरीर प्रकृति को लिया जाता ह । १० प्रकृति कम हो गई हे ।

इसी प्रकार ८ स्पर्श ५ रस, ५ वर्ण, २ गध, कुल २० प्रकृति को न लेकर मात्र स्पर्श रस वर्ण गध = ४ प्रकृति
१ १ १ १
को ही लिया जाता हे । अत २० प्रकृति यो मे से १६ प्रकृति ये कम कर दी गई हे ।

सम्यक्त्व मिथ्यात्व (मिश्र) ओर सम्यक्प्रकृति का बध नहीं होता हे । ये बध योग्य प्रकृति नही हे । अत २ प्रकृति दर्शन मोहनीय की कम हो गई है । १४८ कर्म प्रकृतियो मे इस तरह १० + १६ + २ = २८ प्रकृति कम करने पर १२० प्रकृति होती है ।

— ◆ —

## अनादि सादी, ध्रुव अध्रुव ये चार प्रकार के बंध होते है ।

महाबध २७०/१४५ /२

**अल्पतर बंध** - बहुत का बध करके अल्प का बध करना अल्पतर बध है ।

**मुजगार बंध** - प्रथम समय मे अल्प बध करके अनन्तर बहुत का बध करना मुजगार बध है ।

**अवस्थित बध** - वर्तमान समय मे जिन स्थितियोको बाधता है, उन्हे अनन्तर अतिक्रात समय मे घटी हुई या बढी हुई स्थिति से उतना ही बाधता है । यह अवस्थित बध है ।

| | |
|---|---|
| गो क ८००/९७९ /५ | **युगपथ बंध योग्य सम्बन्धी** - (प्रत्यनीक अन्तराय, उपघात प्रद्वेश, निहव आसादन) ये छहो युगपथ ज्ञानावरण या दर्शनावरण दोनो बध का कारण है । |
| धवला ८/३३/५ | **सान्तर व निरन्तर बंधी प्रकृतयो सम्बन्धी** - (विवक्षित उत्तर प्रकृति के बन्ध काल के क्षीण होने पर नियम से उसी मूल प्रकृति को उत्तर) प्रतिपक्षी प्रकृतियो का बन्ध सभव है । |

— ● —

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| मूल प्रकृति | - | ८ | पुदकल विपाकी प्रकृति | - | ६२ |
| उत्तर प्रकृति | - | १४८ | क्षेत्र विपाकी प्रकृति | - | ४ |
| बन्ध योग्य प्रकृति | - | १२० | भव विपाकी प्रकृति | - | ४ |
| बन्ध अयोग्य प्रकृति | - | २८ | सप्रतिपक्षी प्रकृति | - | ६२ |
| उदय योग्य प्रकृति | - | १२२ | अप्रतिपक्षी प्रकृति | - | ५८ |
| उदीर्ण योग्य प्रकृति | - | १२२ | ध्रुव प्रकृति | - | ४७ |
| सत्ता योग्य प्रकृति | - | १४८ | अध्रुव प्रकृति | - | ७३ |
| पुण्य प्रकृति | - | ६८ | सान्तर बन्धी प्रकृति | - | ३४ |
| पाप प्रकृति | - | १०० | निरन्तर बन्धी प्रकृति | - | ५४ |
| देशघाति प्रकृति | - | २६ | बन्ध प्रकृति | - | |
| सर्वघाति प्रकृति | - | २१ | सत्व प्रकृति | - | |
| घाती प्रकृति | - | ४७ | परोदय से बधनेवाली प्र | - | ११ |
| अघाति प्रकृति | - | १०१ | स्वोदय से बधनेवाली प्र | - | ११ |
| जीव विपाकी प्रकृति | - | ७८ | स्वन्तर-निरन्तर बन्धी प्र | - | ३२ |

**सादीबध** - जिस कर्म के वन्ध का अभाव होकर पुन बध होता हे । उसके बध को सादी वन्ध कहते है । जेसे - ज्ञानावरनी कर्म का बध १० वे गुणस्थान तक होता हे । ११ वे मे (उपशम श्रेणी वालो का) बध का अभाव हे । ओर ११ वे से नीचे गिरने के पश्चात् फिर से ज्ञानावरणीय कर्मो का बध होने लगता हे । तो इस बध को सादी बध कहते हे ।

**अनादि वध** - जिस बध के आदि का अभाव होता हे उसे अनादि बध कहते हैं । जैसे - उपशम श्रेणी पर नही चढ़े हुए मिथ्यादृष्टि जीवो के अनादि वध होता है ।

**ध्रुव बंध** - अभव्य जीवो के वध को ध्रुव बन्ध कहते हे । क्योकि अभव्य के निरन्तर बधनेवाली ध्रुव प्रकृतियोके वध का कभी भी अभाव नहीं होता है ।

**अध्रुव बध** - भव्य जीवो के बध को अध्रुव वध कहते हे । क्योकि उनके बन्ध का अभाव भी पाया जाता है ।

— ● —

**प्रश्न - सान्तर बन्धी प्रकृति किसे कहते है ?**

***उत्तर*** - बन्धकाल बीतने से जिस-जिस प्रकृति की बध व्युच्छित सभव है, वह सान्तर बन्धी प्रकृति है । जैसे - स्त्रीवेद, नपुसकवेद, चार जाती, असातावेदनीय, नरक गति, नरक गत्यानुपूर्वी, आताप, उद्योत, अरति शोक, अन्त के पाच सस्थान, पाच सहनन, अप्रशस्त विहायोगति स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त साधारण, अस्थिर अशुभ, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, अयशकीर्ती ये ३४ प्रकृतियो का निरन्तर बध काल एक समय है । अत ये सान्तर बधी है ।

**प्रश्न - निरन्तर बध और ध्रुव बंध मे क्या अन्तर है ?**

***उत्तर*** - जब तक बध व्युच्छित्ति नही होती तब तक जिन प्रकृतियो के प्रति समय अवश्य बध होता है, उन्हे धृव बधी कहते है । उक्त

सैतालीस प्रकृतियो का बध व्युच्छिति से पहिले प्रति समय सदा निरन्तर बध होता है। किन्तु तीर्थकर और आहारक का बध प्रारम्भ होने के बाद जिन गुणस्थानो मे उनका बध पाया जाता है । उनमे उनका प्रति समय निरन्तर बध होता है । तथा आयु का बध जिस काल मे होना योग्य है, उस काल मे आयुबध होने पर अन्तर्मुहूर्त तक निरन्तर बध होता रहता है । इसलिए इनको निरन्तर बध कहते है।

— ● —

## आत्मा में विकारी भाव दो प्रकार के होते है

| औदयिक भावरूप विकार | उदीरणा भावरूप विकार |
|---|---|
| १ जितनी डिग्री मे घाती कर्म का उदय होता है, उतनी डिग्री मे आत्मा के गुण का नियम से घात होता है । कर्म का उदय कारण है और तद्रूप आत्मा के गुणकी अवस्था होना कार्य है । | जो कर्म सत्ता मे है, जिसका उदय काल अभी आया नही है, ऐसे कर्म को जिस भाव से उदयावली मे लाया जाता है उस भाव का नाम उदीरणा भाव है । उदीरणा भाव मे आत्मा के परिणाम कारण है । और कर्म का उदयवली मे आना ही कार्य है । |
| २ औदयिक भाव मे कर्म की प्रधानता है । | उदीरणा भाव मे आत्मा की प्रधानता है । |
| ३ औदायिक भाव समय-समय पर होता है । और यह भाव ज्ञान की उपयोग और लब्धि रूप अवस्था दोनो अवस्था मे होता है । | उदीरणा भाव असख्यात समय मे होता है और यह ज्ञान की उपयोग रूप अवस्था मे ही होता है । लब्धि रूप अवस्था मे कभी नही होता है । |

| | |
|---|---|
| ४ जहा ओदयिक भाव हे, वहा उदीरणा भाव होवे अथवा न भी होवे । | जहाँ उदीरणा भाव है, वहाँ ओदयिक भाव नियम से है। जसे विग्रहगति म अपर्याप्त अवस्था मे मूर्च्छित व निन्द्रा की अवस्था मे उदीरणा भाव नही ह, परन्तु आदायिक भाव अवश्य ह । |

(ब्र मूलशकर देसाई की तत्वसार' नामक पुस्तक मे से लिखा है ।)

# तत्व

(वास्तव मे तत्व एक ही ह ।)

जीव द्रव्य की अवस्था का नाम तत्व हे । ये सात तत्व ह । पुण्य + पाप ९ भी हो जाते हे ।

१) जीव तत्व - एक मात्र आश्रय करने योग्य है ।

२) अजीव तत्व - जानने योग्य है ।

३) आश्रव तत्व - छोडने योग्य है ।

४) बध तत्व - छोड़ने योग्य हे ।

५) सवर तत्व - एक देश प्रगट करने योग्य हे ।

६) निर्जरा तत्व - एक देश प्रगट करने योग्य है ।

७) मोक्ष तत्व - पूर्ण प्रगट करने योग्य है ।

ये प्रयोजनभूत सात तत्वो का यथार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है ।

**जीव तत्व** - आत्मा का अनादि - अनन्त जो स्वभाव है, उसी का नाम जीवतत्व है । उसी जीव तत्व को ज्ञान धन ज्ञायक स्वभाव, चैतन्य पिण्ड नाम से पुकारा जाता है, इसमे अन्य सभी तत्वो का (अजीव, आश्रव, बध, सवर, निर्जरा और मोक्ष तत्व का भी) अभाव है ऐसे एक मात्र ज्ञायक स्वभाव का नाम जीव तत्व है । वह जीव तत्व मैं हूँ, ऐसे श्रद्धान का नाम सम्यग्दर्शन है ।

जीव तत्व और जीव द्रव्य मे अन्तर है । जीव तत्व मात्र ज्ञायक स्वभाव का नाम है, जिसमे और तत्व नही है । किन्तु जीव द्रव्य मे सभी तत्व (अजीवादि) है ।

**अजीव तत्व** - जीव द्रव्य के साथ मे जो पौद्गलिक सयोग अवस्था है वह अजीव तत्व है । जैसे पाच इन्द्रियॉ, मन बल, वचन बल, काय बल श्वासोच्छवास, औदारिक, वैक्रियक आदि शरीर, समचतुरस्त्र सस्थान, वज्रऋषभ नाराच सहनन आदि रूप, रस, गध, स्पर्श, आदि अजीव तत्व है । आठ कर्मो का समूह अजीव तत्व है । ऐसे अजीव तत्व है । ऐसे अजीव तत्व को जीव तत्व मानना मिथ्यात्व है ।

अजीव तत्व और अजीव द्रव्य मे अन्तर है । जीव द्रव्य के साथ मे जो सयोगी पुद्गल द्रव्य है, वह अजीव तत्व है, क्योकि उसके साथ मे जीव द्रव्य का व्यवहार से जन्म-मरण का सम्बन्ध है । इस प्रकार पुद्गल को, सम्बन्ध की अपेक्षा से अजीव तत्व कहा हे । किन्तु जिसका जीव द्रव्य के साथ मे सम्बन्ध नही है - ऐसे पुद्गल पिण्ड को द्रव्य कहा जाता है ।

**आश्रव तत्व** - आत्मा मे अनेक गुण है, जिनमे एक योग नाम का गुण हे । उस योग नामक गुण की कम्पन रूप अवस्था का नाम चैतन्य आश्रव (भावाश्रव) है ऐसा आश्रव १३ वे गुणस्थान तक रहता है । इस आश्रव के होने मे निमित्त कारण पौद्गलिक मन, वचन व काय हे । १४ वे गुणस्थान के प्रथम समय मे योग नाम वाले गुण की निष्कम्प अवस्था हो जाती हे । तब आत्मा आश्रय रहित शुद्ध होता हे ।

आगम मे जो ५७ प्रकार का आश्रव कहा गया हे, वह निमित्त की अपेक्षा से हे । यथार्थ मे वह आश्रव नही, उसमे से ४२ बध के कारण हे, ओर १५ आश्रव के कारण हे । परन्तु आश्रव नही हे ।

कार्माण वर्गणाऍ का कर्म बनने के कारण आत्मप्रदेशो के नजदीक आना, उसी का नाम जड आश्रव (द्रव्याश्रव) हे ।

**वन्ध तत्त्व** - आत्म मे अनन्त गुण है । उसमे तीन गुणो की विकारी अवस्था का नाम चेतन वध है । (भाववध) श्रद्धा गुण की विकारी अवस्था का नाम मिथ्यादर्शण, चारित्र गुण की विकारी अवस्था का नाम कषाय है और क्रिया गुण की विकारी अवस्था का नाम लेश्या है। इन तीन विकारी परिणतियो का नाम चेतन वन्ध (भाववन्ध) है ।

जो कार्माण वर्गणाएँ आश्रव मे आत्मा के नजदीक आई थी, उस वर्गणा की कर्म रूप अवस्था होकर आत्मा के प्रदेशो के साथ, एक क्षेत्र मे बध जाना उसी का नाम जड़ वध (द्रव्यवध) है । यह प्रकृति प्रदेश स्थिति और अनुभाग, चार प्रकार का है ।

**संवर तत्त्व** - जिस कारण से आत्मा बन्धन मे पड़ती है उस कारण अभाव होना, उसी का नाम चेतन सवर है । मिथ्यात्व का अभाव होना दूसरा सवर है, लेश्या का अभाव होना तीसरा सवर है ।

बन्ध योग्य १२० प्रकृतियो का अश अश मे वन्ध रुक जाना उसी का नाम जड़ सवर (द्रव्य सवर) है ।

(**नोट** - किस प्रकार से क्रमश ये बन्ध का अभाव होता है यह बन्ध के नियम मे ७ नबर दिये है वहा से देखिए ।)

**निर्जरातत्त्व** - मिथ्यात्व का सवर होने के बाद अर्थात् सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होने के बाद अश-अश मे इच्छा का नाश होना, उसी का नाम चेतन निर्जरा (भावनिर्जरा) है । चेतन निर्जरा चारित्र गुण की अश - अश मे शुद्ध अवस्था का नाम है । यह चेतन निर्जरा क्षयोपशम उपशम तथा क्षायक भाव मे ही होता है ।

मिथ्यादृष्टि जीव को चेतन निर्जरा कभी नही होती, क्योकि उसे मिथ्यात्व का सवर नही होता है । मिथ्यादृष्टि राग का नाश करे तो भी उसको पुण्य बन्ध ही पडता है परन्तु भाव निर्जरा नही होती।

जो द्रव्य कर्म आत्मा के साथ मे एक क्षेत्र मे बन्धन मे है, उस द्रव्य कर्म का अश-अश मे आत्मा के प्रदेश से अलग हो जाना, उसी का नाम निर्जरा है । यह सविपाक और अविपाक दो प्रकार है ।

**मोक्ष तत्व** - आत्मा के सम्पूर्ण गुणो की शुद्धता को चेतन मोक्ष कहते है। (भाव मोक्ष)

जो कर्म अनादिकाल से आत्मा के साथ मे बधन मे है, उस कर्म का आत्मा के प्रदेश से अत्यन्त अभाव होकर उसकी कर्म रूप अवस्था मिट जाने को जड मोक्ष (द्रव्य मोक्ष) कहते है।

— ● —

## तत्व का अर्थ -

सर्वार्थसिद्धी - २/१/१५०/११/और ५/४२/३१७/५

धवल - १३/५,५,५०/२८५/११

मोक्ष मार्ग प्रकाशक - ८/८०/१४

तद्भावस्तत्त्व -"**जिस वस्तु का जो भाव है, वह तत्व है।**"
राजवार्तिक २/१/६/१००/२५

**स्व तत्वं स्वतत्वं, स्वभावोऽसाधारणो धर्म** - "अपना तत्व स्वतत्व होता है। स्वभाव असाधारण धर्म को कहते हे।"

**समाधिशतक टीका** - ३५/२३६/ **आत्मनस्तत्वमात्मन·स्वरूपम्** आत्म तत्व अर्थात आत्मा का स्वरुप।

— ● —

**जैनेन्द्रसिद्धान्त कोश से** - प्रयोजनभूत वस्तु के स्वभाव को तत्व कहते हे। परमार्थ मे एक शुद्धात्मा ही प्रयोजन भूत तत्व हे। वह ससार अवस्था मे कर्मो से बन्धा हुआ हे। उसको उस बन्धन से मुक्त करना इष्ट हे। ऐसे हेय ओर उपादेय के भेद से वह दो प्रकार का हे। अथवा विशेष भेद करने से वह सात प्रकार का कहा जाता है। यद्यपि पुण्य ओर पाप दोनो ही आश्रव हे, परतु ससार मे इन्ही दोनो की प्रसिद्धी होने के कारण इनको पृथक निदेष करने से व तत्व नौ हो जाते हे।

# श्री जिन मन्दिर में टालने योग्य (८४) चौरासी आसादन दोष

१ जिन मन्दिर मे कफ-खासना, खकारना थूकना नही ।

२ मल, मूत्र या अपानवायु उतारना नही ।

३ वमन या कुल्ला करना, कराना नही ।

४ ऑख, कान, नाक का मेल उतारना नहीं, निकालना डालना नही ।

५ पसीना तथा शरीर का मेल उतरना, निकालना नहीं ।

६ हाथ, पाव के नख तोड़ना नही ।

७ उबटन-लेपन, तेल-अल्पग तथा इतर लगाना नही ।

८ हाथ पाव या शरीर दबवाना नही ।

९ फस्त (जख्म) खुलाना (ऑपरेशन) ओषधि लगाना या पाव पट्टी (मलहम) पट्टी लेपन सेकन वफारा तथा फोड़े की खाल (खापली) उतारना नही ।

१० पाव-परसार कर बेठना या गुप्त अग दिखलाना नही ।

११ पाव पर पाव रखकर अविनय से (इठलाते हुए) बैठना नही ।

१२ उगली चुटकाना या चटकाना नही ।

१३ आलस्य, छीक, जम्हाई बगैरह लेना नही ।

१४ दिवाल या खम्भे के सहारे टिकना नही ।

१५ शयन करना अथवा बैठे-बैठे ऊँघना नही ।

१६ मन्दिर मे स्नान करना, कराना नही ।

१७ गर्मी मे पखा या रुमाल (वस्त्र) आदि से हवा करना कराना नही ।

१८ शीत मे अग्नि मे (सिगडी आदि) तापना नही ।

१९ कपडा धोती आदि धोना या सुखाना नही ।

२० शरीर मे खाज-खुजली खुजाना नही ।

२१ दन्तमजन तथा दातो मे सीक (काडी) करना नही ।
२२ तखत, कुर्सी, खाट, पलग पर सोना या बैठना नही ।
२३ गद्दी-तकिया लगाकर बैठना नही ।
२४ देव-शास्त्र और गुरु से उच्चासन पर बेठकर शास्त्र वाचना नही ।
२५ छत्र, चवॅर अपने उपर रखवाना नही ।
२६ कमर बॉधकर या कमर मे शस्त्र बॉधकर मन्दिर मे आना नही ।
२७ घर से किसी सवारी पर बैठकर मन्दिर आना नही ।
२८ पादत्राण (जूते या खडाऊॅ) पहिन कर या मौजे व ऊनी वस्त्र पहिन कर तथा सीप या चमडे की वस्तु लेकर आना नही ।
२९ नगे सिर मन्दिर मे आना नही और टोपी या पगडी उतार कर दर्शन करना नही ।
३० मन्दिर मे दाढी-मूछपर ताव देना नही ।
३१ स्त्रीयोको भगवान की मूर्ति स्पर्श न करे, न कराना ।
३२ ईलायची, सुपारी, पान-तम्बाकू, बीडी, लवग, फल बगेरह कुछ भी खाते-पीते मन्दिर मे आना नही ।
३३ भाग, माजम, आदि का नशा करके मन्दिर मे आना नही ।
३४ फूलो की माला, कलगी (मुकुट) लगाकर आना नही ।
३५ मन्दिर मे बेठकर पगडी-साफा बगैरह बॉधना नही ।
३६ मन्दिर मे कुल्ला, भोजन तथा जलपान आदि करना नही ।
३७ ओषधि चूर्ण तथा कोई भी दवाई मन्दिर मे लेना नही ।
३८ विषय वासना बढाने वाले नखरे बहस, वाद-विवाद मन्दिर मे करना नही ।
३९ मन्दिर मे बेठकर शरीर का श्रृगार विलेयन करना नही ।
४० जल के लिये (जल क्रिडा) होलो (रग से पिचकारी न) मन्दिर मे खेलना नही ओर भी क्रीडा करना कराना नही ।
४१ व्याह-शादो की चर्चा करना नहो ।

४२ सगे सम्बन्धी मित्र वगैरह से मिलनी लेना-देना नही ।

४३ कुटुम्बी जनों का मन्दिर म आदर सत्कार करना कराना नही ।

४४ मन्दिर मे जय जिनेन्द्र, मुजरो जुहार करना कराना नही ।

४५ मन्दिर मे राजा, सेठ, श्रीमान आदि किसी का सम्मान करना कराना नही ।

४६ विरादरी सम्बन्धी पचायत मन्दिर मे करना कराना नही ।

४७ लड़ाई, झगड़ा, क्लेश, स्पर्धा, हिड़सा-हिड़सी (जलन कपन) करना कराना नही ।

४८ गाली, भोण्डेवचन, कटुवचन, वहुवचन वोलना नही ।

४९ झूठ वचन, घमण्डित, अप्रिय वचन वोलना नही ।

५० लाठी, मुठ्ठी, शस्त्र का प्रहार करना कराना नही ।

५१ हसी ठट्टा मसकरी करना कराना नही ।

५२ रोना, शोक करना, हिचकी लेना नही ।

५३ स्त्री कथा, भोग कथा आदि करना कराना नही ।

५४ चोपड़, शतरज गज्जीफा, तास (पत्ते) आदि खेलना नही ।

५५ राजा के भय से मन्दिर मे छिपना छिपाना नही ।

५६ गृहकार्य का अथवा लोकिक कार्य का वार्तालाप मन्दिर मे करना नही ।

५७ व्यापार सम्बन्धी बाते मन्दिर मे करना नही ।

५८ ज्योतिष, सामुद्रिक रमल, वैय की नब्ज परीक्षा (नाडी देखना) आदि मदिर मे करना नही ।

५९ मन्दिर मे लेने देने की सौगन्ध (कसम शर्त सौगन्ध) खाना (करना) नही ।

६० दुष्टता व क्लेशादित बातो का चिन्तवन मन्दिर मे करना नही ।

६१ किसी प्रकार की विकथा करना कराना नही ।

६२ चमडा तथा हाथी दात अथवा हड्डी या इनसे बने हुए सामान मन्दिर मे लाना नही ।

६३ हरित्काय के फल-फूल मन्दिर मे लाना या चडाना नही

६४ उधार का लेना देना करना नही ।

६५ रिश्वत-घूस वगैरह लेना देना नही ।

६६ रत्न, रुपया, वस्त्रादिक मन्दिर मे परखना नही ।

६७ घर का द्रव्य तथा कोई भी वस्तु मन्दिर मे रखना नही

६८ मन्दिर मे चढा हुआ द्रव्य मन्दिर या भण्डार मे रखना।

६९ मन्दिर मे निर्माल्य द्रव्य मोल लेना नही ।

७० किसी भी वस्तु का हिस्सा मन्दिर मे करना नही ।

७१ जुआ, होड, शर्त मन्दिर मे लगाना नही ।

७२ वेश्या का नाच, भाडो का नाच तमाशा मन्दिर मे करना

७३ अनबोलते बालक को मन्दिर मे लाना नही ।

७४ तोता, मैना आदि पक्षियो को मन्दिर मे पालना नही

७५ घर के कपडो का व्योत (नाप) या सिलाई मन्दिर मे [illegible] नही ।

७६ गहना, आभूषण मन्दिर मे गढवाना नही ।

७७ मिथ्यात्व वर्धक अश्लील ग्रन्थ मन्दिर मे लिखाना नही ।

७८ राजा या सेठ साहुकारो का छाया चित्र लगाना नही ।

७९ गाय, भैस, वगैरह पशुओ को मन्दिर मे [illegible]

८० पापड, वडो, (पकोडी) आदि मन्दिर (आगन मे बनाना सुखाना नही ।

# सस्कृत व्याकरण मे स्वाहा का अर्थ

**स्वा** · ऋकारान्त स्त्री लिग मे स्वसृ-शव्द से सबोधन करते हुए द्वितीय विभक्ति - तृतिया शव्द स्वसृ का अर्थ स्वता स्त्रवन करना ह ।

स्व - स्वय । आ - आत्मा । स्वा मे अकारीत आ है । इसलिए स्वयम् आत्मा का शव्द निकलता ह ।

**हा .** हा शव्द का अर्थ आकारान्त पुलिगो हा शव्द: से चतुर्थी विभक्ति से प्रथम शव्द हा ह । हा का अर्थ दुख मे आता हे । स्वयम् आत्मा दुखी होता ह ।

**शव्दकोष मे अर्थ**

स्व - स्वता । आत्मा । वि अपन । पु धन ।

स्वत - अ आप ही, अपने से, स्वय ही

स्वस्ति - अकारात - अ आशीर्वाद - सूचक शव्द - भला हो ।

हो - हाइ - अ दुख - सूचक शव्द

स्त्री - पीडा युक्त ध्वनि, स्वाहा - अ हवन के समय प्रयुक्त एक वि नष्ट (स्वाहा करना इ ) स्त्री / स्वीकार करना, यह शव्द वेदिक धर्म मे लिखा हे । अग्नि मे जो सामान डालते हे उसको अग्नि के लिए देव को देवी को स्वीकार करने के लिए ।

नम धातु से चतुर्थी विभक्ति से नम बनता हे । नम का अर्थ नमस्कार होता है ।

निरोपामि - अर्पण करना

इति - समाप्त

वहॉ पर समाप्त कर नमस्कार किया जाता है ।

स्वाहा - शब्द को हिन्दुशास्त्रो मे हवन करते समय - देवी को स्वीकार करने लिए कहा है ।

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिता : सिद्धाश्च सिद्धीश्वरा.
आचार्या जिनशासनोन्नतिकराः पूजा उपाध्यायका· ।

श्री सिद्धान्तुसुपाठक मुनिवराः रत्नत्रयाराधका·
पच्चेते परमेष्ठि प्रतिदिन कुर्वन्तु ते मड्गमलम् ॥ १ ॥

# कर्मो की अवस्था

१ **वन्ध** - नवीन कर्म पुद्‌लगो के आत्मा के साथ बधनेको बध कहते है ।

२ **सत्ता** - अनेक समय मे वधे हुए कर्मों का विवक्षितकाल मे जीव के अस्तित्व होने का नाम सत्व या सत्ता है ।

३ **उदय** - स्थिति को पूरी करके कर्म के फल देने को उदय कहते है ।

४ **उदीरणा** - स्थिति विनापूरी किये ही कर्म के फल देने को उदीरणा कहते है ।

५ **उत्कर्षण** - कर्मों की स्थिति एव अनुभाग के वढ जाने को उत्कर्षण कहते है ।

६ **अपकर्षण** - कर्मों की स्थिति एव अनुभाग के घटने को अपकर्षण कहते है ।

७ **संक्रमण** - जो प्रकृति पूर्व मे वधी थी, उसका अन्य प्रकृति रूप परिणमन हो जाना सक्रमण कहते हे ।

८ **विर्सयोजन** - उपशम व क्षयिक सम्यक्त्व प्राप्ति की विधि मे अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया, लोभ का अप्रत्याख्यानादि क्रोध, मान, माया लोभ से परिणमित होना विसयोजन है ।

९ **क्षय** - कर्मं की आत्यन्तिक निवृत्ती को क्षय कहते है ।

१० **उदयाभावीक्षय** - बिना फल दिये आत्मा से कर्म के सम्बन्ध छूटने को उदयाभावीक्षय कहते है ।

११ **क्षयोपशम** - वर्तमान निषेक मे सर्वघाती स्पर्ध्दको का उदयाभावी क्षय व आगामी काल मे उदय आनेवाले सर्वघाती निषको का सद्‌वस्था रूप उपशम तथा देशघाती स्पर्धको का वर्तमान मे उदय, ऐसी कर्म की अवस्था क्षयोपशम कहते है ।

१२ **अंतकरणरूप** - आगामी काल मे उदय आने योग्य कर्म परमाणुओ उपशम को आगेपीछे उदय योग्य करने को अतकरणरूप उपशम कहते है ।

१३ **सद्वस्थारूप** - वर्तमान समय को छोडकर आगामी काल मे उपशम उदय आनेवाले कर्मो के सत्ता मे रहने को सद्वस्था रूप कहते है ।

१४ **निधति** - जो कर्म उदयावली मे भी प्राप्त न हो सके और सक्रमण अवस्था को भी प्राप्त न हो सके, उसे निधति करण कहते है ।

१५ **निकाचित** - जिस कर्म की उदीरणा, सक्रमण, उत्कर्षण अपकर्षण ये चारो ही अवस्थाए न हो सके, उसे निकाचित करण कहते है।

**करण = जीव के भाव**

## दसकरण कौन-कौनसे गुणस्थानतक होते हैं ?

| | |
|---|---|
| १ बध - १ से १३ गुणस्थान तक | ६ अपकर्षण - १ से १३ गुणस्थान तक |
| २ उदय - १ से १४ गुणस्थान तक | ७ सक्रमण - १ से १० गुणस्थान तक |
| ३ उदीरणा - १ ते १३ गुणस्थान तक | ८ उपशम - १ से ८ गुणस्थान तक (उदीकरण के बिना) |
| ४ सत्ता - १ से १४ गुणस्थान तक | ९ निर्घात - १ से ८ गुणस्थान तक |
| ५ उत्कर्षण - १ से १३ गुणस्थान तक | १० निकचित - १ से ८ गुणस्थान तक |

## संक्रमण के नियम

१) मूल प्रकृतियो मे परस्पर सक्रमण नही होता है । अर्थात् ज्ञानावरणी कभी भी ज्ञानावरण रूप नही होती । उत्तर प्रकृतियो मे ही सक्रमण होता हे । (गो क ४१०) ध पु १६।४०५।१०

२) उत्तर प्रकृतियो मे भी सक्रमण समन्धी कुछ अपवाद होता है । जेसे चारो आयु का परस्पर सक्रमण नही होता है । और दर्शन मोहनीय, चारित्र मोहनीय मे सक्रात नही होती हे ।
(गो क ४१०) ध पु १६।३४१

प्रश्न - कषायो का ओर नो कषायो मे, ओर नोकषायो का कषायो मे सक्रमण किस कारण से होता हे ?

उत्तर -यह कोई दोष नही है, क्योकि दोनो चरित्र मोहनीय हे । अत उनमे परस्पर मे प्रत्यासक्ति पाई जाती हे । इसलिए

उनका परस्पर मे सक्रमण हो जाता है ।

प्रश्न - दर्शन मोहनीय ओर चरित्र मोहनीय ये दोनो मोहनीय है । इस रूप मे इनके भी प्रत्यासत्ती पायी जाती है । अत इनका परस्पर मे सक्रमण क्यो नही किया जाता हे ?

उत्तर -नही, क्योकि परस्पर मे प्रतिक्षेप्यमान दर्शन मोहनीय और चरित्र मोहनीय की भिन्न जाती होने से उनकी परस्पर मे प्रत्यासत्ति नही पाई जाती ह । अत इनका परस्पर मे सक्रमण नही होता ।

(कषाय पाहुड ३/३२२/४११-४१२/२३४/४)

दर्शन मोह त्रिकका स्व उदयकाल मे ही सक्रमण नही होता । (गो क ४११) सम्यक्त्व मोहनीय मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय, तीनो प्रकृति अपने असयतादि गुणस्थानो मे तथा मिथ्यात्व गुणस्थान मे ओर मिश्र मे सक्रमण नही करती हे ।

## प्रकृति और प्रदेश संक्रमण में गुणस्थान निर्देश

सम्यग्मिथ्यादृष्टी (३ रा गुणस्थान) गुणस्थान मे दर्शन मोहनीय का सक्रमण नही होता है । (कषाय पाहुड ३।३, २२।३४८।३८८।१०)

सासादन गुणस्थान मे नियम से दर्शन मोह त्रिकका सक्रमण नही होता है । असयतादि (४-७) मे होता है । (गो क गाथा ४११।५७४)

बध रूप प्रदेशो का सक्रमण भी सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान पर्यन्त है । क्योकि 'बधे अधापवत्ती' इस गाथा (४२९ गाथा) सूत्र के अभिप्राय से स्थिति बध पर्यत ही सक्रमण सभव है । उस अपूर्वकरण गुणस्थान के ऊपर सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान पर्यन्त आदि के सात ही करण होते है । उससे आगे सयोग केवली तक सक्रमण के बिना ६ ही करण होते हैं । (गो क ४४२)

# क्षयोपशम का स्वरूप

**धवला सत्प्ररूपणा से -**

१) कुछ सर्वघाती स्पर्द्धको के उदयाभावी क्षय मे अवशिष्ट सर्वघाती स्पर्द्धको के अनुदय रूप उपशय मे और वेशघाती स्पर्द्धको के उदय से - क्षयोपशम भाव की उत्पति होती है ।

२) कुछ सर्वघाती स्पर्द्धको के उदयाभावी क्षय से अवशिष्ट सर्वघाती स्पर्द्धको के उनुदय रूप उपशम से और किसी कर्म के सर्वघाती स्पर्द्धको के उदय से - क्षयोपशमिक भावो का प्रादुर्भाव होता है।

३) किसी कर्म के कुछ देशघाती स्पर्द्धको के उदयभावी क्षय से उसी के अवशिष्ट देशघाती स्पर्द्धको के अनुदय रूप उपशम से और किसी कर्म के सर्वघाती स्पर्द्धको के उदय से क्षयोपशमिक भाव का उत्पाद होता है ।

४) किसी कर्म के उदय देश स्पर्द्धको के उदयाभावी क्षय से तथा किसी कर्म के उदय प्राप्त सर्वघाती स्पर्द्धको के उदयाभावी क्षय से, उन्ही कर्मो के यथाक्रम देशघाती स्पर्द्धको और सर्वघाती स्पर्द्धको के अनुदय रूप उपशम से और किसी कर्म के सर्वघाती स्पर्द्धको के उदय से क्षयोपशमिक भाव की प्रादुर्भूती होती है ।

**क्षयोपशम का सामान्य स्वरूप** - वर्तमान निषेक मे सर्वघाती स्पर्द्धको का उदयाभावीक्षय व आगामी काल मे उदय आनेवाले सर्वघाती निषको का सद्वस्थारूप उपशम तथा देशघाती स्पर्द्धको का वर्तमान मे उदय । ऐसी कर्म की अवस्था को क्षयोपशम कहते है ।

यह अवस्था १८ प्रकार के क्षयोपशम भावोपर घटित कर लेना चाहिये । क्षयोपशम भाव १८ प्रकार के है । जैसे अवधि दर्शन का क्षयोपशमभाव बनाना हे तो - अवधिदर्शन कर्म के वर्तमान निषेक मे जितने सर्वघाती स्पर्द्धक है उनका तो उदयाभावीक्षय (बिना फल दिये क्षय होना) होता है ओर जो आगे उदय मे आनेवाले हे उन कमो का (सर्वघाती) सद्बस्था रूप उपशम होता हे । इस तरह अवधि दर्शन कर्म के वर्तमान ओर आगामी दोनो का अभाव होता हे । ऐसी

कर्म की अवस्था मे अवधिदर्शन क्षयोपक्षन भाव होता हे ।

**नोट** · अवधीदर्शनावरणीय देशघाती प्रकृति ह, अत इसमे सर्वघाती स्पर्द्धक कैसे होगे ? यह प्रश्न हा सकता ह । तो इसका समाधान है कि देशघाती कर्म मे भी दो प्रकार के स्पर्द्धक होते ह । १) देशघाती २) सर्वघाती

**क्षयोपशम भाव इस प्रकार वनेगे -**

**सम्यक्त्व** - वर्तमान सम्यक्‌मिथ्यात्व, व मिथ्यात्व का उदयाभावी क्षय व आगामी सद्‌वस्थारूप उपशम, वर्तमान सम्यक् प्रकृति का उदय । (अनन्तानुवधी चतुष्टय का भी उनकी सहायक होने से सद्‌वस्थारूप उपशम होता है ।)

**देशचरित्र** - अप्रत्याख्यानावरण का उदयाभावी क्षय व आगामी का सद्‌वस्था-रूप उपशम एव प्रत्याख्यानावरणादि का उदय ।

**सकलचरित्र** - प्रत्याख्यानावरण का उदयाभावी क्षय ओर आगामी का सद्‌वस्थारूप उपशम एव सज्वलन ओर नो कषाया का उदय ।

**चक्षुदर्शन** - चक्षुदर्शनावरण के सर्वघाती स्पर्द्धको का उदयाभावी क्षय व आगामी सद्‌वस्थारूप उपशम ओर देशाघाती स्पर्द्धको का उदय ।

## क्षयोपशम का खुलासा

देशघाती कर्म मे भी दो तरह के स्पर्द्धक होते है । एक सर्वघाती दुसरे देशघाती । जैसे - अविधिज्ञानावरण देशघाती प्रकृति है । इसमे कुछ भाग, सर्वघाती स्पर्द्धको का हे । कुछ भाग देशघाती स्पर्द्धको का हे । किसमे कितना सर्वघाती और देशघाती अश है, इसको समझाने के लिये अनुभाग शक्ति की तीव्रता मदता के उदाहरणो को समझ लेना चाहिये । ऊपर जिन चार घातियो कमो की चर्चा की जा चुकी है उनके परमाणु चार प्रकार की अनुभाग शक्ति लिए हुये है । कुछ तो ऐसे है जो पत्थर के समान कठोरतम अनुभाग शक्ति लिये हुए है, कुछ हड्‌डी जैसी कठोर अनुभाग शक्ति को लिये हुए है । कुछ काठ जैसी कठोर अनुभाग शक्ति लिये है । कुछ लता जैसी कोमल अनुभाग शक्ति को लिए हुये है । इनमे लताभाग से लेकर

काष्ठभाग के अनन्तवे भाग तक देशघाती स्पर्द्धक समझना चाहिये तथा काष्ठभाग के अनन्तभागो मे से एक भाग छोडकर बाकी के बहुभाग से लेकर हड्डी और पत्थर भाग तक के सभी स्पर्द्धक सर्वघाती समझना चाहिए ।

अघातिया कर्मो मे भी प्रशस्त प्रकृतियो का अनुभाग गुड खाड शक्कर और अमृतसमान है । अर्थात् जिस प्रकार इनमे उत्तरोत्तर मिठास है, इसी प्रकार उनके स्पर्द्धक भी अधिक अधिक सुख के कारण है । तथा अप्रशस्त प्रकृतियो का नीम काजिर विष हलाहल के समान उत्तरोत्तर दुख-रूप अनुभाग शक्तिवाले स्पर्द्धक है । इसतरह एक ही देशघाती द्रव्य मे सर्वघाती दोनो जाती के स्पर्द्धक होते हे । जब इनमे से सर्वघाती स्पर्द्धको का उदय रहता है, तब जिस गुण के वे घातक है वह बिलकुल भी प्रगट नही होता है । जैसे - अवधिज्ञान गुण बिलकुल प्रगट नही होगा । हॉ इनका उदय न हो ओर फिर देशघाती स्पर्द्धको का उदय भी रहे तो अवधिज्ञान गुण प्रगट हो जायेगा । इस तरह थोडासा भी गुण प्रगट होने के लिये उसकी घातक सर्वघाती स्पर्द्धकोका का अभाव होना आवश्यक है । वह अभाव दो तरह से ही हो सकता है, या तो उनका क्षय हो या उपशम हो । अत जब आत्मा मे थोडासा भी ज्ञान, दर्शन सम्यक्त्व या चारित्र आदि आदि कोई गुण प्रगट होने लगता है, तब उसके घातक कर्म के स्पर्द्धको की तीन हालाते होती हे । कुछ का क्षय होता हे, कुछ का उपशम होता है, बाकी का उदय बना रहता हे । जिनका क्षय ओर उपशम होता हे, वे सर्वघाती स्पर्द्धक होते हे । ओर जिनका उदय बना रहता है, वे देशघाती स्पर्द्धक होते हे । क्षय भी ऐसा नही की वे उदय मे आकर (फल देकर) झड जाते हे । क्योकि प्रति समय समयप्रबद्ध प्रमाण परमाणुओ की निर्जरा होती रहती हे । यदि वे सब सर्वघाती रूप मे उदय मे आकर ही निर्जीण होतो कभी वह गुण ही प्रगट न हो किन्तु गुण प्रगट होने के लिये निर्जीण होना आवश्यक हे । अत वे सर्वघाती रूप मे बिना उदय मे आये ही निर्जीण हो जाते

है। इसी को शास्त्रो मे उदयाभावी क्षय कहा है। जिनका उपशम होता है, उनके उपशम का इतनाही मतलव है कि वे जब तक उदय काल को प्राप्त नही होते तव तक सत्ता मे ही वैठे रहते है। इसी का नाम सत्तारूप उपशम है। चुपचाप जव उदय मे आने लगते है, तव उदयाभावी क्षय हो जाते है। इस तरह सभी सर्वघाती स्पर्द्धको के उदय मे न आने से (क्षय और उपशम होने के कारण) आत्मा मे सम्पूर्ण गुण प्रकट हो जाना चाहिये किन्तु देशघाती स्पर्द्धको के उदय सदा वना रहता है। अत आत्मा से अपूर्ण गुण का नाम क्षायोपेशमिक गुण है। ओर वह अपने घातक कर्म के क्षयोपशम से पेदा होता है।

## गुणहानि क्या है ? और समय प्रवद्ध से उसका गुणा कैसे होता है ?

.अपने अबाधाकाल काल को बिताकर कर्म का जब उदय होने लगता है, तब उसके सभी परमाणु एकसाथ उदय मे नही आ जाते क्योकि कर्म की जितनी स्थिति है, तब तक उसका रहना (उदीरणा के बिना) अनिवार्य है। अत उसकी स्थिति के जितने समय हे, तब तक प्रतिसमय अपने थोड़े-थोड़े परमाणुओ के साथ उदय आता रहता है। यह समय समय पर उदय आनेवाले परमाणु समुदाय रूप मे निषेक कहलाते है। स्थिति के जितने समय होते है उतने ही उस कर्म के निषेक होते हे, पहले समय मे जितने परमाणु खिरते है, उससे कम दूसरे निषेक मे खिरते है, उससे कम तीसरे मे, उससे कम चौथे मे। इस तरह स्थिति के अतिम समय तक प्रत्येक निषेक मे कम ही कम परमाणु खिरते जाते है। यह उत्तरोत्तर द्रव्य (परमाणुओ) की जो कमी या हीनता पाई जाती है, इसका नाम गुणहानि हे। ये गुणहानि कर्म की स्थिति पूरी होने तक एक नही अनेक होती है। उसका कारण यह है कि द्रव्य मे जो उत्तरोत्तर हीनता होती है, वह कुछ निषको तक एक समान क्रमको लेकर चलती है। इसके बाद दूसरा समान क्रम आगे कुछ निषको तक ्लता है। फिर तीसरा क्रम उसके कुछ आगे के निषेकोतक चलता

है । फिर चौथा, फिर पॉचवा, इस प्रकार अत तक यह क्रम चलता रहता है । जब पहला समान क्रम समाप्त होता है तब प्रथम गुणहानि होती है । जब दूसरा समान क्रम समाप्त होता है तब द्वितीय गुणहानि होती है । इसी तरह तीसरी, चौथी, पाचवी आदि गुणहानि समझना चाहिए यो बहुतसी गुणहानि होती है । और वे सब मिलकर " नानागुणहानि " कहलाती है ।

यहॉ तक समझ लेने के बाद अब देखना है कि, निषेको का उदय कितने परमाणुओ को लेकर किस हीन क्रम से होता है । एक गुणहानि मे कितने निषेक और उनके परमाणुओ की सख्या होती हे । प्रत्येक गुणहानी का द्रव्य और प्रत्येक निषेक के परमाणुओ की सख्या किस प्रकार निकालती है । अत इन बातो को समझने के लिये निम्न सात बातो पर ध्यान रखना चाहिए ।

१) द्रव्य २) स्थिति ३) गुणहानि ४) नानागुणहानि ५) दो गुणहानि निषेक हार ६) अन्योन्याभ्यस्तराशि ७) चय ।

इनमे से गुणहानि और नानागुणहानि को पहले बताया जा चुका है । बध किए हुए समय प्रबद्ध मात्र परमाणुओ की सख्या द्रव्य हे । उसकी स्थिति के अबाधारहित जितने समय व स्थिति है । एक गुणहानि के प्रमाण का दूना दो गूणहानि या निषेकाहार कहलाता हे । नानागुणहानि प्रमाण २ x २ की सख्या रखकर परस्पर गुणा करने से जो गुणनफल हो वह अन्योन्याभ्यस्त राशि है । समान हानि या समान वृद्धी का नाम चय हे ।

**दृष्टांत :**

एक समय मे ६३०० परमाणु मात्र समय प्रबद्ध का बन्ध किया उसकी स्थिति के समय है ४८ । प्रत्येक गुणहानि का प्रमाण हे ८ ओर नानागुणहानि है ६ । दो गुणहानि का प्रमाण हे १६ । अन्योन्याभ्यस्त राशि हे ६४ । यथा –

| द्रव्य - | स्थितिसमय - | गुणहानि - | नानागुणहानि- | निषेकहार- | अन्योन्याभ्यस्तराशि |
|---|---|---|---|---|---|
| ६३०० | ४८ | ८ | ६ | १६ | ६४ |

मतलव यह है कि यह ६३०० द्रव्य छ नानागुणहानियो मे बटा हुआ है। अत प्रत्येक गुणहानि द्रव्य जानने क लिये सबसे पहले अन्तिम गुणहानि का द्रव्य निकालना चाहिए। इसके लिये सम्पूर्ण द्रव्य मे एक कम अन्योन्याभ्यस्त राशि का भाग देने से अन्तिम गुणहानि का द्रव्य निकलता है अर्थात् एक कम अन्योन्याभ्यस्त राशि का प्रमाण ६३ हे। इसका भाग सम्पूर्ण द्रव्य ६३०० मे दिया, तो लब्ध पाय १००। यही अन्तिम गुणहानि का द्रव्य है। इससे दूना-दूना पॉचवी, चोथी, तीसरी आदि गुणहानियो का प्रमाण हे। यथा –

| १ | २ | ३ | ४ | ५ | ६ |
|---|---|---|---|---|---|
| गुणहानि | गु हा | गु हा | गु हा | गु हा | गु हा |
| ३२०० | १६०० | ८०० | ४०० | २०० | १०० |

अन्योन्याभ्यस्त राशि का गुणा अन्तिम गुणहानि के द्रव्य से करने पर $\frac{६४ \times १००}{२}$ = ३२०० प्रथम गुणहानियो के द्रव्य का प्रमाण निकलता है। इससे आधा - २ अन्य गुणहानियो के द्रव्य का प्रमाण समझना चाहिए।

एक कम गुणहानि आयाम के आधे को निषेकहार मे से ही घटाकर और गुणहानि (आयाम) के प्रमाण से गुणा कर पृथक् पृथक् गुणहानि के द्रव्य मे भाग देने से उस गुणहानि के चय का प्रमाण निकलता है। जैसे-

एक कम गुणहानि (आयाम) के प्रमाण का आधा $^{७}/_{२}$ को निषेकहार १६ मे से घटाने पर १२$^{१}/_{२}$ रहे। इसका गुण गुणहानि आयाम ८ से किया तो १०० लब्दा आये १०० का भाग प्रथम गुणहानि के द्रव्य मे कीजिये $\frac{३२००}{१००}$ = ३२ चय का प्रमाण आया। इसी प्रकार

$\frac{१६००}{१००}$ = १६ $\frac{८००}{१००}$ = ८ $\frac{४००}{१००}$ = ४ $\frac{२००}{१००}$ = २ $\frac{१००}{१००}$ = १

द्वितीय, तृतीय आदि गुणनिहायो के चय का प्रमाण समझना चाहिए।

मतलब यह है कि अपनी गुणहानि मे प्रथम निषेक से द्वितीय, तृतीय आदि निषको मे कितना कितना हीन द्रव्य पाया जाता है, उसका प्रमाण जानने के लिये उक्त विधान करना चाहिए। इसके अनुसार पृथक गुणहानि के निषको मे उत्तरोत्तर ३२-३२ परमाणु कम पाये जाते है। दूसरी मे १६-१६ परमाणु कम पाये जाते हे। ओर अन्त मे १-१ परमाणु द्रव्य कम पाया जाता है।

चय और प्रत्येक गुणहानि के द्रव्य का प्रमाण निकाल लेने के बाद प्रत्येक गुणहानि के प्रत्येक निषेक का प्रमाण मालूम करना चाहिए। आर उसको विधि यह हे कि प्रत्येक गुणहानि के चय को निषेकहार से गुणाकर देने पर प्रत्येक गुणहानि के प्रथम निषेक प्रमाण निकलता है जैसे –

[illegible]

| गुणहानि सख्या | चय प्रमाण | निषेक की सख्या (४८) | गुणहानि के द्रव्यो का जोड |
|---|---|---|---|
| ६ गुणहानि | १ | ९<br>१०<br>११<br>१२<br>१३<br>१४<br>१५<br>१६ | १०० |
| ५ गुणहानि | २ | १८<br>२०<br>२२<br>२४<br>२६<br>२८<br>३०<br>३२ | २०० |
| ४ गुणहानि | ४ | ३६<br>४०<br>४४<br>४८<br>५२<br>५६<br>६०<br>६४ | ४०० |
| ३ गुणहानि | ८ | ७२<br>८०<br>८८<br>९६<br>[illegible]<br>[illegible]<br>[illegible]<br>[illegible] | ८०० |
| [illegible] गुणहानि | [illegible] | [illegible] | [illegible] |

| | | | |
|---|---|---|---|
| १<br>गुणहानि | ३२ | २८८<br>३२०<br>३५२<br>३८४<br>४१६<br>४४८<br>४८०<br>५१२ | ३२०० |
| | | ६३००<br>कुल जोड | ६३००<br>कुल जोड |
| खाना न<br>१ | खाना<br>न<br>२ | खाना न<br>३ | खाना न.<br>४ |

दीजिये, तो प्रथम गुणहानि के प्रथम निषेक का प्रमाण ५१२ आ जायेगा। इसी प्रकार द्वितीय गुणहानि के चय १६ का गुणा निषेकाहार १६ से करने पर द्वितीय गुणहानि के प्रथम निषेक का प्रमाण २५६ आ जायेगा। यह २५६ ठीक ५१२ का आधा हे। इसी तरह तृतीय चर्तुर्थ आदि गुणहानियो के प्रथम निषेको का प्रमाण समझना चाहिए यह प्रमाण पूर्व, पूर्व गुणहानि के प्रथम निषेक का विल्कुल आधा होता हे। इन प्रथम निकषो मे अपनी-अपनी गुणहानि के चय का प्रमाण घटाने से प्रत्येक गुणहानि के द्वितीयादि निषेको का प्रमाण निकलता हे। चय घटाते घटाते जब प्रथम निषेक का बिल्कुल आधा रह जाय, तब वह अपने बाद की गुणहानि की प्रथम निषेक हो जाता हे। जेसे प्रथम गुणहानि के प्रथम निषेक का प्रमाण ५१२ था। उसमे ३२-३२ चय घटाईये तो दूसरे निषेक मे ४८० तीसरे मे ४४८, चौथे मे ४१६, पाचवे मे ३८४ छठे मे ३५२ सातवे मे ३२० आठवे मे २८८। अब इसमे से ३२ घटाईये तो २५६ होते है, चूकि ये प्रथम निषेक ५१२ से बिल्कुल आधे है, अत इसमे द्वितीय गुणहानि का प्रथम निषेक कहना चाहिये। अब इसमे से द्वितीय गुणहानि के चय १६ को क्रमश' घटाईये तो, २४०, २२४, २०८, १९२, १७६, १६०, १४४, द्वितीय गुणहानि के निषको का प्रमाण होता है। इस तरह आठ निषको तक घटाते घटाते नवे निषेक मे प्रथम निषेक से आधा द्रव्य रह जाता है। अन्त नवे निषेक से पहले, पहले के निषेक प्रत्येक गुणहानि के समय या निषेक कहलाते है। जिनकी सख्या ८ ऊपर कही जा चुकी है। इसको स्पष्ट समझने के लिये बाजू मे अक रचना की गई है।

इस रचना मे रखा पहले नीचे का खाना गुणहानि का है । उसके ५१२ से लेकर २८८ तक आठ निषेक ह । पहले समय मे ५१२ परमाणुओ का एक निषेक उदय होकर खिर जाता है । फिर दूसरे समय मे ४८० परमाणुओ को दूसरा निषेक, उदय आकर खिर जाता है । फिर तीसरे समय मे ४८८ का तीसरा निषेक, चोथे समय चाथा निषेक (इसी क्रमसे) आठवे समय मे ८ वॉ निषेक २८८ परमाणुओ का खिर जाता हे । प्रत्येक निषेक मे ३ रे ३२ परमाणु कम होते गये है। तह प्रथम गुणहानि के चय क्रमाक है । (वह खाना न ३ मे लिखा है) इस तरह खिरतेखिरते प्रथम गुणहानिके ३२०० परमाणु आठ समय मे खिर जाते है । (अत सबका जोड ३२०० की सख्या खाना न ४ मे लिखी है ।) इसके बाद द्वितीय गुणहानि के निषेक खिरना प्रारभ होता है । चूकि २५६ प्रथम गुणहानि के प्रथम निषेक से ठीक आधे है । अत यह द्वितीय गुणहानि का प्रथम निषेक ह जो नवमे समय मे खिरने वाले परमाणुओकी सख्या है । दसवे समय मे द्वितीय गुणहानि का द्वितीय निषेक के २४० परमाणु खिरते ह । ११ वे समय मे द्वितीय गुणहानि के तृतीय निषेक के २२४ परमाणु खिरते है । इस तरह १६ समय तक द्वितीय गुणहानि मे १६०० परमाणु खिर जाते हे, और प्रत्येक निषेक मे १६-१६ परमाणु कम खिरते ह अत खाना न २ मे १६ ओर खाना न ४ मे १६०० रखे ह । इन दोनो गुणहानियो मे खिरनेवाले परमाणुओ की सख्या का जोड ३२०० + १६०० = ४८०० है । इस तरह ४८ समयो मे छहो गुणहानियो के ६३०० परमाणु उदय मे आकर समाप्त हो जाते है ।

जोड़ ६३०० परमाणु जो कभी एक समय मे वधे थे और ४८ समयो मे जिनकी निर्जरा हुई है । वे भी समय प्रवद्ध प्रमाण ही है ।

इस तरह वध और निर्जरा का प्रमाण सामान्य तथा वरावर होने पर भी दोनो मे वड़ा अन्तर होता है । एक समय प्रवद्ध ४८ समय प्रवद्ध मे विभाजित होकर जो ४८ समय मे खिरा है, उतने मे भी नये ४८ समय प्रवद्धो का और वध हो गया है । क्योकि प्रतिसमय समय प्रबद्ध प्रमाण द्रव्य का वध होता रहता है, अत जिस समय एक समय प्रवद्ध खिरता है, उस समय नया समय प्रवद्ध खिरता है । और बाद मे अपने आवाधाकाल को छोड़कर खिरने लगता है । इस प्रकार समयप्रवद्ध प्रमाण वन्ध और निर्जरा होने पर भी करीव (कुछ कम) डेढ़ गुणहानि गुणित समय प्रवद्ध प्रमाण सदा कर्म परमाणुओ की सत्ता रहती है ।

अधिक स्पष्टता के लिये यो समझिये कि किसी जीवने वर्तमान समय मे समय प्रबद्ध प्रमाण द्रव्य का बध किया और उसमे ५० समय की स्थिती पड़ी । इन ५० समय मे २ समय अबाधाकाल के मान लीजिये बाकी के ४८ समयो मे वह उदय आयेगा । ये दो समय आबाधाकाल के जब तक बीतेगे तब तक उसके दूसरे समय प्रबद्ध का बध हो जायेगा । तीसरे समय से जब पहले समय प्रबद्ध का प्रथम निषेक खिरेगा, तब दूसरे समय प्रबद्ध का आबाधाकाल का दूसरा समय समाप्त होगा । और तीसरे समय प्रबद्ध का बध होगा । चौथे समय मे पहले समय प्रबद्ध की दूसरा निषेक खिरेगा (४६ की सत्ता, सत्ता रहेगी ) दूसरे समय प्रबद्ध का पहले निषेक खिरेगा । (४७ की सत्ता रहेगी) तीसरे समय प्रबद्ध के आबाधाकाल का दूसरा समय समाप्त होगा । (४८ की सत्ता रहेगी) चौथे समय प्रबद्ध का बध होगा । पाचवे समय से पहले समय प्रबद्ध का तिसरा निषेक खिरेगा । (४५ की सत्ता रहेगी) दूसरे समय प्रबद्ध का दूसरा निषेक

खिरेगा, (४६ की सत्ता रहेगी) तीसरे समय प्रबद्ध का पहला निषेक खिरेगा। (४७ की सत्ता रहेगी) चौथे समय प्रबद्ध के आबाधाकाल का दूसरा समय समाप्त होगा। (४८ की सत्ता रहेगी) तथा पाचवे समय, समय प्रबद्ध का बध होगा। इसी प्रकार छटे सातवे आदि समय से लेकर ५० वे समय तक समझना चाहिए। अन्त वे ५० वे समय पहले समय प्रबद्ध का ४८ वा निषेक खिरेगा। दूसरे का ४७ वा निषेक खिरेगा (१ की सत्ता रहेगी) तीसरे का ४६ वा निषेक खिरेगा (२ की सत्ता रहेगी) ४ थे का ४५ वा निषेक खिरेगा ( ३ की सत्ता रहेगी) पाचवे का ४४ वा निषेक खिरेगा (४ की सत्ता रहेगी) इसी प्रकार छठवे की सत्ता ५ सत्ता रहेगी, सातवे की ६ की ही सत्ता रहेगी और उन पचासवे का ४८ की ही सत्ता रहेगी। तथा ५० वे का नया बन्ध होगा। इन सबका जोड कुछ कम डेढ गुणहानि गुणित समय प्रबद्ध प्रमाण होगा। इस डेढ गुणहानि गुणित समय प्रबद्ध प्रमाण परमाणुओ की सत्ता की स्पष्ट समझने के लिये आगे एक त्रिकोण अन्य की रचना देते है।

**प्रश्न** - आबाधाकाल किसे कहते है ?

**उत्तर** - कर्मो का जब बन्ध होता है, तब (बध होने के पश्चात्) कुछ समय उनके पकने मे लगता है। उस समय को आबाधाकाल कहते है। आबाधाकाल मे कर्म, उदय अथवा उदीरणा को प्राप्त नही होता है।

**प्रश्न** - आबाधाकाल का क्या नियम हे ?

**उत्तर** - उदय की अपेक्षा आयु कर्म के सिवाय शेष सात कर्मो की आबाधा कोडाकोडी सागर कि स्थिति मे सो वर्ष प्रमाण होती हे। अत जिस कर्म की स्थिति सत्तर कोडाकोडी सागर प्रमाण बधता हे, उनका आबाधाकाल सात हजार वर्ष हे। जिस कर्म की स्थिति चालीस कोडाकोडीसागर प्रमाण बधती हे, उसकी अबाधा चार हजार

वर्ष है। जिसकी स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागर है, उसका आवाधाकाल तीन हजार वर्ष है। इसी तरह सब कर्मों का स्थिति मे उसका आवाधाकाल जानना। जिस कर्म की स्थिति अन्त कोडाकोडी सागर है, उसका आवाधाकाल अन्तमुहूर्त है।

## गुणस्थानों में जीव की संख्या

१) मिथ्यात्व - अनत जीव
२) सासादन - ५२ करोड़
३) मिश्र - १०४ करोड़
४) अविरत स - ७०० करोड़
५) देशविरत - १३ करोड़

### तीन कम नव करोड मुनियोकी संख्या

६) ५९३९८२०६
७) २९६९९१०३
८)
९) उपशम श्रेणी
१०) ११९६
११)
८)
९) क्षपक श्रेणी
१०) २३९२
१२)
१३) ८९८५०२
१४) ५९८
कुल - ८,९,९,९,९,९,९७

| कर्मो के नाम | बंध | उदय | सत्ता |
|---|---|---|---|
| १) ज्ञाना वरणी कर्म | १ से १० तक | १ से १२ तक | १ से १२ तक |
| २) दर्शना वरणी कर्म | १ से १० तक | १ से १२ तक | १ से १२ तक |
| ३) वेदनीय कर्म | १ से १३ तक | १ से १४ तक | १ से १४ तक |
| ४) मोहनीय कर्म | १ से ९ तक | १ से १० तक | १ से ११ तक |
| ५) आयु कर्म | १ से ७ तक | १ से १४ तक | १ से १४ तक |
| ६) नाम कर्म | १ से १० तक | १ से १४ तक | १ से १४ तक |
| ७) गोत्र कर्म | १ से १० तक | १ से १४ तक | १ से १४ तक |
| ८) अन्तराय कर्म | १ से १० तक | १ से १२ तक | १ से १२ तक |

ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, अतराय की क्षयोपशम व क्षय ये दो अवस्थाएँ होती है । मोहनीय की उदय क्षय उपशम क्षयोपशम चारो अवस्था होती है। वेदनीय नाम, आयु गोत्र, की उदय व क्षय ये दो अवस्था होती है ।

# मंगतराय कृत बारह भावना

### * दोहा *

बदू श्री अरहत पद, वीतराग विज्ञान ।
वरनू बारह भावना, जग जीवन हित जान

### * विश्नुपद छन्द *

कहा गये चक्री जिन जीता भरत खन्ड सारा,
कहा गये वह रामरु लछमन जिन रावन मारा ।
कहॉ कृष्ण रुक्मिणि सतभामा अरु सपत्ति सगरी,
कहा गये वह रगमहल अरु सुवरन की नगरी ।
नही रहे वह लोभी कौरव जूझ मरे रन मे,
गये राज तज पाडव वन को अगनि लगी तन मे ।
मोह नीदसे उठ रे चेतन, तुझे जगावनको,
हो दयाल उपदेश करै गुरु, बारह भावन को ।

### * अथिर भावना *

सूरज चाद छिपे निकले ऋतु फिर फिर कर आवै,
प्यारी आयू ऐसी बीतै पता नही पावै ।
पर्वत पतित नदी सरिता जल बह कर नही हटता,
श्वास चलत यो घटै काठ ज्यो आरे सो कटता ।
ओस बूद ज्यो गलै धूप मे वा अजुलि पानी,
छिन छिन यौवन छीन होत है क्या समझे प्राणी ।
इन्द्र जाल आकाश नगर सम जग सपत्ति सारी,
अथिर रूप ससार विचारो सब नर अरु नारी ।।१।।

## * अशरण भावना *

काल सिंह ने मृग चेतन को घेरा भव वन मे,
नही बचावन हारा कोई यो समझो मन मे ।
मन्त्र सेना धन सम्पति राज पाट छूटे,
वस नही चलता लुटेरा काय नगरी लूटे ।
चक्र रतन हलधर सा भाई काम नही आया,
एक तीर के लगत कृष्ण की विनस गई काया ।
देव धर्म गुरु शरण जगत मे और नही कोई,
भ्रम से फिरै भटकता चेतन यो ही उमर खोई ।।२।।

## * संसार भावना *

जनम मरन अरु जरा रोग से सदा दु खी रहता,
द्रव्य क्षेत्र अरु काल भाव भव परिवर्तन सहता ।
छेदन भेदन नरक पशुगति वध बन्धन सहना,
राग उदय से दुख सुरगति मे कहॉ सुखी रहना ।
भोगि पुण्य फल हो इक इन्द्री क्या इसमे लाली,
कुतवाली दिन चार वही फिर खुरपा अरु जाली ।
मानुष जनम अनेक विपति मय कही न सुख देखा,
पचम गति सुख मिलै शुभाशुभ को मेटो लेखा ।।३।।

## * एकत्व भावना *

जनमे मरै अकेला चेतन सुख दुख का भोगी,
और किसी का क्या इक दिन यह देह जुदी होगी ।
कमला चलत न पैड जाय मरघट तक परिवारा,
अपने अपने सुख को रोवै पिता पुत्र दारा ।

ज्यो मेल मे पन्थी जन मिली नेह फिर [illegible],
त्यो तरुवर पै रैन बसेरा पन्छीं आ करन ।
कोस कोई दो कोस उड़ फिर थक [illegible]
जाय अकेला हस सग मे कोई न पर [illegible]

## * आस्रव भावना *

ज्यो सर जल आवत मोरी त्यो, आस्रव कर्मन का,
दर्वित जीव प्रदेश गहै जव पुद्गल भरमन को ।
भावित आस्रव भाव शुभाशुभ, निशदिन चेतन को,
पाप पुण्य के दोनो करता, कारण वन्धन को ।
पन मिथ्यात योग पन्द्रह द्वादस अविरत जानो,
पचरु वीस कषाय मिले सव सन्तावन मानो ।
मोह भाव की ममता टारे पर परणति खोते,
करे मोक्ष का यतन निरासव, ज्ञानी जन होते ।।७।।

## * संबर भावना *

ज्यो मोरी मे डाट लगावे, तव जल रुक जाता,
त्यो आस्रव को रोके सवर, क्यो नही मन लाता ।
पच महाव्रत समिति गुप्तिकर वचन काय मनको,
दशविध धर्म परीषह बाइस, बारह भावन को ।
यह सब भाव सतावन मिलकर, आसवको खोते,
सुपन दशा से जागो चेतन कहा पड़े सोते ।
भाव शुभाशुभ रहित शुद्ध भावन सवर पावै,
डाट लगत यह नाव पढी मझधार पार जावै ।।८।।

## * निर्जरा भावना *

ज्यो सरवर जल रुका सूखता तपन पडै भारी,
सवर रोकै, कर्म निर्जरा, है सोखन हारी ।
उदय भोग सविपाक समय, पक जाय आम डाली,
दूजी है अविपाक पकावै, पाल विषै माली ।
पहली सबके होय, नही कुछ सरै काम तेरा,
दूजी करै जू उद्यम करके, मिटै जगत फेरा ।

सवर सहित करो तप प्राणी मिले मुकति रानी,
इस दुलहिन की यही सहेली, जानै सब ज्ञानी । ।।९।।

## * लोक भावना *

लोक अलोक आकाश माहिं थिर, निराधार जानो,
पुरुष रूप कर कटी भये षट, द्रव्यन सो मानो ।
**इसका कोई न करता हरता, अमिट अनादी है,**
**जीबरु पुद्गल नाचै यामै, कर्म उपाधी है ।**
पाप पुण्य सो जीव जगत मे, नित सुख दुख भरता,
अपनी करनी आप भरै, सिर औरन के धरना ।
मोह कर्म को नाश मेटकर सब जग की आसा,
निज पद मे थिर होय लोक के, शीश करोवासा ।।१०।।

## * बोधि दुर्लभ भावना *

दुर्लभ है निगोद से थावर, अरु त्रस गति पानी,
नरकाया को सुरपति तरसै सो दुर्लभ प्रानी ।
उत्तम देश सुसगति दुर्लभ, श्रावक कुल पाना,
दुर्लभ सम्यक् दुर्लभ सयम, पचम गुण ठाना ।
दुर्लभ रत्नत्रय आराधन दीक्षा का धरना,
दुर्लभ मुनिवर को व्रत पालन, शुद्ध भाव करना ।
दुर्लभ से दुर्लभ है चेतन, बोधि ज्ञान पावै,
पाकर केवल ज्ञान नही फिर इस भव मे आवै ।।११।।

## * धर्म भावना *

मोह और मिथ्यात्व भावना ने जग को लूटा,
राग-द्वेष अरु जड़-चेतन का यह नाटक झूठा ।

कोई तो खुद पाप करें, सिर करता के लावे,
कोई छिनक कोई करता सो, जग मे भटकावे ।
वीतराग सर्वज्ञ दोष विन श्री जिनकी वानी,
सप्त तत्व का वर्णन जामें, सव को सुखदानी ।
इनका चिंतवन वार वार कर, श्रद्धा उर धरना,
मगत इसी जतन तें इकदिन, भव सागर तरना ।।१२।।

●●●

# श्री दौलतराम कृत बारह भावनायें ।

## (छहढाला से)

### * भावनाओंके चिंतवनका कारण अधिकारी और लाभ *

मुनि सकलव्रती बडभागी, भव-भोगनतै वैरागी ।
वैराग्य उपवान माई, चित अनुप्रेक्षा भाई ।।

### * भावनाओ का फल और शिवसुख प्राप्तिका समय *

इन चितत सम सुख जागै, जिमि ज्वलन पवनके लागै ।
जब ही जिय आतम जानै, तब ही जिय शिवसुख ठानै ।।

### * अनित्य भावना *

जोबन गृह गो-धन नारी, हय गय जन आज्ञाकारी ।
इन्द्रिय-भोग छिन थाई, सुरधनु चपला चपलाई ।।

### * अशरण भावना *

सुर असुर खगाधिप जेते, मृग ज्यो हरि, काल ढले ते ।
मणि मन्त्र तन्त्र बहु होई, मरते न बचावै कोई ।।

### * संसार भावना *

चहुँगति दु ख जीव भरै है, परिवर्तन पच करै हैं ।
सबविधि ससार असारा, यामे सुख नही लगारा ।।

### * एकत्व भावना *

शुभ अशुभ करम फल जेते, भोगै जिय एकहि ते ते ।
सुत दारा होय न सीरी, सब स्वारथके हैं भीरी ।।

### * अन्यत्व भावना *

जल-पय ज्यो जिय तन मेला, पै भिन्न, नहिं भेला ।
तो प्रगट जुदे धन धामा, क्यो है इक मिलि सुत रामा ।।

### * अशुचि भावना *

पल रुधिर राध मल थैली, कीकस वसादितै मैली ।
नवद्वार बहै घिनकारी, अस देह करे किमि यारी ।।

### * आस्रव भावना *

जो योगन की चपलाई, तातै है आस्रव भाई ।
आस्रव दुखकर घनेरे, बुधिवन्त तिन्हैंनिरवरे ।।

### * संवर भावना *

जिन पुण्य पाप नही कीना, आतम अनुभव चित दीना ।
तिनही विधि आवत रोके, सवर लहि सुख अवलोके ।।

### * निर्जरा भावना *

निज काल पाय विधि झरना, तासौ निज काज न सरना ।
तप करि जो कर्म खिपावै, सोई शिवसुख दरसावै ।।

### * लोक भावना *

किनहू न करै धरै को, षट्‌द्रव्यमयौ न हरै को ।
सो लो कमाहि बिन समता, दुख सहै जीव नित भ्रमता ।।

### * बोधिदुर्लभ भावना *

अन्तिम ग्रीवकलौकी हद, पायो अनन्त विरिया पद ।
पर सम्यक् ज्ञान न लाधो, दुर्लभ निजमे मुनि साधौ ।।

## * धर्म भावना *

जो भाव मोहतै न्यारे, दृग ज्ञान व्रतादिक सार।
सो धर्म जबै जिय धारै, तब ही सुख अचल निहार।

## * मुनिधर्म को सुनने की प्रेरणा

सो धर्म मुनिन करि धरिये, तिनकी
ताको सुनिये भवि प्रानी, अपनी अनुभू

### १ अनित्य भावने

अरसर वैभव सुरर विमान
धनयौवन सपदवल
निरतवू नेनेदरे इंद्रिय भोगवु
यदू निल्लदु स्थिरवल्ल।
मेरेयुव कामन बिल्लिन तेरदल्ले
नोडलु मत्तल्लेनिल्ल
स्वात्म स्वभावव साधिसि सज्जन
मुक्तियु कैयोळगिहुदल्ल

### २ अशरण भावने

## ३. संसार भावने

मूजगलि चिर मिथ्या मायेगे
सिलकुत तिरुगुतलिरुत्तहेनु ।
आ जिनदेवन काणदे भ्रमेयलि
कालवनतव कळेदिहेनु ।।
ई जगदलि बरि दु ख व दल्लदे
शाश्वत शातियु वित्तिल्ल ।
भज भव्यात्मने ! भवहर देवन
हुट्टु सावुगळु मत्तिल्ल ।।

## ४. एकत्व भावने

हुट्टु व सायुव समयदि
सगड खडित बरुववरारण्ण ?
बुट्टियटलेनिदे बाळलि गळिसिदे
मेल्लने मरेयदे नोडण्ण ! ।।
बरुवुदु शुभा शुभार्जित कर्मवे
यारिगु यारु जोतेगिल्ल ।
मरदलि सेरिद हक्किगळददि
सेरुवुदगलुवुदिल्लेल ।।

## ५. अन्यत्व भावने

गेहवु नन्नदु देहवु नन्नदु
येन्नुवेया बरि मरुळेल्ल ।
नेहव माडिद वस्तुगळाववु
निन्नोडनेदिगू बरलिल्ल ।।

नीरु हालू सेरिद परियलि
जीव शरिरव बगेयुतिरु ।
नीरनुळिदु बरि हालनेळेव
चिर चित्मय हस नीनागुतिरु ।।

## ६. आशुचित्व भावने

मलमूत्रद कोळे कोनेयलि
सुडगाडिगे बलिया गुवुदु ।
होलसिन देहव नबिदेयादरे
कर्मद कै मेलागुवुदु ।।
परिपरि परिमळ पाकवनेरेदरे
नारुतलिरुवुदु शुचिइल्ल ।
चिर त्रैरत्नामृतदलि तोळेदरे
भवदलि खडित रुचिइल्ल ।।

## ७. आस्रव भावने

मिथ्या अविरती कषाय योगदि
कर्मगळेटवु कूडुववु ।
सत्यासत्यव नडेनुडियददि
सदसत्फलवनु नीडुववु ।।
रद्रव होदिद हडगिन परियलि
मेल्लने नाशव होदुववु ।
ई तेरदलि भव जलधियोळात्मन-
दास्त्रवदलि ता नोदिहुदु ।।

## ८ सवार भावने

हडगिन रद्रव मूव्यल मनुजरु
जलधिय दडवनु सर्वरु ।
कडेगाणद इकर्मद रद्रव
तडेयलु सयम वेर्वरु ।।
आ भव्यात्मने । नीनिरि चिरदिन
व्रत समितिय पालनेयल्लि ।
इ भव दाटलु सवर भावने
सततवु नेलेसलि मनदलि ।।

## ९. नर्जर भावने

विसलिगे नीरदु आरुव तेरदल्लि
तपदलि कर्मवदारुवुदु ।
बसबळि देल्लवु क्षण क्षण क्रमदली
आत्म प्रदेशदि जारुवुदु ।।
मुदिन कर्मव तडेयलु क्रमदि
मेल्लने ता बरिदागुवुदु ।
चददि चितिम निर्जर भावने
मूक्तियु बेगने तोरुवुदु ।।

## १० लोकभावने

नलवत्मरा मून्नूरा रज्जुवु
धनलोकवु पुरुषाकारदलि ।
अलेयुतलेभत्नाल्कु लक्षद योनिय
नानाकारदलि ।।
तत्वबोधेयनू पडेयलिल्लवै
शातियु लेशवू सिगलिल्ल ।
लोकात्यदलि निवासिसुववरिगे
चिरशातियु बहु स्थिरवेल्ल ।।

## ११. बोधि दुर्लभ भावने

भू जल तरु मोदलाकेंद्रिय
बिकलेंद्रिय पचेंद्रियवु ।
निजकुल बलवा जातियरुपवु
शरीर बुद्धियु गुरु गुणवु ।।
उत्तम सपद समाधि कोनेयलि
दुर्लभवेबदु मरेयदिरु ।
सत्तर बदुकुव दारिय तोरुव
श्री जिनचरणव तोरेयदिरु ।।

## १२. धर्म भावने

धर्मवे सिरियदु धर्मवे गुरियदु
निज जिवनदा क्रतियेल्ल ।
मर्मवनरियलु सुरतरु चितामणि-
युदुकावुदू समनिल्ल ।।
अडिगडिगात्मगे सारुतलिरुवरु
गुरुगळु सतत शातियलि ।
कुडिकुडि धर्माम्रतवनु मरेयदि
केडदिरु तिरुगुत भ्रातियलि ।।

## उपसंहार

ई परिद्वादश भावने यिर्पुदू
तीर्थकररिदू भाविपरु ।
भेदाभेदद तत्वदि आत्मन मुक्तिगे,
सेरिसि श्रमिसुवरु ।
भवतनु भोगदि वैराग्यवनी होर्दुत,
मोहव मरेयण्णा ।

महाराज हो तो नाराज, कभी भी नही,
नाराज हो तो महाराज, अभी कभी नही
साधु है जो सच्चा तो, उसे क्रोध न आवे,
क्रोध-यदि आवे, तो वह स्वादु कहावे ।।

* * * * *

## मुक्तक

क्रोध इन्सान को शैतान बना देता है ।
क्रोध दोस्त को दुश्मन बना देता है ।।
अरे क्रोध के वहाव मे वहनेवाले ।
क्रोध गुलशन को भी वीरान बना देता है ।।
जो आत्मचर्चा सुन, झगड़ा करते हैं ।
शान्ति की बात सुन, अशान्ति किया करते है ।
उन्हे क्या समझावे कोई "तरूण" (वयोवृद्ध)
जो विषय भोगोमे ही श्रद्धान किया करते हैं ।।
हो अधिक बुराईयाँ हैवान कहते हैं ।
जो निर्विकारी हो उसे भगवान कहते हैं ।।
जिसका मुख हो भोला, और अन्दर से मन हो काला।
ऐसे महा-मानव को कहते है बेईमानवाला ।।
विवेक के ऊपर से नीचे उतरने पर ही,
वासना इन्सान को शैतान बना देती है ।।
साधना अभिशाप को वरदान बना देती है ।
भावना पाषाण को भगवान बना देती है ।।

* * * * *

गुरुओके नित चरण पड़े हम
पढे-पढ़ावि खिले खाव
ईश-कृपा से मौन उठावे
दे दो हमको यह वरदान
हे भगवान हे भगवान ।।

# जिनवाणी की स्तुति

करो भक्ति तेरी हरो दु ख माता भ्रमण का
अकेला ही हूँ मैं कर्म सब आये सिमटके ।
लिया है मैं तेरा शरण मम माता सकटके
भ्रमावत है मोको कर्म दु खदेता जनमका ।।१।।
दु खी हुआ भारी, भ्रमत फिरता हूँ जगतमे ।
सहा जाता नही अकेले घबड़ाई भ्रमणमे ।
करुँ क्या माँ मेरी चलत बस नाही मिटनका ।।२।।
सुनो माता मेरी अरज करता हूँ दरदमे ।
दु खी मुखू को जानो डरत कर आयो शरणमे ।
कृपा की जे ऐसी दरद मिट जावे मरणका ।।३।।
पिलावे जो ऐसी सुबुधिका प्याला अमृत का ।
मिटावे जो मेरा भवभ्रमका सारे फिरन का ।
पड़े पावो तेरी हरो दु ख भारी फिकरका ।।४।।
मिथ्यातम नाशबेको ज्ञान के प्रकाश बेको
अप्पा पर भास बेको भानु सीव खानी है ।
छहू द्रव्य जानबेकु बन्ध बिधि भानबे कु
स्वपर पिछानबेकु, भव्य उर आनी है ।
जहाँ तहाँ तारबेकु पारके उतारबेकु
सुख विस्तारबेकु ये हि जिनवाणी है ।।६।।

# "जिनवाणी स्तुति"

जिनवाणी मैया तू सबकी है प्यारी

भक्तजनोकी राज दुलारी

श्रमधर मुख से फुलवा खिले है

कुन्दकुन्दस्वामी जिसकी माल गुथे है

गुथी माला हमने पहनी हो-हो-हो- ।।भक्त।।-

तीर्थंकरसा माता-पिता तुम्हारा

गणधर जैसा भैया तुम्हारा हो हो हो

समवशरण माता महल तुम्हारा लोग प्यारा

जिनवाणी मैया तू ।।

लाख चौरासी के चक्कर बहुत हमने खाये

गति चार के भी चक्कर बहुत हमने खाये

क्या क्या सुनाऊ माता हो हो हो

क्या क्या दुखकी कहानी माता लागे प्यारी

जिनवाणी मैया तू ।।

पिला दो वो प्याला हमको कटे कर्म सारा

मनोहारी वाणी तुम्हारी हो हो हो

मनोहारी वाणी तुम्हारी लागे प्यारी प्यारी ।।

जिनवाणी मैया तू ।।

जनम-मरण हमारा मिटा दो वो माता

सेवक तुम्हारे चरणो टके ये माता तुही तारण हारी माताही

जिनवाणी मैया तू ।।

# गोमटेश अष्टक

(ज्ञामोदय छद-लय मेरी भावना)

नाल कमल के दल-सम जिन के युगल-सुलोचन विकसित हैं ।
शशिसम मनहर मुखकर जिनका मुख मडल मृदु प्रमुदित हैं ।
चम्पक की छावि शोभा जिनकी नम्र नासिका ने जीती,
गोमटेश जिन-पाद पद्मकी पराग नित मम मति पीती ।।१।।
गोल-गोल दो कपोल जिनके उजल सलिल सम छवि धारे,
ऐरावत-गज की मूण्डा सम वाहुदण्ड उज्ज्वल-प्यारे ।
कन्धो पर आ, कर्ण पाश ने नर्तन करते नन्दन हैं,
निरालम्व वे नभ सम शुचि मम गोमटेश को वन्दन है ।।२।।
दर्शनीय तव मध्यभाग है गिरी-सम निश्चल अचल रहा,
दिव्यशख भी आप कण्ठसे हार गया वह विफल रहा ।
उन्नत विस्तृत हिमगिरी-सम है स्कद आपका विलस रहा,
गोमटेश प्रभु तभी सदा मम तुम पदमे मन निवस रहा ।।३।।
विध्याचलपर चढकर खरतर तपमे तत्पर हो वसते,
सकल विश्व के मुमुक्षु जन के शिखामणी तुम हो लसते,
त्रिभुवन के सब भव्य कुमुद ये खिलते तुम पूरण शशि हो,
गोमटेश तुम नमन तुम्हे हो सदा चाह बस मन वशि हो ।।४।।
मृदुतम बेल लताएँ लिपटी पग से उरतक तुम तन मे,
कल्पवृक्ष हो अनल्प फल दो भवि-जन को तुम त्रिभुवन मे,
तुम पद-पकज मे अलि बन सुर पति गण करता गुन-गुन हैं,
गोमटेश प्रभु के प्रति प्रतिपल वन्दन अर्पित तन-मन है ।।५।।
अम्बर तज अम्बर-तल हो दिग अम्बर नही भीत रहे,
अबर आदिक विषयन से अति विरत रहे, भव भीत रहे ।
सर्पादिक से घिरे हुए पर अकम्प निश्चल शैल रहे,

गोमटेश स्वीकार नमन हो धुलता मनका मैल रहे ।।६।।
आशा तुमको छू नही सकती समदर्शन के नाशक हो,
जग के विषयन मे वाछा नही दोष भूल के नाशक हो ।
भरत भ्रात मे शल्य नही अब विगत राग हो रोष जला,
गोमटेश तुम मे मम इस विध सतत राग हो, होत चला ।।७।।
काम-धामसे धन कचन से सकल सग से दूर हुए,
शूर हुए मद मोह-मार कर समतासे भरपूर हुए ।
एक वर्षतक एक थान थित्त निराहार उपवास किये,
इसीलिए बस गोमटेश जिन मम मनमे अब वास किये ।।८।।

## दोहा

नेमिचद्र गुरुने किया प्राकृत मे गुणगाण,
गोमटेश स्तुति अब किया भाषा-मय सुखखान ।
गोमटेश चरण मे नत हो बारबार
विद्यासागर फिर बनू भवसागर कर पार ।
।। इति शुभ भूयात ।।

## स्तुति

भगवन् तुम हो महाबली दिखादो मोक्षकी गली
तेरे दर्शन को आया हूॅ बाहुबली
ऋषभ देव के राज दुलारे
माता सुनदा के ऑखोके तारे ।
मानचक्री का न शाया
उसको युद्ध मे हराया
जगमे तुमसा हैं कौंनबली

पितासे बढ़कर पुत्र हुआ है
उनसे पहले उन्हे मोक्ष हुवा है ।
जगमे प्रभु हुए विख्यात
महिमा तेरी कही न जात
रावण से कर ली है आतम उजली ।।भगवन् ।।
न क्रोधी न लोभी, न रागी, न द्वषी
तजके दुनिया को बने वीतरागी
उनको दुनियासे क्या काम
तप कर पहुँचे शिवपुर धाम ।
इसविधि पाई है मोक्ष की गली ।।भगवन् ।।
परम दिगम्बर शात छवि है
ऐसी शान की न मूर्त दिखी है ।
जिनके तनपर नही लगोटा
करमे लिए नही कोई सोटा
वैराग्य की ऐसी न मूर्त दिखी है ।।भगवन् ।।
ध्यान मे मूर्त ऐसी खड़ी है ।
लताये प्रभुपर अनेको चढी हैं ।
सापोने बामी बनाया
फिरभी ध्यान नही हट पाया
ऐसी दुर्धर तपस्या तुमने करी ।।भगवन् ।।
सुनने मे मुझे ऐसा आया
चामुडरायने इसे बनवाया
उनको कौन यहाँ पर लाया
अबतक भेद नही खुलपाया
यह मूरत धरती फोड निकली ।।भगवन् ।।
दर्शनकी अभिलाषा बढी थी ।

आने की पर चाह पडी थी
हम प्रेम के सहारे
भगवन आये तेरे द्वारे
बाधने को प्रेम पोटली ।।भगवन् ।।

# महावीर बोला (मराठी)

बाल ब्रम्हचारी, धर्म तीर्थ राजा
महावीर बोला बोला, महावीर बोला ।।धृ।।
कर्म कैदी आत्मा आमुचा, देह तुरुगात
लाख लाख योनी फिरतो, काळ हा अनत
भव्यभाव ठेवूनि जाऊ, मोक्ष मदिराला ।।महा १
मोह पारध्याचे जाळे, पसरले जगात
भेदज्ञानी होउ आम्ही, हस मूर्तिमत
धर्म पख लावूनि सगळे, तोडू बदिशाला ।।महा २
प्रभू नाम घेता तुटती, बध ससाराचे
प्रभू दर्शनाने फुलते फूल जीवनाचे, जन्मो जन्मी पूज ह्दयी
मुक्तीकान्त बोला। बोला ।।महा ३

# बंधगती

बध गतीला कारण कसले
फलत्याचे कितीनशीबा आले ।।धृ।।
जलात पडता खळ दुर्योधन
द्रौपदी हसली एकच कारण
युद्ध धडे महा-भारत त्यातुन
जन अक्षोहिनी ठार जहाले ।।१।।

ज्ञान सागता सन्मार्गाचे
कमठ तापशी कोपी वनला
वेर धरोनी सात भवातुनी
मरु भूतीना त्याने छळले ।।२।।
भगवताची प्रतिमा झाकून
कनकोदरीन अविनय केला
वनवासातील वावीस वर्षे
भोग अजना देवीस आले ।।३।।
धर्माचरणी क्षण वेचून
सद्गुरु निंदा करता कारण
तीर्थकर जरी बध श्रेणीका
पहिल्या नरकी जाऊन पडले ।।४।।
ससाराच्या कर्दमी पाहुनी
बधगती जो चुकवित चाले
सोन्याहून ते जीवन पिवळे
त्रिभूवन त्याना वदित आले ।।५।।

## कर्म के बन्धसे छुड़ाने के उपाय

मोह जाल मे फॅसे हुये है, कर्मों ने आ घेरा ।
कैसे तैरेगे भव सागर से, तुम बिन कौन हमारा ।।
भूल हुई क्या हमसे भगवान्, क्या है दोष हमारा ।
लिखा विधाता लेकिन घडियॉ, ऐसा लेख हमारा ।।
लेख लिखा था शुभ घडियो का, शुभ घडियॉ है आयी ।
आत्म ज्ञानकी ज्योति जगालो, भव से पार उतरना है ।।
मुनि दिगबर बनते स्वयवर,
कठिन तपस्या करते अचन हो ।।मुनि।।

मिट्टि समझ के अपने बदन को ।
त्यागा है जग सब मुक्ति वरन को ।
छवि निराली सोहे पियारी, कठिन तपस्या करते अचल हो ।
मुनि दिगबर, बनते स्वयवर,
कठिन तपस्या करते अचल हो ।।१।।
माता-पिता सब सगे सम्बधी,
अपनी गरज के गरजी है चन्दी ।
बन के विरागी, ममता भी त्यागी कठिन तपस्या ।।
मुनि दिगबर बनते स्वयवर
कठिन तपस्या करते अचल हो ।।२।।
मिथ्या ममता का अधियारा छाया,
दूर करो गुरु, हम से यह माया ।
मुनि बनालो वस-अन्त सुधरेगा कठिन तपस्या ।
मुनि दिगबर बनते स्वयवर
कठिन तपस्या करते अचल हो ।।३।।

# गुरु - स्तुति

तरणि विद्यासागर गुरु तारो मुझे ऋषीश
करुणाकर करुणा करो, कर से दो आशीष ।।१।।
यही प्रार्थना वीर से अनुनय से कर जोर ।
हरी भरी दिखती रहे धरती चारो ओर ।।२।।
विषय कषाय तजो मजी जरा निर्जरा धार ।
ध्याओ निज को तो मिलते अजरामर पद सार ।।३।।
सभी जीवोपर उपकार मे रहो सदैव विलीन ।
आत्मशाति करना हमे यो कहते जिनदेव ।।४।।

रग रग से करुना झरे दुखी जनो को देख ।
तनमन धनसे तुम सभी पर का दुखनिवार ।।५।।
विना भीती विचरु सदा वन मे ज्यो मृगराज ।
ध्यान धरु परमात्म का निश्चल हो गिरिराज।।६।।
सागर सरिके गभीर मै बनू चद्र सम शान्त ।
रखू न मन मे मान मद रहूं सुन्दरता रा मृदुत्वता ।।७।।
कुन्द कुन्द को नित नमू हृदय-कुन्द खिल जाय ।
परम सुगधित महक मे जीवन मम घुल जाय ।।८।।

# सल्लेखना भजन

दिन रात मेरे स्वामी मै भावना ये भाऊं ।
देहान्त के समय मे तुमको न भूल जाऊँ ।।टेक।।
शत्रु अगर कोई हो सतुष्ट उसको कर दू ।
समता का भाव धरकर, सबको क्षमा कराऊं ।।१।।
त्यागू आहार पानी, औषध विचार अवसर ।
टूटे नियमन कोई, दृढता हृदय मे लाऊँ ।।२।।
जागे नही कषाय नही वेदना सतावे ।
तुमसे ही लो लगी हो दुर्ध्यान को भगाऊँ ।।३।।
आत्म-स्वरूप अथवा आराधना विचारूँ ।
अर्हत सिद्ध साधु रटना यही लगाऊँ ।।४।।
धरमात्मा निकट हो चर्चा धर्म सुनावे ।
वे सावधान रखे, गाफिल न होने पाऊँ ।।५।।
जीनेकी हो न बान्छा मरनेकी हो न इच्छा ।
परिवार मित्र जन से, मै राग को हटाऊँ ।।६।।
भोगे जो भोग पहले उनका न होवे सुमरन ।
मै राज्य सम्पदा या पद इन्द्र का न चाहूँ ।।७।।

# जाग्रत गीत

जागो जागो । वीर जवानो, वीरो की सन्तान हो
कर्मक्षेत्रमे आवो जिससे जैनो का उत्थान हो ।
आज धर्मके लिए सभी तुम अपना जीवनदान दो ।
हुई दशा क्या आज तुम्हारी इसपर अब कुछ ध्यान दो ।
चलो क्रान्ति वह करो कि जिससे जैनो का उत्थान हो ।
जागो जागो
आज जगतमे जैन धर्मका हुआ अचानक ह्रास है ।
इससे तन मन धन से इसका करना तुम्हे विकास है ।
करो क्राति वह जैन जगतमे जिससे स्वर्ण का विहास है ।
जागो जागो

# जीवन कैसा रहना

दीर्घ जीवन लाभ की है यह पहली बात ।
तब जागिये बाकी रहे एक प्रहर रात ।।१।।
एक प्रहर जब रात रहे तब निद्रा तजिये ।
इससे मनमे शाति सौम्यता स्फूर्ति बढेगी ।।२।।
छोड़ मोह आलस इष्ट देवोको भजिये ।
इन्द्रिय गणमे नव प्रफुल्लिता सहज चढेगी ।।३।।
किन्तु यह नियम तबही सुचालित हो सकता ।
रात्रि शयन जब शीघ्र पालित हो सकता है ।।४।।
नौ घन्टे नीन्द पर्याप्त होती बचपन मे ।
किन्तु छह घण्टे आवश्यक है यौवनमे । ।।५।।
इससे कम सोना दोषोका साधक है ।
त्यो सोना ही अधिक स्वास्थ का बाधक है ।।६।।
अपने वशकी बात स्वास्थ को ठीक बनाना ।
उषा-प्रात वायु सेवन से नितनव जीवन पाना ।।७।।

## आत्म-रस मे पीयूष

मेरा तन जिन मन्दिर उसमे, मन कमलासन शोभे सुन्दर ।
उस पर मै ही भगवान स्वय, राजित हूँ चिन्मय ज्योति प्रवर ।।
मै शुद्ध सिद्ध के सदृश हूँ, कर्मोजन का कुछ लेश नही है ।
मै स्वय स्वयभू परमात्मा, मेरा पर से सश्लेष नही है ।।१।।

मै भावकर्म औ द्रव्य कर्म, नो कर्म रहित शुद्धात्मा हूँ ।
मै अरस, अगध, अरु पी हूँ, स्पर्श रहित सिद्धात्मा हूँ ।।
सस्था शरीर, वचन, मन से, विरहित पुद्‌गुल से भिन्न भी हूँ ।
मै आयु श्वासोश्वास रहित, जीवन मरण विमुक्त भी हूँ ।।२।।

मै आधि-व्याधि शोकादि रहित, मद-मोह-विषाद विवर्जित हूँ ।
क्रोधादि कषायो से विरहित, विषयादिक सौख्य असर्जित हूँ ।।
मै निर्मम हूँ, एकाकी हूँ, मेरा अणुमात्र नही कुछ भी ।
मै ज्ञायक एक स्वभावी हूँ, पर मै अनुराग नही कुछ भी ।।३।।

मै वीत मोह, मै वीतराग, मै द्वेष अनुरक्त सहित ना हूँ ।
मै इन्द्रिय सुख औ दुख रहित, विषय-ज्ञान-जनित ना हूँ ।
मै सकल-विमल केवलज्ञानी, परमाल्हादिक सुख-स्वादी हूँ ।
मै चिन्मय मूर्ति अमूर्तिक हूँ, निज सम-रस भाव सुधादि हूँ ।।४।।

मै हूँ अपने मे स्वय सिद्ध, पर की भक्ति का काम नही ।
मे भक्ति से भगवान स्वय, मेरा निज पद शिवधाम सही ।।
मै हूँ अनतगुण पुज अतुल, अविनाशी ज्योति स्वरूपी हूँ ।
मै हूँ अखड चित्पिण्ड परम, आनद सौख्य चिद्रूपी हूँ ।।५।।

## सत्संगति

" सत्संगत्वे निःसंगत्व, निःसंगत्वे निर्मोहत्वम् ।
निर्मोहत्वे निश्चल तत्व, निश्चल तत्वे जीवन्मुक्त " ।।

" पूजा कोटी सम स्तोत्र, स्तोत्र कोटि सम जाप ।
जप कोटि सम ध्यान, ध्यान कोटि सम क्षमा ।।

" नाह जानामि केयूर नाह जानामि कुण्डले ।
नुपूरत्वभि जानामि नित्य पादाभि वन्दनात ।।"

## चोवीस तीर्थकर स्तवन

स्तवन करूँ जिनवर तीर्थकर केवल अनन्त जिन प्रभु का ।
मनुज लोक से पूज्य कर्म मल से रहित माहात्म्यो का ।।
लोकोद्योतक धर्म तीर्थकर श्रीजिन का मै नमन करूँ ।
जिन चोवीस अर्हत व केवलि-गुण का नित गुणगान करूँ ।।१।।

ऋषभ, अजित, संभव, अभिनन्दन, सुमतिनाथ का कर वन्दन ।
पद्मप्रभ जिन, श्री सुपार्श्वप्रभु, चन्द्रप्रभु का करूँ नमन ।।
सुविधि नाम धर पुष्पदत, शीतल, श्रेयास जिन सदा नमूँ ।
वासुपूज्य, जिन, बिमल, अनत, धर्मप्रभु, शातिनाथ प्रणमू ।।२।।

जिनवर कुन्थु, अरह, मल्लिप्रभु, मुनिसुव्रत, नामि को ध्याऊँ ।
अरिष्टनेमि, प्रभु श्री पारस जिन, वर्धमान पद सिर नाऊँ ।।
इस विध सस्तुत विधूत रजोमल, जरा मरण से रहित जिनेश ।
चोबीसो तीर्थकर जिनवर, मुझ पर हो प्रसन्न परमेश ।।३।।

कीर्तित, वदित, महित हुए ये, लोकोत्तम जिन सिद्ध महान् ।
मुझको दे आरोग्य-ज्ञान अरु, बोधि-समाधि सदा गुणखान ।।
चन्द्र किरण से भी निर्मलतर, रवि से अधिक प्रभा भास्वर ।
सागर सम गम्भीर सिद्धगण, मुझको सिद्धी दे सुखकर ।।४।।

## पंच गुरु भक्ति

सुरपति, नरपति, नागेन्द्र मिल, तीन छत्र धारे प्रभु पर ।
पच महाकल्याणक सुख के, स्वामी मगलमय जिनवर ।।
अनन्त दर्शन, ज्ञान, वीर्य, सुख, चार चतुष्टय के धारी ।
ऐसे श्री अर्हत परम गुरु, हमे सदा मगलकारी ।।१।।

ध्यानाग्नि मय बाण चलाकर, कर्मशत्रु को भस्म किये ।
जन्म, जरा अरु मरण रूप-त्रय नगर जला त्रिपुरारि भये ।।
प्राप्त किया शाश्वत शिवपुर को, सिद्ध निरजन नित्य बने ।
ऐसे सिद्ध समूह हमे नित, उत्तम ज्ञान प्रदान करे ।।२।।

पचाचारमयी पचाग्नि मे, जो तप तपते नित रहते ।
द्वादश अगमयी श्रुतसागर मे, नित अवगाहन जो करते ।।
मुक्ति श्री के उत्तम वर है, ऐसे श्री आचार्य प्रवर ।
महाशील व्रत, ज्ञान-ध्यान रत, देवे हमे मुक्ति सुखकर ।।३।।

यह ससार भयकर दुखकर, घोर महावन है विकराल ।
दुखमय सिह व्याघ्र अति तीक्ष्ण, नख अरु दाढ सहित विकराल ।।
ऐसे वन मे मार्ग-भ्रष्ट जीवो को, मोक्षमार्ग के हो दर्शक ।
हित-उपदेशी उपाध्याय गुरु, का मै वदन करूँ सतत ।।४।।

उग्र उग्र तप करे त्रयोदश, क्रिया चरित मे सदा कुशल ।
क्षीण शरीरी धर्म-ध्यान अरु, शुक्ल ध्यान मे नित्य विमल ।।
अतिशय तप-लक्ष्मी के धारी, महासाधु गण इस जग मे ।
महा-मोक्ष-पथ-गामी-गुरुवर, हमको रत्नत्रय निधि दे ।।५।।

इस सस्तव से जन, पच परम गुरु का वन्दन करते ।
वे गुरुतर भव-लता काटकर, सिद्ध सौख्य सपत लभते ।
कर्मेन्धेन के पुज जलाकर, जग मे मान्य पुरुष बनते ।
पूर्ण ज्ञानमय परमाल्हादक, स्वात्म सुधारस को चखते ।।६।।

दोहा अर्हत सिद्धाचार्य अरु पाठक साधु महान ।
पच परम गुरु हो मुझे, भव-भव मे सुखखान ।।

## महावीर सन्देश

विपुलाचल पर दिया गया जो प्रमुख धर्म उपदेश ।। यही ।।
सब जीवो को तुम अपनाओ, हर उनके दुख क्लेश ।
असद्भाव रक्खो न किसी से, हो अरि क्यो न विशेष ।।१।।
वैरी का उद्धार श्रेष्ठ है, कीजे सविधि विशेष ।
वैर छुटे उपजे मति जिसमे, वही यत्न यत्नेश ।।२।।
घृणा पाप से ही पापी से नही कभी लवलेश ।
भूल सूझाकर प्रेम मार्ग से करो उसे पुण्येश ।।३।।
तज एकान्त-कदाग्रह, दुर्गुण, बनो उदार विशेष ।
रह प्रसन्नचित्त सदा, करो तुम मनन तत्व उपदेश ।।४।।
जीतो राग-द्वेष-भय-इन्द्रिय, मोह कषाय अशेष ।
धरो धैर्य समचित्त रहो औ सुख-दुख मे सविशेष ।।५।।
अहकार ममकार तजो जे अवनतिकार विशेष ।
तप सयम मे रत हो, त्यागो तृष्णा भाव अशेष ।।६।।

वीर उपासक बनो सत्य के, तज मिथ्या अभिनिवेश ।
विपदाओ से मत घबडाओ धरो न काया-वेश ।।७।।
सतानी-सदृष्टि बनो, औ तजो मात्र सक्लेश ।
सदाचार पालो, दृढ होकर रहे प्रमाद न लेश ।।८।।
सादा रहन-सहन-भोजन हो, सादा भूषा वेष ।
विश्व-प्रेम जागृत कर उर मे, करो कर्म निशेष ।।९।।
हो सबका कल्याण भावना ऐसी रहे हमेश ।
दया लोक सेवी रत चित हो, और न कुछ आदेश ।।१०।।
इस पर चलने से ही होगा विकसित स्वात्म-प्रदेश ।
आत्म ज्योति जगेगी ऐसे जैसे उदित दिनेश ।।११।।
साधना अभिशाप को वरदान बना देती है,
भावना पाषाण को भगवान बना देती है ।
विवेक के ऊपर से नीचे उतरने पर ही,
वासना इसान को शैतान बना देती है ।।
सबकी गॉठ लाल है - लाल बिना कोई नही ।
जगत भयो कगाल, गॉठ खोल देखी नही ।।

## श्री शुभचन्द्राचार्य का भर्तृहरि को आदेश

चलो चलो सब कोई कहे, बिरला पहुँचे कोय ।
एक काचन और कामनी, दुर्लभ घाटी दोय ।।१।।
मोह बढि मान चढि, काय खडी आत्म घटी ।
मोह हटि मान घटि, काय क्षीण आत्म बडी ।।२।।
ससार बहुत बडि, आत्म के बहु दुख छडि ।
आत्म पुरुषार्थ बल से, ससार दुख सब हटि ।।३।।
हे भव्य दुर्लभ से, मनुज भव तुने पाया है ।
क्यो विषय भोग के, चक्कर मे तू फसाया है ।।४।।

जनम मरण और जरा को, जुदा करना है।
कर्म की बेड़ियां तोड़कर बंधन से मुक्त होना है ।।५।।
मत कर भाई वध से ममता है सपनाए ।
यह नहीं तेरी रीत है, तज अब तो अहं पनाए ।।६।।
इसीलिये बना रहा अरे, अब तो छोड़ देना है ।
मन मे तो कुछ न रखना सरल से रहना है ।।७।।
विनाकार्याणि ये मूढा, गच्छन्ति परमंदिर ।
अवश्य लघुता यान्ति, कृष्ण पक्षे यथा शशी ।।११।।
भाव । कृष्ण नील, कपोत संसार को बढाता
पीत, पद्म, शुक्ल तो संसार को मिटाता ।।
मिथ्यात्व को प्रथम से मत छोड़ देना
प्रथम तो अनंत कषायो को घटा देना ।।
भूत हो गया भूत, भूत को बस पीछे ही रहने दो ।
आगे एक भविष्य भाव की धारा हो को बहने दो ।।
लो अतीत से भव्य प्रेरणा देखो उन भविष्य के सपने ।
वर्तमान से रहो कर्म रत पूर्ण करो सब सपने अपने ।।
शतेषु जायते शूर , सहस्त्रेषु च पडित ।
वक्ता दशसहस्त्रेपु दाता भवति वा न वा ।।
नरस्याभरण रुप रुपस्याभरण गुण ।
गुणस्याभरण ज्ञान, ज्ञानस्याभरण क्षमा ।।

## कन्नड भाषा का छन्द

" रशिक नाडिद मातु ससि उदायिसी बन्धनते रसिक ।
नल्लदबन बदि मातु किवियोल कोर्दशियहरितव कत्ति बढिदते सर्वज्ञ ।।"

**अर्थ** श्रेष्ठ वचन (हित-मित-मृदु) चन्द्रमा के उदय के समान शीतल तथा दुर्वचन गधे की कर्कश आवाज की तरह सर्वज्ञ भगवान ने कहे है।

" चदन शीतल लोके, चन्दनादपि चन्द्रमा ।।
चन्द्र चन्दनयोर्मध्ये, शीतला साधु सगति ।।"

" साधू नाम दर्शन पुण्य, तीर्थ भूतापि साधव ।
कालेन फलति तीर्थ, सदृश साधु समागम ।

" नर करणी सो करेतु, नर नारायण वन जाते '
औपध शकुन मत्र नक्षत्र गृह देवता ।
भाग्य काले प्रसिद्धति अभाग्ये याति विक्रया ।।"

" न सुख देवराजस्य न सुख चक्रवर्तिन
यत् सुख वीतरागस्य मुनेर्येकान्त वासिन ।।

गुरुपद भक्तगे साध्य मल्लदुदुन्ट (कन्नड)

अर्थ - शक्ति का मिलना तो सुलभ है किन्तु, भक्ति का मिलना ही दुर्लभ है । गुरु भक्ति से क्या नही मिलता है ? अर्थात् सव कुछ मिलता है ।

" बिना गुरुभ्यो गुणवान रुपे, धर्मम् न जानाति विचक्षणोऽपि ।
आकर्ण जीर्घोज्वल दीप बिना. पश्यति नाधकारे ।।'

"एकाक्षर प्रदातार यो गुरु नाभिनदते ।
श्वानयोनि शतभुक्त्वा, चाडालेषु विधायते ।।"

" मिथ्यादर्शन विज्ञान सान्निपातानि पीढना ।
गुरुवाक्य प्रयोगेन मुञ्चान्ति सर्व मानव ।।"

# - प्रातः काल की स्तुति -

वीतराग सर्वज्ञ हितकर भविजन की अब पूरो आस ।
ज्ञान भानु का उदय करो मम मिथ्यातम का होय विनाश ।।१।।
जीवो की हम करुणा पाले, झूठ वचन नही कहे कदा ।
परधन कबहूँ न हर हूँ स्वामी ब्रम्हचर्यव्रत रखे सदा ।।२।।
तृष्णा लोभ बढे न हमारा तोष सुधा-नित पियाकरे ।
श्री जिनधर्म हमारा प्यारा, जिसकी सेवा किया करे ।।३।।
दूर भगावे बुरी रीतियॉ सुखद रीति का करे प्रचार ।
मेल मिलाप बढावे हम सब धर्मोन्नति का करे प्रचार ।।४।।
सुख दुख मे हम समता धारे रहै अचल जिमि सदा अटल ।
न्याय मार्गको लेश न त्यागे वृद्धि करे निज आतमबल ।।५।।
अष्ट कर्म जो दु ख हेतु है जिनके क्षय का करे उपाय ।
नाम आपका जपे निरतर विघ्न शोक सबही टल जाय ।।६।।
आतम शुद्ध हमारा होवे, पाप मैल नही चढे कदा ।
विद्या की हो उन्नति हममे धर्मज्ञान भी बढे सदा ।।७।।
हाथ जोडकर शीशनवावे तुमको भविजन खडे खडे ।
यह सब पूरो आस हमारी चरण शरण मे आन पडे ।।८।।

# - प्रभु स्तुति -

प्रभु पतित पावन मै अपावन चरण आयो शरणजी ।
यो विरद आप निहार स्वामी मेट जामण मरणजी ।।१।।
तुम ना पिछान्यो अन्य मान्यो देव विविध प्रकारजी ।
या बुद्धिसेती निज न जाण्यो भ्रम गिण्यो हितकारजी ।।२।।

भव विकट वनमे कर्म वैरी ज्ञान धन मेरो हरयो ।
सब इष्ट भूल्यो भ्रष्ट होय अनिष्टगति धरता फिरयो ।।३।।
धन घडी यो धन दिवस योही धन जनम मेरो भयो ।
अब भाग मेरो उदय आयो दरश प्रभुजी को लखिलयो ।।४।।
छवि वीतरागी नग्न मुद्रा, दृष्टि नाशा पै धरे ।
वसु प्रातिहार्य अनन्त गुण युत कोटि रवि छवि को हरे ।।५।।
मिट गयो तिमिर मिथ्यात्व मेरो उदय रवि आतम् भयो ।
मो उर हरष ऐसो भयो मनु रंक चिंतामणि लयो ।।६।।
मै हाथ जोड नमाऊ मस्तक वीनऊ तुव चरणजी ।
सर्वोत्कृष्ट त्रिलोकपति जिन सुनहुं तारन तरनजी ।।७।।
जॉचू नही सुरवास पुनि नर राज परिजन साथजी ।
'बुध' जॉचहू तुम भक्ति भव भव दीजिये शिवनाथजी ।।८।।

## - मेरा-जीवन -

वर्धमान को याद करो सब, उनके गुणो पर चलो सदा ।
णमोकार तो बोलो पहले, सारे जीवन मे जढे सदा।।१।।
क्षमा पालना जीवन सारे, इसी लक्ष्य पर रहो सदा ।
सत्य वचन तो बोलो प्यारे, असत्य वचन को त्याग सदा ।।२।।
हुआ अहिसा जीवन गुजरा, हिसा से तुम बचो सदा ।
ब्रम्हचर्यमय जीवन धारो, गृहस्थ धर्म से उठो सदा ।।३।।
ध्यानकरन की आदत डालो, ज्ञान सूर्य फिर उगे सदा ।
वीतराग को धारण करलो, साधु जीवन लक्ष सदा।।४।।
अभय हमारा ऐसा साथी, इसमे जीवन रमे सदा ।
त्यागमई जीवन को रक्खो, स्वार्थ से रहो दूर सदा ।।५।।

# मेरी भावना

जिसने राग द्वेषका मादिक जीते, सबजग जान लिया ।
सब जीवोको मोक्षमार्ग का, निस्पृह हो उपदेश दिया ।।
बुद्ध, वीर, जिन, हरि, हर ब्रम्हा, या उसको स्वाधीन कहो ।
भक्ति-भावसे प्रेरित हो यह, चित्त उसीमे लीन रहो ।।१।।
विषयो की आशा नही जिनके, साम्य-भाव धन रखते है ।
निज-परके हित साधनमे जो, निशिदिन तत्पर रहते है ।।
स्वार्थ त्याग की कठिन तपस्या, बिना खेद जो करते है ।
ऐसे ज्ञानी साधु जगतके, दुख समूह को. हरते है ।।२।।
रहे सदा सत्सग उन्हीका, ध्यान उन्हीका नित्य रहे ।
उनही जैसी चर्यामे यह, चित्त सदा अनुरक्त रहे ।।
नही सताऊ किसी जीव को, झूठ कभी नही कहा करुँ ।
परधन वनितापर न लुभाऊँ, सतोषामृत पिया करूँ ।।३।।
अहकार का भाव न रक्खू, नही किसीपर क्रोध करूँ ।
देख दूसरो की बढती को, कभी न ईर्षा-भाव धरूँ ।।
रहे भावना ऐसी मेरी, सरल सत्य व्यवहार करू ।
बने जहा तक इस जीवन मे, औरोका उपकार करू ।।४।।
मैत्री भाव जगतमे मेरा, सब जीवोसे नित्य रहे ।
दीन दुखी जीवो पर मेरे, उरसे करुणा स्रोत बहे ।।
दुर्जन क्रूर कुमार्ग रतो पर, क्षोभ नही मुझको आवे ।
साम्यभाव रख्खू मै उनपर, ऐसी परिणति हो जावे ।।५।।
गुणीजनोको देख हृदय मे, मेरे प्रेम उमड आवे ।
बने जहा तक उनकी सेवा, करके यह मन सुख पावे ।।
होऊ नही कृतघ्न कभी मै, द्रोह न मेरे उर आवे
गुण-ग्रहणका भाव रहे नित, दृष्टि न दोषोपर जावे ।।६।।

कोई बुरा कहो या अच्छा, लक्ष्मी आवे या जावे ।
लाखों वर्षों तक जीऊं या, मृत्यु आजही आ जावे ।।
अथवा कोई कैसा ही भय, या लालच देने आवे ।
तो भी न्याय मार्गसे मेरा, कभी न पद डिगने पावे ।।७।।
होकर सुखमे मग्न न फूले, दुःख मे कभी न घबरावे ।
पर्वत नदी स्मशान भयानक, अटवी से नही भय खावे ।
रहे अडोल अकंप निरंतर, यह मन दृढतर बन जावे ।
इष्टवियोग अनिष्टयोगमे, सहनशीलता दिखलावे ।।८।।
सुखी रहे सब जीव जगतके, कोई कभी न घबरावे ।
वैर-भाव अभिमान छोड़ जग, नित्य नये मंगल गावे ।।
घर-घर चर्चा रहे धर्मकी, दुष्कृत दुष्कर हो जावे ।
ज्ञान-चरित उन्नतकर अपना, मनुजजन्म-फल सब पावे ।।९।।
ईति-भीति व्यापे नही जगमे, वृष्टि समय पर हुआ करे ।
धर्मनिष्ठ होकर राजा भी, न्याय प्रजाका किया करे ।।
रोग-मरी-दुर्भिक्ष न फैले, प्रजा शान्तिसे जिया करे ।
परम अहिंसा धर्म जगतमे, फैल सर्वहित किया करे ।।१०।।
फैले प्रेम परस्पर जगमे, मोह दूर पर रहा करे ।
अप्रिय-कटुक-कठोर शब्द नही, कोई मुखसे कहा करे ।।
बनकर सब 'युग-वीर' हृदयसे, देशोन्नतिरत रहा करे ।
वस्तुस्वरूप विचार खुशीसे, सब दुख-संकट सहा करे ।।११।।

हे कुन्द कुन्द मुनि । भव्य सरोज बन्धु
मै बार बार तव पाद पयोज वन्दू ।।
सम्यकत्व के सदन हो समता सुधाम,
है धर्मचक्र शुभ धार लिया ललाम ।।